वैयक्तिक एवं सामाजिक

स्वस्थवृत्तम्

योग तथा निसर्गोपचार सहित

शिवकुमार गौड़

नाथ पुस्तक भंडार रेलवे रोड रोहतक

वैयत्तिक एवं सामाजिक

स्वस्थवृत्तम्

योग तथा निसर्गोपार सहित

(सेन्ट्रल काउन्सिल ऑव इण्डियन मेडीसन के पाठ्यक्रमानुसार)

लेखक

डा० शिव कुमार गौड़

एम० एस-सी०, बी० आई० एम० एस०,
आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेदमहामहोपाध्याय

भूतपूर्व
प्राचार्य एवं अधीक्षक
रा० आयुर्वेदिक कॉलेज एवं चिकित्सालय, बरेली

सदस्य
भारतीय चिकित्सा परिषद् उ० प्र०,
भारतीय चिकित्सा संकाय उ० प्र०,
आयुर्वेद एवं यूनानी संकाय,
कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर

फोन दूकान 77812 निवास 77811

प्रकाशक :

नाथ पुस्तक भण्डार,
रेलवे रोड, रोहतक—124001
फोन : दूकान 77812
निवास 77811

प्रथम संस्करण 1983
द्वितीय संस्करण 1986
तृतीय संस्करण 1990
चतुर्थ संस्करण 1995

मूल्य : 80·00 रुपये

लेखक की अन्य उपयोगी पुस्तकें

आयुर्वेद तिब्ब अकादमी उत्तर प्रदेश, तथा
आयुर्वेद अनुसंधान समिति मध्य प्रदेश, द्वारा पुरस्कृत
एवं अत्यन्त छात्रोपयोगी—

☐ आयुर्वेदीय शरीर क्रिया विज्ञानम्—पंचम संस्करण (पुनः मुद्रण)
☐ अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान—पंचम संस्करण

मुद्रक :
राजकमल प्रिंटर्स,
148, न्यू हनुमान पुरी, सूरज कुण्ड रोड, मेरठ।
फोन : 643167, 647578

समर्पण

अपनी पत्नी श्रीमति प्रेमवती देवी
(वियोग १४ अगस्त १९८०)
की
मधुर स्मृति में सप्रेम समर्पित
शिव कुमार गौड़

ॐ

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं ।
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यं ।।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं ।
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातंनमामि ।।

दो शब्द

प्रथम संस्करण

हमारे रहन-सहन में भौतिकवाद की अति होने के कारण हम प्रकृति की स्वाभाविक शरण से दूर हटते जा रहे हैं। इस कारण हमारे कार्यों में कृत्रिमता बढ़ती जा रही है। निश्चय ही इसका हमारे स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव पड़ रहा है। ऐसे समय में वैयक्तिक एवं सामाजिक स्वस्थवृत्त के ऐसे ज्ञान की आवश्यकता स्पष्ट है जो हमको हमारी गलतियों के प्रति सामयिक चेतावनी दे सके। इस पुस्तक में इस दिशा में प्रयत्न की चेष्टा की गई है।

आयुर्वेद महाविद्यालयों के नवीन पाठ्यक्रमानुसार स्वस्थवृत्त विषय के समस्त पाठ्य विवरण को लेती हुई किसी एक पुस्तक के अभाव की पूर्ति में भी यह प्रयास है। सफलता अथवा असफलता का विषय विद्वानों के निर्णय का है। हाँ, मेरी अज्ञानतावश होने वाली भूलों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करने का विद्वान बन्धुओं से विनम्र आग्रह है।

स्वस्थवृत्त विषय में पैठने के लिए छात्र को शरीर की प्रकृति एवं विकृति के कारणों का ज्ञान होना चाहिए। प्रथम एवं द्वितीय वर्ष के छात्रों से यह सामान्यतः सम्भव प्रतीत नहीं होता है। यह मूलभूत तथ्य शायद विषय निर्धारण समिति के ध्यान से विस्मृत हो गया था। आशा है पाठ्यक्रम पुनः विचार के समय इस ओर ध्यान देंगे।

इस पुस्तक के लेखन में मुझे जो पग-पग पर अमूल्य सहायता मेरे मित्र राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, बरेली के 'स्वस्थवृत्त' प्रवक्ता डा० जीवन किशोर गौड़ जी से प्राप्त हुई है उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। अनेक विद्वान लेखकों की पुस्तकों एवं राष्ट्रीय संस्थानों की रिपोर्टों का मैंने इस पुस्तक के लिये उपयोग किया है मैं उन सबके प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक पाठकों के ज्ञानवर्धन में सहायक होगी।

द्वितीय संस्करण

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण को पाठकों ने उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक पाया जैसा उनके द्वारा प्रेषित सम्मतियों से प्रकट होता है। इससे मुझे आगे कार्य के लिए साहस और बल मिला है। पुस्तक के पुनः निरीक्षण, संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्धन में परिस्थितिवशात् मुझे कुछ अधिक समय लग गया जिस कारण इसके मुद्रण में विलम्ब हो गया। इस पाठ्य पुस्तक में विषयों की पूर्ण एवं विस्तृत जानकारी देने की चेष्टा की गई है जिससे आयुर्वेद स्नातक जनपद अथवा नगर स्वास्थ्याधिकारी पद को भी पूर्ण विश्वास एवं गरिमा से संभालने में सक्षम हों। प्रथम संस्करण के पश्चात् की स्वास्थ्य विज्ञान जगत की नवीन उपलब्धियों का यथास्थान समावेश कर दिया गया है।

तृतीय संस्करण

पुस्तक का तृतीय संस्करण पाठकों को भेंट करते हुए हृदय में उल्लास का होना स्वाभाविक है। नवीन जानकारियों का यथा स्थान समावेश किया गया है तथा छात्रों की सुविधा के लिए अध्यायों का पुनः वर्गीकरण भी किया गया है। योग विषय की पाठ्य सामग्री पाठक नवीन उपयोगी परिवेश में पायेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संस्करण भी पाठकों के ज्ञानवर्धन में सहायक होगा। उपयोगी सुझाव विनम्रता पूर्वक ग्रहण किये जायेंगे।

—शिव कुमार गौड़

विषय-सूची

१

दैनिक चर्या एवं स्वास्थ्य

स्वस्थवृत्त का प्रयोजन

आयुर्वेद विज्ञान के दो प्रयोजन हैं (i) 'स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्' अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा (ii) 'आतुरस्य विकार प्रशमनम्' अर्थात् रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना ।

प्रथम प्रयोजन की पूर्ति हेतु स्वस्थवृत्त का अध्ययन आवश्यक है ।

अन्य प्राणियों के समान मनुष्य भी शरीर के बाहर तथा शरीर के अन्दर की परिस्थितियों से प्रभावित रहता है । यदि वाह्य एवं आभ्यान्तर परिस्थितियाँ अपरिवर्तनशील होतीं तो स्वास्थ्य के नियम अति सरल होते । परन्तु इस गतिमान एवं परिवर्तनशील संसार में ऐसा होना असम्भव है । अतः हमें अपनी जीवनचर्या को इन परिवर्तनों की पृष्ठभूमि में इस प्रकार ढालना अनिवार्य हो जाता है जिससे हम स्वस्थ रहते हुए जीवन यात्रा सुचारूता से पूरी कर सकें ।

हमारे स्वास्थ्य को बाहर से प्रभावित करने वाले कारणों में मौसम का परिवर्तन, तापमान का परिवर्तन, भौगोलिक परिवर्तन तथा अन्य भौतिक एवं रसायनिक परिवर्तन ही नहीं हैं वरन् सामाजिक परिस्थितियाँ भी उसे प्रभावित करती हैं । इस प्रकार हमें अपनी शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के मध्य समन्वय रखना पड़ता है ।

शरीर के भीतर भी जैव-भौतिक एवं जैव-रासायनिक क्रियायें निरन्तर क्रियाशील रहती हैं । इन क्रियाओं में परस्पर समन्वय रखना स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है । अनेक हानिकर जीवाणु एवं विजातीय तत्व शरीर में प्रवेश पाकर हमारे स्वास्थ्य को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं, अनेक अनिष्ठ प्रभाव से रक्षा के लिए हमें अपनी रोग क्षमत्व शक्ति को भी बनाये रखना होता है ।

इन समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से निकलने के लिए हमें किस प्रकार के आहार-विहार की आवश्यकता है इसका विवेक आवश्यक है । अतः इन सब के लिए स्वस्थवृत्त का ज्ञान अपेक्षित है ।

स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने स्वास्थ्य किसे कहते हैं, इसकी परिभाषा इस प्रकार की है कि 'Health is a state of complete physical, mental

and social well being and not merely an absence of disease or infirmity' अर्थात् **'स्वास्थ्य केवल रोग एवं शारीरिक दौर्बल्य से रहित होना मात्र नहीं है वरन् शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक सौख्य की स्थिति है।'**

विश्व स्वास्थ्य संगठन की उपरोक्त परिभाषा से हजारों वर्ष पूर्व सुश्रुताचार्य ने स्वास्थ्य की एक अद्वितीय परिभाषा जगत को प्रदान की है। वे कहते हैं कि

समदोष समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ सु० सू० १५/४५

जिस व्यक्ति में वात, पित्त, कफ शारीरिक दोष एवं रज, तम मानसिक दोष सम्यक् प्रकार से क्रियायें कर रहे हों। शरीर में अग्निकर्म यथा पाचन एवं चयापचय क्रियाएँ, सम्यक् प्रकार से हो रही हों, धातुओं का पोषण एवं निर्माण तथा मलों की उत्पत्ति एवं निष्कासन सम्यक् प्रकार से सम्पन्न हो रहे हों। आत्मा, मन एवं इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में सम्यक् प्रकार से रत हों, ऐसे व्यक्ति को स्वस्थ व्यक्ति कहते हैं।

दिनचर्या

सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति सूर्योदय से अपनी दैनिक क्रियाओं को प्रारम्भ कर देता है तथा वह अपनी भौतिक प्रकृति, शारीरिक बनावट, आनुवांशिकता (heredity), संवेदन वैशिष्ट्य (idiosyncrasy), स्वभाव (temperament), स्वच्छता के प्रति रुचि, वस्त्रों के प्रति रुचि, निद्रा, व्यायाम, उपार्जित प्रवृत्ति (habit आदत), लिंग (sex) तथा देश की विभिन्नता के अनुसार आवश्यक परिवर्तन कर उन्हें अपने स्वयं के धारण करने योग्य बना लेता है।

निद्रा त्याग

(अ० सं० सू० ३/३; भा० प्र० पू० ५/१६)

ब्राह्मे मुहुर्ते उत्तिष्ठेज्जीर्णाजीर्णे निरुपयन्।
रक्षार्थमायुषः स्वस्थो···· ॥ (अ० सं० सू० ३/३)

स्वस्थ व्यक्ति को अपनी आयु की रक्षार्थ ब्राह्म मुहुर्त में शय्या त्याग देनी चाहिए। ब्राह्म मुहुर्त रात्रि के अन्तिम पहर, जब रात्रि समाप्त होने को होती है अर्थात् सूर्योदय से लगभग $1\frac{1}{2}$ घन्टे पूर्व, को कहते हैं। यह निर्देशन स्वस्थ व्यक्ति के लिए है। यदि व्यक्ति अशक्त है अथवा आहार का पाचन पूर्ण नहीं हुआ है तब निद्रा काल बढ़ाये जाने का निर्देशन है।

निद्रा के समय चयापचय द्वारा उत्पन्न ऊर्जा जीवन की आवश्यक क्रियाओं, यथा हृदयस्पन्दन, रक्त संचरण, श्वसन क्रिया, पाचन क्रिया आदि, के सम्पादन में व्यय होती है। जागने पर अन्य शारीरिक कार्य होने लगते हैं और ऊर्जा का अधिकांश भाग उनके सम्पादन में व्यय होने लगता है। अतः यदि निद्रा काल में पाचन क्रिया पूर्ण नहीं हुई है अर्थात् आहार पूर्णतया जीर्ण नहीं हुआ है तो जागने

पर पाचन में और विलम्ब होता है। इसलिए ऐसी दशा में उचित यही है कि निद्रा काल बढ़ा लिया जाय। परन्तु यदि आदत के कारण अपने समय पर निद्रा भंग हो जाती है, तब आहार के जीर्ण होने तक कठोर परिश्रम नहीं करना चाहिये। निद्रा त्याग के पश्चात् मुख साफ करके एक गिलास जल पी लेना चाहिये। इसे उषःपान कहते हैं। स्वास्थ्य के लिए यह उत्तम रहता है, इससे आन्त्र की पुरःसरण गति को बल मिलता है एवं मल मलाशय में पहुंच जाता है।

मलत्याग

(अ० सं० सू० ३/३-९; भा० प्र० पू० ५/१७)

रक्षार्थमायुषः स्वस्थो जातवेगः समुत्सृजेत्॥ अ० सं० सू० ३/३

प्रवर्तयेत्प्रचिलितं न तु यत्नादुदीरयेत्॥ अ० सं० सू० ३/५

न वेगिनोऽन्य कार्यः। अ० सं० सू० ३।७

मल मूत्र आदि के वेगों के उपस्थित होने पर सर्वप्रथम इन्हें बाहर प्रवृत करना चाहिये। ऐसा करना स्वास्थ्य के रक्षण एवं आयुष्य के लिए हितकर है। ऐसा करने से अन्त्रकुञ्जन (आन्त्र का गुड़गुड़ाना), अफारा (आध्मान) तथा भारीपन दूर होता है एवं मन हर्षित रहता है। मल की सहज प्रवृत्ति होनी चाहिए। मल त्याग के लिए जोर नहीं लगाना चाहिए। मल-त्याग का वेग उपस्थित होने पर उसकी तुरन्त निवृत्ति होनी चाहिये।

जो व्यक्ति शौचादि कार्यों के लिए नगर से बाहर जाते हैं उन्हें नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए।

दिन में उत्तर दिशा की ओर और रात्रि में दक्षिण दिशा की ओर मुंह करके, मौन रहकर तथा अंगों को ठीक प्रकार से संकुचित रखते हुए मल त्याग करना चाहिए।

गन्दे स्थानों पर, मिट्टी राख आदि के ढेर पर, पशुओं के बैठने के स्थान पर, गोबर के समीप, निवास स्थानों के समीप, चिता के समीप, वृक्ष के नीचे, जिस खेत में हल चल चुका है उस खेत में मलत्याग नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार गाय, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, जल, अन्न तथा पूज्य जनों के सामने भी मल त्याग नहीं करना चाहिए। मल त्याग के पश्चात् तुरन्त मल को मिट्टी से ढक देना चाहिए।

न चातिरस्कृत्य महीं भयासक्तयोस्तु कामतः। अ० सं० सू० ३/७

अशक्तता के कारण अथवा भय के कारण कहीं भी मल त्याग किया जा सकता है।

निःशल्यादुष्टमृत्पिण्डीपरिमृष्टमलायनः। अ० सं० सू० ३/८

मल त्याग के पश्चात् शुद्ध, दुर्गन्ध रहित मिट्टी के ढेले से, जिसमें कांटे, कंकड़ आदि न हो, गुदा स्थान (मलायन) साफ कर शुद्ध जल से धो लेना चाहिये। जिससे वहाँ पर मल लिप्त न रहे और मल की दुर्गन्ध दूर हो जाय। इस प्रकार

जल से साफ करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जल की बूंदें इधर-उधर उछल कर शरीर पर अथवा वस्त्रों पर न गिरें।

मुख शुद्धि

(अ० सं० सू० ३/६-१२)

मलत्याग के पश्चात् हाथ पैर आदि को शुद्ध करने के बाद आचमन के द्वारा मुख को शुद्ध कर लेना चाहिये।

इसी प्रकार रस, रक्त आदि को स्पर्श करने के पश्चात्, मलमूत्र आदि मलों के स्पर्श के पश्चात्, अश्रु, वसा, कटे हुए केश, नख को स्पर्श के पश्चात् भी हाथ धोकर आचमन कर लेना चाहिये।

स्नान के पश्चात्, भोजन करने के पूर्व और पश्चात्, सोकर उठने के पश्चात्, छींक के पश्चात् एवं रास्ता चलकर आने के पश्चात् तथा देव पूजन के पूर्व आचमन कर लेना चाहिये।

....नाग्निपक्वैर्न पूतिभिः।
न फेनबुद्बुदक्षारैर्नैकहस्तार्पितैर्जलैः ॥ अ० सं० सू० ३/१२

किसी की तरफ न देखते हुये, न बातचीत करते हुये न उठकर, न झुककर, न ऊपर को मुख कर के, न गर्म जल से और न अशुद्ध जल से जो दुर्गन्धयुक्त हो, या झागयुक्त हो अथवा क्षारीय हो, आचमन द्वारा मुखशुद्धि करनी चाहिये। दोनों हाथों का चुल्लू बना अंगुष्ठ के मूल तक जल लेकर आचमन करना चाहिये। ऐसा करते समय जल के छींटों से हाथ, पैर अपवित्र न हो यह ध्यान रखना चाहिये।

दन्तधावन

(च० सू० ५/७१-७३, ७८-८०; सु० चि० २४/४-१२;
अ० सं० सू० ३/१३-२३; भा० प्र० पू० ५/२४-३९)

दांतों की सफाई प्रातः एवं सायं सोने से पूर्व करनी चाहिये। इसके लिये दातुन (दतुवन), मंजन, टूथपेस्ट आदि को व्यवहार में लाते हैं। पूर्वकाल में टूथब्रुश या टूथपेस्ट नहीं थे जैसा वर्तमान में हैं। अधिकांश दातुन का व्यवहार करते थे और आजकल भी यह काफी प्रचलित है।

कनीन्यग्रसमस्थौल्यं सुकूर्चं द्वादशाङ्गुलम् ॥ अ० सं० सू० ३/१५

दातुन १२ अंगुल लम्बी, कनिष्ठा अंगुली के आगे के भाग के समान मोटी, सीधी बिना गाँठ की स्वस्थ डाल की ताजी होनी चाहिये और ऐसी होनी चाहिये जिसकी अच्छी प्रकार की कूंची बन सके।

वाग्भट के अनुसार उन्हीं ज्ञात वृक्षों की दातुन लेनी चाहिये जिनका रस कटु, तिक्त या कषाय है (कषायतिक्तकटुकं········विज्ञात वृक्षं। अ० सं० सू० ३/१४) ऐसे वृक्षों के नाम बताये हैं। ये हैं—बरगद, विजयसार, आक, खैर, करंज, करवीर

(कनेर), सर्ज (जिस वृक्ष से राल बनती है), अरिमेद, अपामार्ग (चिरचिटा), मालती (चमेली) और ककुभ (अर्जुन)।

सुश्रुत संहिता ने कटु, तिक्त, कषाय रस वाले वृक्षों के साथ मधुर रस वाले वृक्षों की दातुन भी लेने की सलाह दी है। (कषायं मधुर तिक्तं कटुकं प्रातरुत्थितः। सु० चि० २४/६) प्रत्येक रस वाले श्रेष्ठ वृक्षों का नाम उसमें इस प्रकार दिया गया है—निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः, कषाये खदिरस्तथा मधूको मधुरे श्रेष्ठः, करञ्जः कटुकेतथा। सु० चि० २३/७ अर्थात् दातुन लेने के लिये तिक्त रस वाले वृक्षों में नीम श्रेष्ठ है, कषाय रस वाले वृक्षों में खदिर श्रेष्ठ है, मधुर रस वाले वृक्षों में महुआ तथा कटु रस वाले वृक्षों में करञ्ज श्रेष्ठ है। आजकल खैर वृक्ष सब स्थानों पर सुलभ नहीं है अतः कषाय रस युक्त वृक्षों में बबूल (कीकड़) को श्रेष्ठ मानते हुए उसकी दातुन व्यवहार में लाते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के मुख-स्वास्थ्य (oral health) प्रोग्राम के प्रमुख डा० डेविड बरनेस (Dr. David Barnese) का कहना है कि यदि नियमित रूप से नीम की दातुन की जाती रहे तो मुख गुहा में केन्सर रोग नहीं होता है। यह सिद्ध है।

वाग्भट मधुर, अम्ल तथा लवण रसयुक्त वृक्षों की दातुनों को दातुन करने के लिये अयोग्य मानता है। अम्ल तथा लवण रस वाले वृक्षों की दातुनों को तो सुश्रुत भी निषेध करता है।

स्वाद्वम्ललवणं शुष्कं सुषिरं पूतिपिच्छिलम्।
……दन्तधावनं……त्यजेत॥ अ० सं० सू० ३/१२

मधुर, अम्ल तथा लवण रस युक्त वृक्षों की दातुन नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार सूखी, खोखली तथा दुर्गन्ध युक्त दातुन भी नहीं करनी चाहिये। इन रसों वाले वृक्षों में जो, दातुन के अयोग्य हैं, कुछ वृक्षों का वर्णन किया है। ये हैं—श्लेष्मातक (लिसीडा), अरिष्ठ (रीठा), विभीतक (बहेड़ा), धव, धन्वज (कटीले दूध वाले थूहर आदि), विल्व (बेल), बब्बुल (गाठों वाला वृक्ष), निर्गुण्डी (सम्भालु), शिग्रु (सोभांजन), तिल्वक (लोध), तिन्दुक (तेंदु), कोविदार (कचनार), शमी (जड), पीलु, पिप्पली, इंगुद (हिंगोट), गुग्गुल, परिभद्र, इमली, श्वेत सिम्भल (मोचकी), कृष्ण सिम्मल (शाल्मली), सुपारी, ताल, शण (सन), केतकी, बाँस, खजूर, नारियल, पलास आदि। इन वृक्षों की दातुन नहीं लेनी चाहिये।

प्रातर्भुक्त्वा च यतवाग्भक्षयेद्दन्तधावनम्। अ० सं० सू० ३/१६
शनैस्तेन ततो दन्तान्दन्तमांसान्यबाधयन्॥ अ० सं० सू० ३/१७
दन्तान्पूर्वमधो घर्षेत्…… । अ० सं० सू० ३/२३

दातुन के अगले भाग को कुचल कर कूंची बना लेनी चाहिये। फिर उस कूंची से धीरे-धीरे मसूड़ों को हानि न पहुँचाते हुए दिन में दो बार अर्थात् पहली

बार प्रातः शय्या त्याग के पश्चात् तथा दूसरे सायं के भोजन के उपरान्त सोने से पूर्व करनी चाहिये। दाँत साफ करते समय पहिले नीचे के दाँत साफ करने चाहिये फिर ऊपर के साफ करने चाहिये। दातुन करते समय बातचीत नहीं करनी चाहिये।

संहिताग्रन्थों में दातुन की कूँची पर लगाने के लिये कुछ दन्तशोधन् चूर्णों का वर्णन भी आया है। इन्हें दातुन की कूँची पर लगाकर दाँत साफ करने का निर्देश है।

व्याप्यत्रिवर्गत्रितयक्षौद्राक्तेन च घर्षयेत् ॥ अ० सं० सू० ३/१६

क्षौद्रव्योषत्रिषत्रिवर्गाक्तं सौतलं सैन्धवेन च।

चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत् ॥ सु० चि० २४/७

व्याप्य (कूठ) और त्रिवर्ग, त्रितय अर्थात् (१) त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) (२) त्रिकटु (सोंठ, काली मिर्च और पिप्पली) तथा (३) त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात) इनके चूर्ण को शहद में मिलाकर कूँची द्वारा प्रयोग करें। अथवा सरसों के तेल में सेन्धा नमक और तेजवल के चूर्ण को मिलाकर प्रयोग करें।

दातुन के स्थान पर केवल इन दंत्तशोधन चूर्णों को व्यवहार में लाया जा सकता है। वर्तमान में अनेक प्रकार के दन्त मन्जन उपलब्ध हैं। इन्हें अंगुली पर लगाकर प्रयोग किया जाता है। पेस्ट के रूप में भी दन्तमन्जन मिलते हैं, जिन्हें दन्त ब्रुश पर लगा कर काम में लाते हैं। दन्त ब्रुश कठोर एवं कोमल रेशे वाले दोनों प्रकार के मिलते हैं। अपने अनुकूल रेशे वाले ब्रुश को व्यवहार में लाना चाहिये। ब्रुश को दाँतों पर चक्राकार घुमाते हुए दाँत साफ करने चाहियें। ब्रुश को दाँतों पर अधिक दबाव देते हुए जोर से घर्षण नहीं करना चाहिये।

.... प्रातः सिञ्चेच्च लोचने।

तोयपूर्णमुखो ग्रीष्मशरदोः शीतवारिणा ॥ अ० सं० सू० ३/२३

प्रातः दाँतों को साफ करने के पश्चात् आँखों पर शीतल जल के छींटे देने चाहियें। मुख में शीतल जल भर कर आँखों का सिंचन करना चाहिये। परन्तु इस कार्य के लिये शीतल जल का उपयोग केवल ग्रीष्म और शरद ऋतु में करना चाहिए अन्य ऋतुओं में गुनगुने जल को व्यवहार में लाना चाहिए।

ज्वर आदि से पीड़ित व्यक्ति के मुख में भोजन के पूर्व जो रस हो उसके विपरीत रस वाली अच्छी लगने वाली दातुन से दाँतों की सफाई करनी चाहिये। ऐसी दातुन करने से मुख में स्वच्छता और अन्नपान की अभिलाषा उत्पन्न होती है तथा उस व्यक्ति को रसों का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। विपरीत रस वाली दातुन से दाँतों को साफ कर गुनगुने जल से मुख को साफ कर लेना चाहिये। उसके पश्चात् पथ्य आहार आदि का सेवन किया जा सकता है।

दन्तधावन से लाभ—दाँत साफ करने से मुख की दुर्गन्ध दूर होती है। दाँतों का मैल हट जाता है। कफ का नाश होता है। जिह्वा, दाँत और मुख में होने वाले रोग नहीं होते हैं। अन्न के प्रति रुचि एवं प्रसन्नता होती है।

दन्तधावन के अयोग्य व्यक्ति

नाधादजीर्णवमथुश्वासकासज्वरार्दिती ।
तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरः कर्णमयी च तत् ।। अ० सं० सू० ३/१६

अजीर्णावस्था में श्वास, कास अथवा ज्वर से ग्रसित व्यक्ति को एवं मुख रोग, हृदय रोग, नेत्र रोग, कर्ण रोग, अर्दित (facial paralysis) वाले व्यक्ति को दातुन नहीं करनी चाहिए। प्यास से व्याकुल व्यक्ति को भी दातुन नहीं करनी चाहिए। मुख रोगों में गला, तालु, ओष्ठ, जिह्वा के रोग एवं मुखपाक का समावेश है। मूर्च्छा एवं मद से पीड़ित, शिर, शूल से ग्रसित, थके हुए एवं मद्यपान किए हुए व्यक्ति के लिए भी सुश्रुत संहिता में दातुन करने का निषेध है।

जिह्वानिर्लेखन

(च० सू० ५/७५, सु० चि० २४/१३–१४; अ० सं० सू० ३/१७–१८)

जिह्वानिर्लेखन रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव च ।
तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम् ।। सु० चि० २४/१३

दातुन के पश्चात् जिह्वा के मैल को हटाने के लिये जिह्वा निर्लेखन की आवश्यकता होती है। जीभ को साफ करने के लिये जिह्वा निर्लेखन (जीभी) सोने, चाँदी, ताँवे या वृक्ष की कोमल टहनियों की होनी चाहिए। इसकी लम्बाई कम से कम दस अंगुल होनी चाहिए। दातुन को बीच से चीर कर भी व्यवहार में लाया जा सकता है। आजकल प्लास्टिक आदि की भी जीभियाँ मिलती हैं। जीभी के किनारे तेज तथा पैने नहीं होने चाहिए तथा काम में लाते हुए जीभ पर जोर से रगड़ना भी नहीं चाहिए।

मुख वैरस्यदौर्गन्ध्य शोफ जाड्यहरं सुखम् ।।
सू० चि० २४/१४

जीभी द्वारा जीभ के मल को साफ करने से मुख की विरसता, दुर्गन्ध, शोथ, जड़ता का नाश होकर प्रसन्नता उत्पन्न होती है तथा रुचि, निर्मलता तथा लघुता की प्राप्ति होती है।

गण्डूष धारण

(अ० सं० सू० ३१/३-११, भ० प्र० पू० ५/४२-४४)

दन्तदार्ढ्यकरं रुच्यं स्नेहगण्डूषधारणम् ।। सु० चि० २४/१४

जो व्यक्ति दातुन, मंजन, टूथपेस्ट से दाँतों को साफ करने में असमर्थ हैं उन्हें तैल के गण्डूष करने चाहिए। अर्थात् मुख में तैल भर कर थोड़ी देर मुख में रखकर निकाल देना चाहिए। स्वस्थ व्यक्ति भी दातुन एवं जिह्वा निर्लेखन के पश्चात् गण्डूष धारण कर सकता है। इससे उसे लाभ होता है। इससे हनुओं और स्वर को बल मिलता है, शरीर में माँस की वृद्धि होती है, मुख की दुर्गन्ध दूर होती है। जिह्वा शुद्ध हो जाती है, विरसता समाप्त हो जाती है, रसों का ज्ञान तथा भोजन के प्रति रुचि बढ़ जाती है, मुख और कण्ठ में कभी शुष्कता नहीं होती है,

ओष्ठ फटते नहीं हैं, दांतों का क्षय नहीं होता है वरन् उनकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। खट्टे पदार्थों को खाने पर भी दन्त हर्ष नहीं होता है। दांत इतने दृढ़ हो जाते हैं कि कठोर द्रव्यों को भी चबा सकते हैं।

दन्तहर्ष अथवा दाँतों के हिलने पर तथा वातजन्य मुखरोगों में सुहाता हुआ गर्म या शीतल तिल के कल्क को पानी में घोलकर गण्डूष धारण करना उत्तम है।

मुँह में दाह होने पर, मुखपाक में, आगन्तुज क्षत में, विष, क्षार अथवा ऊष्ण वस्तु से मुख के जलने पर घी या दूध का गण्डूष धारण करना चाहिये। इससे मुख में विशदता आती है और व्रण भर जाते हैं। शहद के गण्डूष धारण करने से दाह और प्यास शान्त होती है। काँजी के गण्डूष से मुख की विरसता, मल तथा दुर्गन्ध नष्ट होती है। सज्जीक्षार का गण्डूष कफ संचय को नष्ट करता है।

मुखे संचर्य ते या तु सा मात्रा कवलः स्मृतः।
असंचारा तु या मात्रा स गण्डूषः प्रकीर्तितः॥ अ० सं० सू० ३१/१

गण्डूष में द्रव को धारण कर मुख में इधर-उधर नहीं चला सकते हैं उसे मुख में पूरा भर लेते हैं। जबकि कवल (कुल्ले) धारण करने में द्रव को मुख में इधर-उधर फिराया जा सकता है। दोनों में यह अन्तर है।

अभ्यङ्गः (मालिश)

(च० सू० ५/८५-८९; सु० चि० २४/३२, ३४; अ० सं० सू० ३/५५-५८)

(१) जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में जल देने से उसके अंकुर (पत्ते) बढ़ते हैं उसी प्रकार अभ्यंग से शरीर की रसरक्तादि धातुयें दृढ़ तथा वृद्धि को प्राप्त होती हैं। (२) जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा चिकनाई पीकर मजबूत और दीर्घकाल तक चलने वाला हो जाता है उसी प्रकार अभ्यंग से मनुष्य भी दीर्घायु को प्राप्त होता है तथा वृद्धावस्था में शरीर पर झुर्रियाँ नहीं पड़ती हैं। (३) जिस प्रकार चमड़े पर चिकनाई रगड़ने से वह मजबूत तथा कोमल बन जाता है और उस पर तापमान का प्रभाव नहीं पड़ता है उसी प्रकार शरीर पर तैल के अभ्यंग से शरीर दृढ़ तथा स्पर्श में कोमल एवं गर्मी सर्दी के प्रभाव से अप्रभावित हो जाता है। (४) जिस प्रकार गाड़ी के धुरें में तैल देने से वह सरलता से कार्य करता है उसी प्रकार अभ्यंग से शरीर रूपी चक्र भी अच्छे प्रकार से जीवन रूपी कार्य करता है। अतः

अथ जातान्नपानेच्छो मारुतघ्नैः सुगन्धिभिः। अ० सं० सू० ३/५५

अन्नपान की इच्छा रखने वाले अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति को चाहिए कि ऋतु के अनुसार अर्थात् शीतकाल में कुछ उष्ण गुण युक्त तथा उष्ण काल में शीतगुण युक्त सुगन्धित वातनाशक तैलों से शरीर पर अभ्यंग (मालिश) करना चाहिए।

अभ्यङ्ग के गुण

त्वचा स्पर्शेन्द्रिय का अधिष्ठान है, इसमें वात की अधिकता होती है, अतः स्पर्श का अनुभव इसी के अधीन है। तैल वात नाशक है अतः तैल मालिश से शरीर

में वातजन्य रोग नहीं होते हैं एवं अन्य कोई विकार भी सरलता से नहीं होते हैं। अभ्यंग से शरीर दृढ़, सुन्दर हो जाता है और वर्ण में निखार आ जाता है। धातुयें पुष्ट हो जाती हैं। वृद्धावस्था में भी आयु के लक्षण पूर्णरूप से प्रकट नहीं होते हैं। एवं कफ की वृद्धि नहीं होती है।

अभ्यंग करते रहने से जलने पर उसकी पीड़ा, शस्त्र आदि से क्षत होने पर उसकी रूजा, अस्थि के भंग होने पर उसकी व्यथा हल्की हो जाती है। क्लम (आलस्य) तथा श्रम (थकावट) दूर हो जाते हैं। (अभ्यङ्ग किस प्रकार करना चाहिए इसे निसर्गोपचार अध्याय में देखें)। संक्षेप में कह सकते हैं कि

जलसिक्तस्य वर्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः।
तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते॥ सु० चि० २४/३२

पौधे की जड़ को जल देने से जिस प्रकार वृक्ष के अंकुर बढ़ते हैं उसी तरह स्नेहसिक्त (अभ्यंग से) व्यक्ति की धातुएं वृद्धि को प्राप्त होती हैं।

अभ्यंग का निषेध

वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृत संशुद्ध्यजीर्णिभिः॥ अ० सं० सू० ३/६१

नवीन ज्वर से पीड़ित तथा अजीर्ण वाले व्यक्ति को अभ्यंग नहीं करना चाहिए अन्यथा व्याधि कष्ट साध्य और यदि कष्ट साध्य है तो असाध्य हो जाती है।

विरेचन, वमन अथवा निरुहवस्ति (स्नेहवस्ति) से जिसने शरीर की शुद्धि की हो उसे भी अभ्यंग नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से अग्निमांद्य आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

स्निग्ध, मधुर, गुरु, नव अन्न, माँस, मद्य आदि पदार्थों का अधिक सेवन संतर्पण कहलाता है। संतर्पणजन्य व्याधियों से पीड़ित तथा कफ़जन्य रोगों से पीड़ित व्यक्ति को अभ्यंग नहीं करना चाहिये।

शिर की मालिश

(च० सू० ५/८१-८३; सु० चि० २४/२५-२८; अ० सं० सू० ३/५९)

शिरोगतांस्तथा रोगाञ्छिरोऽभ्यंगोऽपकर्षति॥
केशानां मार्दवं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम्॥
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपिचाननम्॥
सन्तर्पणं चेन्द्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम्॥ सु० चि० २४/२५, २६

सिर पर तैल की मालिश करने से शिरो रोग नष्ट होते हैं। बाल मुलायम, चिकने, काले तथा घने हो जाते हैं, वे झड़ते नहीं हैं। खालित्य (गंजापन), पालित्य (असमय केशों का श्वेत हो जाना) नहीं होता है। नींद सुखपूर्वक आती है। शिर की तृप्ति होती है। मस्तिष्क की शून्यता नष्ट हो जाती है। त्वचा सुन्दर और इन्द्रियाँ संतृप्त होती हैं।

सिर पर मालिश के लिए मुलहठी, क्षीरविदारी, देवदारु, लघु पंचमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली तथा गोखरू) समान भाग लेकर तैल सिद्ध कर उस तैल की या अन्य किसी तैल की मालिश करनी चाहिए।

कान में तैल डालना

(च० सू० ५/८४; अ० सं० सू० ३/६०)

हनुमन्याशिरः कर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम् । अ० सं० सू० ३/६०

कानों में नित्य तैल डालने से कान में वातजन्य रोग नहीं होते हैं। मन्यास्तम्भ (torticollis) और हनुस्तम्भ (lock law) रोग नहीं होते हैं। कर्ण वाधिर्य, शिर शूल एवं कर्ण शूल नष्ट होते हैं।

पादाभ्यङ्ग

(च० सू० ५/९०-९१; सू० चि० २४/७०; अ० सं० सू० ३/६०-६१)

पादाभ्यङ्गस्तु तत्स्थैर्यनिद्रादृष्टि प्रसादकृत् ॥

पादसुप्तिश्रमस्तम्भसङ्कोचस्फुटन प्रणुत् ॥ अ० सं० सू० ३६०-६१

पैरों में तैल मालिश से पैरों का खुरदरापन, जकड़ाहट (स्तब्धता), रुक्षता, थकावट, शून्यता (सुप्ति) आदि शान्त हो जाते हैं तथा कोमलता, बल और स्थिरता, आती है। पैरों में वात जन्य रोग नहीं होते हैं और अगर ऐसे रोग हैं तो शान्त हो जाते हैं यथा गृध्रसी; सिरास्नायुसंकोच आदि हैं तो शान्त हो जाते हैं। बिवाई (पाद स्फुटन) नहीं होता है। नेत्रों में प्रसन्नता की वृद्धि होती है। निद्रा सुखपूर्वक आती है। पादाभ्यंग सदा हितकर होता है।

व्यायाम

(च० सू० ७/३१-३५; सू० चि० २४/३८-५१; अ० सं० सू० ३/६२-६८)

शरीरचेष्टा या स्थैर्यार्था बलवर्धनी देहव्यायामसङ्ख्याता ।

शरीर का वह अभीष्ट कर्म जो शरीर में स्थिरता एवं बल वृद्धि करता है, शारीरिक व्यायाम (Physical exercise) कहलाता है।

शरीरायासजननं कर्म व्यायाम संज्ञितम् ॥ सु० चि० २४/३८

शरीरायासजननं कर्म व्यायाम उच्यते ॥ अ० सं० सू० ३/६८

शरीर में थकावट उत्पन्न करने वाला कर्म व्यायाम कहलाता है।

व्यायाम से लाभ

लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता ।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥ च० सू० ७/३२

व्यायाम से शरीर पुष्ट होता है। शरीर की कान्ति बढ़ती है। प्रत्येक अंग प्रत्यङ्ग स्पष्ट पृथक्-पृथक् सुडौल रूप से दीखने लगता है। पेशियाँ दृढ़ हो जाती हैं। बढ़े हुए मेद का क्षय हो जाता है। शरीर की शुद्धि होकर स्थिरता एवं लघुता की प्राप्ति होती है। श्रेष्ठ आरोग्य लाभ होता है। किसी कार्य के करने में आलस्य नहीं होता है। श्रम (थकावट), क्लम (आलस्य), प्यास, शीतता तथा उष्णता को सहन करने की शक्ति मे वृद्धि होती है। शत्रु भय खाते हैं। वृद्धावस्था सहसा आक्रमण नहीं करती है।

व्यायाम करने वाले तथा पैरों की भली भाँति मालिश करने वाले व्यक्ति के

निकट व्याधियाँ उसी प्रकार नहीं पहुचती हैं जिस प्रकार सिंह के सम्मुख मृग नहीं पहुँचते हैं। व्यायाम से आयु-रूप और गुणहीन व्यक्ति भी सुन्दर बन जाता है। नित्य व्यायाम करने वाला व्यक्ति यदि विरुद्ध आहार अथवा कच्चा पक्का जो भी खा लेता है वह भी पच जाता है। स्वस्थ एवं स्निग्ध आहार सेवन करने वाले व्यक्ति के लिए व्यायाम सदा हितकर है। वसन्त तथा शीत ऋतुओं में तो व्यायाम अति हितकर है। अन्य ऋतुओं में प्रतिदिन आधी शक्ति के अनुकूल व्यायाम करते रहना चाहिए। व्यायाम कभी करें और कभी छोड़ दें इस प्रवृत्ति का प्रभाव हानिकर होता है। व्यायाम के पश्चात् सम्पूर्ण शरीर को धीरे-धीरे मलना चाहिए।

अनुकूल व्यायाम के लक्षण—मनुष्य को आयु-बल-शरीर-देश-काल और आहार का विचार करते हुए व्यायाम करना चाहिए। व्यायाम करते हुए जब मुख से श्वास प्रश्वास आने लगे तो बलार्द्ध समझना चाहिए। शरीर से पसीना निकलना, श्वास गति में वृद्धि हो जाना, हृदय गति तीव्र हो जाना, प्रत्येक अंग में लघुता का अनुभव होना ये अनुकूल व्यायाम के लक्षण हैं।

अधिक व्यायाम से हानि

क्षयतृष्णाऽरुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमाः ॥
कासशोषज्वरश्वासा अतिव्यायामसंभवाः ॥ सु० चि० २४/४६

अधिक व्यायाम करने से क्षय, तृष्णा, अरुचि, छर्दि, रक्तपित्त, भ्रम, क्लम, कास, शोष, श्वास आदि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार सिंह अपने से अधिक बलवान हाथी को खींचता हुआ स्वयं ही थककर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अति व्यायाम, अति हँसने, अति बोलने, अति रास्ता चलने, अति मैथुन एव अति जागरण से व्यक्ति स्वयं हानि उठाता है। अतः इन सब का अति सेवन स्वास्थ्य के लिए वर्जित है।

व्यायाम के अयोग्य

रक्तपित्तो कृशः शोषी श्वासकासक्षतातुरः ॥
भुक्तवान् स्त्रीषु च क्षीणस्तृड्भ्रमार्तश्च वर्जयेत् ॥ सु० चि० २४/५०

आगे लिखे व्यक्तियों को व्यायाम नहीं करना चाहिए। भूख-प्यास-भय-शोक-क्रोध-भ्रम और परिश्रम से आक्रांत, अजीर्ण से ग्रस्त, बालक एवं वृद्ध को व्यायाम नहीं करना चाहिये। प्रबल वात प्रकृति वाले व्यक्ति को भी व्यायाम नहीं करना चाहिए। रक्तपित्त, वातपित्त, शोष, श्वास, कास, क्षत रोगों से पीड़ित, कृश तथा अति मैथुन से क्षीण व्यक्ति को व्यायाम नहीं करना चाहिए। भोजन के पश्चात् भी व्यायाम नहीं करना चाहिये।

परिभ्रमण (चङ्क्रमण, टहलना)

(सु० चि० २४/७९, ८०)

यत्तु चङ्क्रमणं नातिदेहपीड़ाकरं भवेत् ।
तदायुर्बलमेधाग्निप्रदमिन्द्रियबोधनम् ॥ सु० चि० २४/८०

यद्यपि बहुत अधिक पैदल चलना वर्ण, कफ, स्थूलता और सुकुमारता को नष्ट करता है परन्तु व्यायाम करने में अशक्त व्यक्तियों को नियमित रूप से परिभ्रमण के लिए जाना चाहिये। परिभ्रमण न बहुत धीमी गति से हो और न बहुत तेज गति से ही। शरीर की सामान्य आकृति को बनाए रखते हुए मध्यम गति से परिभ्रमण करना चाहिए। ऐसा करते समय झुककर नहीं चलना चाहिए। इस प्रकार परिभ्रमण से लाभ पहुँचता है। जिस परिभ्रमण से शरीर को कष्ट न हो वह आयु, बल, मेधा और अग्नि को दीप्त कर इन्द्रियों को चेतन्य रखता है। नंगे पैर परिभ्रमण नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य रोगी और अल्पायु बनता है और नेत्रों की ज्योति नष्ट होती है।

क्षौर कर्म

(च० सू० ५/९९; सु० चि० २४/७३)

पाप्मोपशमनं केशनखरोमावमार्जनम् ॥ सु० चि० २४/७३

केश, नख एवं रोम कटवाते रहने से पाप का शमन होता है।

केश (सिर के बाल) श्मश्रु (दाढ़ी के बाल) और नख को काटने और ठीक प्रकार से प्रसाधन कर रखने से शरीर पुष्ट होता है एवं आयु के लिए हितकर है। यह वृष्यता, पवित्रता प्रदान करने वाला, पाप का शमन करने वाला, प्रसन्नता प्रदान करने वाला और स्वरूप को निखारने वाला होता है। इससे शरीर में हल्कापन अनुभव होता है और सौभाग्य एवं उत्साह की प्राप्ति होती है। चरकाचार्य के मतानुसार एक पक्ष (पखवाड़े) में तीन बार केश, दाढ़ी, नख आदि को संवरवा लेना चाहिए। आजकल दाढ़ी प्रायः प्रतिदिन बनाते हैं तथा सिर के बाल प्रत्येक पक्ष में। जो दाढ़ी प्रतिदिन नहीं बनाते हैं वे प्रति तीसरे दिन बनाते हैं। ऐसा करना उपरोक्त गुणों के लिए आवश्यक है।

उद्वर्तन (उबटन लगाना)

(सु० चि० २४/५१-५४; अ० सं० सू० ३/६७, ६८)

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलायनम् ॥ अ० सं० सू० ३/६७

कफनाशक द्रव्यों से बनाया हुआ उबटन शरीर पर मलना चाहिए। इससे आवश्यकता से अधिक शरीर में संचित मेद शरीर में ही लीन हो जाता है।

उबटन मलने से अंग स्थिर होते हैं, त्वचा कोमल और निर्मल होती है, रोम कूपों के मुख खुल जाते हैं। घर्षण से मेद और कफ पिघल जाते हैं और शरीर में लीन हो जाते हैं। उबटन वात नाशक (सुश्रुत) तथा कफनाशक (वाग्भट) होता है। यह दो प्रकार से बनाया जाता है (१) कफनाशक द्रव्यों यथा अरहर की छाल, आम की छाल, नीम के पत्ते, लोध्र वृक्ष की छाल और अनार की छाल को कूट कर छान कर बारीक चूर्ण बनाकर जल अथवा दूध में मिलाकर शरीर पर उबटन की तरह मलते हैं। यह बिना चिकनाई का औषध चूर्ण है। इसे उद्‌घर्षण कहते हैं। उद्‌घर्षण से प्रसन्नता सौभाग्य, शरीर की शुद्धि और लघुता आदि की प्राप्ति होती है और कण्डू, एवं वात का नाश होता है। (२) यदि उबटन के द्रव्यों में स्नेह मिलाते हैं तो उसे उत्सादन कहते हैं यथा हिन्दुओं में शादी से पूर्व जौ का आटा, हल्दी, तैल और जल के मिश्रण को उबटन की तरह मलते हैं। इससे शरीर कान्ति युक्त हो जाता है और त्वक् रोग नष्ट होते हैं।

मुख की कान्ति

(सु० चि० २४/१५-१७)

क्षीरवृक्षकषायैर्वा क्षीरेण च विमिश्रितैः।
भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा॥
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थः शीतोदकेन वा॥ सु० चि० २४/१५-१६

(१) क्षीर वृक्षों के क्वाथ (२) क्षीर वृक्षों के क्वाथ में दूध मिलाकर। (३) लोध्र का क्वाथ अथवा (४) आँवले का क्वाथ, इसमें से किसी एक से मुख और नेत्र प्रतिदिन धोने से मुख की नीलिमा, मुखशोष, पिड़का, व्यंग्य तथा रक्तपित्तजन्य विकार नष्ट हो जाते हैं। मुख सुन्दर दिखाई देने लगता है। नेत्रों की ज्योति बनी रहती है। उपरोक्त द्रव्यों के अभाव में शीतल जल का व्यवहार किया जा सकता है।

स्नान

(च० सू० ५/९४; सु० चि० २४/५७-६३; अ० सं० सू० ३/६८-७५)

पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसन्धानं स्नानमोजस्करं परम्॥ च० सू० ५/९४

स्नान करने से शरीर में पवित्रता आती है। स्नान पुष्ट कारक, आयुवर्धक, बल, ओज तथा कान्ति वर्धक, एवं कण्डू, शरीर के मल, पसीने की दुर्गन्ध, आलस्य, तृष्णा, दाह, श्रम (थकावट) तथा अपवित्र विचारों को नष्ट करने वाला होता है। स्नान से समस्त इन्द्रियाँ चैतन्य हो जाती हैं तथा रक्त शुद्ध और अग्नि दीप्त हो जाती है।

स्नान विधि—स्नान करते समय पहिले शरीर को भिगोना चाहिए। सिर

पर उष्ण जल को कभी नहीं डालना चाहिए। यह नेत्रों तथा केशों के लिए हानिकारक होता है, परन्तु कफ तथा वात प्रकोप में बलाबल के अनुसार सिर पर उष्ण जल डालकर स्नान किया जा सकता है।

सामान्य शीतल जल में स्नान करना स्फूर्तिदायक है, तन्त्रिका तन्त्र (nervous system) को इससे बल की प्राप्ति होती है। रक्त संवहन तथा चयापचय क्रिया बढ़ती है। त्वचा का तनाव बना रहता है तथा बाह्य तापमान के परिवर्तनों का दुष्प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता है।

अत्यन्त शीतल अथवा अत्यन्त ऊष्ण जल से कभी स्नान नहीं करना चाहिए, दोनों ही शरीर को हानि पहुँचाते हैं। शीत ऋतु में अत्यन्त शीतल जल कफ तथा वात को प्रकुपित करता है। ऊष्ण ऋतु में ऊष्ण जल पित्त और रक्त को प्रकुपित करता है। कभी शीतल जल से और कभी उष्ण जल से भी स्नान नहीं करना चाहिए।

शीतल जल स्नान—यदि अति शीतल जल से स्नान करना पड़ जाए तो स्नान शीघ्रता से कर लेना चाहिए, और स्नान के पश्चात् शरीर को तुरन्त ही वस्त्र से ढक लेना चाहिए। क्योंकि शीतल जल में स्नान से त्वचा ठण्डी हो जाती है उसका तापमान गिर जाता है, त्वचा के नीचे की रक्त वाहिकाएँ संकोच कर जाती हैं जिस कारण रक्त संवहन अत्यन्त अल्प हो जाता है। वस्त्र से शीघ्र ही ढक लेने पर रक्त वाहिकाएँ विस्फारित कर जाती हैं और उष्णता का अनुभव होता है एवं शीतता के अनिष्ट प्रभाव से शरीर बच जाता है। साथ ही साथ शरीर में हल्केपन का अनुभव होने लगता है तथा मन में प्रसन्नता के भाव आ जाते हैं। झीलों और नदियों के तट पर रहने वालों को शीत ऋतु में प्रायः शीतल जल में स्नान करना पड़ता है। अतः उन्हें विशेष ध्यान रखना चाहिये।

समोष्ण जल स्नान—समऊष्ण (warm) जल का तापमान 90°-95°F /32·2°-36·6°C होता है। यह शरीर के तापमान के समान होता है। जैसा ऊपर कह आए हैं कि शीतल जल या स्नान शीघ्र ही समाप्त करना पड़ता है। उस समय बदन को मलने, त्वचा को साफ करने आदि का पर्याप्त समय नहीं मिलता है। परन्तु शरीर के तापमान वाले इस सम ऊष्ण जल में स्नान करने में ये रुकावटें नहीं होती हैं। शरीर की सफाई के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। इस स्नान से तन्त्रिका तन्त्र पर शान्तिदायक (soothing) प्रभाव पड़ता है। यदि परिश्रम के पश्चात् तथा आराम करने के पूर्व ऐसे जल से स्नान किया जाता है तो नींद बहुत अच्छी आती है।

ऊष्ण जल स्नान—ऊष्ण जल (98°-100°F/36·6°-37·7°C) का तापमान शरीर तापमान से अधिक होता है। ऐसे जल में स्नान करने से त्वचा का तापमान बढ़ जाता है, जिससे उसके नीचे की रक्त वाहिकाएँ विस्फारित कर जाती हैं। इसका

दुष्परिणाम यह होता है कि शरीर के अन्य भागों से रक्त प्रवाह त्वचा की ओर हो जाता है। यदि ऊष्ण जल का स्नान अधिक समय तक किया जाता रहता है तो आन्तरिक अवयवों से रक्त का संचरण त्वचा की ओर अधिक समय तक होने रहने से उन अंगों को ठण्ड लगने का भय बढ़ जाता है। अतः शीतल जल के स्नान के समान ऊष्ण जल से भी स्नान शीघ्र समाप्त कर देना चाहिए तथा उसी के समान तुरन्त अधिक परिवर्तित तापमान वाले स्थान पर नहीं जाना चाहिये।

प्राचीन काल में स्नान करते समय, समुद्रफेन अथवा ईंट के टुकड़े (झावा आदि) आदि से शरीर को रगड़कर साफ करते थे। परन्तु आजकल प्लास्टिक तथा रबड़ के स्पञ्ज आदि को व्यवहार में लाते हैं। सिर धोने के लिए रीठा, आंवला, शिकाकाई, बेसन, दही, मुलतानी मिट्टी अथवा शेम्पो का व्यवहार करते हैं। एक अच्छे घरेलू प्रयोग के लिए शेम्पू का निर्माण निम्न प्रकार से किया जा सकता है। 50 भाग मुलायम साबुन को 15 भाग जल में घोल लें तथा 33 भाग एल्कोहल (स्प्रिट) में 2 भाग लेवेण्डर तैल मिलाकर उस मिश्रण को साबुन के घोल में डालकर अच्छी तरह मिलाकर शीशी में प्रयोग के लिये रख लें। लेवेण्डर तैल के स्थान पर किसी भी सुगन्ध का 2 भाग स्प्रिट में मिलाकर उसी प्रकार व्यवहार में ला सकते हैं। स्नान करते समय सिर को अच्छी तरह से साफ कर लेना चाहिये अन्यथा जूँ आदि पड़ने की सम्भावना हो सकती है। बालों में रुसी (dandruff) तथा दद्रु (ringworm) आदि रोग भी हो सकते हैं। स्त्रियों को सप्ताह में कम से कम एक बार अपने केश अवश्य जल से धो लेने चाहिये। साबुन का व्यवहार आजकल बहुत प्रचलित है। क्षार (कास्टिक सोडा) तथा तैल अथवा वसा में उपस्थित तथा अम्लों से साबुन का निर्माण होता है। साबुन बनाते समय यदि कास्टिक सोडा अधिक हो जायेगा अथवा वसा अम्ल अधिक होगी तो वे स्वतन्त्र रूप से साबुन में उपस्थित होंगे। ऐसा साबुन त्वचा के लिए हानिकर होता है। अतः स्थान करने के लिए अच्छे साबुन का ही प्रयोग करना चाहिए। कपड़े धोने के साबुन के निर्माण में उपरोक्त सावधानियाँ नहीं रखी जाती हैं अतः वह साबुन स्नान के लिये प्रयोग नहीं करना चाहिये। स्नान करते समय प्रकृति, सात्म्य, ऋतु, देश तथा उस समय शरीर में दोषों की विकृति के अनुसार केवल तैल अथवा सुगन्धित या औषधियों से निर्मित तैल का प्रयोग करना उचित है। ऐसा करने से तैल रोम कूपों तथा त्वचा को स्नेहित कर तृप्त करता है।

स्नान करने के पश्चात् फिर अंगों से मैल नहीं उतारना चाहिये। बालों को भी नहीं झटकना चाहिये। तौलिए से शरीर को भली भाँति सुखाकर धुले हुए वस्त्र धारण कर लेने चाहिये। स्नान से पूर्व जो वस्त्र त्वचा से लगे पहने हुए होते हैं उन्हें स्नान करने के पश्चात् नहीं पहिनना चाहिये। सार्वजनिक स्थानों पर वस्त्र विहीन होकर स्नान नहीं करना चाहिये। नदी आदि में स्नान करते समय जल को

हाथों अथवा पैरों द्वारा नहीं उछालना चाहिये। जल के अन्दर अपनी परछाई नहीं देखनी चाहिये।

स्नान का निषेध—अर्दित (facial paralysis), ज्वर, नेत्र-मुख-कर्ण रोग, कर्णशूल वात व्याधि, आध्मान (अफारा), अजीर्ण अतिसार तथा पीनस रोग में स्नान नहीं करना चाहिये। भोजन के तुरन्त बाद भी स्नान करना निषिद्ध है।

शरीर मार्जन (Sponging)

(च० सू० ५/९३)

दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्रां कण्डूमलमरोचकम्।
स्वेदबीभत्सतां हन्ति शरीरपरिमार्जनम्॥ च० सू० ५/९३

जो व्यक्ति स्नान नहीं कर सकते हैं उन्हें जल में वस्त्र भिगोकर और हल्का निचोड़कर उस भीगे वस्त्र से शरीर की शुद्धि कर लेनी चाहिये। ऐसा करने से शरीर की दुर्गन्धि, भारीपन, तन्द्रा, कण्डू, मैल, स्वेद की दुर्गन्ध तथा भोजन के प्रति अरुचि समाप्त हो जाती है।

केश प्रसाधन

(सू० चि० २४/२९)

केशप्रसाधनी केश्या रजोजन्तुमलापहा॥ सू० चि० २४/२९

स्नान के पश्चात् अथवा अन्य समय केश प्रसाधनी (कंघा, कन्घी अथवा ब्रुश) से बालों को सवाँर लेना चाहिये। ऐसा करने से धूल, जूँ आदि तथा मैल दूर हो जाता है। इससे केश तथा शरीर सुन्दर लगता है। केश प्रसाधनी प्रत्येक व्यक्ति की पृथक होनी चाहिए।

अनुलेपन

(च० सू० ५/९६, सु० चि० २४/६३-६६)

सौभाग्यदं वर्णकरं प्रीत्योजोबलवर्धनम्।
स्वेददौर्गन्ध्यवैवर्ण्यश्रमघ्नमनुलेपनम्॥ सु० चि० २४/६३

अनुलेपन सौभाग्य को देने वाला, वर्ण को उत्तम करने वाला प्रीति, ओज तथा बल को बढ़ाने वाला तथा स्वेद की दुर्गन्धि, विवर्णता और श्रम का नाशक होता है।

आजकल जिस प्रकार स्नान के पश्चात् कुछ लोग वेनिशिंग क्रीम आदि का मुख आदि पर अनुलेपन करते हैं इसी प्रकार प्राचीन भारत में भी सुगन्धित द्रव्यों यथा केशर, चन्दन आदि का अनुलेपन मुख पर तथा शरीर के अन्य भागों पर किया जाता था। इन अनुलेपनों से शरीर की दुर्गन्ध नष्ट होकर सुगन्ध आती है, मुख, स्कन्ध आदि भरे हुए लगते हैं। व्यङ्ग, पीड़िकायें नष्ट होकर मुख सुन्दर कमल तुल्य लगता है। नेत्र दृढ़ होते हैं। आयु का हित होता है। पुष्टि, बल और ओज की वृद्धि होती है। श्रम (थकावट) का नाश होता है तथा शरीर की अशोभा नष्ट होकर सौभाग्य की वृद्धि होती है।

अञ्जन कर्म

(च० सू० ५/१५-१६; सु० चि० २४/६६; सु० उ० १८/६१-६३, ६८-७३; अ० सं० सू० ३/२५, २६, ३३)

पक्ष्मलं विशदं कान्तममलोज्ज्वल मण्डलम् ।
नेत्रऽञ्जनसंयोगाद्भवेच्चामलतारकम् ।। सु० चि० २४/६६

स्रोतोऽञ्जन (antimony sulphide) अथवा सौवीराञ्जन (stybnitis) को अत्यन्त वारीक घोटकर अञ्जन बना लिया जाता है। यह अञ्जन मृदु एवं नेत्रों के लिए अति हितकर होता है अत: इसका प्रयोग प्रतिदिन करना चाहिये। इससे नेत्र सुन्दर लगते हैं। सूक्ष्म वस्तु को भी देख सकते हैं। दृष्टि की विलन्नता नष्ट हो जाती है। नेत्रों से पानी आना बन्द हो जाता है तथा नेत्र वायु एवं ताप को सहन करने योग्य हो जाते हैं। नेत्रों के तीनों भाग-'लालभाग' (नेत्रश्लेष्मला-conjunctiva), 'श्वेतभाग' (स्वच्छमण्डल cornea) तथा 'कृष्णभाग' (परितारिका-iris) निर्मल, चमकदार तथा स्वच्छ होकर पृथक्-पृथक् चमकने लगते हैं। आँखें साफ धुली हुई एवं पलकें स्निग्ध तथा घनी बन जाती हैं।

रसरत्न समुच्चय में पाँच प्रकार के अञ्जनों का वर्णन है (१) सौवीराञ्जन (stybnitis), (२) स्रोतोऽञ्जन (antimony sulphide), (३) रसाञ्जन (yellow oxide of mercury), (४) पुष्पाञ्जन (zinc oxide) तथा (५) नीलाञ्जन (गेलेना gelena-lead sulphide)। ये पाँचों द्रव्य वर्तमान में भी नेत्र औषधि के रूप में व्यवहार में आते हैं।

रसाञ्जन (yellow oxide of mercury) का प्रयोग प्रतिदिन नहीं करना चाहिए। इसका प्रयोग प्रति पाँच सात दिन के पश्चात् करना चाहिये। यह तीक्ष्ण अंजन है। अत: प्रतिदिन व्यवहार में लाने से नेत्रों को हानि होती है यद्यपि नेत्रों से दूषित जल एवं मल इससे दूर होते हैं।

शरीर में नेत्र तेज स्वरूप हैं। अत: तीनों दोषों में कफ दोष से नेत्र को विशेष भय रहता है, क्योंकि कफ शीतगुण वाला है और तेज उष्ण गुण वाला है। विपरीत गुण वाले होने के कारण एक दूसरे के विरोधी हैं। इसलिये सामान्यतः कफ नाशक कर्म नेत्र को स्वस्थ रखने में हितकर होते हैं। तीक्ष्ण अञ्जन कफ नाशक होते हैं।

इन तीक्ष्ण अंजनों का प्रयोग दिन में नहीं करना चाहिए क्योंकि जल (जो कफ का प्रतिनिधि रूप से) के निकल जाने के कारण दुर्बल हुई दृष्टि सूर्य के प्रकाश से कमजोर हो जाती है। अत: जिन अंजनों के लगाने से जल निकलता है, उन्हें दिन में प्रयोग नहीं करना चाहिये। इनका प्रयोग रात्रि में ही करना चाहिए। कुछ आचार्य इन अंजनों का प्रयोग प्रात:काल में करने के लिए कहते हैं। उनका कथन है कि प्रात:काल सूर्योदय से पूर्व श्लेष्मा वृद्धि का काल है। अत: नेत्रों के जल से

निकल जाने से कफ शान्त हो जाता है तथा सौवीराञ्जन जैसे मृदु अंजनों का प्रयोग रात्रि में करना चाहिये। हमारे मत से तीक्ष्ण अंजनों का प्रयोग रात्रि में ही करना उचित है क्योंकि रात्रि में तीक्ष्ण अंजन के पश्चात् नेत्र को विश्राम मिल जाता है।

अंजन प्रयोग से लाभ—जिस प्रकार स्वर्ण आदि धातुओं के आभूषणों को साफ करने से वे निर्मल और चमकदार होते जाते हैं इसी प्रकार अंजनों के प्रयोग से नेत्र स्वच्छ आकाश में चन्द्रमा के समान दीप्तमान हो जाते हैं।

अंजन निषेध—जब नेत्रों में किसी भी दोष का वेग बढ़ रहा हो उस समय अंजन का व्यवहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा नेत्रों में लालिमा बढ़ जाती है और अक्षिपाक तथा तिमिर रोग हो जाते हैं।

क्रुद्ध, भयभीत, शंकित, शोकमग्न, थके हुए होने पर, भोजन के तुरन्त पश्चात, विरेचन के पश्चात्, धूम्रपान के पश्चात्, नस्य के पश्चात्, शराब के नशे के समय, रात्रि में जागरण किये हुए, मलमूत्रादि वेगों से पीड़ित, रोते समय, प्यासे होने पर, ज्वर से पीड़ित, वमनरोग से पीड़ित, कृश, नेत्र में चोट लगने पर एवं सिर से स्नान करने के पश्चात् अंजन नहीं लगाना चाहिये।

यदि ऐसे व्यक्ति अंजन का व्यवहार करते हैं तो उष्मा का नेत्रों में अन्दर की ओर गमन करने से नेत्रों में लाली, आँसू, वेदना, गदलापन, राग, मैल (दूषिका), तोद, नेत्रों का कठिनाई से खुलना, शोथ, शुक्र, तिमिर आदि रोगों की सम्भावना बढ़ जाती है।

अंजन व्यापत—निद्रा न आने पर अथवा नींद से सोकर उठने पर अंजन करने से नेत्र की लेन्स समंजन (accomodation) क्रिया निर्बल हो जाती है। वायु के वेग की ओर मुख करके अंजन करने से दृष्टि बल की हानि होती है। धूल और धुयें से पीड़ित नेत्रों में अंजन करने से नेत्रों में लाली, स्राव तथा अधिमन्थ रोग हो जाते हैं। नस्य कर्म के पश्चात् अंजन करने से नेत्रों में शोथ तथा शूल उत्पन्न होता है। सिर में पीड़ा के समय अंजन करने से शिरो रोग होते हैं। सिर से स्नान किये हुए व्यक्ति द्वारा अंजन करने से अथवा अति शीतकाल में अंजन करने से नेत्र से दोष बाहर नहीं निकलते हैं तथा इन दोषों के कारण उपद्रव अधिक बढ़ जाते हैं। अजीर्णावस्था में अंजन करने से अंजन निरर्थक एवं दोषवर्धक होता है। दोषों के वेग के बढ़ जाने पर किया गया अंजन लालिमा, शोफ आदि रोगों का कारण होता है।

अंजन शलाका (सलाई)—नेत्रों में अंजन के लिए सलाई स्वर्ण, रजत, ताम्र, वैदूर्य, कांस, लौह, हाथी दाँत, सींग, नीम, यशद को व्यवहार में लाते हैं। सलाई का अग्र भाग तीक्ष्ण नहीं होना चाहिए वरन् फूल की कली के समान होना चाहिये। सलाई की लम्बाई ८-१० अंगुल, मोटाई मटर अथवा राजमाष के समान होनी चाहिये। सलाईयों के अभाव में अथवा जब अंजन केवल वर्त्म पर लगाना हो

तो अंगुली को व्यवहार में लाना चाहिये। कोमल होने के कारण अंगुली इस कार्य के लिये उपयोगी होती है।

नस्य कर्म

(च० सू० ५/५६-७०; सु० चि० ४०/४७-५५;
अ० सं० सू० २९/३,८,११,१३,१४,१८—३५)
अञ्जनोत्क्लेशितं नस्यैः····। अ० सं० सू० ३/३३

नेत्रों में अञ्जन लगाने से यदि वात एवं कफ कुपित हो जाते हैं तो उनकी शान्ति नस्य से होती है।

नासायां प्रणीयमानमौषधंनस्यम्। नावनंनस्तः कर्मेति च संज्ञां लभते। नासा हि शिरसो द्वारम्। तत्रावसेचितमौषधं स्रोतः शृङ्गाटकं प्राप्य व्याप्य मूर्धानंनेत्रश्रोत्र-कण्ठादिसिरामुखानि च मुञ्जादिषीकाभिर्वासक्तामूर्ध्वजत्रुगतां वैकारिकीमशेषामाशु दोषसंहतिमुत्तमाङ्गादपकर्षति॥ अ० सं० सू० २९/३

नासा द्वारा ली जाने वाली औषधि एवं सिद्ध तैल आदि के प्रयोग को नस्य कहते हैं। नावन और नस्य कर्म इसी के पर्याय हैं। नासिका सिर का द्वार है अतः नासिका द्वारा ली गई औषधि शृङ्गार स्रोत में पहुँचकर और वहाँ फैलकर शिरोगत, रोगों को नष्ट करती है। नेत्र-श्रोत-कण्ठ आदि की शिराओं के ऊपरवाले भागों में रहने वाले सम्पूर्ण वैकारिक दोषों को बाहर निकाल देती है। जिस प्रकार मूंज में लिपटे सरकण्डे को खींचकर पृथक कर देते हैं, उसी प्रकार नस्य इन स्थानों से दोषों को बाहर निकाल देती है।

सबसे उत्तम नस्य अणु तैल है। प्रतिवर्ष वर्षा, शहद और बसन्त ऋतुओं में जब आकाश में मेघ नहीं हों उस समय नस्य रूप में अणु तैल का अवश्य प्रयोग करना चाहिए।

नस्य के रूप में अणुतैल विधिपूर्वक लेने से दृष्टि, गन्ध ग्रहण शक्ति तथा श्रवण शक्ति कभी नष्ट नहीं होती है। केश तथा शरीर के अन्य स्थानों के रोमादि दाढ़ी, मूंछ के बाल कभी न वर्ण में हल्के पड़ते हैं और न श्वेत होते हैं। शरीर की शियायें, सन्धियाँ, स्नायु, कण्डरा, बलवती होती हैं। स्वर स्निग्ध, स्थिर और गम्भीर हो जाता है। सभी इन्द्रियाँ स्वच्छ और शक्तिशाली रहती हैं। जत्रु प्रदेश के ऊपरी भाग में रोग सहसा नहीं होते हैं। वृद्धावस्था आने पर भी शिर आदि उत्तमांगों में वृद्धावस्था के लक्षण प्रकट नहीं होते हैं। मन्यास्तम्भ (torticollis), शिरःशूल, अर्दित (facial paralysis), हनुस्तम्भ (lock jaw,) पीनस (chronic coryza), अधविभेदक (hemicrania) तथा शिरःकम्प रोग शान्त हो जाते हैं।

अणुतैल निर्माण विधि—चन्दन, अगुरु, तेजपत्र, दारुहल्दी की छाल, मुलहठी, बला, प्रपौण्डरीक, छोटी इलाइची, बायविडंग, बेल, कमल, ह्रीबेर, हरीतकी, सुगन्ध बला, खस, वन्य (कैवर्तमोथा), दालचीनी, नागरमोथा, सारिका (अनन्तमूल)

सरवन (शालपर्णी), जीवन्ती, पृश्नपर्णी, देवदारु, शतावर, हरेणु (रेणुका), छोटी और बड़ी कटेली, रास्ना (सुरभी डल्हड), और कमल केशर प्रत्येक समान भाग लेकर सौगुने आकाशीय जल (वर्षा का स्वच्छ जल, ओलों का जल आदि) में अथवा स्रवित (distilled) जल में क्वाथ करे। जब १/१० भाग जलांश शेष रह जाये अग्नि से उतार कर छान लें। छने हुए क्वाथ का १/१० भाग लेकर समान भाग तिलतैल के साथ तैल सिद्ध करे। तत्पश्चात् इस सिद्ध तैल में पुनः १/१० भाग क्वाथ मिलाकर पुनः सिद्ध करे। इस प्रकार तैल सिद्ध करते हुए अन्तिम १/१० क्वाथ भाग के साथ समान मात्रा में बकरी का दूध पहिले के सिद्ध तैल में मिलाकर अन्तिम बार तैल सिद्ध करे। इसको छान कर रख लें। यह अणुतैल है।

प्रयोग विधि—तर्जनी अंगुली के प्रथम दो पर्व घी आदि स्नेह में डुबाकर निकाल लें और उस स्नेह को अंगुली से टपकाये। जो मात्रा स्नेह की बूंद के टपकने से प्राप्त होती है उसकी संज्ञा एक बूंद है। स्वस्थ व्यक्ति को प्रतिदिन एक या दो बूंद पर्याप्त होती हैं। यह प्रतिमर्श प्रयोग है। परन्तु व्याधि निवारण के लिये नस्य मात्रा की दृष्टि से दस बिन्दु उत्तम, आठ बिन्दु मध्यम तथा ६ बूँद ह्रस्व मात्रा मानी जाती है। यह मर्श नस्य प्रयोग है।

प्रतिमर्श नस्य जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त लिया जा सकता है। नित्य सेवन अत्यन्त गुण प्रदान करता है। किसी प्रकार के परहेज रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे किसी रोग के होने का भी भय नहीं है। यह अतिशीघ्रकारी है, विशेष रूप से दुर्बल, क्षत, तृष्णा एवं शोषरोगी, वृद्ध, बाल, सुकुमार आदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए उत्तम है।

नस्य लेने का समय—प्रतिमर्श नस्य चौदह अवस्थाओं में हितकर होता है।

(१) **प्रातःकाल सोकर उठने पर**—इस समय लिया गया नस्य रात्रि में एकत्रित नासा स्रोत के मल को नष्ट करता है।

(२) **दन्त धावन के पश्चात्**—दाँतों को मजबूत बनाता है और मुख में सुगन्ध उत्पन्न करता है।

(३) **घर से बाहर जाते समय**—नस्य लेने के कारण नासारन्ध्रों के गीला होने से धूल अथवा धूम से हानि नहीं होती है।

(४) **व्यायाम** (५) **मैथुन** (६) **मार्ग गमन** आदि से थके हुए होने पर लिया गया नस्य थकावट दूर करता है।

(७) **मूत्र** (८) अधोवायु के उपरान्त लिया गया नस्य दृष्टि का भारीपन दूर करता है।

(९) कवल करने के पश्चात् (१०) अंजन के पश्चात् नस्य से नेत्र निर्मल होते हैं।

(११) भोजन के पश्चात् लिया गया नस्य स्रोतों को शुद्ध करता है तथा शरीर में लघुता उत्पन्न करता है।

(१२) छींक, वमन के पश्चात् लिया गया नस्य स्रोतों में चिपके हुए श्लेष्मा को मिलाकर भोजन में रुचि उत्पन्न करता है।

(१३) निद्रा के पश्चात् लिया गया नस्य निद्रा द्वारा भारीपन तथा मल को दूर कर चित्त में एकाग्रता उत्पन्न करता है।

(१४) सायंकाल में लिया गया नस्य सुख पूर्वक निद्रा लाकर प्रातः ही जगाता है।

वर्तमान में अणुतैल को नासाबिन्दु (nasal point) के रूप में व्यवहार में लाना सुलभ है।

प्रतिमर्श नस्य के अयोग्य व्यक्ति—दूषित प्रतिश्याय रोग से पीड़ित को, शिर में क्रिमि से पीड़ित व्यक्ति को, शराब के नशे वाले व्यक्ति को, दुर्बल श्रवण शक्ति वाले व्यक्ति को प्रतिमर्श नस्य नहीं लेना चाहिये।

मर्शनस्य—मर्श नस्य से पूर्व शिर का स्वेदन एवं स्नेहन करके एक पिचु को दस बिन्दु (आधा पल अर्थात् २० ग्राम के लगभग) अणु तैल में भिगोकर अथवा सोने, चाँदी, ताम्र अथवा सीप की सीपी में तैल को लेकर इसका एक तिहाई भाग एक समय में किसी एक नासाछिद्र में बूँद-बूँद टपकावें। उस समय दूसरा नासाछिद्र बन्द रखें, फिर पार्श्व से इस तैल को निकल जाने दें। इसी प्रकार दूसरे एक तिहाई भाग से दूसरे नासाछिद्र में टपकाकर पार्श्व से निकाल दें। इस प्रकार तीसरे शेष भाग का प्रयोग करें। तैल प्रयोग के पूर्व उसे गर्म जल में रखकर सहन करने योग्य गर्म कर लेना चाहिये। तैल को निगलना नहीं चाहिए और न ही थूक कर अथवा छींककर निकालने की चेष्टा करनी चाहिए। नेत्रों में तैल को न जाने दें। इसके लिये नेत्रों को किसी वस्त्र की तह बनाकर ढक देना चाहिए। नस्य देने के पश्चात् कान, ललाट, शिर, गाल, गर्दन, कन्धे, हथेली, तलवों को सुख पूर्वक धीरे-धीरे मलें। जब तक औषधि नासाछिद्रों से निकलती रहे हथेली से मालिश कर स्वेद देते रहना चाहिये। उपरोक्त विधि से दिन में तीन बार नस्य देकर फिर ४ दिन छोड़कर पुनः इसी प्रकार नस्य देनी चाहिए। इस तरह सात दिन तक नस्य देनी चाहिये। इसका समुचित प्रयोग त्रिदोष नाशक और इन्द्रियों को बल प्रदान करने वाला है। परहेज के लिये इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए और हितकारी भोजन करना चाहिए।

शिशिर और हेमन्त ऋतुओं में मध्याह्न में, शरद् और वसन्त ऋतुओं में पूर्वाह्न में, ग्रीष्म ऋतु में अपराह्न में तथा वर्षा ऋतु में प्रातः सूर्य के दर्शन के समय नस्य देनी चाहिये।

मर्शनस्य के अयोग्य—भोजन के पश्चात्, स्नेह-विष तथा जल पान किए हुए को, शिर से स्नान किए हुए को, जिसके शिर में चोट लगी है, ऐसे व्यक्ति को, रक्त निकलते हुए अथवा निकल चुकने पर व्यक्ति को, मल मूत्रादि वेगों से पीड़ित, एवं वमन, विरेचन, वस्ति के पश्चात् व्यक्ति को नस्य नहीं देनी चाहिए।

गर्भिणी, सूतिका, नूतन प्रतिश्याय से पीड़ित, श्वास कास से पीड़ित, तथा दुर्दिनों में भी नस्य नहीं देनी चाहिये।

आहार

(च० सू० २७/३; सु० चि० २४/६७; अ० सं० सू० ३/७६-८०)

इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं-विधिविहितमन्नपानं प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः प्रत्यक्षफलदर्शनात् ॥ च० सू० २७/३

जिस आहार का वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श स्वभाविक रूप से होने से रुचिकर हो और विधि पूर्वक बनाया गया हो, उसका प्रत्यक्ष शुभ फल दिखाई देने के कारण विद्वान लोग उसको जीवित प्राणियों का प्राण कहते हैं।

भोजन पदार्थों में अन्न जीविका यापन करने वाले पदार्थों में श्रेष्ठ है तथा जल तृप्ति करने वाले पदार्थों में श्रेष्ठ है।

अन्नं वृत्तिकाराणां श्रेष्ठम्, उदकमाश्वासकराणाम् ॥ च० सू० २५/४०

शरीर की पुष्टि, बल प्राप्ति, आयु, तेज, उत्साह, स्मृति, ओज और अग्नि वृद्धि के लिये भोजन की आवश्यकता होती है। आहार शरीर का धारक है।

आहार विधि—स्नान करने के पश्चात् अथवा हाथ पैरों को धोकर और मुख को अच्छी तरह साफ कर, स्वच्छ वस्त्रों को धारण कर, सुगन्धित पदार्थ लगाकर, अपने मतानुसार वन्दना, जप आदि कर प्रसन्नतापूर्वक ऊँचे आसन पर बैठ कर शरीर को सम रखते हुए अर्थात् बिना झुके हुए भोजन करना चाहिए। स्वयं के भोजन करने से पूर्व यह निश्चय पूर्वक जान लेना चाहिए कि गुरुजनों, अतिथियों एवं अभ्यागतों ने भोजन कर लिया है तथा अपने आश्रित भृत्य, पालतू पशु, पक्षियों आदि को भी भोजन मिल चुका है अथवा उसकी व्यवस्था हो गई है तथा अग्नि, पितर एवं देवताओं को उनका भाग समर्पित किया जा चुका है। तत्पश्चात् स्वयं भोजन करें।

भोजन करने का स्थान जनसामान्य के आवागमन के मार्ग से हटा हुआ, विघ्न बाधाओं आदि से दूर एकान्त में, रमणीक, स्वच्छ तथा समतल होना चाहिए। भोजन प्रवीण रसोइयों द्वारा बनाया हुआ ताजा, दुबारा न गर्म किया हुआ, सात्म्य, न अतिअधिक उष्ण और न ही अति शीतल, भली भांति पाक किया हुआ होना चाहिए। भोजन की चौकी अथवा मेज पर दाहिने हाथ की ओर भक्ष्य पदार्थ अर्थात् चपाती, पूरी, कचौड़ी आदि तथा शाक, दाल आदि रखने चाहिए, बायीं तरफ पीने वाले द्रव जल, दूध, शर्बत आदि पदार्थ रखने चाहिये तथा दोनों के मध्य में मिठाई एवं फल आदि रखने चाहिए।

भोजन में सबसे पहिले मधुर रस, मध्य में अम्ल, लवण रस और अन्त में शेष रस युक्त पदार्थों को ग्रहण करना चाहिए। ऐसा भी कहा गया है कि पहले अनार आदि फल फिर पेय, उसके पश्चात् भोज्य तथा भक्ष्य पदार्थों को लेना चाहिए।

आँवला प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में किसी भी समय लिया जा सकता है। यह सदैव आयुवर्धक होता है। सबसे उत्तम भोजन क्रम है कि साधारण रुचिकर भोजन पदार्थों से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर अधिक रुचिकर पदार्थों को ग्रहण करते हुए अन्त में सबसे अधिक रुचिकर वस्तु को ग्रहण करनी चाहिए। एक रस से दूसरे रस के पदार्थ को खाने से पूर्व जल के घूँट से मुख साफ कर लेना चाहिये। इससे भोजन अधिक स्वादिष्ट लगता है।

भोजन के साथ अनुपान में जल सर्वश्रेष्ठ है। जल सब रसों की उत्पत्ति का कारण है। सब प्राणियों को सात्म्य है तथा जीवन आदि गुणों से युक्त है। भोजन के पहिले अनुपान अर्थात् जल को ग्रहण करने से कृशता बढ़ती है, मध्य में सेवन से शरीर मध्यम रहता है और अन्त में अनुपान सेवन से शरीर पुष्ट होता है।

लोहे के पात्र में घी तथा चाँदी के पात्र में पेय पदार्थ लेने चाहिए। खट्टे तथा अम्ल पदार्थ पत्थर, सेलखड़ी आदि के पात्रों में लेने चाहिये। सार्वजनिक भोजों में पत्तलों पर परोसना उत्तम है तथा पेय पदार्थ मिट्टी के पात्रों में लेने चाहिये। आजकल घरों में तथा सार्वजनिक भोजों में स्टेनलैस स्टील, काँच तथा पोरसेलीन की क्राकरी आदि व्यवहार में लाते हैं परन्तु व्यवहार में लाने से पूर्व उन्हें पूर्णरूप से साफ कर लेना चाहिए। सूखे द्रव्य तथा तुरन्त व्यवहार में आने वाले लेह्य या पेय पदार्थ प्लास्टिक के पात्र में लिये जा सकते हैं। उबाल कर ठण्डा किया हुआ दूध अथवा जल तांबे के पात्र में लिया जा सकता है परन्तु गर्म दूध अथवा जल ताँबे के पात्र में हानिकर एवं विषैला हो जाता है।

जिन ऋतुओं में रात्रि बड़ी होती है उनमें स्निग्ध तथा उष्ण भोजन दोपहर से पूर्व (पूर्वाह्न में) करना चाहिये तथा जिन ऋतुओं में दिन बड़े होते हैं उन दिनों लघु, शीतल द्रव बहुल भोजन दोपहर पश्चात् (अपराह्न में) करना चाहिए तथा जिन ऋतुओं में रात दिन समान होते हैं, दिन का भोजन मध्याह्न में करना चाहिए।

भोजन के पश्चात् हाथों को साफ कर दाँतों में लगे अन्न के अंश को शलाका से हटाकर जल से मुख की शुद्धि कर लेनी चाहिये। जल से नेत्रों का सिञ्चन भी लाभप्रद है। हाथ, मुखादि स्वच्छ वस्त्र से साफ कर ताम्बुल आदि सेवन करना चाहिए फिर सौ कदम चलकर वाम पार्श्व से कुछ देर के लिये लेट जाना चाहिए। द्रव बहुल भोजन के पश्चात् शय्या बहुत देर तक सेवन नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार उत्तम प्रकार से संस्कार किया हुआ मात्रा पूर्वक, दोष रहित, उत्तम गुण सम्पन्न दोष तथा काल की विचारणा करते हुए प्रातः एवं सायं भोजन ग्रहण करना चाहिए। मलिन, जूंठा, कंकड़ मिट्टी युक्त, अरुचिकर, अतिवासी, स्वाद हीन, दुर्गन्ध युक्त, पुनः गर्म किया, अति उष्ण तथा अतिशीतल भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए।

जिस भोजन का पता न हो कि कहाँ से आया है उसे भी ग्रहण न करें। मृतक का भोज अथवा जिसकी मृत्यु निकट हो ऐसे व्यक्ति का भोजन भी नहीं लेना

चाहिये। कृपण, अतिनिर्धन, स्त्री के वश में रहने वाले का, नपुंसक, पतित, क्रूर, शत्रु, वैश्या, धूर्त, पणित (सूदखोर) व्यक्ति का एवं सदावर्त का अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए।

सायंकाल दिन के क्षय के समय, प्रातः दिन के प्रारम्भ काल में, खुले मैदान में, तेज धूप या अन्धकार में, वृक्ष के नीचे बैठकर, चारपाई पर बैठकर, टूटे पात्रों में, आसन पर रख कर, बर्तन को हाथ में लेकर भोजन नहीं करना चाहिये। जल को सामान्यतः अञ्जुली से नहीं पीना चाहिये। भोजन करते समय तर्जनी को खड़ा नहीं रखना चाहिए।

जो व्यक्ति (१) जत्रु के ऊपरी भाग में वात जन्य रोग से पीड़ित हैं (२) हिक्का, श्वास, कास तथा उरःक्षत से पीड़ित है, ऐसे व्यक्ति को भोजन के पश्चात् जल नहीं पीना चाहिये। इसी प्रकार जो व्यक्ति गाने आदि का कार्य करता है अथवा अधिक बोलने का कार्य करता है उसको भी भोजन के पश्चात् जल नहीं पीना चाहिये।

ताम्बुल सेवन

(च० सू० ५/७६, ७७; सु० चि० २४/२१-२४; अ० सं० सू० ५/३६-३८)

कर्पूरजातीकक्कोललवङ्गकटुकाह्वयैः।
सचूर्णपूगैः सहितं पत्रं ताम्बुलजं शुभम्॥ सु० चि० २४/२१

ताम्बुल सेवन करने का रिवाज भारत में अति प्राचीन काल से चला आता है। प्राचीन काल में जायफल, कटुक (कत्था अथवा लता, कस्तूरी का फल) सुपारी, लवंग, शीतलचीनी (कंकोल), कर्पूर, छोटी इलायची और चूने को पान में रखकर मुख में रखते थे। भारत के कुछ भागों में, विशेष रूप से दक्षिण भारत में, यह प्रथा आज भी प्रचलित है कि कत्थे तथा चूने को बिना जल में घोले पान पर डालकर सुपारी तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों के साथ लिया जाता है।

पान खाने से मुख में निर्मलता, सुगन्धि, कान्ति एवं सुन्दरता आती है। भोजन के प्रति रुचि जाग्रत होती है। दाँत, जिह्वा का मल दूर होता है। स्वर में किसी प्रकार का विकार नहीं होता है। इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं। मुख प्रेसक (मुख से लार टपकना) शान्त होता है। हृदय को बल मिलता है। गले की व्याधियाँ नष्ट होती हैं।

सोकर उठने पर भोजन के पश्चात्, स्नान के पश्चात् तथा वमन के पश्चात् पान खाना हितकर है। वाग्भटाचार्य कहते हैं कि एक पान के स्थान पर दो पान एक साथ खाने चाहियें। ऐसा रिवाज पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में आज भी है।

धूम्रपान

(च० सू० ५/२०-५५; सु० चि० ४०/३-१८; अ० सं० सू० ३/३२, ४/२-१८)

प्राचीन भारत में तम्बाकू की उत्पत्ति नहीं होती थी। मुगल काल में पश्चिम देशों के व्यक्तियों द्वारा इसे भारत में पहिली बार लाया गया था। अतः आयुर्वेदीय

संहिता ग्रन्थों में धूम्रपान का जो वर्णन किया गया है उसका सम्बन्ध बीड़ी, सिगरेट अथवा हुक्के में तम्बाकू पीने से नहीं है।

धूमः पञ्चविधो भवतिः तद्यथा-प्रायोगिकाः।
स्नेहिको, वैरेचनिकः, कासघ्नो, वामनीयश्चेति ॥ सु० चि० ४०/३

प्राचीन भारत में सुगन्धित पदार्थों की वर्ति बना कर पीते थे और उसे धूम्रपान कहते थे। चरक एवं वाग्भट ने धूम्रपान के तीन प्रकारों का वर्णन किया है (१) प्रायोगिक (२) स्नेहिक तथा (३) वैरेचनि (शिरोविरेचन)। सुश्रुत ने दो अन्य प्रकार के धूम्रपान का वर्णन किया है (१) कासघ्न तथा (२) वामनीय।

प्रायोगिक धूम्रपान का ही स्वस्थ व्यक्ति उपयोग करते थे। अन्य प्रकार के धूम्रपान विकारों की अवस्था में औषधि रूप में अथवा संशोधन कर्म के रूप में व्यवहार में लाए जाते थे। यहाँ प्रायोगिक विधि का ही वर्णन किया जाता है।

धूम्रवर्ति निर्माण—कुठ और तगर को छोड़कर एलादि गण की औषधियों का बारीक चूर्ण यथा (हरेणुका-रेणुका, प्रियगु, बड़ी, इलाइची, नागकेसर, नखी, सुगन्ध वाला चन्दन, तेजपत्र, दालचीनी, छोटी इलाइची, खस, पद्माक, सुगन्ध, तृण, मुलेठी, जटामासी, गुग्गुल, अगुरु, शर्करा, वन्य-केवरीमोथा, राल, नागरमोथा, छरीला, श्वेत कमल, नील कमल, गन्दाविरोजा, शल्लकी-कुन्दुरु तथा बरगद, गूलर, पीपल, पाकड़ एवं लोध्र वृक्षों की छाल का बारीक चूर्ण बनाकर उसमें से दस ग्राम लेकर जल में कल्क (लुगदी) बना लें। फिर १२ अंगुल लम्बे और अगुली के समान मोटे बिना गाँठ के सरकण्डे (इसे २४ घंटे तक पानी में भिगोकर और फिर निकाल कर कपड़े से पोंछकर काम में लाते हैं जिससे सूखने पर उसका व्यास कम हो जाय) पर उपरोक्त कल्क का नौ अंगुल लम्बा प्रलेप करें और छाया में सुखा लें। इस प्रकार पाँच बार लेप कर और सुखाकर इस तरह बनावें कि बीच में अगूठे के समान मोटा और किनारों पर पतला, जौ के आकार का हो जाये। सूखने पर सरकण्डे को बीच से निकाल लें। यह धूम्रवर्ति बन गई। एक अन्य तरीका और है। सरकण्डे पर एक रेशम का कपड़ा लपेट लें और फिर उस पर कल्क का प्रलेप करें। रेशम के वस्त्र के कारण सूखने पर आसानी से सरकण्डे से उतार लिया जा सकता है।

धूम्रनेत्र (smoking pipe):—इस धूम्रवर्ति को धूम्रनेत्र में लगाकर सिगरेट के समान पीते थे। धूम्रनेत्र नली (शलाका) स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि धातुओं की अथवा नरसल की ४८ अंगुल (लगभग २४ इंच) सुश्रुतमतानुसार अथवा ४० अंगुल (२० इंच के लगभग) वाग्भट मतानुसार लम्बी होती थी, जो आगे से कनिष्ठा अंगुली के समान और पीछे से अंगुष्ठ के समान मोटी अन्दर से खोखली तथा आगे धूम्र-वर्ति के प्रवेश योग्य छिद्र वाली होती थी। यह धूम्रनेत्र तीन टुकड़ों में भी बनाया जाता था जिसे व्यवहार में लाते समय एक दूसरे को मिलाकर एक शलाका

बना लिया जाता था और व्यवहार के पश्चात् तीन भागों में पुनः करके रख लिया जाता था।

सुख पूर्वक बैठकर नेत्र स्रोत में प्रज्वलित धूम्रवर्ति को स्थापित कर मुख एवं एक नासिका छिद्र बन्द कर दूसरे छिद्र से धूम्रपान करते हैं। परन्तु प्रत्येक दशा में धूम्र को मुख से ही निकालते हैं।

धूम्रपान के काल—इस प्रकार के प्रायोगिक धूम्रपान के आठ काल उचित माने जाते हैं। (१) स्नान के पश्चात्, (२) भोजन के पश्चात्, (३) वमन के पश्चात्, (४) छींक आने के पश्चात्, (५) दाँत और मुख की शुद्धि के पश्चात्, (६) नस्य लेने के पश्चात्। (७) नेत्र में अंजन लगाने के पश्चात् तथा (८) निद्रा से उठने के पश्चात्। एक बार में वर्ति के तीन कक्ष (puff) लेते हैं फिर कुछ रुक-रुक कर तीन तीन कक्ष और इस प्रकार नौ कक्ष लेने का विधान है। दिन में केवल दो बार धूम्र-पान करने को कहा गया है।

उपरोक्त वर्णित आठ काल के अतिरिक्त अकाल में लेने से अथवा अधिक धूम्रपान करने से वधिरता, नेत्रदृष्टि ह्रानि, मूकपान, रक्त पित्त, सिर में चक्कर (giddiness), तालु शोष, गल शोष, दाह, पिपासा, मूर्च्छा, भ्रम, मद, कानों में ध्वनि, नासारोग तथा दुर्बलता होने का भय है।

धूम्रपान से लाभ—इस प्रकार धूम्र सेवन से मनुष्य की इन्द्रियाँ, वाणी और मन प्रसन्न होता है। शिर का भारीपन, शिरःशूल, पीनस, अर्धावभेदक (hemi-craina), कान और नेत्र का शूल, कास, हिक्का, श्वास, गलग्रह, दन्तशूल, कान, नाक और नेत्र से दूषित स्राव का निकलना, नाक से दुर्गन्ध युक्त स्राव (पूति घ्राण-Ozonea), मुख की दुर्गन्ध, अरोचकता, हनुग्रह, मन्याग्रह, कण्डू, क्रमिरोग, मुख का पीला पड़ जाना, मुख से कफ का स्राव होना, केशों का झड़ना, छींक अधिक आना, अधिक तन्द्रा और निद्रा आना, आलस्य का रहना, बुद्धि का व्यामोह होना, स्वर भेद, गलशुण्डी, उपजिह्विका, खालित्य, केशों का वर्ण परिवर्तित होना, आदि रोग शान्त होते हैं तथा बाल, कपाल, इन्द्रियों एवं स्वर में बल की वृद्धि होती है। संक्षेप में ऐसे व्यक्ति की जत्रु के ऊपरी भाग में होने वाले समस्त रोग, विशेष रूप से वात और कफ जन्य रोग शान्त हो जाते हैं।

सम्यक् धूम्रपान के लक्षण—हृदय, कण्ठ एवं ज्ञानेन्द्रिय की शुद्धि, सिर का हल्का होना और बढ़े हुए दोषों का शान्त हो जाना सम्यक् प्रकार से किये गये धूम्र-पान के लक्षण हैं।

धूम्रपान के अयोग्य—१८ वर्ष से कम आयु तथा ८० वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति को धूम्रपान निषेध कहा गया है। इसके अतिरिक्त विरेचन के पश्चात्, वस्ति लेने के पश्चात्, रक्त पित्त तथा विष से पीड़ित व्यक्ति के लिए, रात्रि जागरण के पश्चात्, शिर का आघात होने पर एवं मधु-दूध-दही-मद्य एवं यवागू खाने के पश्चात्, विषैला जल पीने के पश्चात्, मछली खाने के पश्चात् तथा पाण्डु-प्रमेह-आध्मान-

उर्ध्ववात-तिमिर रोगी एवं अति उष्ण और रुक्ष शरीर वाले को तथा क्रोध से सन्तृप्त व्यक्ति को धूम्रपान का निषेध है।

तम्बाकू

आजकल तम्बाकू को विभिन्न रूपों में यथा सिगार, सिगरेट, बीड़ी, पाइप, हुक्का आदि के रूप में, धूम्रपान के लिये व्यवहार में लाते हैं। यद्यपि सिगरेट आदि के प्रत्येक पैकेट पर तथा इनके विज्ञापन में स्पष्ट लिखा रहता है कि 'धूम्रपान स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है' परन्तु फिर भी अनेक व्यक्ति इसका सेवन करते हैं। आँकड़े बताते हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग ३,५०० मृत्युएँ प्रतिदिन (३५ लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष) तम्बाकू सेवन करने से उत्पन्न रोगों द्वारा होती हैं। इंग्लैंड में पचास हजार से एक लाख व्यक्ति इन्हीं रोगों से प्रतिवर्ष मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। भारत में यद्यपि इसके आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं परन्तु अनुमान है कि इस कारण मृत्यु की भेंट चढ़ जाने वाले व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक होती है।

तम्बाकू की पत्तियों में लगभग ३०० प्रकार के विभिन्न रासायनिक पदार्थ होते हैं, जिनमें १ से ५ प्रतिशत तक निकोटीन (nicotine) होता है। सिगरेट, बीड़ी आदि के धुयें में तो लगभग एक हजार विभिन्न प्रकार के पदार्थ वाष्प रूप में होते हैं जिनमें ०·५ से ०·८ प्रतिशत निकोटीन होता है। दस ग्राम सिगरेट के तम्बाकू में १५ से ४० मि०ग्रा० निकोटीन होता है। सिगरेट का गहरा कश लगाने पर उस धुएँ में उपस्थित निकोटीन का ९० प्रतिशत शरीर में ही रुक जाता है। यदि एक व्यक्ति दस सिगरेट प्रतिदिन गहरे कश के साथ पीता है तो प्रतिदिन लगभग ७० मि०ग्रा० निकोटीन उसके शरीर में ही रुक जाता है। जो व्यक्ति हल्के कश के साथ सिगरेट पीते हैं वे लगभग ७ मिली ग्राम निकोटीन रोकते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन एक पैकेट (दस) सिगरेट पीने वाला व्यक्ति प्रति सप्ताह लगभग १०० मि० ग्रा० निकोटीन अपने शरीर में रोक लेता है। यह ऐसी भयानक मात्रा है कि यदि किसी व्यक्ति को एक साथ यह मात्रा दे दी जाये तो बन्दूक की गोली के समान यह मात्रा मनुष्य के जीवन को तुरन्त समाप्त करने में समर्थ होती है। मुख से खाने पर तम्बाकू धूम्रपान की अपेक्षा कम खतरनाक है।

निकोटीन विष के अतिरिक्त एक अन्य विष जो सिगरेट के धुवें में होता है वह है कारबन मोनो ऑक्साइड (CO)। सामान्यतः १ से २·५ प्र० श० का० मो० ऑ० सिगरेट के धुवें में रहता है। इसके हानिकारक प्रभाव से मनुष्य बच नहीं सकता है। सिगरेट के कागज का भार लगभग ४ प्रतिशत होता है। यह कागज एक उच्च कोटि के सेल्यूलोज से बनता है जो सन (fex) की लुगदी (pulp) से प्राप्त होता है। अनेक वैज्ञानिकों का मत है कि फुफ्फुस केन्सर (lung cancer) का एक कारण इस कागज का धुआं भी है। सिगरेट में फिल्टर कैल्शियम कारबोनेट का होता है। यह फिल्टर सिगरेट में उपस्थित टार (tar) का लगभग ३० प्र० श० अंश रोक लेता

है। टार की इस प्रकार से कमी अनेक फुफ्फुस रोगों को तो कुछ रोकती है परन्तु इसका रक्तवाहिकाओं पर जो दुष्प्रभाव पड़ता है उसमें कमी नहीं आती है। शरीर के विभिन्न अंगों पर तम्बाकू के धूम्रपान का जो हानिकर प्रभाव पड़ता है वह नीचे दर्शाया जा रहा है।

गले (Throat) पर प्रभाव

तम्बाकू पीने वालों में एक विशेष प्रकार का कास (cough) देखा जाता है। इसका कारण तम्बाकू के धुएँ में उपस्थित हानि कारक रासायनिक पदार्थों तथा धुवें की उष्णता से गले की श्लेष्मिक कला (mucous membrane) का शोथ (inflammation) है।

श्वास संस्थान पर प्रभाव—

(i) **चिरकारी श्वसनी शोथ** (chronic bronchitis)—तम्बाकू के धुएँ के श्वास तलिकाओं में पहुँचने से श्वास मार्ग की श्लैष्मिक कला में उपस्थित सिलिया (cilia-रोमक) घात (paralyse) कर जाते हैं। इन सिलिकाओं का कार्य है कि श्वास मार्ग में जो श्लेष्मा (mucous) एकत्रित हो जाती है अथवा कोई विजातीय (foreign) कण यथा धूल कण, जीवाणु आदि पहुँच जाते हैं उन्हें श्वासमार्ग से बाहर की ओर ढकेल दें। इनकी इस क्रिया के कारण ही हम श्लेष्मा (बलगम) को बाहर निकाल सकते हैं। इस प्रकार ये सिलिया फुफ्फुसों की रक्षा में सहायक होते हैं। इनके धात से विजातीय तत्व तथा श्लेष्मा फुफ्फुसों में तथा श्वास मार्ग में रुक जाता है जिसका फुफ्फुसी ऊतकों (tissues) पर अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार तम्बाकू के धूम्रपान से श्वसनी शोथ (bronchitis) तथा फुफ्फुसी वात स्फीति (emphysema) आदि रोगों की सम्भावना बढ़ जाती है।

(ii) **फुफ्फुस केन्सर** (Lung Cancer)—चिकित्सालयों की प्रयोगशालाओं में धूम्रपान करने वालों में फुफ्फुस केन्सर के इतने अधिक प्रमाण हैं कि अब उनके उद्धहरण देने की आवश्यकता नहीं है। तम्बाकू के धुएँ में १६ प्रकार के बेन्जोपायरिन (benzopyrene) वर्ग के पदार्थ पाये जाते हैं। ये पदार्थ केन्सर प्रारम्भ करने में सहायक होते हैं। धूम्रपान न करने वालों की अपेक्षा धूम्रपान करने वालों में फुफ्फुस केन्सर १५ से २० गुणा अधिक पाया जाता है।

रक्त संस्थान पर प्रभाव—रोगों के कारणों पर परीक्षणों में प्रमाणित है कि केवल दस सिगरटें प्रतिदिन पीने वालों में कोरोनरी (coronary) हृद रोगों से होने वाली मृत्यु दर धूम्रपान न करने वालों की अपेक्षा कहीं अधिक है। हृद् रोग से पीड़ित व्यक्ति यदि धूम्रपान त्याग देते हैं तो हृद् रोग के आक्रमणों (attack) में अत्यन्त कमी आ जाती है और उचित चिकित्सा से मृत्यु दर पर काफी अच्छा नियन्त्रण किया जा सकता है।

धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों के प्लाजमा में कोरटिको स्टेराइड्स (Cortico Steroids) की मात्रा बढ़ जाती है। जिस कारण कोलेस्ट्रॉल (Cholesterol) रक्त

में बढ़ जाता है। यदि कोलेस्ट्रॉल अधिक हो जाता है तो वह रक्त वाहिकाओं की भित्ति पर संग्रहीत होकर उनका आन्तरिक व्यास छोटा कर देता है। जिस कारण उनमें रक्त प्रवाह की मात्रा कम हो जाती है। हृदय में भी रक्त कम पहुँचता है और हृद् रोग का कारण बनता है। मस्तिष्क में कम पहुँचा रक्त मस्तिष्क केन्द्रों के कार्य में बाधा पहुँचाता है और केवल अति रक्त दाब (hypertension) ही नहीं घात (paralysis) का कारण भी हो जाता है।

धूम्रपान करने वालों में 'रोधक-घनास्त्र वाहिका शोथ' (thrombo anginitis-obliterans=Buerger's disease) की सम्भावना भी बढ़ जाती है। विशेष रूप से बाँह और टाँगों की धमनियों में इसकी सम्भावना अधिक होती है। इस कारण धूम्रपान करने वालों की टाँगों में चलने से पीड़ा होने लगती है तथा पिण्डलियों में शोथ और रात्रि में पैरों के तलवों में जलन की शिकायत हो जाती है।

धूम्रपान करते समय रक्त शर्करा अस्थायी रूप से बढ़ जाती है। परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि १०० मि०ली० रक्त में ९५ मिली० ग्राम सामान्य स्तर पर रहने वाली रक्त शर्करा धूम्रपान के समय १६० मिली ग्राम तक बढ़ जाती है।

ऑक्सीजन पर प्रभाव—श्वास द्वारा ली गई ऑक्सीजन लोहित कोशिकाओं (RBC) में पहुँचकर हीमोग्लोबिन में संयुक्त होकर ऑक्सीहीमोग्लोबिन नामक यौगिक का निर्माण करती है। यह ऑक्सीजन का संयोग अदृढ़ अस्थायी होता है। ऊतकों (tissues) में हीमोग्लोबिन से ऑक्सीजन का अधिकांश भाग पृथक हो ऊतकों में पहुँच जाता है। परन्तु जैसा कि ऊपर कह आए हैं कि तम्बाकू के धुएँ में कार्बन मोनोऑक्साइड होता है। यह का० मो० ऑ०, फुफ्फुसों में पहुँच हीमोग्लोबिन से दृढ़ स्थायी संयोग कर लेता है। अतः स्वतन्त्र हीमोग्लोबिन की कमी के कारण श्वास वायु में उपस्थित ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में हीमोग्लोबिन से संयुक्त नहीं होती है। इस प्रकार शरीर को पर्याप्त ऑक्सीजन नहीं मिलने से अल्प ऑक्सीयता (hypoxia) हो जाता है जिसका एक सामान्य लक्षण प्रबल शिरपीड़ा (headache) है। शरीर को ऑक्सीजन मिलती रहे इसके लिए लोहित कोशिकाओं की संख्या बढ़ जाती है जिस कारण रक्त की सान्द्रता बढ़ जाती है और रक्त आतंच (clot) की सम्भावना बढ़ जाती है। इस दशा में हृद् पात (heart failure) तथा घात (stroke) का भय बढ़ जाता है।

धूम्रपान से पेप्टिक व्रण (ulcer)—लगभग ६० प्रतिशत धूम्रपान करने वालों में आमाशयिक अम्लता बढ़ जाती है अतः पेप्टिक अल्सर होने के अवसर बहुत हो जाते हैं। हृद् दाह (heartburn), उद्गार (मुख से आमाशयिक वायु निकलना, (eructation), भोजन के प्रति अरुचि (anorexia), उत्क्लेश (nausea), आध्मान (flatulance) तथा अधिजठर पीड़ा (epigastric distress) आदि के लक्षण विशेष रूप से होते हैं।

गर्भ पर प्रभाव—धूम्रपान के समय व्यक्ति की हृदय गति तीव्र हो जाती है। यदि गर्भवती स्त्री धूम्रपान करती है तो उसके अपने हृदय की गति ही नहीं बढ़ती है वरन् गर्भ में भ्रूण के हृदय की गति भी बढ़ जाती है। गर्भ शिशु का उत्पत्ति के समय भार सामान्य से १००-१५० ग्राम तक कम होता है। ऐसे में गर्भपात (abortion) तथा गर्भ कुरचना (malformation) एवं मृत जन्म (still birth) की सम्भावनाएँ अत्यन्त रहती हैं। ऐसे कारणों में उत्पन्न नवजातों में मृत्यु दर अत्यन्त अधिक होती है।

धन का अपव्यय—शरीर के स्वास्थ्य की हानि करने तथा आयु को कम करने वाले पदार्थों के सेवन में जो भी धन व्यय होता है वह अपव्यय ही कहा जाएगा। एक अर्थशास्त्री का तो यहाँ तक कथन है कि एक पैकेट सिगरेट पर प्रतिदिन हम जितना व्यय करते हैं यदि उस धन को प्रतिदिन जमा कर रखते रहें तो बीस वर्षों में अनेक लाख रुपयों का व्यक्ति स्वामी हो सकता है।

धूम्रपान केवल पीने वालों के लिए ही हानिकर नहीं है वरन् साथ करने वालों को भी हानि पहुंचाता है। एक १०'×१०'×१२' के कमरे में रहने वाले दो व्यक्तियों में यदि केवल एक व्यक्ति ही धूम्रपान करता है और दस सिगरेट प्रति दिन वहाँ पर पीता है, तब न पीने वाले के अन्दर भी दो-तीन सिगरेटों के धुएँ के समान धुवाँ चला ही जाता है, और उसकी हानि उसे भुगतनी पड़ती है।

कुछ व्यक्ति धूम्रपान छोड़ना चाहते हैं परन्तु कहते हैं कि आदत छूटती नहीं है। ऐसे व्यक्तियों के लिए सबसे उत्तम तो यही है कि वे दृढ़ संकल्प कर धूम्रपान की आदत एक साथ छोड़ दें। दो-चार दिन तो कष्ट होगा परन्तु धूम्रपान एक उपार्जित (acquired) आदत होने के कारण निश्चय रूप से परिवर्तित हो जायगी और फिर उसे कोई कष्ट नहीं होगा। धूम्रपान की इच्छा होने पर बिना तम्बाकू का पान लिया जा सकता है। इसका न केवल मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ेगा वरन् उत्तेजना की प्राप्ति भी होगी। अन्यथा नीचे लिखे उपाय काम में लाने चाहिए।

(१) प्रातः का पहला धूम्रपान बहुत देर से करें।
(२) अपने पास बीड़ी, सिगरेट आदि न रखें।
(३) प्रतिदिन धूम्रपान की संख्या कम करते जायें।
(४) कश (puff) गहरा हरगिज नहीं लें।
(५) दो चार कश लेकर ही बीड़ी, सिगरेट फैंक दें या बुझा दें।
(६) प्रत्येक कश के पश्चात् बीड़ी, सिगरेट आदि तुरन्त मुख से हटा लें।
(७) प्रत्येक दो कशों के मध्य का अन्तर ज्यादा रखें।
(८) किसी को धूम्रपान न पेश करें और न स्वीकार करें।

ऐसा करने से अथवा इच्छा के समय पान ले लेने से, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, यह उपार्जित लत छूट जाती है।

हमने तम्बाकू के सम्बन्ध में उपरोक्त वर्णन विस्तार से किया है। आजकल

नवयुवक और युवतियों में धूम्रपान सभ्यता की निशानी के रूप में तेजी से विकसित होता जा रहा है। हमारा उद्देश्य उनको चेतावनी देना है कि वे लोग अपने स्वास्थ्य के साथ खिलवाड़ न करें, और इस स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाली सभ्यता से बचें।

जीविका के लिए यत्न

(अ० सं० सू० ३/३९-४१)

उत्तिष्ठेत ततोऽत्यर्थमर्थेष्वर्थानुबन्धिषु।
निन्दितं दीर्घमप्यायुरसन्निहितसाधनम्॥ अ० सं० सू० ३/३९

नित्य कर्मों से निवृत्त होकर जिन कार्यों से धन की प्राप्ति हो उन कार्यों को करना चाहिए, क्योंकि बिना धन के लम्बी आयु बिताना अत्यन्त कठिन होता है वरन् निन्दित भी है। अतः धन कमाने का सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसके लिए जो कार्य सम्मानित हो तथा जिस कार्य से निन्दा न हो उस कार्य को लगन एवं ईमानदारी से करते हुए अर्थ लाभ प्राप्त करते रहना चाहिए।

सुगन्धित द्रव्य, माला, रत्नादि धारण करना

(चि० सू० ५/९६-९७; सु० चि० २४/६४—६५; अ० सं० सू० ३/३४-३४)

गन्धमाल्यादिकं वृष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रसाधनम्॥ अ० सं० सू०, ३/३४

रत्न, आभूषण पहिनने तथा स्नान के पश्चात् सुगन्धित इत्र, चन्दन आदि लगाने एवं सुगन्धित पुष्पों की माला धारण करने से शरीर में वृष्यता, सौभाग्य, मंगल सुन्दरता और आयु में वृद्धि होती है। शरीर सुन्दर लगता है। मन में प्रसन्नता होती है तथा ओज में वृद्धि होती है।

अच्छी लम्बी नाभि से नीचे तक लटकती हुई माला धारण करनी चाहिए। कमल और गुलाब के लाल पुष्पों के अतिरिक्त अन्य लाल पुष्पों की माला धारण नहीं करनी चाहिए।

सिर पर साफा, टोपी आदि धारण करना

(सु० चि० २४/७५, ७६)

पवित्रं केश्यमुष्णीषं वातातपरजोऽपहम्॥ सु० चि० २४/७५

सिर को ढके रखने से पवित्रता रहती है। बालों की वृद्धि तथा वायु, धूप और धूल से रक्षा होती है।

पैरों में जूते आदि धारण करना

(च० सू० ५/१००; सु० चि० २४/७१, ७२)

चक्षुष्यं स्पर्शजहितं पादयोर्व्यसजापहम्।
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम्॥ च० सू० ५/१००

पैरों में जूते आदि पहिनने से नेत्रों के दृष्टि बल में वृद्धि होती है। ये पैरों की त्वचा के लिए, हितकर होते हैं। पैरों की काँटे आदि तथा रोगों से रक्षा होती है। बल पराक्रम तथा सुख प्राप्त होता है।

बिना जूतों के पहिने भ्रमण करने से व्यक्ति रोगी और अल्पायु बनता है तथा नेत्रों की ज्योति को हानि होती है।

दण्ड धारण करना

(च० सू० ५/१०२; सू० चि० २४/७७, ७८)

स्खलतः सम्प्रतिष्ठानं शत्रुणां च निषूदनम्।
अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्न दण्डधारणम्॥ च० सू० ५/१०२

हाथ में लिया हुआ दण्ड थकावट तथा फिसलने और गिरने से बचाता हैं। शरीर का सहायक होता है। कुत्ता, सर्प आदि हिन्सक जन्तुओं तथा सींग वाले पशुओं को भय दिलाता है। वृद्धावस्था में अति सहायक होता है। सत्व, उत्साह, बल, तेज, स्थिरता एवं धीरता प्रदान करता है।

छत्र (छाता) धारण करना

(च० सू० ५/१०१; सु० चि० २४/७६)

ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरवशङ्करम्।
धर्मानिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते॥ च० सू० ५/१०१

छाते को धारण करने से वर्षा, वायु, धूल, तुषार तथा धूप से बचाव होता है। यह वर्ण, नेत्र ज्योति और ओज की वृद्धि करता है। ईति (शारीरिक दुर्दैव) को शान्त करता है। इस प्रकार यह कल्याणकारी होता है।

रात्रि चर्या

(अ० सं० सू० ३/१२०-२२)

सायं भुक्त्वा लघु हितं समाहितमनाः शुचिः।
शास्तारमनुसंस्मृत्य स्वचर्यां चाय संविशेत्॥ अ० सं० ३/१२०

सायंकाल में लघु और हितकारी भोजन करके शान्त चित होकर तथा पवित्र मन से भगवान का स्मरण करना चाहिए। फिर दिन भर के कार्यों पर विचार कर सोना चाहिए।

शयन स्थान पवित्र, स्वच्छ तथा हवादार होना चाहिए। पलंग घुटनों तक ऊँचा होना चाहिए जिससे बैठने पर पैर पृथ्वी पर टिक सकें। बिस्तर मुलायम तथा मंगलमय (सुखदायक) होना चाहिए। सिराहना न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा, ठीक प्रकार का होना चाहिए। पलंग पर बिस्तर की लम्बाई चौड़ाई ऐसी होनी चाहिए जिस पर बिना कष्ट भली भाँति सोया जा सके।

सोते समय सिर पूर्व या दक्षिण दिशा की तरफ रखना चाहिए परन्तु यह

ध्यान रहना चाहिए कि पैर पूज्य जनों की तरफ करके न सोना पड़े। यदि ऐसा है तो सिर फिर किसी भी दिशा में रखा जा सकता है।

रात्रि के प्रथम पहर में, सोने से पूर्व, रात्रि के अन्तिम पहर में अथवा निद्रा त्यागने पर, अपने-अपने धर्म की मान्यताओं के अनुसार चिन्तन करना चाहिए।

ऋतुचर्या

(च० सू० ६; सु० सू० ६, सु० चि० २४; अ० सं० सू० ४)

तस्याशिताद्यादाहाराद् बलं वर्णश्च वर्धते।
यस्यर्तुसात्म्यं विदितं चेष्टाहारव्यपाश्रयम्॥ च० सू० ६/३

जो मनुष्य, किस ऋतु में कौनसा आहार विहार करना चाहिए और कौनसा नहीं करना चाहिए, इसे जानता है अर्थात् ऋतु सात्म्य को ठीक प्रकार से जानकर उसके अनुसार अपनी ऋतुचर्या चलाता है, उस व्यक्ति में चारों प्रकार के आहार से बल वर्ण आदि की अभिवृद्धि होती है।

भारत में ६ ऋतुएँ होती हैं। सूर्य के उत्तरायण के समय तीन ऋतुएँ होती हैं। इस काल को आग्नेय ऋतु काल अथवा आदान काल कहते हैं। इस काल में सूर्य की किरणों में तेजी होती है अतः वायु तीव्र और रुक्ष होकर पदार्थों एवं शरीर के स्नेह भाग (जालीयांश) का शोषण कर लेती है। आदान काल की वस्तुएँ हैं (१) शिशिर, (२) वसन्त तथा (३) ग्रीष्म। ये ऋतुएँ माघ मास से आषाढ़ मास तक फैली होती हैं तथा रुक्षता के कारण शरीर में कटु, तिक्त एवं कषाय रसों की वृद्धि हो जाने से दुर्बलता बढ़ाती है।

सूर्य के दक्षिणायन में रहते समय अन्य तीन ऋतुएँ होती हैं। इस काल को सौम्य ऋतु काल अथवा विसर्ग काल कहते हैं। इस काल की ऋतुओं के नाम हैं (१) वर्षा, (२) शरद तथा (३) हेमन्त। ये ऋतुएँ श्रावण से पौष मास तक रहती हैं। वर्षा ऋतु में जल की वर्षा हो जाने से ग्रीष्म का ताप शान्त हो जाता है, वायु की रूक्षता अल्प हो जाती है, चन्द्रमा का बल बढ़ जाता है तथा सूर्य का बल क्षीण हो जाता है। पदार्थों में तथा शरीर में मधुर, अम्ल, लवण रसों की वृद्धि हो जाती है अतः मनुष्यों में यथा क्रम बल की वृद्धि होती जाती है।

इन ऋतु परिवर्तनों के कारण मनुष्य को अपनी दिनचर्या में भी तदनुसार परिवर्तन करना स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य है। यद्यपि सब ऋतुओं में सब रसों का सेवन करना चाहिए। परन्तु ऋतु विशेष में जिन रसों के सेवन के लिये कहा गया है उनका अधिक सेवन करना यहाँ पर अभिप्राय है। समाप्त होने वाली ऋतु के अन्तिम सप्ताह और आने वाली ऋतु के प्रथम सप्ताह को 'ऋतु सन्धि' काल कहते हैं। इस पक्ष में धीरे-धीरे पूर्व की ऋतुचर्या को त्यागते हुए नवीन ऋतुचर्या को ग्रहण करना श्रेयस्कर है।

हेमन्त ऋतुचर्या—(मार्गशीर्ष तथा पौष मास; नवम्बर, दिसम्बर) हेमन्त

ऋतु विसर्ग काल की अन्तिम ऋतु है। इस ऋतु में दिशायें, सूर्य तथा वायु सब तुषार से आक्रांत होते हैं। शीतलता के कारण उत्तर की ठण्डी हवायें रोमांच उत्पन्न करती हैं। अतः इस ऋतु में तैल का अभ्यंग करना, उबटन मलना, व्यायाम करना, शिर में तैल लगाना, सीधी वायु जहाँ नहीं आये ऐसे गर्म स्थानों पर रहना, धूप सेवन करना, रात्रि को लिहाफ व गद्दों का इस्तेमाल करना, ऊनी अथवा रूईदार वस्त्रों का धारण करना आवश्यक है।

इस ऋतु में जठराग्नि प्रबल रहती है। अतः शरीर गुरु आहार को अधिक मात्रा में पचाने में भी समर्थ रहता है। इस ऋतु में यदि पर्याप्त मात्रा में गुरु आहार नहीं मिलता है तो अग्नि शरीर की रस धातु को जला डालती है एवं वायु प्रकुपित हो जाती है। रस धातु के क्षय के पश्चात् फिर क्रमशः रक्तादि धातुओं का क्षय होने लगता है। इस प्रकार धातुओं के क्षय के कारण शरीर में रुक्षता तथा कृशता में वृद्धि होने लगती है। इसलिए इस ऋतु में मधुर, अम्ल, लवण, रसयुक्त स्निग्ध पदार्थ यथा—दूध, दही, मक्खन, रवड़ी, मलाई आदि दूध के पदार्थ; गुड़, शक्कर, राव, मिश्री आदि ईख के पदार्थ, घी, तेल, नये चावल आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करना चाहिये तथा पीने के लिए ऊष्ण जल पीना चाहिए। मांसाहारियों को बिलों में रहने वाले तथा जल में रहने वाले जीवों का मांस, आनूप पशुओं का मांस और प्रसह (बाज आदि) का मांस भूनकर खाना चाहिये। मदिरा का व्यवहार करने वाले अनुपान रूप से मदिरा पान कर सकते हैं। कम मात्रा में आहार, एवं अधिक मात्रा में वायु तथा सत्तु आदि का भोजन वर्जित है।

शिशिर ऋतुचर्या (माघ तथा फाल्गुन मास; जनवरी, फरवरी)—हेमन्त ऋतु के समान शिशिर ऋतु में भी आहार विहार उपयोगी रहता है। शिशिर ऋतु के आदान काल की प्रथम ऋतु होने के कारण, वातावरण में कुछ रुक्षता आ जाती है। इस ऋतु में शीतकालीन वर्षा भी होती है। अतः मेघ और वर्षा के कारण शीत अधिक पड़ने लगता है। इसलिए इस ऋतु में हेमन्त ऋतु की चर्या का अनुकरण करने के लिये कहा गया है। हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में मनुष्य का बल श्रेष्ठ रहता है। इस ऋतु में भी कटु, तिक्त, कषाय, वातल और शीतल पदार्थों तथा अन्नपान का सेवन नहीं करना चाहिए।

बसन्त ऋतुचर्या (चैत्र तथा वैशाख मास; मार्च, अप्रैल)—बसन्त ऋतु में दक्षिण दिशा से वायु चलने लगती है। वृक्षों पर नये पत्ते आने प्रारम्भ हो जाते हैं। शिशिर ऋतु का संचित कफ उष्णता पाकर जठराग्नि को मन्द करता है। अतः कफजन्य रोगों का प्रकोप होता है। इस संचित कफ को नष्ट करने के लिये इस ऋतु में वमन आदि पंचकर्म कराने चाहिए।

इस ऋतु में व्यायाम, उबटन, गण्डूष, मलमूत्र त्याग आदि क्रियाओं के पश्चात् गुनगुने जल का सेवन करना चाहिए। शरीर पर सुगन्धित पदार्थों का लेप तथा सुगन्धित पुष्पों की माला धारण करनी चाहिये।

दिन में शयन, शीत द्रव्य, गुरु भोजन तथा अम्ल, लवण, मधुर रसों का सेवन कम कर देना चाहिए। **जल में मधु मिलाकर लेना कफ प्रकोप में लाभदायक है।** इस ऋतु में गेहूँ, जौ आदि नए अन्न आ जाते हैं। नए अन्न में मधुर रस का आधिक्य होने के कारण हानिकारक हैं। अतः अन्न पुराना ही सेवन करना चाहिए। गुरु, अम्ल, स्निग्ध, मधुर अन्नपान तथा दिन में सोना स्वास्थ्य के प्रतिकूल है। मांसाहारियों को हरिण, खरगोश, बटेर आदि जंगली जीवों के मांस का सेवन करना चाहिए। इस ऋतु में मनुष्यों का बल मध्यम रहता है।

ग्रीष्म ऋतुचर्या (ज्येष्ठ तथा आषाढ़ मास, मई, जून)—इस ऋतु में आदान काल का उत्कर्ष रहने के कारण सब दिशायें उष्ण हो जाती हैं। उष्ण वायु (लू) प्राणियों को पीड़ा पहुँचाती हैं तथा स्नेह अंश का शोषण कर लेती है। नदियों में जल का स्तर गिर जाता है। वृक्षों की पत्तियाँ झड़ जाती हैं। इस ऋतु में अधिक परिश्रम तथा उष्ण वायु, धूप आदि से बचना चाहिए। शीतल पदार्थों का सेवन करना चाहिए। आहार में मधुर रस तथा शीतवीर्य वाले पदार्थों का सेवन हितकर होता है। स्निग्ध एवं द्रव पदार्थों का अधिक सेवन करना चाहिए। सत्तु शीतल होता है उसका सेवन किया जा सकता है। घी, दूध, चावल आदि का सेवन लाभदायक है। ऐसा अन्नपान स्वाभाविक बल को बनाए रखता है। जांगल पशु पक्षियों का मांस मांसाहारी सेवन कर सकते हैं। मदिरापान नहीं करना चाहिए। जो मदिरा के अधिक अभ्यस्त हैं वे शीतल जल में बहुत कम मात्रा में मिलाकर ले सकते हैं। इस ऋतु में अम्ल, लवण, कटु अन्नपान तथा व्यायाम, मैथुन आदि अधिक नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस ऋतु में मनुष्य का बल क्षीण रहता है।

वर्षा ऋतु चर्या (श्रावण तथा भाद्रपद मास; जुलाई, अगस्त)—आदान काल तथा वर्षा के कारण शरीर अत्यन्त दुर्बल रहता है। जठराग्नि भी दुर्बल होती है। भूमि से वाष्प निकलने के कारण और ऊपर से जल की वर्षा होने तथा जल का अम्ल विपाक होने के कारण अग्नि बल क्षीण हो जाता है परिणामस्वरूप वातादि दोष कुपित हो जाते हैं। अतः इस ऋतु में सील, नमी, सर्दी, वायु, वर्षा, मक्खी, मच्छर, चूहों आदि से रहित स्थान पर रहना चाहिए। उबटन, स्नान, सुगन्धित पदार्थों का सेवन करना उचित है। सोते समय मच्छर आदि से बचाव के लिए मच्छरदानी का इस्तेमाल करना चाहिए।

भोजन में पुराना अन्न लेना चाहिए। यदि नदी, तालाब आदि का जल पीना है तो उबालकर लेना चाहिए। स्निग्ध, मधुर, अम्ल, लवण, उष्ण, शुष्क, लघु तथा वातनाशक भोजन करना चाहिए। मधु को जल में मिलाकर लेना लाभ-दायक है। जंगली पशु पक्षियों का मांस, रस के सेवन मांसाहारी कर सकते हैं।

इस ऋतु में शरीर-बलहीन रहता है। दिन में सोना, नदी, तालाब का

बिना उबाले जल पीना, अधिक व्यायाम करना, अधिक जल में घुले सत्तु का सेवन करना, अति द्रव पदार्थ लेना और धूप का सेवन करना वर्जित है।

शरद् ऋतु चर्या (आश्विन तथा कार्तिक मास, सितम्बर, अक्टूबर)— वर्षा और शीत के कारण सूर्य की किरणों से पूर्व ऋतु का संचित पित्त सहसा प्रकुपित हो जाता है। इस ऋतु में तिक्त द्रव्य से सिद्ध घृत, विरेचन, रक्त मोक्षण, शीतल व लघु अन्नपान, कषाय, मधुर, तिक्त रसों का सेवन करना चाहिए। गेहू, जौ, मूंग, शालि चावल, आँवला, शर्करा, मधु लेना चाहिए। मांसाहारियों को लावा, तीतर, हरिण, मेढ़ा, शशक आदि जांगल पशु-पक्षियों का मांस सेवन करना चाहिए। प्रदोष काल में चन्द्रमा की चांदनी का सेवन करना चाहिए। इस ऋतु में बसन्त ऋतु के समान शरीर का बल मध्यम रहता है। वसा, तैल, ओस, आनुपदेश तथा जल जन्तुओं का मांस, क्षार, दही, दिन में सोना, सामने की वायु का सेवन करना, पेट भर खाना तथा तीक्ष्ण मदिरा का सेवन त्याग देना चाहिए।

आषाढ़ मास से आश्विन मास तक चार मासों में, जो वर्षा तथा शरद् ऋतुओं के अन्तर्गत आते हैं, जल कम पीना चाहिए। हेमन्त और वसन्त ऋतुओं में गुनगुना उष्ण जल तथा ग्रीष्म ऋतु में शीतल जल पीना चाहिए।

———

२

त्रयोपस्तम्भ एवं सद्वृत्त आदि

(च० सू० ११/३५, २१/३५-५७; सु० शा० ४/३३; अ० सं० सू० ९/३६-६६, ८१-८४)

त्रय उपस्तम्भा इति-आहारः स्वप्नोब्रह्मचर्यमिति । च० सू० ११/३५

चेतन प्राणियों की स्थिति के लिए आत्मा, मन और शरीर विदण्ड के समान हैं। इन तीनों के कारण यह लोक प्रतिष्ठित हैं (च० सू० १/४५), इसी प्रकार वात, पित्त और कफ ये शरीर के तीन स्तम्भ 'त्रिस्थूण' हैं। (सु० सू० १/२२) तथा आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य, ये तीन उपस्तम्भ हैं। इन तीनों के युक्ति पूर्वक सेवन से यह शरीर स्थिर होकर बल, वर्ण और वृद्धि को प्राप्त कर उचित रूप से आयु पर्यन्त स्वस्थ बना रहता है।

वाग्भट ने ब्रह्मचर्य के स्थान पर अब्रह्मचर्य की गणना उपस्तम्भ में की है। (त्रितयं चेदमुपष्टम्भनमाहारः स्वप्नोऽब्रह्मचर्यं च । अ० सं० सू० ९/३६)

आहार

आहार के विषय में पीछे के पृष्ठों में कहा जा चुका है और आगे एक सम्पूर्ण अध्याय इसी प्रश्न पर है।

निद्रा

यदा तु मनसिक्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ।। च० सू० २१/३५

जब मन थक जाता है और इन्द्रियाँ भी थक कर अपने-अपने कर्मों से निवृत हो जाती हैं तब व्यक्ति सोता है।

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम् ।।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम् ।। सु० शा० ४/३४

संसार की उत्पत्ति काल से ही प्राणियों में निद्रा उपस्थित है। संसार की स्थिति प्रकृति के तीन गुणों सत्व, रज और तम पर आधारित है। तम निद्रा का कारण है। हृदय शरीर का चेतना स्थल है, जब यह तम से अभिभूत हो जाता है, प्राणी को निद्रा आ जाती है, क्योंकि उस समय मन का सम्बन्ध इन्द्रियों के विषयों से हट जाता है। यह स्वाभाविक निद्रा है। स्वाभाविक निद्रा को ही उपस्तम्भ माना गया है तथा इसी को सुषुप्तावस्था कहा गया है।

निद्रा से लाभ—सुख पूर्वक निद्रा से शरीर आरोग्य रहता है। शरीर का

पोषण भली भाँति होता है। बल की वृद्धि, धातुओं में समता, शुक्र की वृद्धि, ज्ञानेन्द्रियों की अपने विषयों से सुप्रवृत्ति और जीवन की प्राप्ति होती है।

निद्रा न आने से हानि--निद्रा न आने से दुःख, शरीर में रोग, कृशता, क्लीवता, धातुओं में विषमता, ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों में सम्यक् प्रकार से प्रवृत्त न होना और व्यक्ति का मृत्यु की ओर शीघ्रता से अग्रसर होना होता है।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयम' गुप्तेन्द्रिय (मूत्रेन्द्रिय) का संयम रखना ही ब्रह्मचर्य है ऐसा भाष्यकार व्यास जी ने संक्षेप में ब्रह्मचर्य की परिभाषा की है। प्राचीन काल में समाज के (राजा से रंक तक के) बालक शिक्षा हेतु गुरुकुलों में, जो बस्तियों से दूर से होते थे, जाते थे और वहीं रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरुजन संसार के अनुभव में प्रवीण वानप्रस्थी होते थे। इन विद्वानों के संरक्षण में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, यम नियमों के अनुसार जीवन ढालते हुए, २५ वर्ष की आयु में स्नातक बनकर वापिस आते थे। अतः ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल उपस्थ का संयम ही नहीं था वरन् समस्त इन्द्रियों का संयम आवश्यक माना जाता था। वास्तव में उपस्थ इन्द्रिय कर्मेन्द्रियों में सबसे शक्तिशाली है, इस पर विजय पाना अति कठिन है। इस कारण उपस्थ संयम को ब्रह्मचर्य में प्रमुखता दी गई है।

मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानकर उसे २५-२५ वर्ष के चार विभागों में बाँट दिया गया है। जिन्हें आश्रम संज्ञा दी गई है। ये हैं ब्रह्मचर्याश्रम २५ वर्ष की आयु तक, गृहस्थाश्रम ५० वर्ष की आयु तक, वानप्रस्थाश्रम ७५ वर्ष की आयु तक तथा सन्यासाश्रम शेष जीवन काल तक। गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त तीनों आश्रमों में पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य है। संक्षेप में समझा जाय तो रति भावना की वृद्धि उत्पन्न न होने देना ही ब्रह्मचर्य है।

स्मरण कीर्तनं केलिः प्रेक्षण गुप्तभाषणम्।
संकल्पाध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च॥

एतन्मैथुनष्टाङ्गम् प्रवदन्ति मनीषणः।
विपरीत ब्रह्मचर्य मेतदेवाष्ट लक्षणम्॥

(१) रति वासना का स्मरण करना, (२) चर्चा करना, (३) किलोल करना, (४) घूरना, (५) एकान्त में बातें करना, (६) संभोग का संकल्प करना, (७) प्राप्ति की चेष्टा करना तथा (८) वासना पूर्ति करना, ये आठ प्रकार के मैथुन हैं। अतः अब्रह्मचर्य हैं। इनका पूर्णतया त्याग ब्रह्मचर्य है।

उपरोक्त ब्रह्मचर्य की विस्तृत परिभाषा का पालन करने की जो ठान लेते हैं, वे सन्यास लेकर ऐसा ब्रह्मचर्य व्रत आजन्म पालन करते हैं। यथा जगद्गुरु आदिशंकराचार्य जी, स्वामी विवेकानन्द जी तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी आदि विभूतियों ने किया था। परन्तु सभी व्यक्तियों द्वारा इस व्रत के पालन करने से सृष्टि क्रम का पालन तो नहीं हो सकता इससे तो मनुष्य जाति ही समाप्त हो जायेगी। अतः गृहस्थाश्रम का विधान रखा गया है। इसको अन्य आश्रम वाले हीन

न समझें इसलिए इसे सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। यह आश्रम संसार का नैसर्गिक कार्य सम्पादन करता है तथा अन्य आश्रम वासियों के जीवन यापन का समस्त भार उठाता है। परन्तु इस आश्रम में भी व्यक्ति को रति सम्बन्धी नियमों का कठोरता से पालन करने का विधान है। शास्त्रों में गर्भाधान को एक पवित्र कार्य माना है न कि विलासिता एवं वासना की पूर्ति का साधन। यह कार्य विधिवत् कुटुम्बियों की जानकारी में रहता है। इसीलिए गर्भाधान एक संस्कार के रूप में पवित्र माना जाता है। गर्भाधान के पश्चात् जब तक शिशु स्तनपान करता रहता है ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने का आदेश है, क्योंकि सन्तान कामपूर्ति के लिए किए गये व्यभिचार का परिणाम न होकर पितृऋण की निवृत्ति के लिए है, ऐसा सभ्य समाज मानता है। स्वास्थ्य के लिए भी ऐसा इन्द्रिय संयम अति आवश्यक है। कठोरता से इसका पालन ब्रह्मचर्य व्रत है। इसीलिए ब्रह्मचर्य शरीर का एक उपस्तम्भ माना गया है। आचार्य वाग्भट ने अब्रह्मचर्य को उपस्तम्भ माना है ('त्रितयं चेदमुपष्टम्भनमाहार: स्वप्नोऽब्रह्मचर्यं च। (अ० सं० सू० ९/३६) एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि अति ब्रह्मचर्य नपुंसकता का कारण है। शायद इसीलिए उसे उपस्तम्भ नहीं कहा है। वैसे तो असंयमित आहार भी मृत्यु का कारण है, असंयमित निद्रा भी रोग का कारण है। संयमित अब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मचर्य में कोई अन्तर नहीं है। इस दृष्टि से संयमित अब्रह्मचर्य को ही उपस्तम्भ कहने का अष्टाङ्गसंग्रहकार का दृष्टिकोण प्रतीत होता है।

स्वास्थ्य की कामना करने वाले व्यक्ति को प्रज्ञापराध, असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग संयोग तथा वातावरणजन्य काल के अतियोग, मिथ्यायोग तथा आयोग से बचते हुए सुखदायक आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य का सेवन करते रहना चाहिए। ऐसा शास्त्रों का आदेश है।

सद्वृत्त

(च० सू० ८/१७-३४, सु० चि० २४/८९-११३)

अपने प्रति एवं अन्य जनों के प्रति हमारा आचरण हमारी शारीरिक चेष्टाओं एवं मनोवृत्ति का द्योतक है। अन्य व्यक्ति हमारे आचरण से हमारे विषय में अपनी अच्छी अथवा बुरी धारणा बनाते हैं। हमारी सभ्यता के आदि काल से ही हमारे आचरण के सम्बन्ध में पूर्वजों द्वारा यम एवं नियमों के रूप में निर्देश उपस्थित हैं। यम एवं नियमों के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से आप इसी पुस्तक के 'योग' सम्बन्धी अध्यायों में पढ़ेंगे। यम एवं नियमों आदि को दृष्टि में रखते हुए संहिताग्रन्थों में हमारे लिए इस सम्बन्ध में मार्ग निर्देशित है। यहाँ उसी का वर्णन किया जा रहा है। इसके अनुसार व्यवहार करना सदैव, प्रत्येक परिस्थिति में, हमारे लिए यश एवं सौभाग्य का कारण होता है। अतः अपना कल्याण चाहने वाले सभी व्यक्तियों को सदा अपनी स्मरण शक्ति को जागरुक रखते हुए सद्वृत्तों का पालन करना चाहिए।

('तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम् ।'
च० सू० ८/१७)

स्वयं के प्रति आचरण

मानसिक आचरण—मन सर्वदा त्रिगुण (सत्व, रज, तम) एवं त्रिभावों (इच्छा, राग, द्वेष) से प्रभावित रहता है । सत्त्व गुण का मन पर सदैव श्रेष्ठ प्रभाव पड़ता है परन्तु रज एवं तम तथा त्रिभाव मन को इधर उधर भटकाते रहते हैं। इन भटकाने वाले कारणों पर नियन्त्रण रखने की चेष्टा करने के प्रयत्न ही सद्वृत्त शीर्षक से वर्णित हैं । हमें सदैव प्रसन्न मुख, निश्चिन्त, निडर, उत्साही, बुद्धिमान, लज्जायुक्त, आस्तिक, सत्यप्रतिज्ञ एवं सब के लिए दया एवं क्षमा भाव युक्त रहना चाहिए । इन्द्रियों का दमन कर सदैव शान्तिप्रिय रहना चाहिए । दुःख सुख में धैर्य रखना चाहिए ।

मानसिक व्यवहार में निषेध—धैर्य न छोड़ें, उदण्ड मन वाले न बनें, निजी व्यक्तियों पर अविश्वास न करें । सर्वसाधारण पर विश्वास अथवा सन्देह न करें । अकेले सुखी रहने की चेष्टा न करें। दुःखदायी आचार विचार वाले न बनें । सर्वदा सोच विचार में तल्लीन न रहें ।

कार्य सम्बन्धी सद्वृत्त—मन के कार्यों पर नियन्त्रण रखें, उसे स्वच्छन्दतापूर्वक कार्य न करने दें । कार्य करते समय प्रकृति के नियमों पर सदा ध्यान रखें । कारण का प्रभाव कार्य पर पड़ता है अतः उचित कारणों के अनुसार कार्य करें ।

कार्य सम्बन्धी निषेध—कार्य करने का समय फिजूल न व्यय करें । किसी भी कार्य को बिना सोचे समझे एवं परीक्षा लिए न करें । कार्य में इन्द्रियों के वशीभूत न रहें । चंचल मन को स्वच्छन्दतापूर्वक विषयों में न लगावें । अपनी बुद्धीन्द्रियों पर अधिक भार न दें । दीर्घसूत्री न बनें । क्रोध अथवा हर्ष के वशी होकर कोई कार्य न करें । कार्य सिद्धि पर प्रसन्नता एवं कार्य की असिद्धि पर अप्रसन्नता एवं दुःख व्यक्त न करें ।

स्वयं एवं समाज के प्रति व्यवहार—शरीर की स्वच्छता के प्रति ध्यान रखें । प्रातः सायं, ऋतु अनुसार, स्नान करें । स्नान के समय गुदा आदि मल मार्गों तथा पैरों की सदा सफाई करें । दाढ़ी, रोम, नखों को कटवावें । प्रतिदिन स्वच्छ वस्त्रों को ही धारण करें । अपनी वेशभूषा सुन्दर रखें । मस्तक-कान-नाक-पैरों में प्रतिदिन तैल लगावें । सुन्दर इत्र आदि को लगावें । आशीर्वादात्मक मंत्रों के द्वारा प्रतिदिन अपनी शुभकामना करें; ये मंत्र हैं—

(१) अग्नि मेरे शरीर से पृथक न हो । (२) वायु देवता मेरे प्राणों को स्थिर रूप से धारण करें । (३) विष्णु देवता मुझ में बल का आधान करें । (४) इन्द्र देवता मुझमें पराक्रम का आधान करें । (५) कल्याणकारी जल देवता मुझमें प्रवेश करें । ऐसा कहकर 'आपोहिष्ठाः' इत्यादि मंत्र से जल का मार्जन (स्पर्श) करें । बाद में दो बार दोनों ओठों को जल से धोकर आचमन करें तथा पैरों को जल से धोवें ।

फिर हाथ में जल लेकर दोनों नेत्र, दोनों नासिका छिद्र, दोनों कान तथा मुख का स्पर्श (प्रोक्षण) करें।

('**अग्निर्मेनापगच्छेच्छरीराद्वायुर्मे प्राणनादधातु, विष्णुर्मेबलमादधातु, इन्द्रो में वीर्य, शिवा माँ प्रविशन्त्वाप आपोहिष्ठेत्यपः स्पर्शेत्, द्विः परिमृज्यौष्ठौ पादौ चाभ्युक्ष्य मूर्धनिखानिचोपस्पृशेदद्भिरात्मानं हृदयं शिरश्च।**' (च० सू० ८/२८)

समाज के प्रति आचरण—देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध पुरुष एवं आचार्य के प्रति अत्यन्त आदर भाव रखना चाहिए। मिलने आने वाले व्यक्ति से पहिले बोलना चाहिए। दूसरों की विपत्ति पर सहायता करनी चाहिए। अतिथियों का सत्कार करना चाहिए। दूसरों की आवश्यकता पर अपनी सामर्थ्य भर आर्थिक सहायता को तत्पर रहना चाहिए। धनवान की अपेक्षा बन्धु का, बन्धु की अपेक्षा आयु में बड़े का, आयु में बड़े की अपेक्षा विद्या में बड़े का, विद्या में बड़े की अपेक्षा शीलवान व्यक्ति का सम्मान करना चाहिए। जीवन से निराश, मूढ़ और बुरे मार्ग पर चलने वाले के प्रति घृणा के स्थान पर दया भाव रखना चाहिए। क्रोध आने पर केवल शिष्य एवं पुत्र दण्ड के अधिकारी हैं। उन्हें भी उनके हित के लिए ही दण्ड देना चाहिए। सेवकों को वेतन एवं अन्य सुविधायें देते रहना चाहिए। दूसरों के कठोर वचनों को सहने की शक्ति रखनी चाहिए।

वैयक्तिक एवं सामाजिक व्यवहार में निषेध—अंगुली से नाक कुरेदना, दाँत किटकिटाना, नखों को दाँतों से काटना, अंगुलियों को चटखाना, हड्डियों को परस्पर रगड़ना, तृणादि को दाँतों से काटना, पैरों को बिना कारण रगड़ना तथा टाँगों को हिलाना, नख से भूमि को कुरेदना, मिट्टी के ढेलों को फोड़ना, अधिक जागरण-शमन-स्नान-भोजन-जलपान मदिरा पान नहीं करना चाहिए। अप्रिय एवं निन्दनीय वस्तुओं को नहीं देखना चाहिए। शव का अपमान नहीं करना चाहिए। घुटनों को ऊपर कर बहुत देर तक नहीं बैठे रहना चाहिए।

झूँठ न बोले। दूसरे के अधिकार या धन नहीं लें। दूसरे की स्त्री के साथ सहवास नहीं करें। शत्रुता में रुचि न लें। न स्वयं पाप कर्म करें और न पापी के साथ भी पाप का व्यवहार करें। दूसरों के दोषों को न कहे। दूसरों की गुप्त बातें जानने की चेष्टा भी न करें। अधार्मिक व्यक्ति, देश के शत्रु, पागल, पतित, भ्रूणहत्यारे और क्षुद्र एवं दुष्ट व्यक्तियों के साथ न बैठें। जिस शय्या पर बिस्तर नहीं बिछा है अथवा बहुत छोटा या बड़ा तकिया लगा है उस पर शयन न करें।

टूटी हुई अथवा शरारती पशु या घोड़े द्वारा खींची जाने वाली सवारी में न बैठें। पर्वत की ऊँची-नीची चोटियों पर भ्रमण न करें। पेड़ पर न चढ़ें। भयंकर वेग वाले जल में घुसकर स्नान नहीं करें। नदी के कगार की छाया में न बैठें। तेज सूर्य, अग्नि आदि को एवं अप्रिया अपवित्र और अप्रशस्त वस्तुओं को न देखें। मन्दिर-यज्ञभूमि-उपवन-शमशान-वधस्थल-चौराहे में निवास नहीं करें। अकेले खाली गृह अथवा जंगल में न जायें। हिंसक पशुओं के पास न जावें। दाँतों से प्रहार करने

वाले सर्प, कुत्ता आदि अथवा सींगों से प्रहार करने वाले पशुओं के पास न जावें।

पाप करने वाले स्त्री-मित्र एवं सेवक आदि न रखें। उत्तम पुरुषों से विरोध न करें। नीच व्यक्तियों के साथ न रहें। दूसरे व्यक्तियों को भयभीत न करें। नीच एवं कुटिल कार्यों में प्रेम न रखें।

अग्नि को झूंठे मुख, नीचे रख कर न तापें। बिना शरीर की थकावट दूर किए, बिना मुख धोये एवं नंगे होकर स्नान न करें। जिन कपड़ों से स्नान किया है उनसे सिर का स्पर्श न करें। स्नान के बाद शरीर से उतारे वस्त्रों को न पहिनें। पूज्य देवता, आदरणीय व्यक्तियों एवं मांगलिक पदार्थों के दाहिने से तथा अपूज्य, अमांगलिक पदार्थों के वाम भाग से होकर न जायें। मांगलिक पदार्थ रत्न आदि अथवा गुरुजन या देवता को बिना स्पर्श कर घर से बाहर न जायें।

स्त्रियों के प्रति व्यवहार— स्त्रियों का अपमान कभी नहीं करना चाहिए। उनको अपनी गुप्त बातें नहीं बताना चाहिए। रजस्वला, रोगणी, अपवित्र, बुरे विचारों वाली, अप्रिय, अदक्ष, पर पुरुष की इच्छा रखने वाली तथा पर नारी के साथ सहवास नहीं करना चाहिए। अयोनि (मृदा आदि), चैत्य (धार्मिक स्थान), मार्ग, उपवन, श्मशान, वध-स्थान, जल के मध्य, पूज्य जनों के सन्मुख, प्रातः, सायं, प्रतिपदा एकादशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा को सहवास न करें तथा बिना भोजन किये अथवा अधिक भोजन किये हुए, एवं श्रम, व्यायाम, उपवास एवं क्लम से पीड़ित के साथ भी सहवास नहीं करना चाहिए। बिना एकान्त के कहीं सहवास न करना चाहिए।

यात्रा के समय सद्वृत्त वर्णन—यात्रा से पूर्व नख, केश, दाढ़ी बनवाकर पवित्र स्वच्छ समयानुकूल वस्त्र धारण कर यात्रा पर जाना चाहिए। सिर पर टोपी-पगड़ी-साफा आदि धारण तथा हाथ में बेंत, लाठी अथवा छाता रखना चाहिए। यात्रा के पूर्व जीवमात्र के प्रति बन्धुभाव रखने वाले वृद्ध पुरुषों से अनुमति लेनी चाहिए। आवश्यकतानुसार साथ में सहायक ले लेने चाहिए। रात्रि में असुरक्षित मार्गों से यात्रा नहीं करनी चाहिए। केश-अस्थि-पत्थर-राख-भूसा-अपवित्र पदार्थ तथा ऊँची नीची भूमि आदि के ऊपर से नहीं जाना चाहिए। वृक्ष-पर्वत-दीमक युक्त भूमि तथा सवारी के दुष्ट जानवर पर नहीं चढ़ना चाहिए। जल से भरी नदी-समुद्र-बिना जाने हुए तालाब (जलाशय) गड्डे-कूप-बावड़ी आदि में नहीं उतरना चाहिए। जन रहित मकान, श्मशान, निर्जन स्थान, जंगल आदि स्थानों पर नहीं ठहराना चाहिए। हिंसक जन्तु तथा कीड़ों आदि से भरे स्थानों पर भी नहीं ठहरना चाहिए। महामारी से ग्रसित नगर, या युद्धरत् नगर में नहीं रुकना चाहिये। सींगों वाले पशुओं एवं हिंसक पशुओं के साथ नहीं ठहरना चाहिए। अपवित्र व्यक्ति एवं स्थान, श्मशान के वृक्ष, ध्वजा, रोगी व्यक्ति, धर्मभ्रष्ट एवं पापकर्म में लीन व्यक्तियों की छाया भी नहीं लाँघनी चाहिए। अग्नि, गौ, गुरु, ब्राह्मण तथा साथ-साथ जा रहे स्त्री और पुरुष के बीच से होकर नहीं निकलना चाहिए। मार्ग में जाते हुए शव के पीछे नहीं चलना

चाहिए। मार्ग के पूज्य, देवता, गुरु, माँगलिक पदार्थों के बाँयी तरफ से तथा अमंगलकारी वस्तुओं के दाहिनी तरफ से जाना चाहिए।

भोजन के सम्बन्ध में सद्वृत्त वर्णन—भोजन पूर्व स्नान आदि से शुद्ध हो, स्वच्छ वस्त्र धारण कर एवं सन्ध्या, पूजा आदि कर भोजन करना चाहिए। हाथ में रत्न धारण किये हुए होना चाहिए। स्वयं भोजन के पूर्व देख लें कि माता, पिता, गुरु, अतिथि आदि गुरुजनों ने भोजन कर लिया है। आश्रित सेवक आदि एवं पशु पक्षियों को भी भोजन दिया जा चुका है। हाथ, पैर, मुख आदि धोकर उत्तर मुख करके प्रसन्न चित्त भोजन करना चाहिए। खाने से पूर्व भोजन का जल से प्रोक्षण कर लेना चाहिए। भोजन के पदार्थों की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

अपने से प्रेम न रखने वाले शत्रु, उदण्ड, अपवित्र एवं भूख से पीड़ित सेवक आदि से लाई हुई भोजन सामग्री को ग्रहण न करें। इसी प्रकार अपवित्र पात्रों में, अनुचित स्थानों से लाई हुई सामग्री को भी ग्रहण न करें। निन्दित अथवा प्रतिकूल व्यक्तियों द्वारा लाये भोजन को ग्रहण न करें। अदरक आदि, सूखे, शाक, फल आदि को छोड़कर बासी पदार्थों को नहीं खावें। दही, मधु, नमक, सत्तू और घृत को छोड़ अन्य भोजन पदार्थ अन्त में पात्र में कुछ छोड़ देना चाहिए। रात्रि में दही नहीं खायें।

मलों के स्थान के सम्बन्ध में—शरीर को टेढ़ा कर, छींक, भोजन और शयन नहीं करना चाहिए। मल-मूत्रादि के वेगों के उपस्थित रहने पर अन्य कोई कार्य न करें। वायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, ब्राह्मण, गुरु आदि पूज्यों के सामने की ओर थूक, मल मूत्रादि त्याग न करें। रास्ते में भी मूत्र त्याग न करें। जहाँ जनसमूह एकत्र हो, मांगलिक कार्य हो रहे हों, भोजन का समय हो वहाँ मल, मूत्र, मुख या नाक से श्लेष्मा का त्याग नहीं करें।

विद्या प्राप्ति—गुरु मुख से विद्या प्राप्त करनी चाहिए। अनधिकृत से विद्या ग्रहण नहीं करनी चाहिए। विकृत स्वर मे, अनव्यवस्थित ढंग से, अति शीघ्र अथवा अतिमन्द स्वर से उच्चारण नहीं करना चाहिए।

अकाल में बिजली चमकने, विभिन्न दिशाओं में उत्पात दिखाई देने, समीप में कहीं आग लग जाने, भूकम्प होने, उत्सव आदि के होने, चन्द्रग्रहण सूर्य ग्रहण लगने, अमावस्या के दिन, सन्ध्या के समय अध्ययन नहीं करना चाहिए।

संक्षेप में जिन विषयों का पालन करने से अपनी भलाई तथा संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त होती हो उन सद्वृत्तों का पालन करना उचित है।

ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दया, हर्ष, उपेक्षा (दुर्गुणों की) और शान्ति में तत्पर रहना चाहिए।

'ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षा प्रशमपरञ्चस्यादिनि।' च० सू०८/२९

मुखमात्रं समासेन सद्वृत्तस्यैतदीरितम्।
आरोग्यमायुरर्थो वा नासद्भिः प्राप्यते नृभिः॥ सु० चि० २४/१३३

सद्वृत्त की प्रधान बातों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। आचार रहित मनुष्य वायु, आरोग्य या धन नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

धारणीय वेग

(च० सू० ७/२६-३०)

इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्काय कर्मणाम्॥ च० सू० ७/२६

इस जीवन में तथा मृत्यु के पश्चात् के जन्मों में अपना हित चाहने वाले व्यक्तियों को धारणीय वेगों को रोकना चाहिए। ये धारणीय वेग हैं : (१) अशस्त (निषिद्ध) साहस के वेग, (२) अशस्त मानसिक वेग, (३) अशस्त वाचिक वेग, (४) अशस्त शारीरिक वेग।

१. धारणीय साहसिक वेग—साहस के वेगों को मनुष्य को सदैव रोके रखना चाहिए।

२. धारणीय मानसिक वेग—लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्लज्जता, ईर्षा, अति राग (किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अतिशय राग), अभिध्या (दूसरों के धन को लेने की इच्छा) आदि मन के वेगों को रोकना बुद्धिमान व्यक्ति का कार्य है।

३. धारणीय वाचक वेग—अत्यन्त कठोर वचन, चुगली करने के लिए बोलना, झूठ बोलना तथा असमय बोलने के वेगों को रोकना चाहिये।

४. धारणीय शारीरिक वेग—दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाले कार्य, पर स्त्री सहवास, चोरी तथा हिंसा से प्रेरित शारीरिक कार्यों के वेगों को रोकना चाहिए।

इन वेगों के धारण से लाभ—

पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम्।
धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च॥ च० सू० ७/३०

इन वेगों को धारण करने की प्रवृत्ति बनाने से उस व्यक्ति के मन, वचन तथा कर्म पाप रहित हो जाते हैं। वह व्यक्ति पुण्य का भागी बनता है तथा सुख पूर्वक धर्म, अर्थ एवं काम को प्राप्त कर उसके फलों का उपभोग करता है।

अधारणीय वेग

(च० सू० ७/३—२५; सु० उ० ५५/३–४१; अ० सं० सू० ५/३—२४)

वेगान्नधारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्।
निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाश्रुच्छर्दिरेतसाम्॥ अ० सं० सू० ५/३

स्वभाव से प्रवृत्त हुए अधोलिखित वेगों को जीवन चाहने वाले व्यक्ति को धारण करना (रोकना) नहीं चाहिए। (१) अपान वायु, (२) मल (पुरीष), (३) मूत्र, (४) शुक्र, (५) वमन, (६) क्षवथु (छींक), (७) उद्गार (डकार), (८) जृम्भा (जँभाई), (९) क्षुत् (भूख), (१०) तृष्णा (पिपासा, प्यास), (११) वाष्प (आँसू),

(१२) निद्रा, (१३) परिश्रम के कारण श्वास वेग तथा (१४) कास (वाग्भट के अनुसार),

वेगों को रोकने से हानि—

१. **अपान वायु** (flatus)—अपान वायु के वेग को रोकने से गुदा एवं वस्ति प्रदेश में स्थित अपान वायु विकृत हो जाती है। अपान वायु ही गुदा एवं मूत्र मार्ग से मलों का निष्कासन करती है। इसके कार्यों में विकृति आ जाती है। परिणाम-स्वरूप वायु के गुदा मार्ग से त्यागने में तथा मल और मूत्र के निष्कासन में रुकावट आ जाती है। इस प्रकार जब अपान वायु के प्राकृत मार्ग में अवरोध हो जाता है तो वह प्रकुपित हो ऊपर आन्त्र में बढ़ता है जिससे क्लम (थकावट), आध्मान, उदरपीड़ा, हृदय पर दबाव पड़ने से हृदय का उपरोध, शिर में पीड़ा, श्वास में कठिनाई, हिक्का, कास, प्रतिश्याय, गलग्रह, विषमाग्नि आदि वातजन्य रोगों की उत्पत्ति होती है तथा इस विकृत वात के कारण कफ तथा पित्त का अपने स्थानों से प्रसार हो जाता है। इससे दृष्टि का नाश होना भी आचार्य वाग्भट कहते हैं।

निराकरण के लिये वातानुलोमक आहार विहार एवं वातानुलोमक द्रव्यों के क्वाथ की वस्ति का प्रयोग करना बताया गया है।

२. **पुरीष के वेग को रोकने से हानि**—पुरीष के निष्कासन के स्वाभाविक वेग को प्रयत्नपूर्वक रोकने से अपान वायु विकृत हो जाती है और उसकी गति ऊपर की ओर हो जाती है, जिससे उदर में आध्मान शूल, गुद-शिश्न वस्ति आदि स्थानों पर कैंची से काटने के समान पीड़ा, पिण्डलियों में पीड़ा एवं ऐंठन, सिर में पीड़ा होती है। मल का मुख से निकालना भी सम्भव है।

३. **मूत्र के वेग को रोकने से हानि**—मूत्र के स्वाभाविक वेग को रोकने से वायु प्रकुपित होकर मूत्राशय तथा शिश्न में शूल पैदा करती है। मूत्राशय विस्फरित हो जाता है, इससे मूत्र कठिनता से बूँद बूँद करके बार बार (मूत्र कृच्छ) निकलता है। गुदा, वंक्षण, वस्ति, मुष्क (अण्ड एवं अण्ड प्रदेश), नाभि प्रदेश तथा मस्तिष्क में तीव्र शूल तथा मूत्राशय में अधिक मूत्र के एकत्रित हो जाने से तनाव बढ़ जाता है। ऐसी दशा में वेदना से शरीर झुक जाता है। इससे बचने के लिए मूत्र वेग के आते ही मूत्र त्याग करना चाहिए। स्वेदन (fomentation), अवगाहन (tub bath) और अभ्यंग (मालिश) करना लाभदायक है।

४. **शुक्र के वेग को रोकने से हानि**—काम वासना वश जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में उत्पन्न हुए शुक्र के वेग को रोकने से वस्ति, गुदा, अण्डकोश के समीप के प्रदेश में (वृषण के आसपास) पीड़ा एवं शोथ उत्पन्न होता है। अंगमर्द, हृदय में वेदना और मूत्र का रुक रुक कर आना ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। बार-बार रोकने से शुक्र जन्य अश्मरी (पथरी) एवं नपुंसकता हो जाती है।

शुक्र वेग को रोकने से उत्पन्न उपद्रवों में वातनाशक तैलों की मालिश (अभ्यंग), वस्ति शोधक द्रव्यों से सिद्ध दूध का पान, माँसाहारियों के लिए मुर्गे के

मांस का भक्षण, निरुह-वस्ति एवं मैथुन हितकर होते हैं।

५. वमन (छर्दि) के वेग को रोकने से हानि—निकलते हुए वमन के वेग को रोकने से कण्डू, कोथ (वर्र के काटे हुए के समान शोथ), भोजन के प्रति अरुचि, जी मिचलाना (हृल्लास nausea), पाण्डुरोग, ज्वर, कुष्ठ, कास, श्वास, व्यंग और विसर्प आदि उपद्रव होते हैं।

पुन: वमन को कराना, धूम्रपान, उपवास, रक्तमोक्षण, रुक्ष अन्न पान का सेवन एवं व्यायाम तथा विरेचन कराना हितकर है। क्षार और लवण युक्त तैल की मालिश प्रशस्त है।

६. क्षवथु (छींक) के वेग को रोकने से हानि—छींक के प्रवृत्त वेग को रोकने से शिर, नासा तथा नेत्रों में रोग उत्पन्न होते हैं। इनमें सूई चुभने के समान पीड़ा होती है। मन्यास्तम्भ, अर्दित (facial paralysis), अर्द्धविभेदक (hemicrania) और ज्ञानेन्द्रियों में दुर्बलता आ जाती है।

तीक्ष्ण धूम, तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण-घ्राण-नस्य आदि लेना तथा सूर्य को देखना अवरुद्ध छींक को प्रवृत्त कर देते हैं। बाद में स्वेदन तथा अभ्यंग भी कराना चाहिये। भोजन में वातनाशक अन्न देना चाहिये तथा भोजन के पश्चात् घृत पान कराना चाहिये।

७. उद्गार के वेग को रोकने से हानि—उद्गार का वेग (डकार लेना) उदान वायु का कार्य है। इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकने से उदान वायु प्रकुपित होकर आन्त्र कुंचन, श्वास तथा अन्य वात विकारों को उत्पन्न करता है। अत: उद्गार रोकने से भोजन में अरुचि, कम्पन, हृदय एवं वक्ष में जकड़ाहट, आध्मान, श्वास-कास तथा हिक्का (हिचकी) आदि उपद्रव हो जाते हैं।

इसकी चिकित्सा हिक्का रोग के समान करनी चाहिये।

८. जृम्भा (जम्भाई) के वेग को रोकने से हानि—जृम्भा में उर्ध्व जत्रुगत अंग भाग लेते हैं अत: जृम्भा के वेग को रोकने में उर्ध्व जत्रुगत विकार होने की अधिक सम्भावना रहती है। जृम्भा के वेग को रोकने से, छींक रोकने में जिस प्रकार के उपद्रव होते हैं, उसी प्रकार के उपद्रव होते हैं। यथा मन्यास्तम्भ, गलस्तम्भ, शिर में विकार, कम्प, सुप्ति, सूर्यविवर्तक आदि वात विकार, विनामं (शरीर की झुक जाना), आक्षेप (convulsions), अरुचि भ्रम एवं कर्ण, मुख, नासा और नेत्रों में विविध रोग तथा अंगों में संकोच, शून्यता आदि उपद्रव होते हैं। चिकित्सार्थ वातनाशक आहार, विहार का सेवन करना चाहिए।

९. क्षुधा के वेग को रोकने से हानि—भूख के वेग को रोकने से तन्द्रा, अंग मर्द, अरुचि, विभ्रम (चक्कर आना), दर्शन शक्ति की निर्बलता (आँखों के आगे अन्धेरा आ जाना) ग्लानि, कृशता, शरीर के वर्ण में परिवर्तन, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इसमें लघु (शीघ्र पचने वाला), स्निग्ध, उष्ण तथा प्रत्येक बार मात्रा में अल्प भोजन देना चाहिये।

१०. तृष्णा के वेग को रोकने से हानि—प्यास से उत्पन्न वेग को रोकने से कण्ठ और मुख का सूखना, बहिरापन, प्यास की अधिकता, हृदय में पीड़ा, थकावट, मूर्च्छा, चक्कर आना आदि उपद्रव होते हैं।

इसमें स्नान, अन्न पान आदि समस्त कार्यों में शीतल विधि का प्रयोग करना चाहिये।

११. वाष्प (आंसू) के वेग को रोकने से हानि—अत्यधिक आनन्द के कारण अथवा अधिक शोक के कारण प्रवृत्त हुए आँसुओं के वेग को रोकने से सिर में भारीपन तथा चक्कर, अभिष्यन्द आदि अक्षि रोग, हृद्रोग, मन्यास्तम्भ, अरुचि, भ्रम आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

इसमें निद्रा लेना तथा मन को प्रिय लगने वाली कथा वार्ता सुनना लाभ करता है।

१२. निद्रा के वेग को रोकने से हानि—निद्रा के वेग को रोकने से जृम्भा, अंगों का टूटना, तन्द्रा, शिरःशूल, आलस्य, आँखों मे भारीपन आदि उपद्रव होते हैं।

ऐसी दशा में शयन करना और बदन को दबाना (संवाहन) श्रेयस्कर है।

१३. श्रम जनित श्वास के वेग को रोकने से हानि—दौड़ने, भागने, व्यायाम तथा अन्य परिश्रम जनित कार्य करने से श्वास गति तीव्र हो जाती है। इस तीव्र वेग को रोकने से हृदय के रोग, मूर्च्छा, गुल्म हो जाते हैं।

इन उपद्रवों के होने पर विश्राम तथा वातनाशक आहार विहार का सेवन करना लाभदायक होता है।

१४. कास के वेग को रोकने से हानि—कास के अवरोध से कास का बढ़ना, श्वास, अरुचि, हृद्रोग, शोष, हिक्का आदि उपद्रव होते हैं। कास वेग को रोकने से होने वाले लक्षणों पर कास रोग की चिकित्सा के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

निन्दनीय पुरुष

(च० सू० २१/३-१७; सु० सू० १५/३३, ३५; अ० सं० सू० २४/५२-५७)

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति; तद्यथा—(१) अतिदीर्घश्च, (२) अतिह्रस्वश्च, (३) अतिलोमा च, (४) अलोमा च, (५) अतिकृष्णश्च, (६) अतिगौरश्च, (७) अति स्थूलश्च, (८) अतिकृशश्चेति ॥ च० सू० २१/३

आठ प्रकार के पुरुष निन्दनीय होते हैं: (१) अतिदीर्घ (बहुत लम्बा), (२) अति ह्रस्व (वामन-dwarf), (३) अति लोमा (अत्यधिक रोमयुक्त शरीर), (४) अलोमा, (५) अति कृष्ण, (६) अति गौर, (७) अति स्थूल तथा (८) अति कृश।

१. अति दीर्घ पुरुष—सामान्य से हट कर प्रत्येक वस्तु असामान्य होने के कारण विलक्षण लगती है। इसी प्रकार बहुत लम्बा व्यक्ति भी चिकित्सा की दृष्टि से स्वस्थ हो सकता है। किन्तु लम्बाई सामान्य से बहुत अधिक होने के कारण

निन्दनीय है। अति लम्बा व्यक्ति अग्रपियूषिका ग्रन्थि (anterior pituitary gland) के वृद्धि हार्मोन की अधिक उत्पत्ति के कारण होता है। इस हार्मोन की अधिकता से अति दीर्घ महाकाय वाले व्यक्ति 2·15 से 2·5 मीटर (7-8 फीट) तक लम्बे हो जाते हैं।

२. अति ह्रस्व पुरुष—यहाँ भी ये पुरुष सामान्य से विशेष होते हैं अतः निन्दनीय हैं। इसका कारण वृद्धि हॉर्मोन की कम उत्पत्ति होना है। ऐसे व्यक्तियों का कद ही कम होता है अन्यथा अंग एक दूसरे की अपेक्षा अनुपात में स्वाभाविक होते हैं। ऐसे व्यक्ति वामन (dwarf) कहलाते हैं। इन लोगों का शरीर बहुधा दुबला पतला रहता हैं। दाढ़ी मूंछ के बाल नहीं आते हैं। वृद्धि आयु के अनुसार सामान्य होती है।

कुछ ऐसे भी बौने व्यक्ति होते हैं जिनके अंग अनुपात में असामान्य होते हैं। इससे शरीर बेडौल दीखता है। मानसिक दृष्टि से भी ये मन्द बुद्धि होते हैं, इस प्रकार की अति ह्रस्वता का कारण थायरॉइड ग्रन्थि (thyroid gland) के हॉर्मोन थायरोक्सिन की अल्पक्रियता (hypothyroidism) होती है।

३. अतिलोमा पुरुष—शरीर के कुछ स्थानों को छोड़ कर शेष पर रोम, केश आदि होते हैं। बाल्यावस्था में ये लोम (रोम) बहुत कोमल होते हैं परन्तु यौवन आरम्भ होने पर ये दृढ़ हो जाते हैं। अधिक रोमयुक्त शरीर होने से शरीर अमानवीय, पशुओं के समान लगने लगता है। इसलिये यह निन्दनीय है। अभ्यंग आदि में भी बाधा उपस्थित हो जाती है। इनके टूटने का भय रहता है।

४. अलोमा पुरुष—अति लोमा के समान अलोमा व्यक्ति भी निन्दनीय व्यक्तियों की श्रेणी में आता है। अलोमा व्यक्ति बहुधा निःसन्तान रहता है। जनन प्रेरक हॉर्मोन की उत्पत्ति कम होने से शरीर में वीर्य (Semen) की उत्पत्ति कम हो जाती है तथा शरीर पर रोमों का भी ह्रास हो जाता है यथा वृद्धावस्था में। विशेष रूप से टांगों तथा वक्ष पर रोमों का लैंगिक लक्षणों से विशेष रूप से वीर्य उत्पत्ति से) घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। अलोमा व्यक्ति अल्प वीर्यवत्ता होता है।

५. अति कृष्ण पुरुष—जिस जाति के व्यक्तियों का जैसा वर्ण होता है उनमें वही वर्ण शोभनीय होता है अतः सामान्य रूप से गौर वर्ण वाली जाति में अति कृष्ण वर्ण सम्मान पाने योग्य नहीं माना जाता है। अतः इसे निन्दनीय कहा गया है। अफ्रीका के नीग्रो जाति, जो सामान्यतः कृष्ण वर्ण की होती है, में कृष्ण वर्ण निन्दनीय नहीं माना जाता है। कुछ व्यक्तियों का असामान्य कृष्ण वर्ण जन्म से होता है। इस कृष्ण वर्ण में त्वचा की जो स्वाभाविक दीप्ति होती है उसका अभाव होता है। ऐसे व्यक्ति चाहे श्वेत जाति में अथवा कृष्ण वर्ण की जाति में हो सामान्य से विपरीत होने के कारण निन्दनीय है।

६. अति गौर पुरुष—अति कृष्ण व्यक्ति के समान ही अति गौर व्यक्ति भी सामान्य से हटकर है इसलिए निन्दनीय कहा गया है। जैसे त्वचा में वर्ण कण, जिन्हें

मैलेनिन कण (Melanin pigments) कहते हैं, होते हैं। ये कण जितने अधिक होंगे त्वचा का वर्ण उतना ही कृष्ण होता है। इनकी बिल्कुल हीनता त्वचा को पारदर्शक बना देती है। हमारे देश में मैलेनिन कण त्वचा में रहते हैं। शरीर में उनकी संख्या कम होती है, अतः अतिकृष्ण वर्ण नहीं मिलता है। उत्तर ध्रुव के निकट के देशों स्वीडन, नोर्वे आदि के व्यक्तियों की त्वचा में मैलेनिन नाम मात्र को होते हैं। हमारे देश में जिन बच्चों की त्वचा में इन कणों का अभाव होता है उनकी त्वचा, रोम, केश आदि श्वेत वर्ण के होते हैं और इन व्यक्तियों को 'सूर्यमुखी' (albino) कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को निन्दनीय कहा है।

७. अति स्थूल पुरुष—अतिस्थूल तथा अति कृश दोनों प्रकार के व्यक्ति चिकित्सा की दृष्टि से निन्दनीय हैं। इन दोनों में भी अति स्थूल व्यक्ति तो अति निन्दनीय होता है। शरीर में मेद के बढ़ जाने से शरीर स्थूल हो जाता है। नितम्ब, स्तन, उदर में मेद विशेष रूप से एकत्रित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के शरीर में ये दोष उत्पन्न हो जाते हैं। (i) आयु की हीनता होती है। धातुओं के मार्ग अविरुद्ध हो जाते हैं, जिस कारण शरीर में धातुओं की समान वृद्धि नहीं होती है। शरीर में चयापचय (metabolism) क्रियाएँ विकृत हो जाती हैं। ऐसा व्यक्ति, प्रमेह (diabetes), ज्वर, भगन्दर, विद्रधि, हृदय रोग तथा अन्य वात विकारों से पीड़ित होकर शीघ्र मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। (ii) किसी भी कार्य को करने में उत्साह नहीं होता है। ऐसे व्यक्तियों में क्षुद्र श्वास गति होती है क्योंकि शरीर को आवश्यकता के अनुसार ऑक्सीजन की प्राप्ति नहीं होती है। अतः अन्य धातुओं की अपेक्षा मेद धातु (fat) का शरीर में संग्रह बढ़ जाता है। मेद धातु स्वयं में गुरु धातु है। शरीर में गुरुता के बढ़ जाने से कार्य करने में उत्साह की हीनता स्वयंमेव हो जाती है। (iii) मैथुन क्रिया में कष्ट एवं कठिनाई होती है। उदर में मेद की वृद्धि हो जाने से तथा वीर्य की उत्पत्ति कम हो जाने से एवं मेद द्वारा वीर्य मार्गों के आच्छादित हो जाने के कारण मैथुन क्रिया अत्यन्त कष्ट से होती है। (iv) शरीर दुर्बल हो जाता है। शरीर की चयापचय क्रिया में विकृति आ जाने से तथा ऑक्सीजन की उपलब्धि आवश्यकता से कम प्राप्त होने से अल्प चेष्टा एवं अल्प श्रम से ही श्वास गति तीव्र हो जाती है और ऐसा व्यक्ति किसी भी श्रमजनित कार्य को नहीं कर सकता है। रक्त आदि धातुओं के विषम हो जाने से शरीर में दुर्बलता बढ़ जाती है। (v) शरीर में दुर्गन्ध आने लगती है। मेद के दूषित हो जाने के कारण, मेद के स्वभाव के कारण तथा मेद के स्वेद को उत्पन्न करने वाला होने के कारण शरीर की गन्ध अप्रिय हो जाती है। (vi) अत्यधिक स्वेद आने लगता है। मेद के कफ से मिश्रित होने के कारण, विष्यन्दी होने के कारण, मेद के अत्यधिक होने के कारण तथा श्रम को न सह सकने के कारण ऐसे व्यक्ति को अधिक स्वेद आता है।

(vii) अत्यधिक भूख लगने लगती है तथा (viii) अत्यधिक प्यास लगने लगती है। अति स्थूल व्यक्ति के कोष्ठ में सामान्य से अधिक वायु रहती है जिस कारण अग्नि को बल मिलता है और वह तीक्ष्ण हो जाती है जिस कारण अति स्थूल व्यक्ति को भूख तथा प्यास अत्यन्त सताती है।

अति स्थूल होने के कारण—(i) अधिक मात्रा में भोजन करना। (ii) भोजन में गुरु, शीत, मधुर, स्निग्ध द्रव्यों का अधिक सेवन करना। (iii) व्यायाम एवं अन्य श्रम जनित कार्य न करना। (iv) मैथुन न करना। (v) दिन में अधिक सोना। (vi) सदैव प्रसन्न रहना। (vii) चिन्ता, शोक आदि मानसिक विषयों में ग्रस्त न होना तथा (viii) माता-पिता के स्थूल होने के कारण स्वभावत: स्थूल होना।

(८) **अति कृश व्यक्ति**—जिस व्यक्ति के नितम्ब, उदर, गर्दन शुष्क हों, धमनियों के जाल फैले हुए दिखाई दें, त्वचा तथा अस्थि मात्र ही शरीर पर शेष हो एवं अस्थि संधियाँ स्थूल दिखाई दें वह व्यक्ति अति कृश है।

रुक्ष एवं अल्प भोजन के सेवन करने से, अति श्रमयुक्त कार्य करने से, अति मैथुन, अति अध्ययन, अति भय-शोक-चिन्ता-क्रोध-जागरण करने से, क्षुधा एवं तृष्णा के वेग को रोकने से, कषाय रस अति सेवन से रस धातु की उत्पत्ति अत्यन्त स्वल्प होती है। जिससे वह अन्य धातुओं की तृप्ति नहीं कर सकती है। अत: शरीर कृश हो जाता है।

कृश व्यक्ति क्षुधा, तृष्णा, शीत-उष्ण वायु, वर्षा को सहन नहीं कर सकते हैं। भोजन से अति तृप्ति रहती है। तीक्ष्ण वीर्य औषधियों एवं अति मैथुन कर्म को भी नहीं सह सकते हैं।

कृश व्यक्ति प्राय: प्लीहा वृद्धि, कास, क्षय, श्वास, गुल्म, अर्श, उदर तथा ग्रहणी रोग एवं अग्निमांद्य आदि से ग्रसित हो मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

अनिन्दनीय पुरुष

(च० सू० २१/१८-२०; सु० सु० १५/३३, ३५; अ० सं० सू० २४/६८)

सकक्षांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः।
दृढेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभिभूयते।।
क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः।
समपक्ता समजरः सममांसचयो मम।। च० सू० २१/१८, १९

जो पुरुष ऊपर बताये जा चुके आठ निन्दनीय पुरुषों के जो लक्षण पृथक्-पृथक वहाँ पर बताये गए हैं, उनसे मुक्त है तथा सुखपूर्वक जीवन यापन के लिए जिस प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियों की आवश्यकता होती है उनसे पूर्ण हैं। अंगप्रत्यंगों की बनावट सम है। वाह्य एवं आभ्यान्तर सभी इन्द्रियाँ सम्यक् प्रकार से अपने-अपने विषयों से सम्बन्धित रहती हैं। यदि संयोगवश वह रोग से पीड़ित हो जाते हैं तो अधिक कष्ट प्राप्त नहीं करते हैं। ऐसे व्यक्ति अनिन्दनीय पुरुष हैं।

यह भूख-प्यास के वेगों को तथा धूप आदि को सहन कर लेता है । शीत एवं अधिक परिश्रम को सहन करने वाला होता है । इसकी जठराग्नि सम होती है । नियम से प्रकृति एवं सात्म्य के अनुसार भोजन करता है । इसके आहार का पाचन ठीक प्रकार से होता है तथा शारीरिक चयापचयात्मक क्रियायें सम्यक् प्रकार से होती हैं । ऐसा पुरुष श्रेष्ठ अनिन्दनीय कहलाता है ।

उपवास

(च० सू० २२/९, १२, १८; सु० सू० ४६/४९६-५०६; अ० सं० सू० २४/६)

यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम् ।। च० सू० २२/९

उपवास लंघन कर्म है । जो द्रव्य या उपाय शरीर में लघुता उत्पन्न करें उसे लंघन कहते हैं । लंघन कर्म दस प्रकार से होता है (१) वमन, (२) विरेचन, (३) शिरो विरेचन (नस्य) (४) निरुहवस्ति (५) पिपासा (६) वायु का सेवन (७) धूप का सेवन (८) पाचन द्रव्यों का सेवन (९) उपवास तथा (१०) व्यायाम । ये लंघन कर्म दो प्रकार से किये जाते हैं (१) शोधन कर्म द्वारा यथा (i) वमन (ii) विरेचन (iii) शिरोविरेचन (iv) निरुहवस्ति तथा (v) रक्तमोक्षण (वाग्भट ने उल्लेख किया है) द्वारा तथा (२) शमन कर्म द्वारा । इसमें दोषों को संशोधित और धातुओं को उत्क्लेशित किए बिना अन्य उपायों द्वारा धातुओं को सम अवस्था में रखते हैं । शामक उपाय वाग्भट ने सात प्रकार के कहे हैं । यथा पाचन, दीपन, भूख, प्यास, व्यायाम, धूप और वायु के सेवन द्वारा । उपवास इसी के अन्तर्गत पाचन एवं दीपन कर्म में आता है ।

अधिक जल अथवा द्रवों के सेवन से, असमय-कुसमय भोजन करने से, वेगों को रोकने से तथा दिन में शयन और रात्रि में जागरण करने से सात्म्य और हलका किया हुआ अन्न भी उचित रूप से नहीं पचता है । ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, चिन्ता, दैन्य तथा द्वेष आदि मानसिक विकारों से पीड़ित मनुष्य द्वारा सेवन किया हुआ भोजन भी ठीक प्रकार से नहीं पचता है ।

इस आमाजीर्ण अवस्था में भोजन मधुरता को प्राप्त हो जाता है । ऐसी दशा में उपवास कराना चाहिए । जब तक उस व्यक्ति की अजीर्ण निवृति न हो जाय, उसे खाने के लिए भोजन नहीं देना चाहिए ।

इस प्रकार उपवास से शरीर के हलका हो जाने पर भी जब तक दोष साम्य न हो, लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रुक्ष, सूक्ष्म, खर, सर आदि लंघन उत्पन्न करने वाले पदार्थ, प्रारम्भ में कम मात्रा में, सेवन कराने चाहिए ।

आमाजीर्ण अवस्था उत्पन्न न हो इसके लिए प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को सप्ताह में एक दिन उपवास करना श्रेयस्कर है । इसे हम स्वास्थ्य के लिए उपवास कह सकते हैं । यदि बिना भोजन के जो व्यक्ति नहीं रह सकते हैं अथवा अभ्यस्त नहीं हो सकते हैं तो सप्ताह में एक दिन अति लघु भोजन पदार्थ कम मात्रा में ले सकते हैं ।

विवाह

स्वस्थ स्त्री पुरुष परस्पर विवाह सूत्र में बँध सकते हैं। सोलह वर्ष की कन्या तथा 25 वर्ष का ब्रह्मचारी पुरुष समवीर्य अर्थात् सम सामर्थ्यवान् माने जाते हैं। अतः विवाह के समय कन्या की आयु कम से कम 18 वर्ष तथा पुरुष की आयु कम से कम 25 वर्ष होनी चाहिए। दोनों शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ ही नहीं होने चाहिए वरन् गुण, कर्म, स्वभावों में भी समान होने चाहिए।

भारत में अधिकांश व्यक्तियों का रक्त रीसस वर्ग के अनुसार रीसस धनात्मक (Rh+, Reses positive) होता है और बहुत कम व्यक्तियों का रक्त Rh⁻ (रीसस ऋणात्मक) होता है। परन्तु यदि स्त्री अथवा पुरुष में किसी के रक्त का वर्ग रीसस ऋणात्मक है तो फिर उसको अपना विवाह रीसस ऋणात्मक वर्ग में ही करना उचित है अन्यथा रीसस ऋणात्मक रक्त वर्ग की स्त्री की सन्तान को जीवित रखने के लिए अनेक सावधानियों की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक कुल के व्यक्तियों में गुणवाचक क्रोमोजोम्स (chromosomes) प्रायः एक से गुणों के वाहक होते हैं। ऐसे में परस्पर विवाह सम्बन्ध हो जाने से सन्तान में तेजस्विता एवं बुद्धि में कोई विशेषता नहीं आती है। यदि कुल को बचाकर विवाह सम्बन्ध किया जाता है तो भिन्न गुण वाहकों के सन्तानों में होने के कारण नवीन गुणों का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिए हिन्दुओं में गोत्र को बचाने की प्रथा चली आ रही है।

सन् 1978 में केन्द्रिय सरकार ने एक कानून स्वीकृत किया है जिसे 'बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम 1978' कहते हैं। यह अधिनियम (Act) एक अक्टूबर 1978 से लागू हो गया है। इसके अनुसार लड़कियों की विवाह आयु कम से कम 18 वर्ष तथा पुरुषों की विवाह आयु कम से कम 21 वर्ष कर दी गई है। इस अधिनियम का उल्लंघन करने वालों को मेजिस्ट्रेट के आदेश पर पुलिस गिरफ्तार कर सकती है और उन्हें सजा मिल सकती है।

इस अधिनियम द्वारा निर्धारित न्यूनतम विवाह आयु देश के सभी धर्मों के व्यक्तियों पर समान रूप से लागू है।

विवाह द्वारा समाज एक स्त्री और पुरुष को परस्पर यौन सम्बन्ध रखने की आज्ञा प्रदान करता है। हिन्दू धर्म के अनुसार विवाह धर्म का पालन करने तथा सन्तान प्राप्ति के लिए होता है। यह जीवन का एक संस्कार है।

आजकल एक पत्नी विवाह ही पसन्द किया जाता है। मुस्लिम धर्म में यद्यपि एक साथ एक व्यक्ति चार पत्नियाँ तक रख सकता है। परन्तु सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि यह प्रथा प्रचलन में अधिक नहीं है। बहुत कम मुस्लिम पुरुष ऐसे हैं जो एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह करते हैं। बहुपत्नी (Polygamy) प्रथा समाप्त होनी चाहिए।

भारत में कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं यथा देहरादून जिले का जौनसार बावर क्षेत्र, जहाँ बहुपति विवाह (polyandry) प्रथा है। एक पत्नी परिवार के समस्त भाइयों की पत्नी मानी जाती है। परन्तु शिक्षा की उन्नति के साथ ही साथ यह प्रथा भी समाप्त होती जा रही है।

हिन्दुओं में स्मृतियाँ आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन करती हैं।

(१) **ब्रह्म विवाह**—इस विवाह प्रथा के द्वारा वर एवं कन्या के माता-पिता पर विवाह का भार होता है। कन्या के माता पिता सुयोग्य, चरित्रवान वर के साथ अपनी कन्या का विवाह संस्कार सम्पन्न करते हैं। यह विवाह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है तथा आजकल यह जन प्रचलित विवाह प्रथा है।

(२) **दैव विवाह**—यज्ञ आदि करने में कुशल योग्य विद्वान व्यक्ति से कन्या का पिता यज्ञ का आयोजन सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाने के पश्चात् अपनी कन्या का विवाह कर देते थे। ऐसा आजकल नहीं होता है।

(३) **आर्य विवाह**—किसी ऋषि द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश की इच्छा व्यक्त करने पर कन्या का पिता उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर देता था तथा साथ में पशु, धन आदि प्रदान करता था। यह प्रथा भी अब समाप्त हो गई है।

(४) **प्रजापत्य विवाह**—इस प्रथा में कन्या का पिता वर और वधु को वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में उपदेश देकर और आशीर्वाद देकर विधिवत वर की पूजा कर कन्या को दान में दे देता था।

(५) **गान्धर्व विवाह**—इसे प्रेम विवाह या वासना विवाह कह सकते हैं। लड़के तथा लड़की का परस्पर आकर्षण हो जाने तथा शारीरिक सम्बन्ध हो जाने पर समाज उसको विवाह मान लेता है। ऐसा सम्बन्ध, जो बिना किसी नियम या संस्कार के हो जाता है, गान्धर्व विवाह के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

(६) **राक्षस विवाह**—कन्या को जबरदस्ती छीनकर या अपहरण करके या युद्ध में प्राप्त करके विवाह कर लिया जाता है। यह राक्षस विवाह कहलाता है।

(७) **असुर विवाह**—कन्या का तयशुदा निश्चित मूल्य वर से प्राप्त कर कन्या का विवाह कर दिया जाना असुर विवाह कहलाता है।

(८) **पैशाच विवाह**—किसी स्त्री के साथ जबरदस्ती सहवास स्थापित करने को पैशाच विवाह कहते हैं। इस विवाह को समाज घृणा की दृष्टि से देखता है और उसे पापिष्ठ विवाह भी कहा गया है।

मुस्लिम समाज में विवाह

निकाह अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है स्त्री और पुरुष का समेल यौन संयोग (Carnal Conjunction) और कानून में इसका अर्थ है विवाह। इस्लाम में निकाह हिन्दुओं के समान एवं पवित्र संस्कार नहीं माना जाता है वरन् यह एक संविदा (Contract) है जिसका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है। इस्लाम मजहब में वानप्रस्थ या सन्यासाश्रम का विधान नहीं है।

निकाह में कुछ अनिवार्य तत्व होते हैं।

(१) स्त्री और पुरुष की मजहब सम्बन्धी मान्यताएं एक सी होनी चाहिए।

(२) स्त्री और पुरुष को बालिग होना चाहिए। इस्लाम में 15 वर्ष के स्त्री और पुरुष बालिग माने जाते हैं।

(३) निकाह का प्रस्ताव, जो इजब कहलाता है, पुरुष की तरफ से आना चाहिए और स्त्री की स्वीकृति कबूल कहलाती है। इजब और कबूल एक ही बैठक में होने चाहिए।

(४) यदि स्त्री और पुरुष की आयु ७ वर्ष से अधिक और १५ वर्ष से कम है तो उनके अभिभावक इजब और कबूल कह सकते हैं।

(५) इजब और कबूल दोनों पक्षों के अभिकर्त्ताओं, जो वकील कहलाते हैं, की मौजूदगी में किया जाना जरूरी है। यदि दोनों वकील पुरुष हैं तो दोनों पक्षों से कम से कम एक-एक तथा जिस ओर से पुरुष के स्थान पर स्त्री है तो एक पुरुष के स्थान पर दो स्त्रियों का होना जरूरी है। शिया मुसलमानों में इजब और कबूल के समय ऐसे गवाहों का होना जरूरी नहीं है उनमें तलाक के समय इनका होना जरूरी होता है।

शिया मुसलमानों में कुछ अवधि के लिए भी निकाह मान्य है। इसे मुता कहते हैं। यह चाहे एक दिन के लिए ही क्यों न हो। अवधि और मेहर की राशि का संविदा में उल्लेख होना चाहिए। क्योंकि ये निकाह एक अवधि के लिए ही होते हैं अतः इसमें तलाक का विधान नहीं है। मुद्दत खत्म होते ही निकाह 'हिबा-इ-मुद्दत' के अनुसार स्वयं खत्म हो जाता है।

स्त्री द्वारा अपने शरीर के समर्पण का प्रतिकार (बदला) महर है। यह निकाह का एक आवश्यक अंग है। यह दो प्रकार का होता है।

(१) **मुअज्जल महर** (prompt dower)—निकाह के बाद तत्काल देय होता है अथवा तीन वर्ष के अन्दर माँगने पर तुरन्त देय होता है अन्यथा पति की मृत्यु अथवा तलाक की तारीख से गणना प्रारम्भ हो जाती है और तीन वर्ष के अन्दर स्त्री मांग सकती है।

(२) **मुवज्जल महर** (deferred dower)—पति की मृत्यु या तलाक पर तुरन्त देय होता है।

महर की रकम (१) पत्नी की स्थिति, (२) स्थानीय रिवाज, (३) महर की कुल रकम, (४) पति की हैसियत पर ध्यान रखते हुए निर्धारित की जाती है। इस दृष्टि से महर (१) निश्चित धनराशि अथवा (२) उचित धनराशि हो सकती है।

(१) **निश्चित महर** (specified dower)—इसमें महर के रूप में एक निश्चित धनराशि निकाह के समय ही तय हो जाती है। पति की मृत्यु होने पर उसकी चल अचल सम्पत्ति से पहिले इस महर की अदायगी होती है चाहे फिर औरों के लिए कुछ बचे अथवा नहीं।

(२) **उचित महर** (proper dower)—निकाह के समय कोई निश्चित धनराशि तय नहीं की जाती है। समय आने पर पिता के खानदान की हैसियत, खानदान की अन्य स्त्रियों के महर की रकम, स्त्री की निजी अर्हता, समय की परिस्थितियों को देखते हुए तय की जाती है।

मतभेद होने पर उपरोक्त कारणों पर विचार कर न्यायालय द्वारा भी निश्चित की जा सकती है।

३

भूमि, निवास स्थान एवं स्वास्थ्य

अब से हजारों वर्ष पूर्व मनुष्य धूप, शीत, वर्षा तथा हिंसक पशुओं से बचने के लिए गुफाओं में आश्रय लेता था। कब मनुष्य गुफाओं को छोड़ घर बनाकर रहने लगा, इसका कोई लेखा जोखा इतिहास के पास अब तक नहीं है। मनुष्य का आज का निवास स्थान केवल धूप, वर्षा आदि से बचने का साधन मात्र नहीं है वरन् इससे भी अधिक वह व्यक्ति की समग्र उन्नति का साधन भी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने गृह के लिए 'निवासीय परिस्थिति (residential environment)' शब्द का प्रयोग किया है तथा इसका विश्लेषण करते हुए कहा है कि **'निवास स्थान वह भौतिक रचना है जिसे व्यक्ति परिवार सहित अपनी उन्नति के लिए तथा परिस्थिति सम्बन्धी आवश्यकताओं एवं सुविधाओं के लिए प्रयोग में लाता है। इसके द्वारा वह शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं पारिवारिक दृष्टि से उन्नति की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करता है।''**

व्यक्ति का निवास स्थान उसकी शारीरिक क्रिया सम्बन्धी (Physiological), मनोवैज्ञानिक (Psychological) तथा सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होता है।

१. शरीर क्रिया सम्बन्धी आवश्यकतायें—मनुष्य का शरीर प्रत्येक स्थान के तापमान, वायु एवं वायु गति, आर्द्रता, प्रकाश, शोरगुल आदि से प्रभावित होता है।

तापमान—बाह्य तापमान का प्रभाव शारीर क्रियाओं पर पड़ता है। अनुकूल तापमान में शरीर की क्रियायें सम्यक् प्रकार से होती हैं। यदि निवास स्थान शीत प्रधान स्थान पर है तो मकान का निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि सीधी ठण्डी वायु से रक्षा हो सके तथा धूप खुलकर मिले। यदि स्थान उष्ण प्रदेश में है तो गर्म हवाओं के सीधे प्रभाव से गृहवासी बचे रहें।

वायु—वायु का शुद्ध होना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। इसलिये निवास स्थान ऐसे स्थान पर हाना चाहिये जहाँ शुद्ध वायु की प्राप्ति होती रहे। आस-पास इस प्रकार के उद्योग अथवा कार्य स्थान नही होने चाहिये जिनसे वायु के दूषित होने की सम्भावना हो। निवास स्थान ऐसे स्थानों पर भी नहीं होना चाहिये जहाँ की वायु में धूल आदि अधिक रहती हो। धूल के साथ विभिन्न संक्रामक रोगों के जीवाणुओं की सम्भावना रहती है।

वायुगति—यदि वायु का प्रवाह सामान्य गति से होता रहता है तो वायु की अशुद्धियाँ भी कम होती रहती हैं। निवास स्थान में वायु का सीधा प्रवाह नहीं आना चाहिये, विशेष रूप से शीत काल में, क्योंकि वायु का प्रवाह तापमान को प्रभावित करता है।

आर्द्रता—वायु में आर्द्रता जल वाष्प के रूप में रहती है। यदि वायु जल वाष्प के प्रति संतृप्त है तो शरीर से स्वेद का वाष्पीकरण नहीं होता है। इस प्रकार शरीर में उत्पन्न अनावश्यक ऊष्मा की हानि नहीं होती है। इससे शरीर में बेचैनी अनुभव होने लगती है, शरीर का तापमान बढ़ जाता है। वायु में 60 प्रतिशत आर्द्रता सुविधाजनक रहती है। अतः निवास स्थान पर वायु में उपस्थित आर्द्रता का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

प्रकाश—निवास स्थान पर प्राकृतिक प्रकाश के आने का पूरा प्रबन्ध रहना चाहिए। कम से कम आधे भाग में धूप आनी चाहिए। मकान के निर्माण के समय सूर्य के प्रकाश की दिशा का ध्यान रखना आवश्यक है।

शोर (रव-noise)—निवास ऐसे स्थान पर नहीं होना चाहिए जहाँ पर शोर-गुल रहता है। ऐसे वातावरण में निरन्तर रहने से न केवल श्रवण आदि पर अनिष्ट-कारी प्रभाव पड़ता है वरन् मस्तिष्क के अन्य केन्द्रों पर भी निरन्तर तनाव रहने के कारण अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है।

अन्य—निवास पर आश्रम, व्यायाम आदि के लिए उपयुक्त स्थान होने चाहिये।

२. **मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें** (Psychological needs)—स्वस्थ मनोवैज्ञानिक प्रभाव के लिए यह आवश्यक है कि निवास स्थान पर (१) एकान्तता (privacy), (२) अध्ययन की सुविधा, (३) स्वच्छता, (४) पारिवारिक, (५) अध्यात्मिक एवं (६) सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की सुविधायें होनी चाहिए।

३. **स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकतायें**—इसके लिये आवश्यक है कि निवास स्थान पर (१) शुद्ध जल की उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिये, (२) पाकशाला, भोजन सामग्री संग्रह स्थान एवं भोजन करने का स्थान स्वच्छ, प्रकाशयुक्त, मक्खी, मच्छर, तिलचट्टों (cockroaches), चूहों आदि से सुरक्षित रहने चाहिए। (३) स्नानागार, शौचालय आदि का निर्माण एवं प्रबन्ध समुचित प्रकार से रहना चाहिये।

४. **सुरक्षा की आवश्यकता**—(१) भवन निर्माण के लिए सामग्री अच्छे किस्म की होनी चाहिए जिससे आकस्मिक दुर्घटनाओं से बचा जा सके। अग्नि, गैस, विद्युत आदि के कारण होने वाली दुर्घटना के बचाव का ध्यान निर्माण के समय ही रखना चाहिए।

इनके अतिरिक्त भवन निर्माण का समय, निर्माण स्थान क्षेत्र की जलवायु, रीति-रिवाज, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति तथा निर्माण के लिए सामान की उपलब्धि पर भी ध्यान रखना पड़ता है।

पर्यावरणजन्य स्वास्थ्य विज्ञान समिति (environmental hygiene committee) ने भारत में निवास स्थान निर्माण के सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये हैं। इनके द्वारा हमें भवन निर्माण के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। उनमें से मुख्य सुझाव यहाँ दिये जा रहे हैं।

१. **स्थान** (site) :—(१) भवन निर्माण का स्थान आसपास से नीचा नहीं होना चाहिए जिससे वर्षा के जल का भराव नहीं हो। (२) भूमि शुष्क होनी चाहिए। भूमिगत (underground) जल कम से कम 10-15 फिट नीचा होना चाहिए, जिससे पृथ्वी का ऊपरी तल शुष्क रहे। यदि उस स्थान पर भूमिगत जल का स्तर ऊँचा है और उस स्थान पर निवास का निर्माण करना आवश्यक है तो आस-पास यूकेलिप्टस (eucalyptus-नीलगिरी) के वृक्ष लगा देने चाहिए। ये वृक्ष अन्य वृक्षों की अपेक्षा 11 गुणा अधिक जल शोषण करने की क्षमता रखते हैं। (३) यदि भूमि का कूड़े आदि से भराव किया गया है तो कम से कम 20-25 वर्ष के पश्चात् उस भूमि पर भवन निर्माण करना चाहिए। (४) मकान के मुख्य द्वार का सम्बन्ध सड़क आदि मार्ग से सीधा रहना चाहिए। (५) स्थिर जलाशयों में मच्छर अण्डे देते हैं तथा गन्दगी के स्थान पर मक्खियाँ अण्डे देती हैं। निवास निर्माण स्थल के निकट, ऐसे स्थान नहीं होने चाहिए। (६) धूल, धुवें, दुर्गन्ध, शोरगुल आदि से निवास स्थल मुक्त होना चाहिए। (७) आसपास का दृश्य नेत्रों को सुखद होना चाहिए। (८) निवास गृह में प्रकाश एवं वायु संवातन का पूरा प्रबन्ध रखना चाहिए। यदि मकान चारों तरफ से खुला हुआ है तो उस दशा में वायु एवं प्रकाश के लिए अन्य कृत्रिम उपायों की आवश्यकता नहीं होती है। यह स्थिति सर्वोत्तम है अन्यथा गाँवों में मकान के क्षेत्रफल का एक तिहाई तथा नगरों में, जहाँ भूमि का मूल्य अधिक होता है, क्षेत्रफल का अधिक से अधिक $\frac{2}{3}$ भाग आच्छादित (covered) होना चाहिए। इससे प्रकाश एवं वायु संवातन में सुविधा रहती है।

२. **फर्श** (floor) :—(१) मकान का फर्श पक्का, चिकना, अपारगम्य (impermeable) तथा सरलता से साफ हो जाने वाला होना चाहिए। कच्चा फर्श कठिनाई से साफ रहता है, गीला हो जाने पर देर से सूखता है तथा धूल आदि से भरा रहता है। (२) फर्श में दरारें नहीं होनी चाहिये। ऐसे स्थानों में धूल, खटमल तथा अन्य कीड़े एकत्रित हो जाते हैं। (३) नींव (plinth) से फर्श कम से कम $\frac{2}{3}$ फिट ऊँचा होना चाहिए तथा नीचे जमीन की नमी ऊपर नहीं आ सके, इस प्रकार उसका निर्माण होना चाहिए।

३. **दीवारें** (walls) :—निवास स्थान की दीवारें (१) दृढ़ (२) ऊष्मा की

कुचालक, (३) ऋतुओं के परिवर्तन से अप्रभावित, (४) दरारों, छिद्रों से रहित, (५) सपाट और चिकनी, (६) दोनों तरफ से प्लास्टर की हुई होनी चाहिए।

४. छत (roof) :—छत की ऊँचाई फर्श से कम से कम दस फिट होनी चाहिए। दस फिट से नीची छत युक्त कमरा ग्रीष्म ऋतु में अधिक गर्म तथा शीत ऋतु में अधिक शीतल रहता है। छत ऊष्मा की कुचालक होनी चाहिए।

५. कमरे (rooms) :—छोटे से छोटे परिवार के लिए रसोई, स्नानागार, शौचालय के अतिरिक्त कम से कम दो कमरे होने चाहिए। एक कमरा सामान आदि के सुरक्षित रखने के लिए तथा दूसरा कमरा रहने के लिए। सामान्यतः मकान में कमरों की संख्या रहने वालों की संख्या के ऊपर निर्भर करती है। परिवार के प्रत्येक दो व्यक्तियों पर एक कमरा अवश्य होना चाहिए। प्रत्येक कमरे का क्षेत्रफल भी कम से कम 120 वर्ग फिट होना चाहिए। यदि कमरा केवल एक व्यक्ति के इस्तेमाल के लिए आवश्यक है तो कम से कम सौ वर्ग फिट पर्याप्त है। कमरे में यदि अधिक व्यक्ति रहते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए अतिरिक्त 30 वर्ग फिट और अधिक जगह होनी चाहिए।

यदि प्राकृतिक एवं कृत्रिम वायु संवातन का उत्तम प्रबन्ध नहीं है तो प्रति व्यक्ति के लिए कम से कम 500 घन फिट वायु की उपलब्धि कमरों में रहनी चाहिए।

६. खिड़कियाँ (windows) :—(१) कृत्रिम संवातन के अभाव में प्रत्येक कमरे में कम से कम दो खिड़कियाँ होनी चाहिए, जिनमें कम से कम एक बाहर की ओर खुले हुए भाग की तरफ खुलने वाली होनी चाहिए। (२) फर्श के तल से खिड़की की ऊँचाई अधिक से अधिक तीन फिट रहनी चाहिए। (३) फर्श के क्षेत्रफल का कम से कम $\frac{1}{2}$ क्षेत्रफल समस्त खिड़कियों का होना चाहिए। (४) किसी एक कमरे में दरवाजों और खिड़कियों का संयुक्त क्षेत्रफल फर्श के क्षेत्रफल के $\frac{2}{3}$ भाग से कम नहीं होना चाहिए।

७. प्रकाश (light) :—मकान के कुल आच्छादित (covered) भाग के कम से कम $\frac{1}{2}$ भाग पर दिन में किसी समय धूप आनी चाहिए।

८. पाकशाला (kitchen) :—भोजन बनाने के लिए पृथक से स्थान होना चाहिए। इस पाकशाला मे प्रकाश की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए। भोजन सामग्री, ईंधन आदि के रखने की सुविधा रहनी चाहिए। धुवें तथा जल के निकास के लिए साधन रहने चाहिए, फर्श पक्का तथा दरवाजों एवं खिड़कियों पर जालीदार किवाड़ रहनी चाहिए जिससे मक्खी, मच्छर आदि से बचाव हो सके और शुद्ध वायु का अन्दर प्रवेश होता रहे।

९. स्नानागार (bathroom) :—निवास भवन का निर्माण कराते समय स्नानगृह की पृथक से सुविधा पर ध्यान रखना चाहिए। स्नानगृह में पूर्ण एकान्तता (privacy) रहनी चाहिए। जल का निकास ठीक प्रकार से रहे इस पर ध्यान रखना

चाहिए। आजकल रहने के कमरे से लगा हुआ स्नानागार तथा शौचालय बनाते हैं। इसमें इन बातों पर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है।

१०. शौचालय :—प्रत्येक निवास गृह में आवश्यक संख्या में शौचालय होने चाहिए। ये ऐसे स्थान पर होने चाहिए कि गृह का प्रत्येक निवासी सरलता से पहुँच सके। शौचालय के निकट ही जल का प्रवन्ध भी रहना चाहिए। जिन नगरों में जलवाह (flush) विधि है वहाँ उसका प्रयोग करना श्रेष्ठ है। अन्य स्थानों पर सेप्टिक टैंक बनाकर जलवाह विधि व्यवहार में लाई जा सकती है। यदि शुष्क शौचालय की व्यवस्था करनी पड़े, तो उनकी अच्छे प्रकार से सफाई का प्रबन्ध रहना चाहिए।

११. कूड़ा करकट :—घर में कूड़े को संग्रह करने का पृथक से प्रबन्ध रहना चाहिए। कूड़े डालने के पात्र में ढक्कन लगा रहना चाहिए। आजकल ऐसे पात्र बनते हैं जिनका ढक्कन बिना हाथ लगाए पैर से दबाने पर खुल जाता है तथा दबाव हटने पर बन्द हो जाता है। यह विधि उत्तम है। इस विधि में मक्खी आदि से बचाव रहता है। दुर्गन्ध भी नहीं आती है तथा स्थान स्वच्छ रहता है।

१२. जल की प्राप्ति :—निवास गृह में शुद्ध जल की पर्याप्ति मात्रा में प्राप्ति होती रहने का प्रबन्ध होना चाहिए। जहाँ जल वितरण प्रणाली नहीं है, वहाँ हेण्ड पम्प अथवा कुयें का प्रबन्ध रहना चाहिए। जहाँ पर जल वितरण निश्चित समय पर होता है, जल संग्रह का प्रबन्ध रहना चाहिए।

१३. दुधारू एवं अन्य पशुओं के लिए स्थान:—यदि निवास स्थान पर पशुओं की व्यवस्था करनी है तो उनके लिए पृथक स्थान होना चाहिए। वहाँ प्रकाश, जल तथा स्वच्छ वायु आने का सुभीता रहना चाहिए। पशुओं के मल मूत्र को हटाने तथा निराकरण करने का प्रबन्ध रहना चाहिए। चारे आदि के रखने की व्यवस्था पृथक स्थान पर करनी चाहिए। दूध पशु के थनों को स्वच्छ जल से साफ कर स्वच्छ बर्तन में दुहना चाहिए। दूध को मक्खी आदि से बचाना चाहिए।

देहाती क्षेत्र में भूमि का मूल्य नगरों की अपेक्षा कम होता है अत: वहाँ भवन निर्माण के लिए अधिक स्थान लिया जा सकता है और अधिक सुविधाजनक भी बनाया जा सकता है। शौचालय को निवास के कमरों से दूर रखा जा सकता है। देहातों में तथा जहाँ भूमि का मूल्य अधिक नहीं है, पशुओं के लिए निवास स्थान से कम से कम 25 फीट दूर व्यवस्था करनी चाहिए तथा प्रत्येक पशु के लिये कम से कम 8′ × 4′ ($2\frac{1}{2}$ मी० × $1\frac{1}{4}$ मी०) स्थान होना चाहिये। गोबर तथा मूत्र आदि की प्रतिदिन सफाई कर उसका कम्पोस्ट (खाद) बनाने के लिये पशुओं से पृथक स्थान पर प्रबन्ध करना चाहिये।

निवास स्थान की स्थिति एवं निर्माण पर हमारा स्वास्थ्य निर्भर करता है। इसका प्रभाव हमारे रहने सहने पर भी पड़ता है। यदि निवास स्थान एवं निर्माण ठीक प्रकार से है तो अनेक रोगों से बचा जा सकता है। यद्यपि प्रत्यक्ष में निवास

स्थान से नीचे लिखे रोगों का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है परन्तु निवास स्थान का आभ्यान्तर एवं पर्यावरण इनके प्रसरण में सहायक हो जाता है। ये रोग हैं—

(१) **श्वसन सम्बन्धी उपसर्ग** (respiratory infections) यथा प्रतिश्याय (common cold, जुकाम), क्षय (tuberculosis), इन्फल्युएन्जा (Influenza), डिफथीरिया (diphtheria-रोहिणी), श्वसनीशोथ (bronchitis), मिजिल्स (measles रोमान्तिक, खसरा) आदि।

(२) **त्वक् सम्बन्धी** (skin infections) यथा स्केबी (scabies-कण्डू), दद्रु (ringworm), इम्पेटिगो (impatigo), कुष्ठ (leprosy) आदि।

(३) **ऑथ्रोपोड** (arthropods) यथा घरेलू मक्खी, मच्छर, पिस्सू, खटमल, द्वारा विभिन्न रोग।

(४) **चूहों द्वारा** : प्लेग (plague)।

दुर्घटनाएँ (accidents)—निवास स्थान पर होने वाली दुर्घटनायें अधिकांश में निर्माण सम्बन्धी भूलों के द्वारा होती हैं यथा मुंडेर ऊँची नहीं बनाने से ऊपर से गिरने की दुर्घटनायें, विद्युत गैस, अग्नि आदि से दुर्घटनायें आदि भी ऐसी ही भूलों के द्वारा सम्भावित होती हैं। इन दुर्घटनाओं के कारण शारीर विकृति (morbidity) तथा मृत्यु (mortality) तक हो सकती हैं। भवन निर्माण के समय ही इन पर ध्यान रखना चाहिए।

नीचे एक अच्छे छोटे मकान का प्लान दिया जा रहा है जिसमें सभी आवश्यक सुविधाओं का समावेश है।
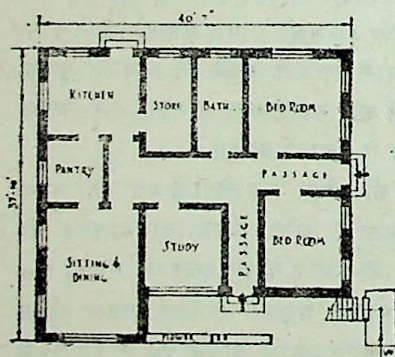
GROUND FLOOR PLAN
ज़मीन की मंजिल का प्लान

चित्र ५·१
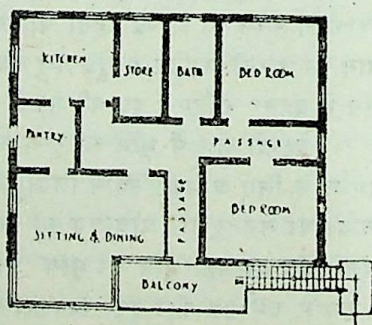
FIRST FLOOR PLAN
पहिली मंजिल का प्लान

चित्र ५·२

———

जल एवं स्वास्थ्य

जल की उपयुक्त मात्रा

समस्त जीवधारियों को प्राणों के धारण के लिए, जल अनिवार्य है। हमारे शरीर के भार का 2/3 भाग जल होता है। सत्तर किलोग्राम भार वाले व्यक्ति के शरीर में लगभग 45 लीटर जल होता है। शरीर में यह जल रस धातु की तरलता बनाये रखता है, मलों के शरीर से निष्कासन में सहायक होता है, खाद्य पदार्थों के स्वाद का ज्ञान कराता है, शरीर के ऊतकों (tissues) को आवश्यक पोषक तत्व पहुँचाने में सहायता करता है, शरीर की कोशिकाओं की क्रिया शक्ति बनाए रखता है, शरीर में जल की क्षय पूर्ति करता है आदि। इन महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन द्वारा यह प्राणों की रक्षा करता है।

जल पीने के अतिरिक्त भोजन पकाने, सफाई करने, स्नान करने आदि कार्यों में वैयक्तिक रूप से तथा नगर के शौच स्थानों, नालियों आदि अस्वच्छ स्थानों की सफाई के लिए सार्वजनिक रूप से आवश्यक होता है। अपने एवं नगर के कार्यों में हमें लगभग 200 लीटर जल प्रतिदिन प्रति व्यक्ति के हिसाब से आवश्यक होता है। यह आवश्यकता निम्न प्रकार से विभाजन की जा सकती है—

पीने, खाने, पकाने आदि में	50 लीटर
स्नान करने, वस्त्र आदि की सफाई में	50 लीटर
शौच आदि अन्य सफाई के कार्यों में	25 लीटर
नगर के औद्योगिक संस्थानों पर	25 लीटर
नगर की सफाई आदि कार्यों पर	25 लीटर
पशुओं के पीने आदि कार्यों पर	25 लीटर
	200 लीटर

इस मात्रा में चिकित्सालयों आदि में व्यय होने वाली मात्रा को और सम्मिलित किया जाय तो उस दशा में प्रति दिन 225 लीटर से 250 लीटर प्रति व्यक्ति के अनुसार जल की आवश्यकता होती है। यह अनुमान सामान्य स्वच्छता के स्तर की पूर्ति के लिए आवश्यक है। यदि हमारा जीवन यापन स्तर निम्न श्रेणी का है तो इस मात्रा से कम जल पूर्ति की आवश्यकता होती है और यदि उच्च स्तर का है तो इस मात्रा से भी अधिक की आवश्यकता होती है।

जल के प्रकार एवं गुण

(च० सू० २७/१९०-२१६; सु० सू० ४५/२-४६; अ० सं० सू० ६/३-५१)

कौपसारसताडाग चौण्ड्य प्रास्रवणोद्भिदम् ।
व पीनदीतोयमिति तत् पुनः स्मृतमष्टधा ।। अ०सं०सू० ६/१२

जल की प्राप्ति भेद के अनुसार संहिता ग्रन्थों में जल के अनेक प्रकारों का वर्णन आया है । अन्तरिक्ष जल तथा समुद्र जल के अतिरिक्त भूमिगत जल के स्थान भेद से चरक एवं अष्टांग संग्रह संहिताओं में आठ प्रकारों का वर्णन किया गया है । (१) नदी जल, (२) सरोवर जल, (३) तड़ाग जल, (४) प्रस्रवण (झरने का) जल, (५) कुएं का जल, (६) वापी (बावड़ी) का जल, (७) चौण्टय जल तथा (८) औद्भिद् (स्रोत) जल जो कुण्डों में एकत्रित हो जाता है । इन आठ प्रकार के जलों के अतिरिक्त सुश्रुत संहिता में (९) नद, (१०) विकिर, (११) केदार तथा (१२) पल्वल जल का वर्णन और आया है ।

अन्तरिक्ष जल—अन्तरिक्ष जल सर्वोत्तम जल है । यह चार प्रकार से प्राप्त होता है । (१) ऐन्द्र (वर्षा के रूप में), (२) कार (ओलों के रूप में), (३) हैम (बर्फ के रूप में) तथा (४) तौषार (वायु में उपस्थित जल वाष्प से ओस) के रूप में ।

अन्तरिक्ष जल के भूमि पर गिरने से पूर्व के गुण—

शीतं शुचि शिवमृष्टं विमलं लघु षट्गुणम् ।
प्रकृत्या दिव्यमुदकम् ।। च० सू० २७/१९८

वर्षा का जल शीत (शीतवीर्य), शुद्धि (पवित्र), शिव (कल्याणकारी) मृष्ट (मन के लिए उत्तम), विमल (निर्मल) लघु तथा दिव्य होता है । इन गुणों के अतिरिक्त अन्य गुणों का वर्णन भी संहिता ग्रन्थों में मिलता है यथा वर्षा जल मेधावर्धक, अमृत तुल्य, जीवन देने वाला, शरीर के धारण में कारण, हृद् (हृदय के लिए उत्तम), ह्लादि (प्रसन्नता प्रदान करने वाला), तृप्तिकर, सुखदायक, श्रम-क्लम-प्यास-मद-मूर्च्छा-तन्द्रा-निद्रा एवं दाह को शान्त करने वाला, सबसे उत्तम पथ्य तथा अव्यक्त रस वाला होता है । ये समस्त गुण शुद्ध जल के हैं चाहे वह किसी प्रकार से प्राप्त किया गया हो । अन्तरिक्ष जल विशुद्ध जल है अतः उसके गुणों में इन गुणों का वर्णन किया गया है ।

सूर्य के द्वारा वाष्प रूप में खींचा जाकर फिर नीचे गिरने के कारण जल लघु तथा वात, कफ नाशक होता है । शीतवीर्य, जीवनदायी तथा सौम्य होने के कारण जल पित्त, रक्त एवं विष पीड़ा नाशक होता है ।

वर्षा जल अपने प्राप्ति स्थान के कारण दो प्रकार का कहा गया है (१) गांग (२) सामुद्र । नदियों के जल की वाष्प से प्राप्त वर्षा जल गांग तथा सामुद्र जल की वाष्प से प्राप्त वर्षा जल सामुद्र कहलाता है । ऐसा संहिता ग्रन्थों में कहा गया है ।

वास्तव में वाष्प शुद्ध जल की ही बनती है । अशुद्धियाँ, जो जल में होती हैं, वे सब पीछे रह जाती हैं । [illegible] सामुद्र जल की

हो शुद्ध जल ही वाष्प बनता है । अतः गांग एवं सामुद्र का विभाजन इस वाष्प भेद से कारण नहीं हो सकता है । गांग वर्षा जल का अर्थ है गंगा जल के समान शुद्ध एवं पवित्र जल । यह वह वर्षा जल है जो स्वच्छ आकाश में वर्षा होने पर पृथ्वी स्पर्श से पूर्व ही ग्रहण कर लिया जाता है तथा सामुद्र वर्षा जल वह है जो धूल एवं अन्य रासायनिक गैसों को, 'जो वायु में होती हैं, अपने में लेता हुआ पृथ्वी पर गिरता है। इसकी पहिचान के लिए संहिता ग्रंथों में जो प्रयोग बताया है वह उपरोक्त स्पष्टीकरण को सिद्ध करता है । प्रयोग है कि एक चाँदी के पात्र में भात का एक पिण्ड एक मुहुर्त (४८ मिनट) तक वर्षा में रख दिया जाय यदि उसके वर्ण में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो गांगेय जल है और यदि वर्ण में परिवर्तन हो जाता है और उसमें कोथ (सड़न) की सम्भावना बढ़ जाती है तो वह सामुद्र जल है । इसके साथ ही साथ-सामुद्र-वर्षा जल को पीने के लिए निषिद्ध माना गया है । केवल आश्विन मास में सामुद्र जल का उपयोग किया जा सकता है । क्योंकि वर्षा के कारण वायु मण्डल अपेक्षाकृत शुद्ध होता है ।

गांगेय-वर्षा जल के जो गुण ऊपर बताये गये हैं वे पृथ्वी के स्पर्श में आने के पूर्व के गुण हैं । पृथ्वी पर गिरकर उसके गुणों में जो अन्तर आता है वह इस प्रकार है ।

सक्षारं कपिले मिश्रं भिश्रेऽथाम्बुगुणाधिके ।। अ०सं०सू० ६/६, १०
श्वेते कषायं तत्स्वादु कृष्णे तिक्तं चपाण्डुरे ।
नीले कषायमधुरं देशे लवणमूषरे ।।

(१) श्वेत मिट्टी वाली पृथ्वी पर गिरकर वर्षा जल		कषाय रस युक्त हो जाता है ।	
(२) काली	,,	मधुर रस	,,
(३) पाण्डुर	,,	तिक्त रस	,,
(४) नीली	,,	कषाय, मधुर रस	,,
(५) ऊसर	,,	लवण रस	,,
(६) कपिल	,,	क्षार रस	,,
(७) मिश्र	,,	मिश्र रसों से	,,

एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि
(८) पर्वत पर गिरकर वर्षा जल कटु रस युक्त हो जाता है ।
(९) काली और श्वेत भूमि पर सूर्य तथा वायु से ताड़ित जल पवित्र होता है ।

उपरोक्त वर्णन चरक एवं वाग्भट संहिताओं पर आधारित है । सुश्रुताचार्य का कहना है कि यह परिवर्तन पृथ्वी की मिट्टी के वर्ण पर आधारित नहीं होता है वरन जिस भूमि पर गिरता है, उसमें किस महाभूत की अधिकता है, इस पर आधारित होता है । यथा—

मधुरं लवणाम्लं तु भवेद्भूतिगुणाधिके ।
तेजोऽधिके तिक्तकटु कषायं पवनाधिके ।।

दिव्यानुकारि त्वव्यक्तरसत्वातवगुणाधिके ।
शुचिपृथ्वसितश्वेते देशे चार्कानिलाहतम् ।। अ० सं० सू० ६/१०, ११

(१) पृथ्वी तत्व की अधिकता से जल लवण और अम्ल रस युक्त हो जाता है।

(२) जल तत्व	,,	मधुर रस	,,
(३) तेज तत्व	,,	तिक्त और कटु रस	,,
(४) वायु तत्व	,,	कषाय रस	,,
तथा (५) आकाश तत्व	,,	अव्यक्त रस	,,

ऋतुओं के अनुसार अन्तरिक्ष जल के गुण—

(१) वर्षा ऋतु में वर्षा का जल—मधुर, भारी तथा कफ कारक होता है।

(२) शरद ऋतु में वर्षा का जल—तनु (पतला), लघु तथा कफ नाशक होता है। जो सुकुमार हैं तथा जो स्निग्ध आहार करते हैं उनके लिये भोजन में यह जल उपयोगी होता है।

(३) हेमन्त ऋतु में वर्षा का जल स्निग्ध, वृष्य, बलवर्धक तथा गुरु होता है।

(४) शिशिर ऋतु में वर्षा का जल अन्य गुणों में हेमन्त के जल के समान होता है परन्तु हेमन्त ऋतु के जल की अपेक्षा अधिक लघु होता है। इन दोनों ऋतुओं का जल कफ और वायु को नष्ट करता है।

(५) वसन्त ऋतु में वर्षा का जल कषाय, मधुर तथा रूक्ष होता है।

तथा (६) ग्रीष्म ऋतु में वर्षा का जल कफ कारक नहीं होता है।

ऋतु के विपरीत समय में वर्षा होने से अथवा काल के अतियोग, हीनयोग अथवा मिथ्यायोग होने से वर्षा जल अनेक दोषों को उत्पन्न करता है।

शुद्ध पात्र में यथाविधि एकत्रित किया गया अन्तरिक्ष जल त्रिदोष नाशक, बल कारक, रसायन और बुद्धि वर्धक होता है। इसके अतिरिक्त जैसे पात्र में जल ग्रहण किया जायगा उसी के अनुसार उसके गुण होते हैं।

अन्तरिक्ष जल का उपयोग सर्वोत्तम है इसे दिव्य जल भी कहते हैं। परन्तु प्रथम कुछ दिनों की वर्षा का जल ग्रहण नहीं करना चाहिए। यह सामुद्र जल के समान अहितकारी होता है। वायुमण्डल में उपस्थित धूल के कण तथा अन्य हानिकर रासायनिक गैसें आदि जल में मिल जाती हैं और इसे हानिकारक कर देती हैं। कुछ दिनों की वर्षा के पश्चात् वायुमण्डल धूल आदि से रहित हो जाता है, उस समय इस जल को पृथ्वी पर गिरने से पूर्व ही ग्रहण कर लेना श्रेयस्कर होता है। इसका उत्तम उपाय है कि एक श्वेत स्वच्छ चादर टाँग देनी चाहिए और उसके नीचे स्वच्छ पात्र जल एकत्रित करने के लिए रख देना चाहिए। वर्षा जल जो चादर पर गिरता है, छनकर पात्र में एकत्रित हो जाता है। भारत के कम वर्षा वाले भागों, यथा राजस्थान में, वहाँ के निवासी भोजन बनाने तथा पीने के लिए एकत्रित वर्षा जल का प्रतिदिन प्रयोग करते हैं। उसको भूमि में कुओं के समान सीमेंट के बने

पक्के कुण्डों में एकत्रित कर लिया जाता है। जिन नगरों में कल, कारखाने तथा वायु के दूषित करने वाले उद्योग अधिक मात्रा में होते हैं वहाँ का वर्षा जल भी वायुमण्डल में छाई हुई अशुद्धियों के कारण दूषित रहता है। ऐसे वर्षा जल का प्रयोग उचित नहीं है, क्योंकि यह जल सामुद्र जल के समान अस्वास्थ्यकर होता है।

समुद्र का जल

सामुद्रमुदकं विस्रं लवणं सर्वदोषकृत् ॥ सु० सू० ४६/३७

समुद्र को वरुण भगवान का निवास स्थान माना जाता है। समुद्र का जल दुर्गन्ध युक्त, त्रिदोष कारक और लवण बहुल होता है। एक लीटर समुद्र जल में लगभग 35 ग्राम लवण होता है। इसका सेवन स्वास्थ्य के लिये अति हानिकर होता है।

नदी का जल

जिन नदियों का बहाव तेज है उनका जल निर्मल होता है तथा इसके विपरीत जिन नदियों का बहाव मन्द है उनमें शैवाल आदि उत्पन्न होने पर भी अन्य अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ हो जाती हैं। यह जल भारी होता है और पीने के अयोग्य होता है।

जिन नदियों का जल उसमें उपस्थित पाषाण शिलाओं से टकराता, विच्छिन्न होता, शीघ्रता से बहता है वह जल प्राणियों के लिये पथ्यकर है यथा हिमालय से निकलने वाली नदियों का जल। जिन नदियों में पत्थर तथा रेत अधिक होते हैं उन नदियों का जल स्वच्छ तथा अमृत तुल्य होता है यथा मलयाचल से निकलने वाली नदियों का जल।

नादेयंवातलं रूक्षं दीपनं लघुलेखनम्।
तदभिष्यन्दि मधुरं सान्द्रंगुरु कफावहम् ॥ सु० सू० ४५/३१

सामान्यतः नदियों का जल वातल, रूक्ष, दीपन, लघु और लेखन (शरीर को पतला करने वाला) होता है। यदि नदी जल मधुर तथा गुरु है तो अभिष्यन्दी, पाचन में भारी और कफ कारक होता है।

नदियों का जल तथा अन्य प्रकार के जल, जो पृथ्वी से प्राप्त होते हैं, वे जिस देश से प्राप्त होते हैं वहाँ की मिट्टी तथा जलवायु से प्रभावित होते हैं। यथा आनूपदेश का जल अनेक दोषयुक्त, अभिष्यन्दी और हानिकर होता है। जांगल देश का जल दोषरहित और प्रशस्त होता है। इसलिए राजस्थान की नदियों का जल तिक्त, लवण, ईषत्कषाय और मधुर रस युक्त होता है। यह पचने में हल्का और बल के लिये हितकर होता है। साधारण देश का जल विपाक में अविदाही, तृष्णा-शामक, प्रशस्त, प्रसन्नता देने वाला होता है। यह जल दीपनीय, मधुर, शीत तथा लघु होता है।

चरक से लेकर वाग्भट संहिता काल तक देश की जनसंख्या अधिक नहीं थी। नदियों के किनारे के नगरों का दूषण नदियों में नहीं बहाया जाता था तथा अन्य [illegible]

वर्णन सत्य था, परन्तु आजकल नदियों के किनारे की बस्तियों का दूषित पानी नदियों में छोड़ दिया जाता है। बड़े-बड़े नगरों की अधिकांश नालियाँ नदियों में गिरती हैं। किनारे के कल, कारखाने अपना दूषित पानी नदियों में छोड़ते हैं। आबादी अधिक हो जाने से अधिक व्यक्ति नदियों के किनारे मल त्याग करते हैं। जले, अधजले अथवा बिन जले शव नदियों में बहा दिए जाते हैं। इन सब प्रदूषणों के कारण नदियों का जल पीने योग्य नहीं होता है। यद्यपि नदियों के प्रदूषण को रोकने के अपने प्राकृतिक साधन हैं, यथा जल में अविलेय भारी गन्दगी तल पर बैठ जाती है, तल की काई, शैवाल आदि जीवाणुओं को रोक लेती है। सूर्य का प्रकाश कीटाणुओं को नष्ट करता है। वायु की ऑक्सीजन अपनी ऑक्सीकरण क्रिया द्वारा कीटाणुओं तथा अन्य रासायनिक तत्वों को नष्ट करती है। मछली, कछुआ, मगर आदि जल के जीव दूषित वस्तुओं का भक्षण कर जाते हैं। फिर भी ये सब साधन दूषण को रोकने में अपर्याप्त हैं। नदियों के जल की अशुद्धियों को नष्ट करने के पश्चात् ही पीने आदि कार्यों के लिए उपयोग में लाया जाना चाहिये। बिना स्वच्छ किए नदी जल के सेवन से हैजा (cholera), टाइफाइड ज्वर (typhoid fever), पेचिश (dysentery), अतिसार (diarrhoea), यकृत सम्बन्धी अनेक रोगों से पीड़ित होने की सम्भावना रहती है।

सरोवर (Impounding Reservoirs & Lakes) का जल

तृष्णाघ्नं सारसं बल्यं कषायं मधुरं लघु॥ सु० सू० ४५/३२

यह जल अग्नि दीपक, अल्पवात कारक, कषाय, मधुर, लघु तृष्णाहर एवं बल कारक होता है। प्राकृतिक सरोवर, झीलें तथा मनुष्यकृत सरोवर, दोनों प्रकार के जलाशय इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। मैदानों एवं पर्वतों मे नदियों के जल को रोकने के लिए बाँध (dams) बनाकर कृत्रिम सरोवर आजकल बनाए जा रहे हैं। मद्रास, बम्बई आदि अनेक नगरों में इसी प्रकार के सरोवरों से जल वितरण किया जाता है। इसमें यह ध्यान रखना पड़ता है कि जल संग्रह क्षेत्र (catchment area) में गन्दगी न हो, वहाँ पर मनुष्य अथवा पशु मल नहीं त्यागें। इस प्रकार की सावधानी रखी जाय तो इन सरोवरों का जल सामान्यतः मृदु, कीटाणु रहित, मधुर एवं लघु रहता है। निर्मलता में इस जल को अन्तरिक्ष जल के पश्चात् सबसे श्रेष्ठ जल माना जा सकता है। ऐसे ही गुण प्राकृतिक झील के जल के होते हैं। यह जल सेवन करने में निरापद होता है।

कुएँ का जल

सक्षारं पित्तलं कौपं श्लेष्मघ्नं दीपनं लघु॥ सु० सू० ४५/३३

कुएँ का जल ईषत्, क्षार युक्त, पित्त कर, कफ हर, दीपनीय एवं लघु होता है। भारत में जहाँ जल वितरण व्यवस्था नहीं है कूप जल को ही व्यवहार में लाते हैं। केवल पहाड़ी स्थानों पर कूप निर्माण नहीं हो सकता है। उन स्थानों पर नदी, झरने अथवा स्रोतों का जल व्यवहार में लाते हैं।

भूमि में दो प्रकार के स्तर मिलते हैं—(१) उस स्तर को जिसमें जल प्रवेश कर जाता है प्रवेश्य स्तर (pervious layer) कहते हैं तथा (२) उस स्तर को जिसमें जल का प्रवेश नहीं हो सकता है, अप्रवेश्य स्तर (impervious layer) कहते हैं। भारत में कुछ पर्वतीय स्थानों को छोड़कर अन्य सब स्थानों पर भूमि के ऊपर का स्तर प्रवेश्य स्तर होता है। इस स्तर के नीचे विभिन्न गहराइयों पर अप्रवेश्य स्तर मिलता है। ऊपर के प्रवेश्य स्तर को पार कर भूमि पर गिरने वाला जल नीचे के अप्रवेश्य स्तर पर जाकर एकत्रित हो जाता है। जहाँ कहीं इस अप्रवेश्य स्तर में दरार होती है अथवा समाप्त हो जाता है तब जल इसको पार कर और नीचे के अप्रवेश्य स्तर पर जाकर एकत्रित हो जाता है। जब तक जल को नीचे जाने का मार्ग मिलता रहता है यह क्रम चलता रहता है।
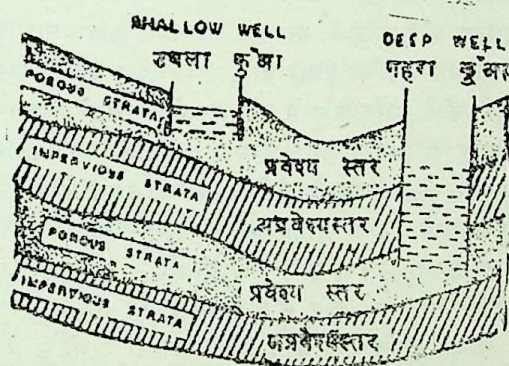
चित्र 4·1 उथला एवं गहरा कुआँ

ऊपर की ओर से जब हम कुँआ खोदते हैं अथवा लोहे का पाइप डालते हैं तो प्रथम अप्रवेश्य स्तर पर हमें जल एकत्रित मिलता है। ऊपर से प्रवेश्य स्तर की मोटाई के अनुसार जल मिलने की गहराई होती है। राजस्थान जैसे प्रदेशों में जल काफी गहराई पर मिलता है परन्तु नदियों के किनारे के स्थानों पर कम गहराई पर मिलता है। हम जल किस स्तर से प्राप्त करते हैं इस भेद से कुँए दो प्रकार के होते हैं—(१) उथला हुआ (shallow well) प्रथम अप्रवेश्य स्तर से ही जल प्राप्त करने पर तथा (२) गहरा कुआँ (deep well) द्वितीय अथवा उसके नीचे के स्तर से जल प्राप्त करने पर कहलाता है।

उथले कुए॔ के जल में वे समस्त अशुद्धियाँ होती हैं जो सतह से छनकर वहाँ पहुँचती हैं। सतह पर शौचालय अथवा गोबर, कूड़े आदि गन्दगी के संग्रह स्थान होते हैं जहाँ से मल तथा अन्य गन्दगी जल में घुलकर भूमि के अन्दर प्रवेश कर प्रथम अप्रवेश्य स्तर पर एकत्रित जल में पहुँच जाती हैं। इनके साथ हानिकर जीवाणु भी जल में प्रवेश पा जाते हैं। इस प्रकार उथले कुओं का जल सामान्यतः

दूषित होता है। यही कारण है कि देहातों में जहाँ इस प्रकार के कुएँ के जल का सेवन किया जाता है टाइफाइड ज्वर, पेचिश, अतिसार आदि से व्यक्ति ग्रस्त रहते हैं। इन कुओं में पानी का स्तर ग्रीष्म ऋतु में कम हो जाता है।

गहरे कुँओं में उपरोक्त हानियाँ कम से कम होती हैं। यदि कुओं से जल प्राप्त करना है तो गहरे कुओं को ही बनवाना चाहिए।

उथले कुओं के जल में पृथ्वी के ऊपरी स्तर से छनकर पहुंचने के कारण मिट्टी में जो घुलनशील लवण होते हैं वे भी छनकर पहुँच जाते हैं इस कारण वह ईषत् क्षारीय होता है गहरे कुओं का जल इससे अधिक क्षारीय (खारी) होता है।

कुँओं को गलवाते (बनवाते) समय उसका घेरा ईंट-सीमेंट अथवा कांक्रीट का बनवाना चाहिए तथा यह पक्का घेरा जल स्रोत तक होना चाहिए। जमीन पर कुओं के चारों ओर कम से कम 0·5 से 1·0 मीटर ऊँचा पक्का चबूतरा (platform) होना चाहिए और कुँए के मुख पर भी चारों ओर. मन (parapet) कम से कम 0·75–1·0 मीटर ऊँची होनी चाहिए, जिससे चबूतरे पर स्नान करते हुए व्यक्ति के शरीर के छींटे आदि कुँए में न जा सकें। चबूतरे के चारों ओर पक्की नाली जल के निकास के लिए होनी चाहिए। यह नाली नगर की नाली प्रणाली से जोड़ दी जानी चाहिए अथवा पक्की हौदी बनवाकर उसमें खोल देनी चाहिए। इस हौदी से पानी निकलवाते रहना चाहिए अन्यथा मच्छर अण्डे देते रहते हैं और मलेरिया का कारण बनता है। कुँए से जल खींचने में सहायता के लिए घिरनी (pulley) लगी होनी चाहिए। कुँए में गन्दा पात्र जल लेने के लिए नहीं डालना चाहिए। अच्छा तो यह है कि एक डोल अथवा बाल्टी रस्सी से बँधी रहनी चाहिए और सब उसी से जल खींचें। कुँए के ऊपर टीन की अथवा पक्की छत बना देनी चाहिए जिससे कोई वस्तु वायु के साथ उसमें न जाने पावे।

कुँए के जल को समय-समय पर विसंक्रमित करते रहना चाहिए। इसके लिए ब्लीचिंग पाउडर सबसे उत्तम रहता है। पहिले विसंक्रमण हेतु पोटेशियम परमेंगनेट (लाल दवा) को व्यवहार में लाते थे परन्तु अनेक रोगों के जीवाणुओं को नष्ट करने में यह सफल नहीं होता है अतः उसका प्रयोग बन्द कर दिया गया है। ब्लीचिंग पाउडर (chlorinated lime) सभी जीवाणुओं को सफलता से नष्ट कर देता है। कुँए के लिए कितना पाउडर व्यवहार में लाना चाहिए इसके लिए निम्न सूत्र याद रखना चाहिए '$D^2H \times 5 =$ गैलन' ($D =$ कुएँ का व्यास फिटों में $D^2 =$ व्यास का वर्ग तथा $H =$ कुएँ में जल की गहराई फिटों में) एक रस्सी के सिरे पर वजन बांधकर कुएँ में लटकाकर जल की गहराई मापी जा सकती है। उपरोक्त सूत्र का उत्तर गैलनों में आता है। प्रति एक हजार गैलन (4550 लीटर) पीछे एक आउन्स (28 ग्राम) ब्लीचिंग पाउडर लेकर तथा कुल मात्रा में 25 ग्राम अतिरिक्त मिलाकर एक बर्तन में कुछ पानी डालकर घोल लें। जब पूरी तरह घुल जाय तो और अधिक पानी डालकर कुछ समय (10-15 मिनट) के लिए छोड़ दें। इससे चूना बर्तन की

तली में बैठ जायेगा । ऊपर का पानी नितार कर डोल अथवा बाल्टी के द्वारा कुएँ के जल में भली-भाँति मिला दें । इसके पश्चात् कम से कम एक घण्टे कुएँ का जल नहीं खींचना चाहिए । इसके लिए उत्तम यही है कि ब्लीचिंग पाउडर रात्रि को कुएँ में डाला जाय । इससे क्लोरीन द्वारा जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है । यदि नगर में हैजा (cholera), टाइफाइड ज्वर (typhoid fever), पेचिश (dysentery), अतिसार (diarrhoea) आदि रोग फैल रहे हैं तो कुएँ में रोज़ाना उपरोक्त विधि से ब्लीचिंग पाउडर डालना चाहिए । यही विधि बावड़ी (वापी), कच्चे कुओं, तालाब, पोखरों आदि के विसंक्रमण हेतु भी काम में लाई जा सकती है ।

आजकल कुओं में हाथ का पम्प लगवा दिया जाता है अथवा कुओं के स्थान पर जमीन में पम्प ही डाल (drill) दिया जाता है । ऐसा करना खुले कुओं की अपेक्षा उत्तम है । परन्तु यदि पम्प को प्रथम अप्रवेश्य स्तर तक ही डाला जाता है तो इसके जल में वे सब अशुद्धियाँ होती हैं जो उथले कुएँ के जल में मिलती हैं । अतः चाहे कुआँ हो अथवा हाथ का पम्प, कम से कम द्वितीय अप्रवेश्य स्तर से जल लेना ही अच्छा रहता है । उथले डाले गए 'हाथ के पम्प' में भी ग्रीष्म ऋतु में जल का स्तर गिर जाता है और कभी-कभी जल स्तर इतना गिर जाता है कि हाथ पम्प से जल नहीं आता है । हाथ पम्प के चारों ओर वही सावधानियाँ बरतनी चाहिए जो कुओं के सम्बन्ध में कही गई हैं ।

बापी (बावड़ी) का जल—

वातश्लेष्महरं वाप्यं सक्षरं कटु पित्तलम् ।। सु० सू० ४२/३३

यदि उथले कुऐं के जल स्रोत तक पहुँचने के लिए चारों ओर सीढ़ियाँ बना दी जाएँ तो वह बावड़ी या वापी कहलाती है । सीढ़ियाँ होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति जल तक जा सकता है अतः व्यक्तियों द्वारा जल के दूषित होने की सम्भावना अत्यधिक रहती है । जल के गुण अन्य जलों के समान उस स्थान की मिट्टी की अपेक्षा रखते हैं । मिट्टी में जैसे लवण आदि होंगे वैसे ही जल में पहुंचकर जल को गुण प्रदान करेंगे । संहिता ग्रन्थों में वापी जल को वात हर, कफहर, पित्त कर, खारा तथा कटु कहा है ।

तड़ागं वातलं स्वादुकषायं कटुपाकि च ।। सु० सू० ४५/३८

तड़ाग (तालाब) का जल—

एक समय था जब कि लगभग प्रत्येक ग्राम में तालाब बनाए जाते थे । तालाब चारों ओर से पक्के होते थे । जल तक पहुँचने के लिए सीढ़ीदार घाट बने होते थे और एक ओर पशुओं के जल पीने का स्थान होता था । तालाब में जल शुद्धि के लिए मछली, मेंढक तथा घास लगी हुई होती थी । मनुष्य उसके जल का उपयोग अपने दैनिक कार्यों के लिए करते थे । स्त्रियाँ अपने गृहस्थी के लिए जल

भर कर ले जाया करती थीं। समय के साथ ग्रामों में कुओं की संख्या बढ़ती गई और तालाब का महत्व घटता गया। अनेक ग्रामों में इन तालाबों के जीर्ण स्वरूप अब भी देखने को मिल जाते हैं। परन्तु भारत के कुछ प्रान्त अब भी इनकी महत्ता को बनाये हुए हैं। बंगाल में दैनिक कार्यों के लिए एवं मछली प्राप्ति के लिए तालाब बनाए जाते हैं, तथा तमिल नायडु प्रान्त (मद्रास) में तालावों में वर्षा जल एकत्रित कर उस जल का उपयोग सिंचाई के लिए करते हैं। राजस्थान में वर्षा बहुत कम होती है जमीन रेतीली है। अतः तालाब का जल सिंचाई के लिए तो काम में लाया नहीं जा सकता परन्तु सामान्य जन पीने के लिए तथा खाना पकाने के लिए इन तालों का जल व्यवहार में लाते हैं। कुओं का जल अत्यन्त खारी होता है, अतः उसका उपयोग इन कार्यों के लिए नहीं किया जा सकता है। वहाँ पर सम्पन्न व्यक्ति अपने गृहों में ही वर्षा जल भूमि में बने पक्के कुण्डों में एकत्रित कर लेते हैं। अन्य स्थानों के समान राजस्थान में तालाब, जिसे वे ताल कहते हैं, के सम्बन्ध में भी यह नितान्त आवश्यक है कि उनका जल संग्रह क्षेत्र (catchment area) मनुष्य तथा पशुओं के मल मूत्र तथा अन्य प्रकार की गन्दगी से सुरक्षित रहना चाहिए।

तालाब मनुष्य द्वारा बनाए जाते हैं। ग्रामों में जहाँ पर नीची भूमि होने के कारण वर्षा का जल एकत्रित हो जाता है इन स्थानों को जोहड़ या पोखर कहते हैं। मनुष्यों तथा पशुओं के मल मूत्र त्यागने की क्रिया इनसे दूर होनी चाहिए जिससे गन्दगी इनके जल को दूषित न करे। इनमें मछली पालनी चाहिए जिससे वे गन्दगी को समाप्त कर सकें। इनके जल को यदि पीने के लिए व्यवहार में लाना है तो उसे छानकर तथा उबाल कर लाना चाहिए।

तालाब के चारों तरफ 0·75 से 1·0 मीटर ऊँची दीवार अथवा काँटेदार तार लगा देने चाहिए जिससे पशुओं आदि के आने में रुकावट हो जाय। तालाब के चारों ओर की भूमि का ढाल बाहर की तरफ रखा जाय जिससे व्यवहार में लाया गया जल पुनः तालाब में न जा सके। सामान्यतः काई तथा शैवाल आदि जीवाणुओं को नष्ट करने में सहायक होते हैं परन्तु यदि अधिक हैं तो हटा देनी चाहिए। ग्रीष्म ऋतु के अन्त में तथा वर्षा के प्रारम्भ होने के पूर्व तालाब की सफाई करा देनी चाहिए।

कुओं के समान तालाब के जल को भी ब्लीचिंग पाउडर से जीवाणु रहित किया जा सकता है परन्तु यह ध्यान रखना होता है कि इसका प्रभाव मछलियों पर भानक होता है। सामान्यतः एक घन फुट (30 घन से० मी०) जल का आयतन 6·25 गैलन (27·50 मीटर) के लगभग होता है। तालाब की फुटों में लम्बाई × चौड़ाई × गहराई × 6·25 = गैलन जल। इस सूत्र से कुल जल का आयतन ज्ञात हो जाता है। 1000 गैलन (4550 लीटर) जल के लिए 20 ग्राम ब्लीचिंग पाउडर के हिसाब से पाउडर को जल में घोलकर तालाब के जल में डाल देते हैं। आधे

घण्टे में क्लोरीन की क्रिया द्वारा जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। चित्र 3.2 में तालाब से शुद्ध जल प्राप्त करने की विधि स्पष्ट दर्शाई गई है, उसे व्यवहार में लानी चाहिए। तालाब के एक कोने में ऊपर बारीक रेत उसके नीचे मोटा रेत और फिर उसके नीचे कंकड़ डालते इनसे छनकर आने वाले जल को इकट्ठा कर व्यवहार में लाते हैं।
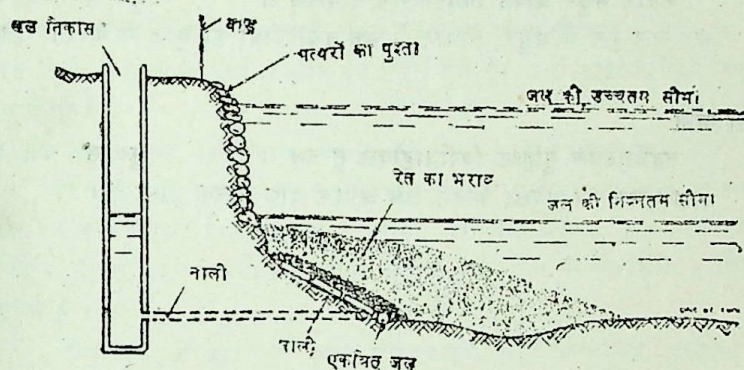
चित्र 4·2 तालाब से शुद्ध जल प्राप्त करने की विधि

चुण्ट्यी का जल

चौण्ट्यमग्निकरं रुक्षं मधुरं कफकृन्न च ॥ सु० सू० ४५/३४

कुछ स्थानों पर जमीन के नीचे का जल ऊपरी सतह के बहुत करीब आ जाता है। यदि जल की मात्रा अधिक होती है तो उस स्थान पर दल-दल हो जाती है। अन्यथा मिट्टी को मामूली 0·75—1·0 मीटर खोदने से जल निकल आता है। इसे चुण्ट्यी (चौआ) का जल कहते हैं। इन स्थानों पर खेतों के लिए बाहर से सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु धान की फसल के अतिरिक्त अन्य फसलों पर जड़ों में अधिक पानी होने के कारण हानिकर प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है। गन्ने में शर्करा की मात्रा कम हो जाती है। इस जल के गुण मिट्टी के अनुसार होते हैं। सामान्यत: यह जल पित्त कारक, रुक्ष, ईषत्, मधुर तथा कफ नाशक होता है।

विकिर जल

वैकिरं कटु सक्षारं श्लेष्मघ्नंलघु दीपनम् ॥ सु० सू० ४५/३५

नदियों के किनारे रेत को मामूली सा खोदने पर जो जल प्राप्त होता है उसे विकिर जल कहते हैं। यह जल कटु, लवणयुक्त, कफ हर, लघु और दीपन होता है।

प्रसरण (झरने का) जल

कफघ्नं दीपन हृद्यं लघु प्रस्त्रवणोद्भवम् ॥ सु० सू० ४५/३४

झरने का जल ऊपर से वेग द्वारा नीचे गिरता है अत: लघु, कफ को नष्ट करने वाला, दीपनीय, हृदय के लिए हितकर होता है।

औद्भिद् (चश्मे का) जल

मधुरं पित्तशमनम विदाह्योद्भिदे स्मृतम् ॥ सु० सू० ४५/३५

चश्मे का जल पृथ्वी के भीतर से निकलता है अतः मधुर, पित्तनाशक और अविदाही होता है।

केदार जल

केदारं मधुरं प्रोक्तं विपाके गुरु दोषलम् ॥ सु० सू० ४५/३६

यह जल रस में मधुर, विपाक में गुरु तथा दोषों की वृद्धि में कारक होता है।

पल्वल जल

तद्वत्पाल्वल मुद्दिष्टं विशेषाद्दोषलं तु तत् ॥ सु० सू० ४५/३६

केदार जल की अपेक्षा पल्वल जल अधिक दोष कारक होता है।

५

जल के गुण, अशुद्धियाँ एवं शुद्धि के प्रकार

जल का प्रयोग—जल सामान्यतः मधुर विपाक वाला होता है। गर्मजल यद्यपि स्पर्श में उष्ण है परन्तु वीर्य में शीत होता है। गर्मजल, कम मात्रा में लिये जाने पर, लघु होता है।

शीतल जल—मदात्य, ग्लानि, मूर्छा, वमन, श्रम, भ्रम, तृष्णा, दाह, पित्त, रक्त, और विष को नष्ट करता है। परन्तु अत्यन्त प्यास लगने पर शीतल जल पित्त एवं कफ वर्धक, निद्रा, तन्द्रा, आध्मान, भारीपन, श्वास, कास, अग्निमान्द्य, हृल्लास, पीनस आदि रोगों को उत्पन्न करता है। ज्वर में शीतल जल तृष्णा को बढ़ाता है।

जिस पुरुष के दोष एवं अग्नि अस्थिर हो, रोगों के कारण दुर्बल हो उसे कच्चा (अपक्व) जल नहीं पीना चाहिये, क्योंकि कच्चा जल उसके शरीर में तीनों दोषों को कुपित करता है। मन्दाग्नि वाले व्यक्ति को भी कच्चा तथा शीतल जल त्याग देना चाहिये। कच्चा जल बिना उबाले हुये जल को कहते हैं।

कोष्ण तथा उष्ण जल—कफ, वात तथा मेदोरोग नाशक, आम दोष हर, मूत्रशोधक, नवज्वर में उपयोगी होता है। आम दोषों में तथा विष्टबन्ध (वातजनित अजीर्ण) में प्यास न होने पर भी उष्ण जल को उतनी मात्रा में पीना चाहिये जिससे अन्न का क्लेदन मात्र हो जाय क्योंकि अधिक उष्ण ज़ल पीने से जठराग्नि का नाश हो जाता है। वात तथा कफ के कारण उदर में रुका हुआ अन्न ऊष्ण जल के सम्पर्क में आकर और द्रवता ग्रहण कर आमाशय की भित्ति से छूट जाता है। उष्ण जल थोड़ी मात्रा में ही लघु होता है।

पक्वजल—देश, ऋतु एवं लघु तथा गुरु गुण को ध्यान में रखकर पक्व जल को व्यवहार में लाना चाहिए। पित्त शमन के लिये १/४ जलांश रहने पर, वातशमन के लिए १/२ जलांश रहने पर तथा कफ शमन के लिए ३/४ जलांश रहने पर पक्व जल समझना चाहिए।

उष्ण करके ठण्डा किया हुआ अथवा पक्व जल रात बीत जाने पर व्यवहार में नहीं लाना चाहिये क्योंकि अग्नि के लघुत्व तथा दीपनीय गुणों से रहित हो जाने के कारण यह जल सम्पूर्ण दोषों को करने वाला और विपाक में अम्ल हो जाता है।

भूमिगत जलों का ग्रहण प्रभात में करना चाहिये। प्रभात के समय यह जल निर्मल तथा शीतल होता है। जो जल दिन में सूर्य की किरणों द्वारा तथा रात्रि में

चन्द्र किरणों द्वारा संस्कृत हो जाता है वह रुक्ष तथा अभिष्यन्दी नहीं रहता है और अन्तरिक्ष जल के समान गुणकारी हो जाता है।

आनूप देश का जल—अधिक वर्षा वाले क्षेत्र का जल अनेक दोष युक्त, अभिष्यन्दी और व्यवहार के लिए निन्दनीय होता है।

जांगल देश का जल—जिस क्षेत्र में वर्षा अत्यन्त अल्प होती है, उस देश का जल दोष रहित तथा व्यवहार के लिए प्रशस्त होता है।

साधारण देश का जल—विपाक में अविदाही, तृष्णा शामक, प्रशस्त, दीपनीय, मधुर, शीतल, लघु एवं प्रसन्नता प्रदान करने वाला होता है।

मृदु एवं कठोर जल (Soft & Hard water)

कठोर जल उस जल को कहते हैं जिसमें (१) कैल्शियम बाईकार्बोनेट अथवा मैगनेशियम बाईकार्बोनेट अथवा दोनों प्रकार के बाईकार्बोनेट उपस्थित हों, (२) कैल्शियम अथवा/एवं मैगनेशियम के सल्फेट, क्लोराइड, नाइट्रेट के रूप में लवण उपस्थित हों अथवा (३) लौह, यशद अथवा/एवं सिलिका के लवण अधिक मात्रा में उपस्थित हों।

मृदु जल उसे कहते हैं जिसमें उपरोक्त लवण अनुपस्थित हों अथवा अति सूक्ष्म मात्रा में हों।

जल की कठोरता दो प्रकार की होती है। (१) अस्थायी कठोरता (temporary hardness) तथा (२) स्थायी कठोरता (permanent hardness)

अस्थायी कठोर जल उसे कहते हैं जिसमें केवल कैल्शियम अथवा/एवं मैगनेशियम के बाईकार्बोनेट रहते हैं।

स्थायी कठोर जल उस जल को कहते हैं जिसमें बाईकार्बोनेट के अतिरिक्त अन्य ऊपर बताये हुए लवणों में सब या कुछ उपस्थित हों।

कठोरता दूर करने के उपाय

(i) अस्थायी कठोरता जल को उबालने से दूर की जाती है। जल को उबालने से जल में घुलनशील बाईकार्बोनेट के लवण अघुलनशील कार्बोनेट के लवण में परिवर्तित होकर तली में बैठ जाते हैं। उबालने पर कार्बन डाइऑक्साइड की उत्पत्ति होती है जो वायुमण्डल में निकल जाती है।

कैल्शियम बाईकार्बोनेट (उबालने पर)→कैल्शियम कार्बोनेट+कार्बन डाईऑक्साइड+जल

$$Ca(HCO_3)_2 \rightarrow CaCO_3 + CO_2 + H_2O$$

मैग्नेशियम बाईकार्बोनेट (उबालने पर)→मेग०कार्बो०+का०डाई ऑक्साइड+जल

$$Mg(HCO_3)_2 \rightarrow MgCO_3 + CO_2 + H_2O$$
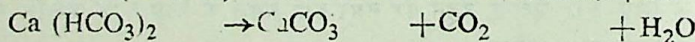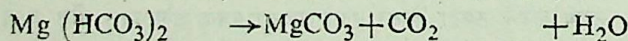
यदि जल की मात्रा अधिक है तो उबालने में काफी ईंधन की आवश्यकता होती है जिससे यह क्रिया अति मँहगी हो जाती है। इससे बचने के लिए जिस विधि को व्यवहार में लाते हैं यह क्लार्क विधि (Clark's process) कहलाती है। इस विधि को काम में लाने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि कठोरता किस अंश तक है। इसके मापन के लिए दो विधियाँ हैं।

(१) एक लीटर जल में यदि कैल्शियम बाईकार्बोनेट 14 से 15 मिली ग्राम तक उपस्थित है तो कठोरता एक डिगरी (अंश) मानी जाती है।

1° कठोरता वाला जल मृदु अथवा सामान्य मृदु माना जाता है।

10°–15° कठोरता वाला जल सामान्य कठोर (moderately hard) माना जाता है।

15°–30° कठोरता वाला जल कठोर (hard) माना जाता है। तथा 30° से अधिक कठोरता वाला जल अति कठोर माना जाता है।

(२) विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने जल की कठोरता का एक अन्तर्राष्ट्रीय माप निर्धारित किया है। यह प्रति लीटर मिली तुल्यांक (milli Equivalent per litre-mEq l) में मापा जाता है।

यदि एक लीटर जल में ५० मिली ग्राम कैल्शियम कार्बोनेट उपस्थित है तो उसे एक mEq/l (मिली तुल्यांक/लीटर) कहते हैं।

एक mEq/ l से कम माप का जल मृदु माना जाता है।

दो से तीन mEq/ l तक मापन का जल सामान्य कठोर माना जाता है।

तीन से छः mEq/ l तक मापन का जल कठोर माना जाता है।

तथा 6 mEq/ l से अधिक का जल अति कठोर माना जाता है।

(ii) **क्लार्क विधि**—कितने डिगरी (अंश) जल की कठोरता है यह जानकारी प्राप्त कर प्रत्येक डिगरी कठोरता पर 1000 गैलन (4546 लीटर) जल में एक आउन्स (28·25 ग्राम) चूना (Lime) मिलाकर 12 घण्टे उसी प्रकार रहने दिया जाना चाहिये। इससे जल का बाईकार्बोनेट कार्बोनेट के रूप में परिवर्तित होकर पात्र की तली में बैठ जाता है। फिर 12 घण्टों के पश्चात् ऊपर से जल नितार लिया जाता है अथवा जल को छान लिया जाता है। इस प्रकार अस्थायी कठोरता दूर हो जाती है।

कैल०बाईकार्बो० + कैल० ऑक्साइड → कैल० कार्बो + जल

$Ca(HCO_3)_2 + CaO \rightarrow 2CaCO_3 + H_2O$

मैग० बाईकार्बो० + कैल० ऑक्साइड → 2 मैग० कार्बो० + जल

$Mg(HCO_3)_2 + CaO \rightarrow 2MgCO_3 + H_2O$
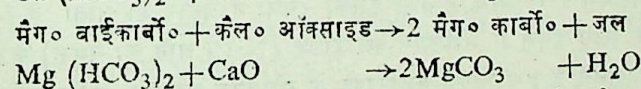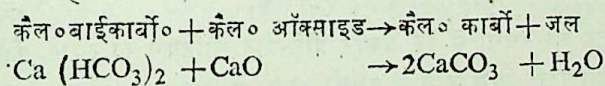
इस क्रिया में यह ध्यान रखना चाहिये कि आवश्यकता से अनेक चूना जल में नहीं मिलाया जाय। इसकी पहचान के लिए एक परखनली (test tube) में जल लेकर उसमें कुछ बूंदें सिल्वर नाइट्रेट ($AgNO_3$) के घोल की डालकर देखना चाहिये। यदि जल का रंग पीला हो जाता है और नीचे तल पर श्वेत अवक्षेप बैठ जाना है तो चूने की मात्रा अधिक है। अतः यह परीक्षण कर लेना चाहिये।

(iii) **सोडियम कार्बोनेट** (सोडाएश-कपड़े धोने का सोडा) को जल में डालकर कुछ देर रखने से स्थायी तथा अस्थायी दोनों प्रकार की कठोरतायें दूर हो जाती हैं।

कैल० बाई कार्बो०+सोडियम कार्बो०→सोडि० बाइकार्बो०+कैल०कार्बो०

$$Ca(HCO_3)_2 + Na_2CO_3 \rightarrow 2NaHCO_3 + CaCO_3$$

कैल्शियम सल्फेट+सोडियम कार्बोनेट→सोडियम सल्फेट+कैल्शियम कार्बोनेट

$$CaSO_4 + Na_2CO_3 \rightarrow Na_2SO_4 + CaCO_3$$
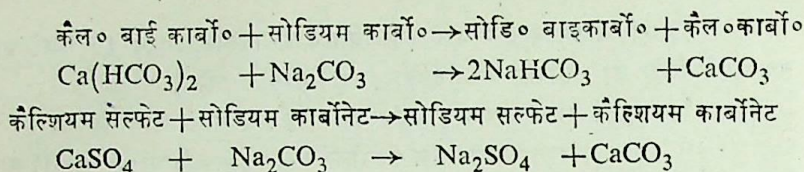
सोडियम कार्बोनेट तथा सोडियम सल्फेट जल में विलेय होते हैं तथा कैल्शियम कार्बोनेट नीचे तली पर बैठ जाता है। यही समीकरण मैगनेशियम लवणों के लिये तथा अन्य कैल्शियम लवणों के लिये भी है।

(iv) परम्यूटिट विधि—प्रकृति में सोडियम और एल्यूमीनियम का एक यौगिक खनिज के रूप में मिलता है। इसे जियोलाइट (Zeolite) अथवा ग्लूको नाइट (Gluconite) कहते हैं। यह हरे वर्ण का होता है। प्रकृति में यह बहुत कम मिलता है अतः महँगा होता है। इसलिए इसे मनुष्य द्वारा भी बनाया गया है जिसका नाम परम्यूटिट (Permutit) है। रासायनिक दृष्टि से यह सोडियम एल्यूमीनियम सिलीकेट ($Na_2Al_2Si_2O_8$) है। इसे जल की स्थायी एवं अस्थायी कठोरता को दूर करने के लिये व्यवहार में लाते हैं। यह सरंध्री (porous) होता है। इसमें से छानकर जल को निकालते हैं। जब जल इसमें से छनता है तो जल में उपस्थित कैल्शियम अथवा मैगनेशियम लवणों के कैल्शियम अथवा मैगनेशियम धनायनों (Cations) को सोडियम धनायन हटाकर स्वयं उनका स्थान ले लेते हैं जिससे जल की कठोरता नष्ट हो जाती है।

सोडियम एल्यूमीनियम सिलीकेट (परम्यूटिट)+कैल्शियम सल्फेट→

$$Na_2Al_2Si_2O_8 + CaSO_4$$

→कैल्शियम एल्यू० सिलीकेट+सोडियम सल्फेट

$$CaAl_2Si_2O_8 + Na_2SO_4$$
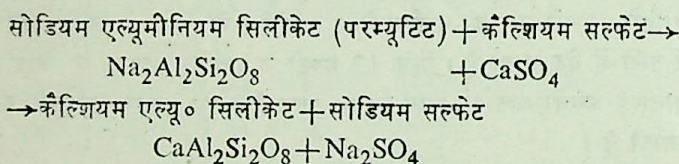
परम्यूटिट की रचना में इस प्रकार धीरे-धीरे सोडियम का स्थान कैल्शियम अथवा मैगनेशियम द्वारा लिये जाने से इसकी रचना में अन्तर आ जाता है। इसके निराकरण के लिए इसमें से सोडियम क्लोराइड (NaCl खाने का नमक) के सान्द्र विलयन को छानते हैं। सोडियम क्लोराइड के सोडियम धनायन कैल्शियम अथवा मैगनेशियम को हटा देते हैं। कैल्शियम अथवा मैगनेशियम, के आयन क्लोराइड के रूप में, तथा सोडियम कार्बोनेट, सल्फेट अथवा नाइट्रेट के रूप में, जैसा भी कठोर जल का संगठन होता है उसी के अनुसार निकल जाते हैं और परम्यूटिट पुनः कार्य के लिए क्षम्य हो जाता है।

$$CaAl_2Si_2O_8 + 2\ NaCl \rightarrow Na_2Al_2Si_2O_8 + CaCl_2$$
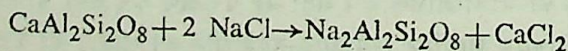
कठोर जल से हानि—कठोर जल को व्यवहार में लाने से अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ एवं हानि होती हैं।

(१) साबुन में झाग नहीं उठते हैं अतः अधिक साबुन खर्च होता है ।

(२) कठोर जल उबालने पर कैल्शियम कार्बोनेट (चॉक chalk) बर्तन के तल पर जमा हो जाता है जिससे भोजन पकाने में कठिनाई आती है । अधिक ईंधन और समय व्यय होता है ।

(३) कठोर जल से वस्त्रों के धागे की आयु कम हो जाती है, जिससे वस्त्र शीघ्र फट जाता है ।

(४) कल-कारखानों में बॉयलर में कार्बोनेट के जम जाने के कारण अधिक ताप देना पड़ता है फिर भी पर्याप्त दाब (Pressure) नहीं मिलता है । कभी-कभी बायलर फट जाते हैं जिससे धन एवं जन की हानि होती है ।

(५) अनेक रासायनिक कार्यों के लिए कठोर जल अत्यन्त वर्जित है ।

मृदु जल से हानि—शून्य कठोरता वाले जल (मृदु जल) में अधिक वायु घुली रहती है इससे जल में स्वतन्त्र ऑक्सीजन की मात्रा अधिक हो जाती है, इस कारण उस जल में पित्त वर्धक गुण बढ़ जाते हैं । उसका विपाक भी विदाही हो जाता है । अतः शून्य कठोरता वाले जल के स्थान पर सामान्य कठोरता वाले जल का व्यवहार उत्तम रहता है ।

जल में विविध प्रकार की अशुद्धियाँ एवं उनसे उत्पन्न रोग

अशुद्ध जल उस जल को कहते हैं जिसके सेवन से हम स्वस्थ न रह सकें । जिन पदार्थों के द्वारा जल में यह दूषण उत्पन्न होता है उन्हें अशुद्धियाँ कहते हैं । शुद्ध जल व्यवहार में (१) वर्ण, गंध एवं स्वाद विहीन होता है । (२) उसमें अनावश्यक घन पदार्थ नहीं होते हैं । (३) प्राणी एवं वनस्पतिजन्य पदार्थ भी उसमें नहीं होते हैं । (४) विषैले पदार्थों से रहित होता है तथा (५) हानिकर जीवाणु आदि नहीं होते हैं । इसके विपरीत गुणों वाला जल दूषित जल होता है ।

दूषित जल—

(१) विकर्ण, दुर्गन्धित, नीरस (विरस), मलिन, सान्द्र, पिच्छिल बहुत फेनिल (झागयुक्त) जल दूषित होता है ।

(२) वह सड़े हुए पत्तों, सेवार, कीचड़, तृण समूह, कूड़ा करकट आदि के द्वारा दूषित रहता है ।

(३) सर्पादि के मलमूत्र, मृत शरीर, लूता आदि के तन्तु-मल-मूत्र-विष आदि के सम्पर्क से दूषित रहता है ।

(४) क्रिमियुक्त छोटे-छोटे सूक्ष्म जन्तुओं से व्याप्त रहता है ।

(५) सूर्य, चन्द्र एवं वायु के स्पर्श से रहित जल दूषित होता है ।

(६) बिना वर्षा ऋतु के बरसा आन्तरिक्ष जल अथवा ऋतु से पहिले बरसा एवं अति उष्ण तथा अति शीत होने के कारण दाँतों को अग्राह्य जल भी दूषित होता है और ग्रहण करने के अयोग्य होता है ।

दूषित जल को पीने अथवा उसमें स्नान करने से तृष्णा, आध्मान, उदर रोग, ज्वर, कास, अग्निमाद्य, अभिष्यन्द, गण्डरोग, पाण्डुरोग, कण्डु एवं अन्य त्वग्-रोग तथा शूल, गुल्म आदि अनेक रोग होते हैं।

जल की अशुद्धियाँ

रसायनिक दृष्टि से सामान्यत: जल प्राप्ति के स्थानों से शत प्रतिशत विशुद्ध जल की प्राप्ति सम्भव नहीं है। जल में पदार्थों को विलीन करने की अद्भुत शक्ति होती है। अत: इसमें विलीन हुए पदार्थ अवश्य मिलते हैं। वायुमण्डल में उपस्थित ऑक्सीजन, हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S), कार्बनडाइऑक्साइड (CO_2), नाइट्रोजन, एमोनिया आदि गैसें प्रारम्भ के वर्षा जल में विलीन हो जाती हैं। जब जल पृथ्वी पर गिरता है तो मिट्टी में उपस्थित घुलनशील लवण भी इसमें मिल जाते हैं। इस प्रकार केल्शियम, मैंगनेशियम, सोडियम, मैंगनीज, लौह, सीसा (Lead) के लवण जल में घुल जाते हैं। कुछ अशुद्धियाँ निलम्बित (suspended) रूप में रहती हैं यथा विभिन्न रोगों के जीवाणु, जो केवल सूक्ष्म दर्शक से ही देखे जा सकते हैं, तथा अन्य प्राणी एवं वनस्पति जन्य अशुद्धियाँ। ये सब अशुद्धियाँ जल में वायुमण्डल, मिट्टी अथवा जल संग्रह क्षेत्र (catchment area) से आती हैं।

जल के दूषित होने का सबसे बड़ा कारण गन्दी नालियाँ तथा नाले भी हैं। चाहे ये नाले कृषि भूमि के जल को लिए हुये हों, औद्योगिक क्षेत्र से कलकारखानों का जल लिए हुये हों अथवा आबादी वाले क्षेत्र से आ रहें हों, सबमें रोगजनक दूषित तत्व विलीन अथवा निलम्बित अवस्था में पाये जाते हैं। कभी-कभी तो जल इतने अधिक दूषित तत्व अपने में लिये होता है कि समस्त वातावरण दुर्गन्धमय हो जाता है तथा मछलियाँ आदि जल जन्तुओं का जीवन नष्ट हो जाता है।

लगभग प्रत्येक देश में औद्योगिकीकरण वृद्धि पर है। औद्योगिक संस्थानों द्वारा जल अत्यधिक दूषित हो रहा है। चीनी मिलों के निकट के जलाशयों से उठने वाली दुर्गन्ध से अधिकांश पाठक परिचित होंगे। इसी प्रकार कागज, जूट, कपड़ा, लोहा, चमड़ा, खाद आदि के कारखानों से निकलने वाला जल अत्यन्त दूषित एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। इस जल में नाना प्रकार के कार्बनिक एवं अकार्बनिक, स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाले, रासायनिक पदार्थ मिले रहते हैं तालाबों, नदियों का जल ही नहीं इन कारखानों से निकले दूषित जल से असीम जल वाले जलाशय, समुद्र भी दूषित हो उठे हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के सामने इस प्रदूषण को समाप्त करने की समस्या उठ खड़ी हुई है। जल प्रदूषण से केवल मनुष्यों के स्वास्थ्य पर ही बुरा प्रभाव नहीं पड़ रहा है वरन् अनेक जल जीव जन्तुओं के समूल नष्ट होने का भय उत्पन्न हो गया है।

खेतों में विभिन्न प्रकार की रासायनिक खादों का उपयोग आजकल हो रहा है। इन खादों का एक अंश, जिसमें [illegible]

हैं, जल के साथ बह जाता है। एटोमिक ऊर्जा उत्पत्ति के साधन भी वृद्धि पर हैं। इनका एक दुष्परिणाम रेडियो धर्मी पदार्थों का वायुमण्डल एवं जल में प्रवेश करना है। इससे भी जल दूषित हो जाता है। आज प्रत्येक देश तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन प्रदूषण के दुष्परिणामों से बचने के उपाय खोजने में व्यस्त हैं।

संक्षेप में अशुद्धियों को निम्न वर्गों में बांट सकते हैं—

(I) विलीन अशुद्धियाँ—

अकार्बनिक—(i) **गैसें**—ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, एमोनिया, कार्बनडाइऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड आदि।

(ii) **लवण**—कैल्शियम, मैगनेशियम, सोडियम, लोह, सीस, मैंगनीज आदि के लवण।

कार्बनिक—(iii) जीवों के सड़ने से प्राप्त एल्बुमिनॉइड एमोनिया।

(II) निलम्बित अशुद्धियाँ—

अकार्बनिक—रेत, मिट्टी, कीचड़ आदि।

कार्बनिक—(i) **वनस्पति जन्य**—सड़ी पत्तियाँ, काई, घास, शैवाल आदि।

(ii) **प्राणीजन्य**—बेक्टीरिया, वाइरस, कीट उनके अण्डे, बीजाणु (Cyst) आदि।

दूषित जल से होने वाले रोग—

(I) जल में उपस्थित संक्रामी कारकों (Infective agents) **द्वारा उत्पन्न रोग।**

(i) **बेक्टीरिया जन्य** (bacterial) **रोग**—अतिसार (diarrhoea), प्रवाहिका (dysentery पेचिश), मन्थर ज्वर (typhoid टायफाइड ज्वर, पराटायफाइड (paratyphoid), विसूचिका (cholera हैजा) आदि।

(ii) **वाइरसजन्य** (viral) **रोग**—संक्रामक यकृतशोथ (infectious hepatitis), पोलियो मेरुज्जुशोथ (polio myelitis) आदि।

(iii) **प्रोटोजुआजन्य** (protozoal) **रोग**—अमीबारुग्णता (amoebiasis), जियार्डिया रुग्णता (giardiasis) आदि।

(iv) **कृमि जन्य** (helminthic) **रोग**—यदि जल में इनके अण्डे हों तो गोल कृमि (round worm), सूत्रकृमि (thread worm), चम्बुककृमि (whip worm), एकाइनोकॉकस (echino coccus) आदि।

(v) **लेप्टोस्पाइराजन्य** (leptospiral) **रोग**—लेप्टोस्पाइरा रुग्णता (leptospirosis)

(II) जल में रहने वाले प्राणियों द्वारा संरक्षित कृमियों द्वारा रोग—

(i) कृमि, जो घोंघा (snail) आदि का सहारा लेकर रहते हैं और अपनी संख्या में वृद्धि करते रहते हैं—शिस्टोसोमरुग्णता (schistosomiasis)

(ii) कृमि जो अन्य जीवों के सहारे रहते हैं परन्तु उनकी संख्या में वृद्धि

नहीं होती है यथा फीताकृमि (tape worm), गिनीकृमि (guinea worm नेहरूआ)।

(III) जल में उपस्थित विषैले (poisonous) **तथा अक्रिय** (inert) **पदार्थों द्वारा रोग—**

(1) **विषैले पदार्थ** हैं—सीसा (lead)। आर्सेनिक, सिलीनियम, पारद (mercury), कैडमियम, सांइनाइड। ये पदार्थ जल मे जब एक निर्धारित मात्रा से अधिक हो जाते हैं तो स्वास्थ्य पर विषैला प्रभाव डालते हैं।

(2) अन्य पदार्थ जो स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं।

(i) फ्लूओरिड—यदि जल में इसकी मात्रा अधिक होती है तो दांतों और अस्थियों में फ्लूरोसिस (fluorosis) रोग हो जाता है। इसमें दाँतों और अस्थियों की चमक कम हो जाती है। यदि फ्लोओरिड की मात्रा सामान्य से कम होती है तो दन्तक्षय (dental caries) रोग हो जाता है।

(ii) यदि जल में नाइट्रेट 45 mg प्रति लीटर से अधिक है तो शिशुओं में मेटहिमोग्लोबिन रक्तता (infantile methaemoglobinaemia) रोग हो जाता है। इस रोग में हिमोग्लोबिन में लौह, जो फेरस रूप में होता है, फेरिक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह ऑक्सीजन से स्थायी संयोग करता है, जिससे शरीर को ऑक्सीजन की उपलब्धि कम हो जाती है।

जल शुद्धि के प्रकार

१ **यान्त्रिक**
१. मन्द 'रेत निस्यन्दक' (slow sand filtration) द्वारा।
२. द्रुत 'रेत निस्यन्दक' (rapid sand filtration) द्वारा।
३. घरेलू निस्यन्दक (domestic filtration) द्वारा।

अशुद्ध जल की शुद्धि के लिए निम्नलिखित साधन व्यवहार में लाते हैं।

२. **भौतिक**
१. जल के संग्रह (storage) द्वारा।
२. सूर्य रश्मियों द्वारा।
३. आसवन (distillation) द्वारा।
४. क्वथन (boiling) द्वारा।

३. **रासायनिक**
१. अवक्षेपण (precipitation) द्वारा।
२. विसंक्रमण (disinfection) द्वारा।

नगर जल आपूर्ति हेतु मन्द अथवा द्रुत रेत निस्यन्दक विधि व्यवहार मे लाई जाती है।

मन्द निस्यन्दन विधि (**slow and filtration method**)

इस विधि में जल की शुद्धि तीन अवस्थाओं (stages) द्वारा सम्पन्न होती है।

(i) संग्रह (storage) (ii) अवसादन (sedimentation) तथा (iii) निस्यन्दन (filtration)।

(i) **संग्रह** (storage) **एवं** (ii) **अवसादन** (sedimentation)—नदी, तालाब आदि से जल पक्के बने हुए जलाशयों (reservoirs) में एकत्रित कर लिया जाता है। इन जलाशयों में पहुँचते ही जल में नया दूषण समाप्त हो जाता है। यहाँ 24 घन्टों में लगभग 90 प्र० श० निलम्बित अशुद्धियाँ अपने गुरुत्व के कारण नीचे सतह पर बैठ जाती हैं। सूर्य प्रकाश की अल्ट्रा वायलेट किरणें अधिकांश जीवाणुओं को नष्ट कर देती हैं। ऑक्सी (वातापेक्षी aerobic) बेक्टीरिया जल में घुली हुई ऑक्सीजन का उपयोग कर कार्बनिक पदार्थों को ऑक्सीकरण द्वारा नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार केवल संग्रह मात्र से अधिकांश निलम्बित अशुद्धियाँ, जीवाणु, कार्बनिक अशुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं। परन्तु यदि नदी जल को अधिक समय, (लगभग 10–15 दिन से अधिक) जलाशयों में रखा जाता है तो एलगी के समान वनस्पतियाँ काई के रूप में उत्पन्न हो जल में दुर्गन्ध उत्पन्न कर देती हैं। इसलिए अधिक समय संग्रह नहीं रखा जाना चाहिए।
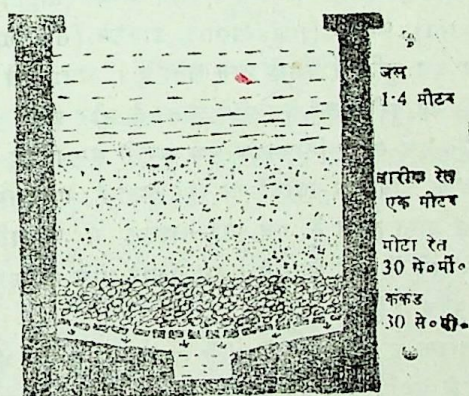
मन्द निस्यन्दक जलाशय

चित्र 5·1

(ii) **निस्यन्दन** (filtration)—फिर संग्रहीत जल का निस्यन्दन करते हैं। इस कार्य के लिए अनेक लगभग 4 मीटर (12′) लम्बे और 3 मीटर (9′) चौड़े तथा 3 मीटर गहरे पक्के जलाशय बनाये जाते हैं। इन जलाशयों में सबसे नीचे ईंटों की नालियाँ इस प्रकार बनाई जाती हैं कि ऊपर से उनमें जल आ सके। ये नालियाँ एक स्थान पर जल को संग्रह करती हैं। इन ईंटों के ऊपर कंकड़ अथवा पत्थर की रोड़ियों का स्तर लगभग 30·0 से०मी० (12″) मोटा होता है। इस स्तर में नीचे की रोड़ियाँ बड़ी और ऊपर की ओर छोटी होती चली जाती हैं। इस स्तर के ऊपर मोटे रेत का लगभग इतना ही मोटा स्तर होता है और इस मोटे रेत के ऊपर बारीक रेत का लगभग एक मीटर मोटा स्तर होता है। रेत बिल्कुल साफ होना चाहिए, उसमें

मिट्टी आदि तथा वनस्पति अथवा प्राणी जन्य किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं होनी चाहिए। इस रेत के स्तर के ऊपर जल लगभग 1·4 मीटर की ऊँचाई तक भरा रहता है।

इस निस्यन्दक में रेत का स्तर सबसे उपयोगी होता है। यहीं पर जल की शुद्धि होती है। इस शुद्धिकरण में अनेक क्रियाओं का सम्मिलित योग रहता है। यहाँ जल का अवसादन (Sedimentation), ऑक्सीकरण तथा जीवाणु जन्य (Bacterial) क्रियायें होती हैं। अर्थात् इस तल पर भौतिक, रासायनिक तथा यान्त्रिक सभी प्रकार की क्रियायें होती हैं। इन समस्त क्रियाओं के सम्मिलित प्रयास से ही शुद्ध जल की प्राप्ति होती है।

जब निस्यन्दक को प्रथम बार प्रयोग में लाते हैं तो 2-3 दिन जल का केवल यान्त्रिक निस्यन्दन होता है। नीचे जो जल एकत्रित होता है वह अशुद्ध होता है अतः व्यवहार में नहीं लाते हैं। दो तीन दिन के पश्चात् इस रेत के स्तर के ऊपर काई का स्तर जमा होना प्रारम्भ हो जाता है। इसमें एलगी (alge), ऑक्सीबेक्टीरिया (aerobic bacteria), प्लवक (plankton), डायटम (diatoms) आदि होते हैं। काई का यह स्तर जल शुद्धि में प्रमुख भाग लेता है। अतः इसे जैव स्तर (vital layer) कहते हैं। यह पूरी सतह पर फैल जाता है और शीघ्र ही 2-3 से० मी० मोटा हो जाता है। इस समय निस्यन्दक पूर्ण रूप से सन्तोषप्रद कार्य करने लगता है। यह स्तर जल के कार्बनिक पदार्थों को रोक लेता है, एमोनिया, को जो कार्बनिक पदार्थों के सड़ने से प्राप्त होती है, यह स्तर नाइट्रेट में परिवर्तित करता है एवं बेक्टीरियाओं को अपने में रोक लेता है। इस प्रकार नीचे छनकर लगभग बेक्टीरिया रहित साफ जल पहुँचता है।

इस निस्यन्दक के प्रति वर्ग मीटर से लगभग 2·8 घन मीटर जल की प्रतिदिन प्राप्ति होती है अर्थात् प्रति वर्ग फुट से लगभग 2 गैलन जल प्रति घण्टे मिलता रहता है। जैसे-जैसे काई का स्तर मोटा होता चला जाता है निस्यन्दन की मात्रा कम होती चली जाती है। इसलिए समय-समय पर जलाशयों से काई स्तर तथा उसके नीचे के रेत का 2-3 से०मी० मोटा स्तर निकाल कर फेंक दिया जाता है। इस प्रकार इस स्तर से रेत हटाते-हटाते जब बारीक रेत का स्तर 30-40 से०मी० रह जाता है तब निस्यन्दन को बन्द कर पुनः स्तर को लगाते हैं। जब एक जलाशय इस प्रकार रुका हुआ होता है उस समय दूसरे जलाशय कार्य करते रहते हैं। इससे नगर को जल आपूर्ति में कठिनाई नहीं होती है।

यह जल शुद्धि विधि आज तक अत्यन्त सफल विधि मानी जाती है। पहली बार जब सन् 1804 में स्काटलेण्ड में प्रयोग में लाई गई थी उस समय से आज तक संसार भर के अनेक नगरों में काम में लाई जा रही है। इस निस्यन्दन विधि से हानिकर बेक्टीरियाओं से 99·9 प्रतिशत तक बचाव हो जाता है। इस

विधि में केवल एक दोष है कि जल शुद्धि की गति धीमी है तथा इसके लिए एक बड़े भूमि खण्ड की आवश्यकता होती है। आजकल नगरों में भूमि का मूल्य अत्यधिक हो गया है और जल की विशाल मात्रा की प्रतिदिन आवश्यकता होती है अतः एक अन्य विधि 'द्रुत रेत निस्यन्दक' है जिसे पहिली बार सन् 1885 में अमेरिका में व्यवहार में लाया गया था और तब से संसार के अनेक नगरों में यह विधि भी व्यवहार में लाई जा रही है।

द्रुत निस्यन्दन विधि (Rapid sand filtration method)
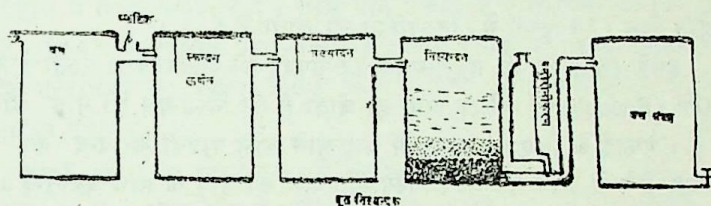
चित्र 5·2 द्रुत निस्यन्दक

यह विधि चार अवस्थाओं में सम्पन्न होती है। (i) स्कन्दन (coagulation) और ऊर्णन (floculation), (ii) अवसादन (sedimentation), (iii) निस्यन्दन (filtration) तथा (iv) क्लोरीनीकरण (chlorination)

(i) **स्कन्दन तथा ऊर्णन**—नदी अथवा जहाँ से जल लिया जाता है वहाँ से लेकर जलाशय में संग्रह करते हैं। फिर उसको पाइपों द्वारा स्कन्दन तथा ऊर्णन हेतु दूसरे जलाशय में भेजते हैं। पाइपों में पहुँचते समय जल की मात्रा का मापन भी हो जाता है। जब जल पाइपों में प्रवाहित होता है उसमें एक गेलन (4·55 लीटर) जल में 1·4 ग्रेन (60-240 मिली ग्राम) के हिसाब से फिटकरी (Aluminium Sulphate स्फटिका) मिलाते जाते हैं। फिटकरी जल में उपस्थित कैल्शियम बाइ कार्बोनेट से क्रिया करती है जिससे एल्यूमीनियम हाइड्रोक्साइड का जिलेटिन के समान (gelatinous) ऊर्णी (flocculent) बन जाता है।

एल्यू० सल्फेट + कैल्शियम कार्बोनेट → एल्यू० हाइड्रेट + कैल्शियम सल्फेट + कार्बनडाइऑक्साइड

$$Al_2(SO_4)_3 + 3Ca(HCO_3)_2 \rightarrow Al_2(OH)_6 + 3CaSO_4 + 6CO_2$$
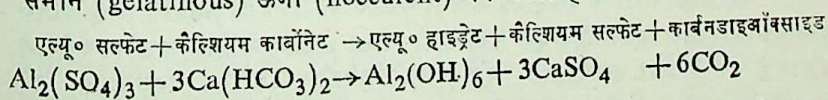
अवसादन—इस जल को एक दूसरे जलाशय में ले जाया जाता है। इस जलाशय में इसे ३-६ घंटों तक रखा जाता है। इस समय एल्यूमीनियम हाइड्रोक्साइड का ऊर्णी तथा अधिकांश निलम्बित एवं अर्ध निलम्बित पदार्थ नीचे तल पर अवसादित हो जाते हैं। नीचे से उनके निकालने का प्रबन्ध होता है।

निस्यन्दन—यहाँ से जल 7 फीट (2·15 मीटर) गहरे कंक्रीट, लकड़ी अथवा

लोहे के बने हुए कुण्ड में आता है। इसमें मन्द निस्यन्दक के समान नीचे कंकड़ अथवा पत्थर की रोड़ी का स्तर उसके ऊपर रेत का स्तर होता है। जल जब इसमें प्रवेश करता है तो उसमें मिला हुआ शेष ऊर्णि का अंश रेत के ऊपर झिल्ली के समान फैल जाता है और अपने अन्दर से शुद्ध जल को ही जाने देता है, तथा अन्य निलम्बित पदार्थों, वेक्टीरिया तथा अन्य जीवाणुओं आदि को ऊपर ही रोक लेता है। अतः इस निस्यन्दन में जैव स्तर (vital layer) के वनने का इन्तजार नहीं होता है। इस कारण निस्यन्दन भी द्रुतगति से होता रहता है। एक वर्ग फुट (0·092 वर्ग मीटर) क्षेत्र से 100 से 130 गेलन (454·6 से 591·0 लीटर) जल प्रति दिन (24 घण्टों में) निस्यन्दित हो जाता है।

इसके स्तरों को भी समय-समय पर सफाई की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि जब ऊर्णि (flocculent) अधिक जमा हो जाता है तो निस्यन्दन की गति धीमी हो जाती है। सफाई के लिए इस कुण्ड में जल लाने वाले पाइपों को बन्द कर देते हैं और फिर नीचे से ऊपर की ओर निस्यन्दित जल को वायु के साथ बहाते हैं। जल बहने की उल्टी दिशा के कारण रेत के ऊपर जमा हुआ स्तर हट जाता है और जल के साथ ऊपर की ओर को वह जाता है। शुद्धि की यह क्रिया 15–20 मिनट में सम्पन्न हो जाती है और निस्यन्दक पुनः कार्यशील हो जाता है।

क्लोरीनीकरण—निस्यन्दक से जल जब पाइपों द्वारा गुजरता है उसमें एक गति से आवश्यकतानुसार क्लोरीन गैस मिलती जाती है। जल के दस लाख भाग में एक भाग क्लोरीन मिलाई जाती है। यह गैस 30 मिनट में जल में उपस्थित जीवाणुओं को नष्ट करने की क्षमता रखती है। यदि 30 मिनट के क्रियाकाल को कम करना अभीष्ट है तो क्लोरीन की दुगुनी मात्रा मिला दी जाती है। उस दशा में केवल 15 मिनट में ही घुलित क्लोरीन जीवाणुओं को नष्ट करने में सफल होती है। परन्तु ऐसी दशा में जल में क्लोरीन के अंश के बढ़ जाने से क्लोरीन की गन्ध आने लगती है और उसका स्वाद भी बिगड़ जाता है। इसके अतिरिक्त क्लोरीन के निराकरण के लिये निर्जल सोडियम थायोसल्फेट (anhydrous sodium thiosulphate) प्रति 454·60 लीटर (100 गैलन) जल में 0·5 ग्राम के हिसाब से मिलाते हैं। इसमें जल के वर्ण, गन्ध एवं स्वाद में जो परिवर्तन आ जाता है वह मिट जाता है।

यह ज्ञात करने के लिए कि जल में अधिक क्लोरीन तो नहीं मिली है आर्थो-टॉलीडीन परीक्षण करते हैं। एक परखनली (test tube) में जिस जल का परीक्षण करना है लेते हैं और इसमें 2-3 बूंदें आर्थोटोलीडीन (ortho tolidine) की मिलाते हैं। यदि जल का वर्ण पीला हो जाता है तो ठीक मात्रा में क्लोरीन मिलाई गई है और यदि वर्ण लाल हो जाता है तो क्लोरीन की मात्रा अधिक है।

घरेलू निस्यन्दक
(Domestic Filtrates)

घरेलू कार्यों के लिए अथवा कम मात्रा में जल के निस्यन्दन के लिए व्यवहार में आने वाली कुछ विधियों का वर्णन किया जाता है।

१. **तीन घड़ा विधि** (three pitchers method)—एक तिपाई पर तीन घड़े एक के ऊपर एक खाने में रखते हैं ऊपर के दोनों घड़ों के पेंदों में छिद्र करके एक रुई की बत्ती लगा दी जाती है। ऊपर के घड़े में कुछ रेत और उसके ऊपर अशुद्ध जल भर दिया जाता है। रेत से छन कर जल बीच के घड़े में आता रहता है। बीच वाले घड़े में रेत और लकड़ी के कोयले रहते हैं उनसे छनता हुआ शुद्ध जल नीचे तीसरे घड़े में एकत्रित होता रहता है। इस विधि से जल को स्वच्छ नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यह जल जीवाणु विहीन नहीं हो पाता है।

२. बाजार में अनेक विश्वस्तरीय निस्यन्दक (filters) उपलब्ध हैं। उन्हीं को व्यवहार में लाना श्रेयस्कर है। इनमें तीन प्रकार के निस्यन्दक अधिक प्रसिद्ध हैं—(१) पाश्चर चेम्बरलैण्ड निस्यन्दक (Pasteur Chamberland filter) तथा (२) बर्क-फैल्डनिस्यन्दक (Berkefeld filter) तथा (३) कैटाडायन निस्यन्दक (Katadyn filter)।

तीनों प्रकार के निस्यन्दक पोरसेलीन (चीनी मिट्टी) के पात्र हैं। इनके मध्य में एक अन्य पात्र होता है जिसमें छना हुआ (बिना निलम्बित अशुद्धियों वाला) अशुद्ध जल भर दिया जाता है। चीनी मिट्टी के बने हुए बिना पालिश के पाश्चर चेम्बरलेण्ड के सिलेण्डर अन्दर के इस भाग में होते हैं। इनका मुख नीचे के पात्र में खुलता है। ऊपर के पात्र का अशुद्ध जल इन सिलेण्डरों में होता हुआ नीचे के पात्र में पहुँच जाता है। सिलेण्डरों के छिद्रों में अशुद्धि एवं जीवाणु रुक जाते हैं। समय-समय पर इन सिलेण्डरों को गर्म जल में ब्रुश से साफ कर दिया जाता है।

बर्कफेल्ड फिल्टर

चित्र 5·5

बर्क फील्ड निस्यन्दक की बनावट भी पाश्चर चेम्बरलेण्ड निस्यन्दक के समान ही होती है। अन्तर केवल यह है कि इसमें एक सिलेण्डर होता है और वह कीजेलगर (Kieselguhr) अथवा इन्फ्यूसोरिया (infusoria) मिट्टी (earth) का बना होता है। इस निस्यन्दक के सिलेण्डर को भी समय-समय पर उपरोक्त विधि से साफ करते रहना पड़ता है।

'कैटाडायन' निस्यन्दक में निस्यन्दक के सिलेण्डर पर बाहर की ओर चाँदी की पतली पर्त होती है। इसके सम्पर्क में आकर बेक्टीरिया आदि नष्ट हो जाते हैं।

इन निस्यन्दकों में जल को छानकर ही भरना चाहिये। मिट्टी आदि होने से निस्यन्दक के सिलेण्डरों के छिद्र बन्द हो जाते हैं। इनकी सफाई गर्म जल में ब्रुशों से की जाती है।
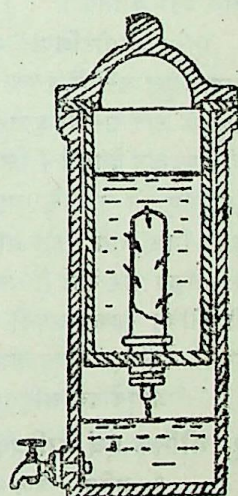
जल शुद्धि के अन्य उपाय

ब्लीचिंग पाउडर के अतिरिक्त निम्न वर्णित पदार्थ भी जल शुद्धि के काम में आते हैं—

(१) **नीला थोथा (तूतिया Copper Sulphate)**—वास्तविक अर्थ में यह जीवाणु नाशक तो नहीं है परन्तु काई के निर्माण को रोक देता है। दस लाख जल भाग में इसे 0·1 से 0·25 भाग मिलाते हैं। परन्तु इसके प्रयोग में एक बाधा भी है कि जल का स्वाद बिगड़ जाता है। वह कसैला हो जाता है।

(२) **चूना** (Calcium oxide)—बिना बुझा चूना 360 मि० ग्रा० 4·5 लीटर जल में मिलाने से जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। यदि जल में लौह अंश होता है तो वह अवक्षेप कर जाता है। इसके प्रयोग में एक ही बाधा है कि इसकी अधिक मात्रा प्रयोग करनी पड़ती है। इसकी मात्रा ब्लीचिंग पाउडर की अपेक्षा 20 गुनी अधिक है। जिस जल में चूना मिलाया गया हो उसे व्यवहार से लाने से पूर्व नितर जाने देना चाहिये।

(३) **पोटेशियम परमेंगनेट** (Potassium permanganate)—एक लाख भाग अशुद्ध जल में इसका 0·5 भाग जल में घोल कर अशुद्ध जल में मिलाकर 4-6 घण्टे के बाद उसको प्रयोग से लाना चाहिये। इतने समय में यह 98% जीवाणुओं को नष्ट कर देता है। फिर भी अनेक जीवाणुओं पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता है। इस लिए इसे सायं के समय जल में डालना चाहिये जिससे क्रिया के लिए अधिक समय मिल जाये। यह ऑक्सीकारक है अतः जल में उपस्थित कार्बनिक पदार्थों को ऑक्सीकृत कर देता है। जल के अधिकांश जीवाणु इन कार्बनिक पदार्थों के सहारे ही जीवित रहकर अपनी संख्या बढ़ाते हैं। इस विधि में एक हानि है कि जल में इसकी गन्ध एवं स्वाद को पसन्द नहीं किया जाता है।

आयुर्वेदिक संहिता ग्रन्थों में जल शुद्धि की अनेक विधियों का वर्णन है।

१. भौतिक एवं यान्त्रिक विधियाँ—

१. **अग्नि**—जल को खूब उबालकर अथवा वाष्प में परिणत कर पुनः जल के रूप में परिवर्तित कर व्यवहार में लाना चाहिये।

२. **सूर्य**—सूर्य किरणें अधिकांश जीवाणुओं तथा अन्य कार्बनिक पदार्थों को नष्ट कर देती हैं।

३. **तप्त लोहे द्वारा**—लोहे को तप्त कर जल में बार-बार बुझाने से जल शुद्ध हो जाता है।

४. **वस्त्र**—वस्त्र से छानकर जल की निलम्बित अशुद्धियाँ दूर की जा सकती हैं।

रासायनिक—विस ग्रन्थि (कमल की जड़), निर्विषी, निर्मली, शैवाल (algae) गोमेदक, स्फटिक, मणि अथवा मुक्ता को जल में डालने से जल की शुद्धि हो जाती है।

जल की परीक्षा

जल के परीक्षण को चार प्रकारों में विभाजित करते हैं—

(i) भौतिक परीक्षण (Physical cxamination), (ii) रासायनिक परीक्षण (Chemical examination), (iii) सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षण (Microscopical examination) तथा (iv) जीवाणु हेतु परीक्षण (Bacteriological examination)।

परीक्षण के लिए जल संग्रह विधि— रासायनिक परीक्षण के लिए जल को काँच की भली भाँति स्वच्छ की गई छोटे मुख वाली बोतल में भर लेना चाहिये। जल भरने से पूर्व बोतल को हल्के अम्ल घोल से साफ करके फिर साफ जल से उसे साफ कर लेना चाहिये। जिस जल को भरना है उससे भी ३-४ बार बोतल को साफ कर लेना चाहिये। जल की सतह से लगभग एक फीट नीचे से जल लेना चाहिये। जल भरकर बोतल में तुरन्त कस कर कार्क लगा देना चाहिए।

जीवाणु परीक्षण हेतु जल लेने में विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। बोतल की डाट भी काँच की होनी चाहिये। बोतल मय डाट के पहिले से ही जीवाणु रहित (sterilised) कर लेनी चाहिये। यदि नल (tap) से जल भरना है तो नल के मुख को साफ कर लेना चाहिए। रुई को मेथिलेटेड स्प्रिट में भिगोकर जलाकर नल के मुख को भली-भाँति निर्जीवाणु कर लेना चाहिए। बोतल की डाट को खोलने के पूर्व बोतल की गर्दन को इसी प्रकार ज्वाला से जीवाणु विरहित कर लेना चाहिये और फिर डाट को विसक्रमित चिमटी (forceps) से खोल कर तथा बोतल को जल से भर कर डाट को पुनः ज्वाला पर जीवाणु विरहित करके कस कर लगा देनी चाहिये। इस बोतल को बर्फ में रखकर प्रयोगशाला में परीक्षा के लिए भेजना चाहिये। डाट को बन्द करने में चपड़ा (Sealing wax) अथवा ग्रीज (grease) आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। बोतल के साथ निम्नलिखित जानकारी भी प्रयोगशाला को भेज देनी चाहिए।

(१) बोतल पर संख्या डालकर उसकी सूचना।

(२) परीक्षा के लिए जल भरने की तिथि तथा समय।

(३) जल ग्रहण का मूल—नदी, तालाब, कुआँ आदि का नाम। यदि कुएँ का जल है तो कुएँ की गहराई, जल की गहराई, कुएँ की चौड़ाई आदि की जानकारी भी देनी चाहिये तथा कुएँ के आस-पास की भूमि पर यदि मल त्याग, कूड़े का ढेर का स्थान है तो उसका भी संक्षेप में वर्णन कर देना चाहिये।

(४) जिस ऋतु में जल भरा है उस समय वर्षा आदि है तो उसका वर्णन।

(५) नगर में यदि कोई रोग फैला हो तो उसका भी वर्णन करना चाहिये।

यदि नल का जल लेना है तो जो नल की सबसे नीची लगी हुई टोंटी (tap) से भरना चाहिए। यदि नदी, तालाब, कुएँ आदि से लेना है तो सतह से कम से

कम एक फुट नीचे का लेना चाहिए। नदी आदि के किनारे से काफी दूर अन्दर से जल लेना चाहिये।

भौतिक परीक्षण—भौतिक परीक्षा में (i) अविलता (turbidity), (ii) वर्ण, (iii) गन्ध तथा (iv) रस (स्वाद) की परीक्षा करनी चाहिये।

(१) जल में अविलता नहीं होनी चाहिये वह बिल्कुल स्वच्छ होना चाहिये। अविलता मापन के लिये जेकसन केण्डिल टरबिडिटी मीटर (Jackson Candle Turbidity meter) आता है। इसके द्वारा अविलता मापन में शुद्ध जल की अविलता 5 एकांक (units) से कम होनी चाहिये।

(२) जल वर्ण विहीन होना चाहिए। जल की वर्णता कैलोरी मीटर (calorimeter) नामक यन्त्र से नापते हैं। इसका परिणाम भी 5 एकांक से कम होना चाहिये।

(३) गन्ध—जल की अपनी कोई गन्ध नहीं है। उसमें घुलित पदार्थों द्वारा गन्ध उत्पन्न होती है। अतः जल में अप्रिय गन्ध नहीं होनी चाहिये।

(४) रस—गन्ध की भाँति जल का अपना कोई रस नहीं होता है। वह अव्यक्त रसयुक्त होता है। अतः अप्रिय स्वाद भी नहीं होना चाहिए।

केवल भौतिक परीक्षा से जल का परीक्षण पूर्ण नहीं होता है। जल का रासायनिक एवं जीवाणु हेतु परीक्षण आवश्यक होता है।

रासायनिक परीक्षण—विश्व स्वास्थ्य संगठन ने जल की उपयोगिता के सम्बन्ध में तालिका दी है। उसके अनुसार जिस जल में रासायनिक पदार्थ दी हुई सीमा से अधिक है उसको व्यवहार नहीं करना चाहिये। यथा—

नाम पदार्थ	अधिकतम सीमा मि० ग्राम प्रति लीटर में	नाम पदार्थ	अधिकतम सीमा मि०ग्रा० प्रति लीटर में
आरसेनिक (Arsenic)	0·05	यगद (Zinc)	0·5
कैडमियम (Cadmium)	0·01	ताम्र (Copper)	0·05
सायनाइड (Cyanide)	0·05	कैल्शियम (Calcium)	75·0
सीसा (Lead)	0·04	सल्फेट (Sulphate)	200·0
पारद (Mercury)	0·001	क्लोराइड (Chloride)	200·0
सेलेनियम (Selenium)	0·01	फेनोलिक पदार्थ (Phenolic substances)	0·001
लोहा (Iron)	0·01		
मैंगनीज (Manganese)	0·05		

रासायनिक प्रतिक्रिया—जल का pH 7·0 से 8·5 के बीच होना चाहिये।

यदि जल में नीचे कहे जा रहे घन पदार्थ हैं तो वे दी हुई मिली ग्राम प्रति लीटर मात्रा से अधिक नहीं होने चाहिये। अधिक होने से वे स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डालते हैं।

(i) **फ्लूओरिड** (Fluorides)—एक लीटर जल में फ्लुओरिड की सीमा 0·05 से 0·08 मिली ग्राम के मध्य रहने से स्वास्थ्य पर अनिष्ट प्रभाव नहीं पड़ता है। सीमा से कम होने पर दन्त क्षरण (dental caries) की सम्भावना रहती है। मात्रा से अधिक होने पर दन्त फ्लूओरोसिस (dental fluorosis) (दाँतों की डेन्टीन dentine का नष्ट होना) हो जाता है तथा शरीर की अस्थियाँ भी प्रभावित हो जाती हैं।

अस्थियों में तथा स्नायु (ligaments) एवं संधियों (joints) में खनिज लवणों का निक्षेपण (deposition) अधिक हो जाता है जिससे अस्थियों का घनत्व बढ़ जाता है, संधि की गति में बाधा पड़ती है तथा रीढ़ की अस्थियाँ (spine) दृढ़ (stiff) हो जाती हैं। वैज्ञानिक परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि इमली खाने से इसमें लाभ होता है।

(ii) **नाइट्रेट** (Nitrates)—जल में एक मिली ग्राम प्रति लीटर से अधिक नाइट्रेट हानिकर होते हैं, विशेषकर एक वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए। जल में नाइट्रेट की मात्रा 45 मिली ग्राम प्रति लीटर से अधिक होने पर बच्चों में मेटहीमोग्लोबिनरक्तता (Methaemoglobinaemia) रोग हो जाता है। लोहित कोशिकाओं (RBC) में हीमोग्लोबिन (haemoglobin) के संगठन में लौह की उपस्थिति फैरस (ferrous) के रूप में होती है तब ही उसका ऑक्सीजन से ढीला गठबन्धन रहता है। फैरस के ऑक्सीकृत होने से उसका रूप फेरिक (feric) हो जाता है। इस रूप में हीमोग्लोबिन से ऑक्सीजन का दृढ़ गठबन्धन हो जाता है और फिर ऊतकों को ऑक्सीजन की प्राप्ति नहीं होती है। ऐसे हीमोग्लोबिन को मेटहीमोग्लोबिन कहते हैं।

पॉली न्यूक्लियर ऐरोमेटिक हाइड्रोकार्बन (Polynuclear aromatic hydrocarbons)—कुछ हाइड्रोकार्बन केन्सरजनक (carcinogenic) होते हैं। अतः इन हाइड्रोकार्बनों की जल में 0·2 μg प्रति लीटर से अधिक उपस्थिति अस्वास्थ्यकर है।

क्लोराइड (Chloride)—अन्तरिक्ष जल सहित प्रत्येक जल में क्लोराइड के लवण मिलते हैं। समुद्र के निकट के स्थानों के जल में यह मात्रा अधिक होती है। इस प्रकार जल में क्लोराइड का अंश प्रत्येक स्थान पर पृथक-पृथक होता है। सामान्यतः प्रति लीटर जल में 150-200 मिली ग्राम की मात्रा में क्लोराइड का मिलना किसी प्रकार की हानि उत्पन्न नहीं करता है। अधिक से अधिक 600 मिली ग्राम क्लोराइड प्रति लीटर पेय जल में होना चाहिये। इससे अधिक का होना हानिकर होता है। इसीलिए समुद्र का जल तथा रेगिस्तान के कुओं का जल पीने में हानि उत्पन्न करता है।

अमोनिया (Ammonia)—जल के अन्दर स्वतन्त्र अमोनिया का होना जाहिर करता है कि जल में कार्बनिक पदार्थ सड़ रहे हैं अथवा मूत्र आदि जल में अधिक मात्रा में मिल रहे हैं। एक लीटर पेय जल में अमोनिया स्वतन्त्र रूप में

अथवा एमोनियम लवणों के रूप में 0·05 मिली ग्राम से अधिक नहीं होनी चाहिये। अधिक का होना यह प्रमाणित करता है कि जल अशुद्ध है।

एल्युमिनाइड एमोनिया—ऐसे कार्बनिक पदार्थ, जिनका पूर्णरूपेण विघटन (decomposition) नहीं हुआ है, जल में एल्युमिनॉइड एमोनियम छोड़ते हैं। भूमितल के नीचे से लिये जाने वाले जल में—यथा कुओं, हाथ पम्पों (hand pumps) के जल में एल्युमिनॉइड एमोनिया नहीं होनी चाहिये। अन्य जल में भी 0·1 मिली ग्राम प्रति लीटर से अधिक नहीं होनी चाहिये।

नाइट्राइट (Nitrites)—पीने के जल में नाइट्राइटों का अभाव होना चाहिए। इसकी जल में उपस्थिति प्रमाणित करती है कि जल में अशुद्धियाँ मिल रही हैं। गहरे कुओं के जल में यदि नाइट्राइट मिलता है तो समझिये कि नीचे मिट्टी में लोह अंश है और इन फेरस लवणों ने भूमि में उपस्थित नाइट्रेट लवणों को नाइट्राइट में परिवर्तित कर दिया है।

ऑक्सीजन (Oxygen)—जल में घुलित स्वतन्त्र ऑक्सीजन 5 मिली ग्राम प्रति लीटर से अधिक नहीं होनी चाहिये तथा अन्य रूप में ऑक्सीजन का अभाव होना चाहिए।

सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा—समस्त जीवाणु एवं शैवाल (algae), फंजाई (fungi-कवक), खमीर (yeast), प्रोटोजोआ (protozoa), क्रस्टेशियाई (crustaceans), सूक्ष्म कीट (minute worms) आदि जिनकी संयुक्त संज्ञा प्लवक (planktons) है, की परीक्षा सूक्ष्मदर्शक द्वारा की जा सकती है। प्लवक वर्ग के ये प्रतिनिधि जल में दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं तथा स्वाद बदल देते हैं। जल में इनकी जितनी अधिक संख्या मिलती है जल उतना ही अधिक अशुद्ध होता है। इनके अतिरिक्त वनस्पति एवं प्राणीजन्य सूत्र (fibres) आदि जो अति सूक्ष्म होते हैं सूक्ष्म दर्शक से देखे जाते हैं।

जीवाणु परीक्षा—जल में नाली की गन्दगी और मल की उपस्थिति की परीक्षा के लिये जीवाणु परीक्षा (Bacteriological examination) अति आवश्यक है। जल में मल के अंश के कारण ये जीवाणु मिलते हैं—(i) कोलीफार्म (Coliform) जीवाणु विशेष रूप से ई० कोलाई (एशेरिशिया कोलाई/Escherichia Coli)। जल में ई० कोलाई की उपस्थिति निश्चित रूप से जल में मल के अंश को प्रकट करती है। यह जीवाणु वृहदन्त्र में भोजन के मल अंश को पुरीष रूप में परिवर्तित करता है। मनुष्य लगभग 200-400 करोड़ इन जीवाणुओं को प्रतिदिन मल द्वारा अन्त्र से निष्कासित कर देता है।

(ii) मल में स्ट्रेप्टोकोलाई (Streptococci) भी काफी संख्या में होते हैं, जो जल में, मल के साथ, प्रवेश पा जाते हैं, मगर इनकी संख्या ई० कोलाई से कम होती है।

(ii) जल में मलांश के साथ जो अन्य जीवाणु प्रवेश पाते हैं वे हैं क्लोस्ट्री-

डियम वेलशाई (clostridium welchi)। इनकी जल में उपस्थिति निश्चय रूप से मलांश द्वारा जल की अशुद्धि की ओर इंगित करती है।

रेडियो धर्मिता के कारण जल की अशुद्धि—

आजकल रेडियो धर्मी पदार्थों का उपयोग प्रत्येक देश ऊर्जा उत्पत्ति के लिए करने लगा है। अतः रेडियोधर्मी पदार्थों द्वारा जल के दूषित होने की सम्भावना बनी रहती है। जरा सी असावधानी से असंख्य मनुष्यों का स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाता है। रेडियो धर्मिता मापन के लिये विश्व स्वास्थ्य संगठन ने एक अन्तर्राष्ट्रीय पैमाना बना रखा है। रेडियो धर्मिता को पिकोक्यूरिस प्रति लीटर (pCi/l) में वर्णन करते हैं। यदि रेडियो धर्मी जल में समस्त एल्फा सक्रियता (Gross Alpha activity) 3 pCi/l तथा समस्त बीटा सक्रियता (Gross Beta activity) 30 pCi/l से कम है तो वह जल व्यवहार के लिये सुरक्षित है। इससे अधिक रेडियो धर्मिता स्वास्थ्य के लिए हानिकर है।

तैरने के कुण्ड (Swimming pool)—आजकल अनेक शिक्षण संस्थानों, क्लबों तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं में तैरने के कुण्ड बन गये हैं। इसमें कुएँ से अथवा नदी, नहर आदि से जल भरा जाता है। अधिकतर कुओं से ही पम्प द्वारा इन्हें भरा जाता है। इन कुण्डों में अशुद्ध जल नहीं जाना चाहिये। कुण्ड के समीप मूत्रालय, शौचालय, स्नानागार तथा कूड़ा कर्कट जमा करने के स्थान पृथक्-पृथक् इस प्रकार होने चाहिये जिससे कुण्ड को व्यवहार करने वाला व्यक्ति, आवश्यकता पड़ने पर उन तक तुरन्त पहुंच जाय। कुण्ड के जल को समय-समय पर बदलते रहना चाहिये अथवा 3-4 घण्टे पश्चात् कम से कम 15% जल का क्लोरीनीकरण (Chlorination) करते रहना चाहिये।

जल इतना पारदर्शक होना चाहिए कि कुण्ड का तल देखा जा सके। शैवाल (algae) आदि की उत्पत्ति को रोकने के लिए जल के दस लाख भाग में 1 या 2 भाग नीले थोथे के हिसाब से जल में मिला देना चाहिये। पीने के जल के समान कुण्ड जल होना चाहिये। इसमें ई० कोलाई के जीवाणु तथा अन्य जीवाणु नहीं होने चाहिये। जल के दस लाख भाग में 0·3 से 0·5 भाग के हिसाब से क्लोरीन का प्रत्येक समय बने रहना चाहिए।

तैरने वालों को भी कुछ सावधानियाँ बरतनी चाहिए। (1) जिस तैराक ने साबुन लगाकर पूर्व स्नान नहीं कर लिया हो उसे कुण्ड में तैरने की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। (2) जल के अन्दर थूकना, मूत्र त्यागना आदि कर्म अत्यन्त घृणित हैं इनको रोकना चाहिए। (3) किसी ऐसे व्यक्ति को जल में प्रवेश की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिए जो प्रतिश्याय, शीत, त्वक् रोग, नेत्र रोग, कर्ण तथा त्वचा के रोगों आदि से पीड़ित हो।

बर्फ निर्माण—जल द्वारा बर्फ बनाया जाता है। अशुद्ध जल से प्राप्त बर्फ हानिकारक होता है। अतः स्वास्थ्याधिकारी को देखना चाहिए कि बर्फ के बनाने के

लिए शुद्ध जल का ही प्रयोग किया जाय। बनाते समय बर्फ जमाने के पात्र तथा कर्मचारी सब स्वस्थ होने चाहिए। बर्फ को निकालना तथा बेचना ऐसा होना चाहिए कि वर्फ में अशुद्धि प्रवेश नहीं कर सकें।

बर्फ सेवन करने वालों को बर्फ को सीधे पेय पदार्थों में नहीं डालना चाहिए। उत्तम है कि बर्तन में पदार्थ को रखकर बर्फ से ठण्डा करके व्यवहार में लाना चाहिए। शर्बत आदि में बर्फ डालकर पीने से बर्फ में जो अशुद्धियाँ होती हैं वे व्यक्ति के शरीर में पहुंच जाती हैं।

किसी भी संक्रामक रोग से ग्रस्त व्यक्ति को बर्फ बनाने, बेचने अथवा बर्फ बनने के स्थान पर प्रवेश की आज्ञा नहीं होनी चाहिए।

जल वितरण व्यवस्था—भारत के नगरों में दो प्रकार की जल व्यवस्था काम में लाई जा रही है। (१) चौबिसों घण्टे जल की उपभोक्ता को प्राप्ति होती रहती है तथा (२) एक निश्चित समय पर निश्चित घण्टों के लिए जल वितरित किया जाता है। इसमें पहली वितरण व्यवस्था उत्तम है क्योंकि यदि प्रत्येक समय पानी की उपलब्धि नहीं होती है तो (i) आकस्मिक दुर्घटना के समय कठिनाई एवं अपार हानि की सम्भावना रहती है। (ii) घरों में जल संग्रह की व्यवस्था करनी पड़ती है। जल संग्रह के पात्र यदि स्वच्छ नहीं हैं तो जल में प्रदूषण की सम्भावना रहती है (iii) जब पाईप में जल नहीं होता है तो उनमें ऋणात्मक दाब (negative pressure) हो जाता है इस कारण टोंटी द्वारा वायु का प्रवेश होने लगता है। वायु के साथ अनेक प्रकार के हानिकारक जीवाणु भी प्रवेश पा जाते हैं और जल को संक्रमित कर देते हैं। अतः जल नियमित रूप से दिन रात बिना रुकावट उपलब्ध रहना अति आवश्यक है।

भारत के कुछ बड़े नगरों में जल वितरण की दोहरी व्यवस्था है। पीने आदि के लिए निस्यंदित (filtered) जल वितरण किया जाता है तथा मल मूत्र बहाने तथा नाली आदि की सफाई के लिए तथा बगीचों में पानी देने आदि के लिए अनिस्यंदित (unfiltered) जल वितरित होता है। इस प्रणाली में बुराई यह है कि सामान्य नागरिक दोनों प्रकार के जल का अन्तर नहीं समझता है। वह अनिस्यंदित जल को पीने आदि के कार्यों में ले आता है और व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। अतः यदि दोहरी प्रणाली है तो जनता को उसका पूर्ण ज्ञान कराना एवं सावधान कराना आवश्यक है।

———

६

वायु, संवातन एवं स्वास्थ्य

वायु (air)—जिस प्रकार समुद्र में जल के जीव बिना कष्ट के रहते हैं उसी प्रकार हम भी लगभग ३०० किलो मीटर गहरे वायु के समुद्र में रहते हैं। वायु से हमको केवल जीवन दायिनी ऑक्सीजन की ही प्राप्ति नहीं होती है वरन् हमको शीतलता मिलती है, शरीर से अतिरिक्त उष्मा का निष्कासन होता है तथा हमारी ज्ञानेन्द्रियों को विषय ग्रहण करने में सहायता मिलती है। विशेष रूप से स्पर्शेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय वायु के कारण ही अपने विषयों (स्पर्श ज्ञान, शब्द ज्ञान एवं गन्ध ज्ञान) को ग्रहण कर पाती है। भूमि तल के निकट की वायु धूल, धुएँ, विषैली गैसों, रासायनिक वाष्पों आदि से प्रदूषित होती रहती है और कभी-कभी व्याधि एवं मृत्यु का कारण भी बन जाती है।

वायु का संगठन—वायु मुख्य रूप से दो गैसों का मिश्रण है। मिश्रण इस लिए कहते हैं कि दोनों गैसें अपने-अपने गुणों को पृथक-पृथक बनाए रखती हैं। अन्य जो गैसें वायु में मिलती हैं वे भी अपने गुणों को पृथक् से बनाये रखती हैं। ये दोनों गैसें (१) ऑक्सीजन तथा (२) नाइट्रोजन हैं। ऑक्सीजन अतिक्रियाशील गैस है, वह प्रत्येक पदार्थ को जला डालने की सामर्थ्य रखती है। अतः उसकी उपस्थिति वायु में केवल 21% होती है। इस प्रतिशत में वह जीवन दायिनी है और यदि उसका प्रतिशत अंश बढ़ जाता तो उसका ऑक्सीकरण (जलाने) का गुण भी अधिक प्रबल हो जाता, उस दशा में जीवन रक्षा के स्थान पर ऑक्सीजन जीवन हानि का कारण बन जाती। नाइट्रोजन अपेक्षाकृत अति अक्रियाशील (निष्क्रिय) गैस है उसका वायु में 79% अंश होता है। यह प्रतिशत गणना मोटे तौर पर है अन्यथा काफी ऊँचाई पर वायु में कुछ अन्य अक्रियाशील गैसें यथा आर्गन (argon), निऑन (neon), क्रिप्टॉन (krypton), जीनॉन (Xenon), हीलियम (helium) आदि भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रतिशत में उपस्थित रहती हैं।

भूमितल के निकट वायु में अनेक अशुद्धियाँ मिलती हैं। जिनमें मुख्य कार्बन डाइ ऑक्साइड, जल वाष्प, अमोनिया, हाइड्रोजन सल्फाइड आदि गैसें हैं। इनके अतिरिक्त धूल के कण, धुआँ, रासायनिक पदार्थों की वाष्प, जीवाणु आदि भी रहते हैं। कार्बन डाइ ऑक्साइड तो भूमि तल के समीप की वायु का एक स्थायी अंग बन गया है। अतः भूमितल की वायु का संगठन सामान्यतः निम्न प्रकार रहता है।

ऑक्सीजन	20·95 प्रतिशत
नाइट्रोजन	70·01 प्रतिशत
कार्बन डाइ ऑक्साइड	0·04 प्रतिशत

वायु का उपरोक्त संगठन मैदानी भागों में प्रायः एक समान रहता है। आबादी के निकट वायु अधिक अशुद्ध रहती है। जितनी अधिक आबादी होती है अथवा जितने अधिक औद्योगिक संस्थान होते हैं वायु में प्रायः अशुद्धियाँ उतनी ही अधिक होती हैं। वायु के संगठन पर प्राकृतिक नियमों का भी प्रभाव पड़ता है। इनमें मुख्य तीन हैं।

(१) यदि वायु के दाब (pressure) में कोई परिवर्तन नहीं होता है अर्थात् वह स्थिर रहता है तो 1°C तापमान बढ़ने पर वायु का आयतन उसके 0°C पर रहने वाले आयतन का 1/273 भाग बढ़ जाता है। इसे सामान्यतः चार्ल्स का नियम कहते हैं। इसका भाव यह है कि वायु के तापमान बढ़ने पर उसका आयतन भी बढ़ जाता है और घनत्व कम हो जाता है। इसी कारण ग्रीष्म ऋतु में वायु हल्की हो जाती है।

(२) यदि वायु के आयतन (volume) में कोई परिवर्तन नहीं होता है अर्थात् वह स्थिर रहता है तो 1°C तापक्रम के बढ़ने पर वायु के 0°C पर होने वाले दाब का 1/273 भाग दाब बढ़ जाता है। इसे दाब का नियम कहते हैं।

(३) यदि वायु के तापमान (temperature) में कोई परिवर्तन नहीं होता है, वह स्थिर रहता है तो दाब तथा आयतन का परस्पर सम्बन्ध व्युत्क्रमानुपाती (inversely proportional) होता है। इसे बायल का नियम कहते हैं। इसका भाव है कि बिना तापक्रम को बढ़ाए हुए यदि गैस का दाब दुगुना बढ़ाया जाता है तो उस गैस का आयतन आधा रह जाता है और इसके विपरीत यदि दाब घटाकर आधा किया जाता है तो आयतन बढ़कर दुगुना हो जाता है। इस व्युत्क्रमानुपात से वायु के दाब तथा आयतन प्रभावित होते हैं। इसीलिये पहाड़ों पर वायु का दाब समुद्र तट के दाब से कम होने के कारण वायु का आयतन बढ़ जाता है। वह फैल जाती है। फलस्वरूप वायु का घनत्व कम हो जाता है।

उपरोक्त नियमों से सिद्ध है कि किसी स्थान की वायु का संगठन उस स्थान पर वायु के दाब तथा तापमान दोनों पर निर्भर करता है, यदि इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन होता है तो वायु के आयतन में परिवर्तन हो जाता है। तदनुसार वायु के घनत्व में भी परिवर्तन हो जाता है।

वायु दाब में परिवर्तन का प्रभाव

समुद्र तल तथा समान ऊँचाई वाले स्थानों पर वायु का दाब 760 मि० मी०, (पारद) होता है। इस वायु के दाब को एक वायुमण्डलीय दाब (atmospheric pressure) कहते हैं। मनुष्य इस वायु दाब पर रहने का अभ्यस्त हो गया

है । शरीर की समस्त क्रियाएँ इस दाब पर स्वाभाविक रूप से होती रहती हैं । समुद्र तल से ऊँचे स्थानों पर वायुमण्डल का दाब कम तथा समुद्रतल से नीचे स्थानों पर यह दाब अधिक होता है ।

अल्प वायु दाब का प्रभाव (पर्वतीय वायु)—16000 फुट की ऊँचाई पर वायु मण्डल का दाब समुद्रतल के दाब का आधा रह जाता है तथा 1,00,000 फीट की ऊँचाई पर तो वायुमण्डल का दाब 10 मिलीमीटर (पारद) से भी कम हो जाता है । समुद्रतल से हम जितनी अधिक ऊँचाई पर जाते हैं, वायु का घनत्व कम होता चला जाता है तथा उसमें उपस्थित ऑक्सीज़न का दाब भी कम होता जाता है । यद्यपि वायु में नाइट्रोजन का दाब भी उसी अनुपात में कम होता है परन्तु हमारे शरीर में ऑक्सीजन का ही उपयोग शारीरिक ऑक्सीकरण क्रियाओं के लिये होता है । अतः हम उसी का यहाँ जिक्र कर रहे हैं । शरीर में ऑक्सीजन को मुख्य रूप से लोहित कोशिकाओं (R.B.C.) में उपस्थित हीमोग्लोबिन ग्रहण करता है । वायु में ऑक्सीजन की कमी होने से रक्त की लोहित कोशिकाओं को आवश्यक मात्रा में ऑक्सीजन उपलब्ध नहीं होती है इस कारण शरीर की कोशिकाओं को आवश्यक मात्रा में ऑक्सीजन प्राप्त नहीं होती है । इस कमी को प्रकृति रक्त में लोहित कोशिकाओं की संख्या में वृद्धि कर पूरा करने की चेष्टा करती है ।

ऊँचाई पर जाने से वायु का घनत्व कम हो जाने से तथा उसमें उपस्थित ऑक्सीजन के दाब में भी कमी हो जाने से मनुष्यों में निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं—

(१) श्वसन गति बढ़ जाती है, (२) रक्त में लोहित कोशिकाओं की संख्या में वृद्धि हो जाती है, (३) अतः हीमोग्लोबिन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है । (४) हृद् निकास (Cardiac Output) में वृद्धि हो जाती है ।

यदि व्यक्ति अधिक ऊँचाई पर रहने का आदी नहीं है और ऑक्सीजन संयन्त्र का उपयोग भी नहीं कर रहा होता है तो उसमें निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—सिर दर्द (headache), अनिद्रा (insomnia), श्वास लेने से जल्दी थकावट (breathlessness), उत्क्लेश (nausea), वमन (vomiting), अरुचि (anorexia), क्षीण दृष्टि (impaired vision), तथा स्मृति में हानि । अधिक गम्भीर स्थिति में अंगघात (paralysis), सन्यास (coma) तथा मृत्यु तक हो सकती है ।

रक्त में ऑक्सीजन की कमी (hypoxia-अल्प ऑक्सीयता) के कारण शरीर की जैवरासायनिक (biochemical) क्रियाओं में तथा हॉर्मोनों की क्रियाओं में बाधा पड़ती है । इससे क्रियाओं का संतुलन बिगड़ जाता है जिससे उपरोक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

अधिक वायु दाब का प्रभाव—समुद्र तल से नीचे जाने पर प्रत्येक 33 फीट नीचे जाने पर एक वायुमण्डल का दाब बढ़ जाता है । अभी तक मनुष्य

खानों (mines) में 10 वायुमण्डल दाब तक कार्य करने के लिये पहुँच सका है। जब मनुष्य अधिक दाब में होता है तो वह अधिक घनत्व वाले वायुमण्डल से घिर जाता है। ऐसे वायुमण्डल में नाइट्रोजन, ऑक्सीजन तथा कार्बन डाई ऑक्साइड गैसें अधिक मात्रा में होती हैं अतः अधिक गैसीय दाब होने के कारण ये अधिक मात्रा में रक्त में प्रवेश पा जाती हैं। (1) नाइट्रोजन की रक्त में अधिक मात्रा पहुँच जाने से वह शरीर पर स्वापक (narcotic) प्रभाव डालती है, जिस कारण मानसिक क्रियाओं में बाधा उत्पन्न हो जाती है और अचेतन्यता तक हो जाती है। (2) कार्बन डाई ऑक्साइड के अधिक होने से नाइट्रोजन की क्रिया को और अधिक बल मिलता है। (3) ऑक्सीजन की अधिकता के कारण आक्षेप (convulsions) तथा मृत्यु हो जाती है। यदि ऐसे व्यक्ति को शीघ्रता से पृथ्वी तल पर ले जाया जाता है तो उस दशा में शीघ्रता से दाब में कमी आने के कारण रक्त में अधिक घुली ये गैसें रक्त से शीघ्रता से निकलती हैं जिससे वायु अन्तः शल्यता (air embolism) उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। यह दशा भी मारक प्रभाव डालती है। अतः ऐसे व्यक्ति तो पृथ्वी तल पर सीधे नहीं लाकर बीच में रुकते हुए लाना चाहिये।

25,000 हजार से ऊँचे पहाड़ों पर जाते समय तथा पृथ्वी तल से नीचे जाते समय बिना उपयुक्त श्वसन संयन्त्र के नहीं जाना चाहिए।

वायु के तापमान में परिवर्तन का प्रभाव

दिन रात्रि के 24 घण्टों में वायु के तापमान में अन्तर रहता है। ऋतुओं के परिवर्तन के कारण भी तापमान में भिन्नता रहती है। सामान्यतः तापमान को प्रभावित करने वाले कारण हैं—स्थान विशेष का (१) अक्षांश (२) समुद्रतल से ऊँचाई (३) वायु के चलने की दिशा तथा (४) समुद्र से दूरी।

भूमि तल का तापमान सदैव वायु के तापमान से अधिक रहता है। वायु के तापमान के मापन के लिए थर्मामीटरों का प्रयोग करते हैं। अधिकांश थर्मामीटरों में पारद भरा रहता है, क्योंकि पारद का क्वथनांक (boiling point) अति उच्च होता है। ऊष्मा पाकर ताप बढ़ने पर वह समान गति से फैलता है तथा सरलता से पढ़ा जा सकता है। एल्कोहल वाले थर्मामीटरों को भी व्यवहार में लाया जाता है। एल्कोहल में एक विशेष गुण होता है कि यह निम्नतम तापमान पर भी जमता नहीं है। किसी भी थर्मामीटर का प्रयोग क्यों न किया जाये, ध्यान देने की बात यह है कि (१) थर्मामीटर के बल्ब को वायु का स्पर्श स्वतन्त्रतापूर्वक मिलते रहना चाहिये तथा (२) थर्मामीटर को विकरणी (radiant) ऊष्मा से बचाये रखना चाहिये।

काटा थर्मामीटर—वर्तमान में इस कार्य के लिए काटा (Kata) थर्मामीटर अधिक प्रयोग किया जाता है। 'काटा' ग्रीक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'अधः' 'अव' (down)। इस थर्मामीटर में एल्कोहल भरी रहती है। नीचे का बल्ब 4·0 सेन्टीमीटर लम्बा तथा 1·8 सेन्टीमीटर व्यास में होता है। थर्मामीटर पर

100°F तथा 95°F दो चिन्ह बने रहते हैं। थर्मामीटर के अन्दर की केशिका (capillary) ऊपर जाकर चौड़ी हो जाती है। ऐसे दो थर्मामीटरों को एक साथ काम में लाते हैं। दोनों थर्मामीटरों के बल्ब को काम में लाने से पूर्व 150°F के गर्म जल में डुबो देते हैं। केशिका द्वारा एल्कोहल ऊपर के चौड़े भाग में पहुँच जाता है उस समय दोनों थर्मामीटरों को जल से निकाल लेते हैं। दोनों के बल्बों को कपड़े से पोंछ लेते हैं तथा फिर एक बल्ब के ऊपर मलमल के कपड़े को गीला कर बांध देते हैं। इसको आर्द (wet) थर्मामीटर कहते हैं तथा दूसरे को शुष्क (dry) थर्मामीटर कहते हैं। दोनों थर्मामीटरों को वायु में लटका देते हैं तथा 100°F तापमान से 95°F तक एल्कोहल के पहुँचने के समय को लिख लेते हैं। यह अन्तर कुछ सेकण्ड का ही होता है। इसके लिए स्टाप वाच (Stop watch) इस्तेमाल करते हैं। इस प्रकार चार बार पाठ्यांक (readings) लेते हैं। पहिले पाठ्यांक को छोड़ देते हैं तथा दूसरे से चौथे पाठ्यांकों का माध्य (average) निकाल लेते हैं। प्रत्येक काटा थर्मामीटर पर उसका 'कारक' (factor) लिखा रहता है। 5° तापमान गिरने में जितने सेकण्ड आते हैं उस संख्या से इस कारक को भाग दे देते हैं। इस प्रकार दोनों थर्मामीटरों का परिणाम ले लिया जाता है। जो परिणाम आया वह वायु के ठण्डे होने की 'मिलीकैलोरी' में 'प्रति वर्ग सेन्टीमीटर प्रति सेकेण्ड' दर होती है। अर्थात् 'इतनी मिली कैलोरी ऊष्मा प्रति वर्ग सेन्टीमीटर प्रति सेकेण्ड नष्ट हुई' यह परिणाम निकलता है। सुख-दायक वायु के लिए शुष्क काटा थर्मामीटर में परिणाम 5-6 मिलीकैलोरी तथा आर्द में 16 से 18 मिली कैलोरी होता है। यदि कमरे की वायु ठण्डी है तो यह परिणाम 8 और 22 मिली कैलोरी क्रमशः दोनों थर्मामीटरों द्वारा आता है। गर्म एवं आर्द्र वायु में यह परिणाम क्रमशः 4 और 16 मिली कैलोरी के लगभग होता है।
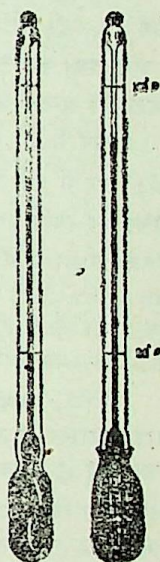
काटा थर्मामीटर

संसार के विभिन्न स्थानों पर प्राकृतिक तापमान का माध्य (average) भिन्न-भिन्न होता है। इस दृष्टि से काटा थर्मामीटरों में 5 डिग्री का अन्तर विभिन्न तापक्रमों के मध्य दर्शाये जाने के लिए इन्हें तीन प्रकार का बनाया जाता है—(१) प्रमाणिक (Standard) काटा थर्मामीटर जिसमें 100°F और 95°F तापमान अंकित होता है इसमें भरी एल्कोहल को लाल वर्ण का कर देते हैं। (२) गर्म स्थानों के लिये थर्मामीटर पर 130°F और 125°F अंकित होते हैं। इसमें भरी एल्कोहल नीले वर्ण की होती है। तथा (३) अति उष्ण स्थानों के लिए इन पर चिन्ह 150°F

और 145°F अंकित होते हैं। इसमें एल्कोहल का वर्ण गुलाबी और लाल के मध्य का मजैन्टा (magenta) वर्ण का होता है।

वायु के तापमान का स्वास्थ्य पर प्रभाव

अधिक उच्च तापमान का प्रभाव—

(१) **आतप श्रान्ति** (heat exhaustion)—जब व्यक्ति तेज धूप में अथवा आग की भट्टी आदि के सामने देर तक लगातार काम करता है तो स्वेद द्वारा शरीर से जल तथा क्लोराइड (नमक) का अंश निकल जाने से शरीर के रासायनिक संगठन में अन्तर आ जाता है। जल की कमी के कारण रक्त संवहन धीमा हो जाता है। शरीर में जो लक्षण प्रकट होते हैं वे हैं—(i) चक्कर आना (dizziness), (ii) सिर में दर्द तथा दुर्बलता का अनुभव करना, (iii) क्लान्ति (fatigue), (iv) त्वचा का ठण्डा तथा चिपचिपा होना तथा (v) शरीर के तापमान का सामान्य अथवा सामान्य से कम होना। स्थिति गम्भीर होने पर शरीर के निर्जलीकरण (dehydration) होने के कारण व्यक्ति निपात (collapse) कर जाता है तथा मूर्च्छा आ जाती है। ऐसे व्यक्ति को आराम देना चाहिए तथा नमक मिश्रित (saline) जल तथा हृदय उद्दीपक औषधियाँ देनी चाहियें।

(२) **ऊष्माघात** (Heat stroke) **एवं धर्माघात** (Sun stroke **लू लगना**)—आपत श्रान्ति से ऊष्माघात तथा धर्माघात अधिक गम्भीर होता है। उच्च तापमान तथा वायु में उच्च आर्द्रता (humidity) के वातावरण में शरीर से ऊष्मा का निष्कासन विकिरण (radiation) तथा वाष्पीकरण (evaporation) द्वारा होना रुक जाता है। इससे शरीर में ऊष्मा के एकत्रित हो जाने से शरीर का तापमान बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति सीधे धूप में रहता है तो स्थिति और बिगड़ जाती है यथा—

(i) शरीर का तापमान 110°F तक पहुँच जाता है, (ii) त्वचा गर्म तथा शुष्क हो जाती है, (iii) स्वेद निकलना बन्द हो जाता है, (iv) सिर दर्द के साथ जड़िमा (stupor) अथवा प्रलाप (derilium) हो जाता है, (v) नाड़ी की गति बढ़ जाती है तथा (vi) रक्त दाब बढ़ जाता है।

शरीर का तापमान बहुत अधिक होने के कारण मस्तिष्क की कोशिकाओं को क्षति पहुँच सकती है। अतः ऐसे व्यक्ति का तापमान शीघ्र ही कम करने के उपाय करने चाहिए। तुरन्त ठण्डे जल से स्नान करा देना चाहिये। बर्फ के ठण्डे जल की वस्ति (एनीमा enema) देना चाहिए तथा अन्य उपयुक्त चिकित्सा सम्बन्धी उपाय करने चाहिए।

(३) **ऊष्मी उद्वेष्ट** (Heat cramps, **ऐंठन**)—जो व्यक्ति उच्च तापमान तथा उच्च आर्द्रता में शारीरिक परिश्रम करते हैं उनकी मांसपेशियाँ उद्वेष्ट (ऐंठन) कर संकोच (spasmodic contraction) कर जाती हैं। इस कारण उस व्यक्ति को अति पीड़ा होती है। इस उद्वेष्टन का कारण रक्त में क्लोराइड की न्यूनता का हो जाना होता है इसलिए तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

(४) **ऊष्मा संलक्षण** (Heat syndrome)—जब कोई व्यक्ति धूप में बहुत देर तक खड़ा रहता है तो रक्त के नीचे के अंगों में रुक जाने से वह पीला पड़ जाता है। हृदय को रक्त कम पहुँचने के कारण रक्त दाब कम हो जाता है। मस्तिष्क को रक्त कम पहुँचने के कारण कुछ देर बाद वह निपात (collapse) कर जाता है। सैनिकों को इस प्रकार गिरते हुए बहुधा देखा जाता है। इस दशा में उस व्यक्ति को छाया में पैर ऊँचे तथा सिर नीचा करके लिटा देना चाहिए। 5–10 मिनिट में व्यक्ति सामान्य हो जाता है।

वायु के उच्च तापमान से बचने के उपाय—(१) जो व्यक्ति उच्च तापमान तथा उच्च आर्द्रता में कार्य करते हैं उन्हें थोड़े-थोड़े अन्तर के पश्चात् ठण्डा पानी पीते रहना चाहिए। अधिक परिश्रम करने वाले को कम से कम एक लीटर प्रति घण्टा तथा कम परिश्रम करने वाले को उससे कम जल लेते रहना चाहिए। (२) सामान्यतः हम भारतीयों के भोजन में नमक का काफी अंश रहता है अतः नमक की शरीर में बहुधा कमी नहीं होती है फिर भी जल में न्यून मात्रा में नमक डालकर लेना चाहिए। (३) लगातार बहुत समय तक कार्य नहीं करते रहना चाहिए। कुछ घण्टों के कार्य के पश्चात् कुछ समय के लिए उच्च ताप वाले स्थान से हट जाना चाहिए। (४) ढीले हल्के रंग के वस्त्र धारण करने चाहिए। (५) नेत्रों को तथा सिर को सीधे उच्च ताप से बचाना चाहिए। इसके लिए नेत्रों पर धूप का चश्मा तथा सिर पर टोपी, हैट, साफा अथवा कोई वस्त्र धारण करना चाहिए। (६) उच्च तापमान तथा उच्च आर्द्रता वाले कार्य के स्थान पर संवातन (ventilation) का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये।

वायु के निम्न तापमान से हानियाँ—अति निम्न तापमान में अधिक समय तक रहने से पैर में शून्यता, शरीर में ठिठुरन, स्पर्श ज्ञान का अभाव, पेशीय दुर्बलता, निद्रा की इच्छा, हिमोपहति (हिमदाह frost bite), सन्यास (coma) तथा मृत्यु हो सकती है।

आर्द्रता (Humidity)

ऊपर हमने अनेक बार आर्द्रता शब्द का व्यवहार किया है। अतः संक्षेप में आर्द्रता के विषय में बताया जा रहा है।

0°F तापमान पर वायु में अधिकतम 0·5 ग्रेन जल वाष्प समा सकती है परन्तु 98°F तापमान पर यह मात्रा 18·7 ग्रेन हो जाती है। इसका अर्थ हुआ कि अधिक तापमान पर वायु अधिक जल वाष्प को अपने में रख सकती है। जब वायु अधिक तापमान से कम तापमान पर जाती है तो अधिक समाई हुई जल वाष्प पुनः जल के रूप में पृथक् हो जाती है। इसे ही हम ओस कहते हैं। वायु में जलवाष्प के रहने को आर्द्रता (humidity) कहते हैं। इसका मापन दो प्रकार से करते हैं।

निरपेक्ष आर्द्रता (absolute humidity)—एक घन फुट वायु में जितने ग्रेन जल वाष्प होती है वह निरपेक्ष आर्द्रता कहलाती है।

आपेक्षिक आर्द्रता (relative humidity)—किसी भी एक तापमान पर जल वाष्प से संतृप्त वायु की आर्द्रता को 100 (शत प्रतिशत) मान लिया गया है। जल वाष्प की इस संतृप्त मात्रा तथा उस तापमान पर जितनी वास्तव में जल वाष्प मात्रा है, के अनुपात को प्रतिशत में कहते हैं। यह आपेक्षिक आर्द्रता है। उच्च आर्द्रता वाली वायु में जलवाष्प की मात्रा अधिक होती है। ग्रीष्म ऋतु की वायु में सर्दियों की अपेक्षा आर्द्रता उच्च स्तर पर होती है।

गति के अनुसार वायु के नाम—जब वायु की गति 3 मील प्रति घण्टा तक होती है तो उसे मन्द वायु (light air) कहते हैं। 4 से 7 मील प्रतिघण्टा की गति वाली वायु को मन्द समीर (light breeze) कहते हैं। 25 से 31 मील प्रति घण्टे चलने वाली वायु को प्रबल समीर (strong breeze), 32 से 63 मील प्रति घण्टा चलने वाली वायु को झंझा (आंधी, gale), 64 से 72 मील प्रति घण्टा चलने वाली वायु को तूफान (झंझावात storm) तथा 73 से 136 मील प्रति घण्टा चलने वाली तेज वायु को तेज तूफान (प्रभंजन, hurricane) तथा यदि चक्रवात है तो चक्रवाती तूफान (cyclone) कहते हैं।

वायु की अशुद्धि के कारण—जैसा हम प्रारम्भ में कह आये हैं कि शुद्ध वायु के संगठन में केवल नाइट्रोजन तथा ऑक्सीजन ही होती है, शेष कार्बन डाइ ऑक्साइड आदि तो अशुद्धि के रूप में वायु में मिल जाती हैं। इन अशुद्धियों के कारण निम्नलिखित हैं।

(१) श्वसन (respiration), (२) दहन (combustion), (३) जैव कार्बनिक (organic) पदार्थों का अपघटन (decomposition), (४) औद्योगिक संस्थानों से निकले गैसीय, वाष्पीय, धुवाँ आदि पदार्थ, (५) धूल के कण आदि।

(१) श्वसन (respiration)—प्रत्येक प्राणी में श्वसन क्रिया होती है। पेड़ पौधे दिन में वायु से कार्बन डाई ऑक्साइड ग्रहण करते हैं, इससे उनमें क्लोरोफिल का निर्माण होता है, परन्तु रात्रि में उनके द्वारा ऑक्सीजन का ग्रहण तथा कार्बन डाई ऑक्साइड का निष्कासन होता है। इसलिए रात्रि में वृक्ष के नीचे सोने से व्यक्ति को पूर्ण ऑक्सीजन की प्राप्ति नहीं होती है। वनस्पति वर्ग के अतिरिक्त अन्य सब प्राणी श्वसन क्रिया द्वारा ऑक्सीजन को ग्रहण करते हैं तथा कार्बन डाई ऑक्साइड निःश्वसित वायु द्वारा निकालते हैं। वयस्क मनुष्य सामान्यतः प्रत्येक प्रश्वसन (inspiration) द्वारा 500 मि०ली० वायु को फुफ्फुसों में लेता है। इस वायु में लगभग 21% ऑक्सीजन होती है इसमें 5% का शरीर उपयोग करता है और शेष 16% निःश्वसित (expired) वायु में निकाल देता है। प्रश्वसित वायु में 0·04% कार्बन डाई ऑक्साइड होती है, निःश्वसित वायु में यह बढ़कर लगभग 4%—5%

हो जाती है। मनुष्य एक मिनट में 18 बार श्वसन क्रिया करता है। 5% की कार्बन डाई आक्साइड की यह बड़ी मात्रा बाहर वायु के विशाल समुद्र में पहुँच कर केवल 0·04% रह जाती है।

कार्बन डाई ऑक्साइड का वायु में प्रतिशत 0·04% से बढ़कर केवल 0·06% यदि हो जाता है तो हमारे ऊपर उसका बड़ा ही अस्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ता है। उस समय निद्रालुता (drowsiness), सिर में दर्द, उत्क्लेश (nausea), वमन आदि लक्षण मनुष्य में प्रकट हो जाते हैं। इसी कारण बन्द कमरे में बहुत से मनुष्यों के एक साथ एकत्रित हो जाने पर, अनेक व्यक्तियों की दशा ऐसी हो जाती है। यदि कमरे में वायु के आदान-प्रदान के साधन यथा दरवाजे, खिड़कियाँ आदि खुली हुई हैं तब ऐसा नहीं होता है क्योंकि कमरे की वायु बाहर निकलती रहती है और बाहर की वायु कमरे में आती रहती है।

कार्बन डाइ ऑक्साइड के अतिरिक्त निःश्वास के द्वारा लगभग 6% जल वाष्प निःश्वसित वायु में मिल जाती है। स्वेद द्वारा भी जल शरीर से निकल वाष्प रूप धारण कर वायु में मिलता रहता है। जलाशयों से भी जल सूर्य ताप के कारण वाष्प रूप में परिणत हो वायु मे पहुँचता रहता है।

यदि मनुष्य इन्फ्लुएंजा, न्यूमोनिया, डिफ्थीरिया (रोहिणी), ट्यूबरकुलोसिस (यक्ष्मा, क्षय) आदि संक्रामक रोगों से ग्रसित है तो उसके छींकने, खांसने, थूकने से इन रोगों के जीवाणु, वाइरस आदि बाहर निकल कर वायु में मिल जाते हैं। बात-चीत करते समय इन व्यक्तियों के मुख से ये निकलकर 1·5 मीटर (4·5 फिट) तक चले जाते हैं। यदि वह व्यक्ति जोर से बोलता है तो ये जीवाणु आदि 3 मीटर (10 फिट) दूर तक जा सकते हैं। क्षय रोगी के थूक में जीवाणु होते हैं। जब थूक सूख जाता है ये जीवाणु वायु में पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार चेचक के रोगी के शरीर पर चेचक के दानों के सूख जाने पर उसकी पपड़ी वायु में चेचक के वाइरसों को पहुँचा देती है। चेचक रोग अब संसार से विदा हो गया है।

(२) **दहन** (combustion)—शरीर के समान वाह्य जगत में भी किसी पदार्थ के दहन में वायु की ऑक्सीजन काम में आ जाती है और परिणामस्वरूप कार्बन डाइ ऑक्साइड की उत्पत्ति होती है चाहे फिर जलने वाला पदार्थ लकड़ी, कोयला, गैस या कोई अन्य पदार्थ क्यों न हो। श्वसन क्रिया के अतिरिक्त, इस प्रकार, दहन क्रिया से भी कार्बनडाइऑक्साइड वायु में निरन्तर पहुँचती रहती है। यदि दहन की क्रिया के लिए पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन उपलब्ध नहीं होती है तो कार्बन डाई ऑक्साइड के स्थान पर कार्बन मोनो ऑक्साइड (CO) उत्पन्न होकर वायु में पहुँच जाती है। कार्बन डाइ ऑक्साइड जब किसी तेज आग के ऊपर से निकलती है तब भी उसका अधिकांश भाग कार्बन मोनो ऑक्साइड में परिवर्तित हो जाता है। ($CO_2+C=2CO$)। वायु में कार्बन मोनो ऑक्साइड की 0·4% उपस्थिति भी मनुष्य पर मारक प्रभाव डालती है। बन्द कमरों आदि में कोयले की

अंगीठी अथवा अन्य प्रकार से आग जलाने से इसी कारण मृत्यु हो जाती है। रक्त की लोहित कोशिकाओं में उपस्थित हीमोग्लोबिन से ऑक्सीजन अथवा कार्बन डाइ ऑक्साइड जब संयोग करते हैं तो वह संयोग अस्थायी होता है। ऊतकों (tissues) में पहुँचकर ऑक्सीजन इस संयोग से सरलता से हटाकर ऊतकों में प्रवेश कर जाती है तथा ऊतकों से कार्बन डाइ ऑक्साइड निकल कर हीमोग्लोबिन से संयोग कर जाता है। फुफ्फुसों में पहुंच कर यह क्रिया विपरीत रूप से होती है। परन्तु कार्बन मोनो ऑक्साइड का हीमोग्लोबिन से संयोग स्थायी होता है। फुफ्फुसों में वायु से निकल कर कार्बन मोनो ऑक्साइड हीमोग्लोबिन से दृढ़ संयोग कर लेता है। परिणामस्वरूप हीमोग्लोबिन द्वारा वायु से ऑक्सीजन के ग्रहण करने में बाधा पड़ जाती है। इस कारण ऐसे व्यक्ति ऑक्सीजन के अभाव में संज्ञाहीन हो मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

लकड़ी और कोयला यदि भली भाँति नहीं जलते हैं तो उनमें से सफेद, पीला और काला धुआँ निकला करता है। काले धुएँ की अपेक्षा सफेद तथा पीला धुआँ अधिक हानिकर होता है। इन धुओं में काले धुएँ की अपेक्षा टार (Tar) तथा सल्फर डाइ ऑक्साइड की मात्रा अधिक होती है।

(३) **जैव पदार्थों का अपघटन** (decomposition)—मरे हुए पशु, पक्षी, मनुष्य अथवा वनस्पति के सड़ने से कुछ विषैली गैसें भी निकलती हैं यथा कार्बन डाइ ऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड, कार्बन डाई सल्फाइड, अमोनिया, मीथेन आदि। नालियों, चौबच्चों, सीवर आदि तथा पशुशालाओं के कूड़े से भी ये गैसें निकलती हैं। जिन कुंओं से पानी निकालना बन्द कर दिया जाता है, कुछ समय पश्चात् उनमें हाइड्रोजन सल्फाइड गैस एकत्रित हो जाती है। यह गैस अत्यन्त विषैली होती है। इसकी वायु में केवल 0·1% मात्रा शरीर पर विषैले प्रभाव के लक्षण प्रकट करने में समर्थ होती है। 0·2% में मनुष्य संज्ञाहीन हो जाता है तथा 0·3% में मृत्यु हो जाती है। यही कारण है कि ऐसे कुंओं अथवा बन्द सीवरों में उतरने पर मनुष्यों की मृत्यु हो जाती है। जहाँ पर मरे हुए जानवरों की खालें एकत्रित रहती हैं अथवा चीनी मिलों के शीरे के एकत्रित स्थानों पर भी यह गैस अधिक होती है। ऐसी वायु में जीवाणु (bacteria), कवक (फंजाई fungi), फफूंदी (moulds) आदि अधिक वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

(४) **औद्योगिक संस्थान आदि**--कारखानों और विशेषकर रासायनिक कारखानों द्वारा अनेक प्रकार की गैसें, जो उन संस्थानों में पदार्थों के बनते समय उत्पन्न होती हैं, वायुमण्डल में पहुँचकर उसे दूषित करती हैं। इनमें मुख्य गैसें हैं कार्बनडाइ-ऑक्साइड, कार्बन मोनो ऑक्साइड, सल्फर डाइ ऑक्साइड, नाइट्रोजन के ऑक्साइड तथा अन्य अनेक कार्बनिक एवं अकार्बनिक गैसें तथा वाष्प। ये गैसें स्वास्थ्य पर अहित कर प्रभाव डालती हैं। नेत्र, नासिका फुफ्फुस आदि में तुरन्त क्षोभ (irritation) उत्पन्न करती हैं।

डीजल अथवा पैट्रोल से चलने वाले यन्त्रों तथा वाहनों से भी हानिकर गैसों की उत्पत्ति होती है। इनसे निकलने वाले हानिकर आर्सनिक, टार, सीसा (lead), फल्फर डाई ऑक्साइड, कार्बन डाई ऑक्साइड, कार्बन मोनो ऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, कार्बोनिक सल्फाइड, एल्डीहाइड तथा केन्सर उत्पादक तत्व बेन्जोपाइ-रीन आदि रासायनिक पदार्थ होते हैं। इनका प्रभाव शरीर के स्वास्थ्य के लिये अति अस्वास्थ्यकर होता है।

धूल में कार्बनिक तथा अकार्बनिक पदार्थों के कण, जीवाणु आदि होते हैं। अकार्बनिक कणों में रेत, धूल के कण, एल्यूमीनियम सिलीकेट, कैल्शियम-मैगनेशियम-सोडियम के फॉस्फेट, कार्बोनेट, क्लोराइड आदि के कण तथा कार्बन आदि होते हैं। ये कण उन औद्योगिक संस्थानों की देन होते हैं, जो उस क्षेत्र में कार्यरत रहते हैं। इनके अतिरिक्त ऊन, रूई आदि के रेशे भी धूल में रहते हैं जो रूई और ऊन के वस्त्रों आदि से प्राप्त होते हैं।

वायु के इन दूषणों (pollution) का प्रभाव केवल मनुष्य अथवा अन्य प्राणियों पर ही नहीं पड़ता है वरन् वनस्पति और यहाँ तक कि मकान आदि भी प्रभावित होते हैं।

वायु की शुद्धि के प्राकृतिक साधन

(१) वायु की गति—वायु के चलने से एक स्थान की अशुद्धियाँ अन्य स्थानों पर फैल जाती हैं, जिससे अशुद्धियों का प्रतिशत अंश कम हो जाता है। इसी कारण निःश्वसित वायु में कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा यद्यपि 5% होती है परन्तु वायु में उसका प्रतिशत सामान्यतः 0·04% ही रहता है। जितनी तेज वायु की गति होती है उतनी शीघ्रता से एक स्थान की अशुद्धियाँ उस स्थान से हट-कर चारों ओर फैल जाती हैं।

(२) सूर्य प्रकाश—सूर्य के प्रकाश में जीवाणुओं को नष्ट करने की शक्ति होती है। सूर्य की किरणें वायुमण्डल में प्रवेश कर वायु में उपस्थित जीवाणुओं को नष्ट कर देती हैं। इस क्रिया में परावैंगनी किरणें (Ultra violet rays) विशेष योगदान देती हैं। सूर्य ताप के द्वारा अनेक हानिकर गैसों का विच्छेदन भी हो जाता है।

(३) वृक्ष पौधे आदि—दिन में वृक्ष पौधे आदि वायु से कार्बन डाइ ऑक्साइड को ग्रहण कर लेते हैं और ऑक्सीजन को वायु में छोड़ते हैं। इस प्रकार वायु मे कार्बन डाइ ऑक्साइड का प्रतिशत कम होता रहता है। यदि हमारे यहाँ वृक्ष आदि न होते तो वायु में कार्बन डाइ ऑक्साइड की अधिकता के कारण जीवन खतरे में पड़ सकता था।

(४) ओजोन की क्रिया—वायु मे कुछ अंश ओजोन (O_3) का रहता है। इसके एक अणु में ऑक्सीजन के दो परमाणुओं के स्थान पर तीन परमाणु संयोग किये रहते हैं। अतः ओजोन की [illegible] ऑक्सीजन (O_2) से

अधिक होती है। यह गैस कार्बनिक पदार्थों का शीघ्रता से ऑक्सीकरण कर देती है जिससे हानिकर गैसें नष्ट हो जाती हैं। वर्षा ऋतु में बादलों के घर्षण से उत्पन्न विद्युत के कारण ओजोन का निर्माण अधिक होता है।

(५) गैसीय विसरण (diffusion)—वायु में नाइट्रोजन और ऑक्सीजन गैसें तो सदैव रहती ही हैं परन्तु जैसा पहले कह आये हैं कार्बन डाई ऑक्साइड आदि गैसें अशुद्धि के रूप में उसमें सम्मिलित हो जाती हैं। ये गैसें अपने घनत्व के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान को विसरित होती रहती हैं। इस सम्बन्ध में ग्राहम ने एक प्राकृतिक नियम ज्ञात किया जिसके अनुसार भारी गैसें देर से और हल्की गैसें शीघ्र विसरित हो जाया करती हैं। गैसों के अणुओं में परस्पर किसी प्रकार का आकर्षण नहीं हुआ करता है। ताप पाकर गैस का आयतन शीघ्रता से बढ़ जाया करता है। आयतन के बढ़ जाने से घनत्व का कम हो जाना स्वाभाविक है अतः तापमान के अन्तर के कारण गैसें उष्णता पाकर हल्की होकर अपने स्थान से विसरित कर जाती हैं। उनके द्वारा हुए रिक्त स्थान को भरने के लिए अधिक घनत्व वाली गैसें आ जाती हैं। इसलिए किसी कमरे के अन्दर की वायु गर्मी पाकर फैल जाती है उसका घनत्व कम हो जाता है और वह ऊपर उठकर कमरे से रोशनदानों द्वारा बाहर चली जाती है और उसके स्थान पर बाहर से ठण्डी वायु आ जाती है।

(६) वर्षा—वर्षा ऋतु में वर्षा का जल वायुमण्डल से होकर पृथ्वी पर गिरता है। यह जल वायु में निलम्बित धूल आदि के कणों को तो अपने साथ पृथ्वी पर गिरा देता है साथ ही अनेक जल में घुलनशील गैसें यथा अमोनिया आदि भी इसमें घुलकर वायुमण्डल से पृथक हो जाती हैं।

इन कारणों से वायु की अशुद्धियाँ नष्ट होती रहती हैं अथवा एक स्थान पर एकत्रित नहीं रहती हैं। ये प्राकृतिक क्रियायें बिना रुके सदैव होती रहती हैं।

संवातन (Ventilation)

संवातन की आवश्यकता—जब मनुष्य किसी शारीरिक परिश्रम के कार्य को नहीं कर रहा होता है तो वह निःश्वसित वायु द्वारा 0·6 घन फीट कार्बन डाई ऑक्साइड प्रति घण्टा निकालता है। यह मात्रा वायु में 0·0002 घन फीट अशुद्धि के रूप में सम्मिलित हो जाती है। अतः श्वसन के लिए एक व्यक्ति को $0{\cdot}6 \div 0{\cdot}0002 = 3000$ घन फीट वायु की प्रति घण्टा आवश्यकता होती है। परिश्रम के समय निःश्वसित वायु द्वारा 0·6 घन फीट के स्थान पर 2·0 घन फीट तक कार्बन डाइ ऑक्साइड का निष्कासन हो सकता है। उस समय प्रत्येक घण्टे में अधिक वायु की आवश्यकता होती है। हम केवल सामान्य स्थिति की चर्चा कर रहे हैं। अतः यदि किसी स्थान पर वायु की गति अति मन्द है तो 3000 घन फीट स्थान प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये और प्रति घण्टा वायु का परिवर्तन होते रहना भी आवश्यक है। यदि वायु का आर-पार आना जाना हो रहा है तो फिर इतने

बड़े स्थान की आवश्यकता नहीं रहती है, कम स्थान से भी काम चल जाता है। शरद काल में 1000-1200 घन फीट स्थान से काम चल जाता है। घन फीट ज्ञात करने के लिये, मकान की छत की ऊँचाई कितनी भी अधिक क्यों न हो, 10-12 फीट से अधिक ऊँचाई को मापन में नहीं लिया जाता है, क्योंकि निःश्वसित वायु की अशुद्धियाँ इस ऊँचाई से ऊपर एकत्रित नहीं होती हैं। उस दशा में वे ठण्डी होकर नीचे की वायु में आ जाती हैं।

यदि किसी स्थान की वायु सामान्यतः एक घण्टे में दस बार परिवर्तित होती है तो प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम स्थान निम्न प्रकार से आवश्यक होता है :—

प्रति स्वस्थ व्यक्ति	300 घन फीट	(8·5 घन मीटर)
प्रति सैनिक	600 ,, ,,	(17·0 ,, ,,)
चिकित्सालय में प्रति रोगी	1200 ,, ,,	(34·0 ,, ,,)
संक्रामकरोग चिकित्सालय में प्रति रोगी	2000 ,, ,,	(57·0 ,, ,,)
पाठशाला में प्रति छात्र, सर्दियों में	300 ,, ,,	(8·5 ,, ,,)
पाठशाला में प्रति छात्र, गर्मियों में	100 ,, ,,	(3·0 ,, ,,)
पशुओं के लिए प्रति पशु	1000-2000 ,, ,,	(30·60 ,, ,,)

यदि किसी वन्द स्थान यथा कमरे, हॉल आदि में वायु के आदान-प्रदान का मार्ग अति सीमित है तथा वायु गति भी मन्द है और अधिक व्यक्ति उपस्थित हैं तो वायु में रासायनिक-तथा भौतिक परिवर्तन हो जाते हैं जिसके कारण उपस्थित व्यक्तियों को अति असुविधा होती है। साधारणतः ये परिवर्तन निम्न प्रकार के होते हैं—

रासायनिक परिवर्तन—

१. वायु में कार्वन डाइ ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है।

भौतिक परिवर्तन—

१. तापमान बढ़ जाता है—जब मनुष्य किसी प्रकार का श्रम नहीं कर रहा होता है तो उसके शरीर से प्रति घण्टा 400 बी. टी. यूनिट (वृटिश थर्मल यूनिट) ताप निकलता है। शारीरिक परिश्रम की दशा में ताप का निष्कासन 4000 यूनिट तक हो जाता है (एक वृटिश थर्मल यूनिट ताप की उस मात्रा को कहते हैं जो एक पाउण्ड जल का तापमान 1°F बढ़ा दे)।

२. आर्द्रता बढ़ जाती है—प्रत्येक निःश्वसन क्रिया द्वारा प्रत्येक व्यक्ति लगभग 6% जल वाष्प वायु में छोड़ता है, जो उस स्थान की वायु को जलवाष्प के प्रति संतृप्त करने में एक कारण वन जाती है। जलवाष्प से संतृप्त वायु में स्वेद आदि का वाष्पीकरण न होने से शरीर की ऊष्णता शरीर से बाहर नहीं निकलती है और व्यक्ति बेचैनी अनुभव करता है।

३. अत्यधिक मनुष्यों के एक स्थान पर एकत्रित हो जाने से वायु की गति में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

४. शरीर की गंध से, मुख की दुर्गन्ध से, शरीर पर स्वेद के कारण, गन्दे वस्त्रों के कारण तथा 'अपान' वायु के कारण वायु दुर्गन्धित हो जाती है।

५. निःश्वसित वायु में जीवाणुओं के निकलने से वायु में इनकी संख्या बढ़ जाती है। इस प्रकार रोगजनक जीवाणुओं से रोगों के फैलने की सम्भावना बढ़ जाती है।

वायु की इन अशुद्धियों को दूर करने अथवा कम करने के लिये संवातन की आवश्यकता होती है। संवातन उस क्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा किसी स्थान की वायु निरन्तर परिवर्तित होती रहे। परवर्तन न केवल अशुद्धियों के लिए ही हो वरन् तापमान, आर्द्रता तथा जीवाणुओं को भी प्रभावित करे।

संवातन दो प्रकार का होता है।

१. प्राकृतिक (Natural) तथा २. यान्त्रिक (Mechanical) संवातन

प्राकृतिक संवातन

१. वायु (The Wind)—प्राकृतिक संवातन में वायु अति सहायक होती है। जब वायु किसी कमरे आदि में होकर बहती है तो अपने साथ वहाँ से वायु की अशुद्धियों को भी अपने साथ बहा ले जाती है। वायु दरवाजों, खिड़कियों अथवा जहाँ कहीं भी उसे अन्दर प्रवेश का मार्ग मिलता है उसमें होकर कमरे आदि में प्रवेश कर जाती है। यदि मार्ग में कोई रुकावट उसके सामने आती है तो वह उससे बचकर उसके चारों ओर से, जहाँ से भी मार्ग मिलता है, निकल जाती है। इस प्रकार वायु की धारा प्रवाहित होती रहती है। यदि कमरे में दरवाजे और खिड़कियाँ एक दूसरे के आमने-समाने होते हैं तो आर-पार संवातन (cross ventilation) हो जाता है। यदि दरवाजे और खिड़कियाँ एक ही ओर होती हैं तो आर-पार संवातन तो नहीं होता है परन्तु वायु का प्रवाह बना रहता है। वायु के इस प्रकार के संवातन के लिए जहाँ तक हो आरपार संवातन रखना उचित होता है। इससे कमरे की वायु की अशुद्धियाँ बड़ी शीघ्रता से बाहर बहाकर ले जायी जाती हैं। मकान के चारों ओर खुला हुआ स्थान होना भी अति लाभदायक होता है क्योंकि खुले स्थान में वायु की गति तेज होती है, वह कमरे की वायु को भी अपने साथ ले जाती है और संवातन शीघ्रता से होता है।

२. विसरण (diffusion)—कमरे के अन्दर की वायु का घनत्व बाह्य वायु के घनत्व की अपेक्षा कम होता है। अतः बाह्य वायु हर मार्ग से कमरे में प्रवेश कर कमरे की वायु का स्थान लेने की चेष्टा करती है। वायु के लिए कमरे में प्रवेश करने का मार्ग कितना ही छोटा क्यों न हो वह उसमें होकर प्रवेश कर जाती है। कमरे में प्रविष्ट वायु का आयतन वायु के निर्गम मार्ग के छोटे अथवा बड़े होने पर निर्भर करता है। यदि वायु के निकलने का (निर्गम) मार्ग बड़ा है तो विसरित संवातन की गति तीव्र होती है।

३. **तापमान** (temperature)—वायु के संगठन में उपस्थित गैसों के अणुओं का आपस में कोई आकर्षण नहीं होता है। अतः तापमान के बढ़ने से दो अणुओं के बीच का अन्तर बढ़ जाता है जिससे आयतन में वृद्धि तथा घनत्व में कमी आ जाती है। कमरे के अन्दर की वायु गर्म होकर हल्की हो जाती है, अतः ऊपर की ओर उठ जाती है। छत के निकट रोशनदान होने से वह उनके द्वारा बाहर निकल जाती है,
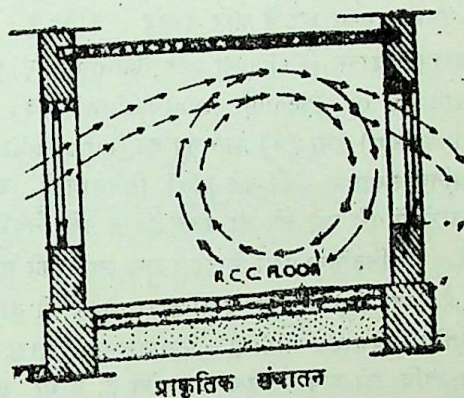
चित्र 6·2 आर-पार का संवातन

तथा कमरे के बाहर की वायु कमरे में प्रवेश कर जाती है। जब तक बाह्य वायु और कमरे के अन्दर की वायु में तापमान का इस प्रकार अन्तर रहता है यह संवातन क्रिया चलती रहती है। तापमान में जितना अधिक अन्तर होता है उतना ही तीव्रता से यह क्रिया होती है। इस विधि का लाभ उठाने के लिए छत के निकट 10-12 फिट की ऊँचाई पर रोशनदानों का होना आवश्यक है। पुराने मकानों में छत में ही छिद्र रखकर इस क्रिया के लिए मार्ग प्रशस्त करते थे। रोशनदान स्थान तथा ऋतु आदि के अनुसार विभिन्न प्रकार के बनाये जाते हैं। गर्म स्थानों पर दरवाजे और खिड़कियाँ वायु प्रवेश का कार्य करती हैं परन्तु ठन्डे स्थानों पर दरवाजे आदि बन्द रखने पड़ते हैं। वहाँ पर कमरे के तल से 6·7 फीट ऊँचाई पर वायु प्रवेश के लिए खिड़की आदि रखते हैं। दरवाजों के ऊपर इसीलिए आजकल वायु प्रवेश के लिए रोशनदान रखते हैं जिससे कि दरवाजों के बन्द होने पर वायु का प्रवेश होता रहे और ठण्डी वायु का झोंका व्यक्तियों को न लगे।

FANLIGHT
R.C.C. FLOOR
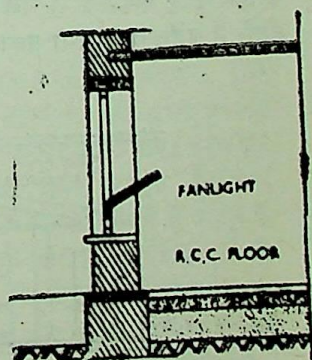
चित्र 6·3 ठण्डे स्थानों का संवातन

सामान्यतः प्राकृतिक संवातन की सुविधा सब निवास स्थलों में रखी जाती है। परन्तु

बड़े स्थानों में यथा सिनेमा घरों, सभा भवनों आदि में प्राकृतिक संवातन विधि से असुविधा होती है क्योंकि प्राकृतिक संवातन का (१) वायु की गति (२) वायु के तापमान तथा (३) वायु की आर्द्रता पर कोई नियन्त्रण नहीं होता है। उसके लिए याँत्रिक संवातन विधियाँ काम में लाई जाती हैं।

यान्त्रिक संवातन (mechanical ventilation)

यान्त्रिक संवातन मुख्य रूप से चार प्रकार से होता है।

(१) निर्वातिक संवातन (Exhaust ventilation) (२) नोदक अथवा प्लेनम संवातन (Propulsion or Plenum ventilation) (३) संतुलित संवातन (Balanced ventilation) तथा (४) वातानुकूलन (air conditioning) संवातन।

(१) निर्वातिक संवातन—बड़े-बड़े हॉलों, सिनेमाघरों, कारखानों आदि में छत के निकट दीवारों में पंखे लगे देखे जा सकते हैं। ये पंखे निर्वातिक पंखे (exhaust fans) कहलाते हैं। इन निर्वातिक पंखों के द्वारा उस स्थान की वायु बाहर की ओर निकाल दी जाती है, अतः नीचे के प्रवेश द्वारों द्वारा बाहर की वायु उस स्थान के शून्य को भरने के लिए प्रवेश कर जाती है। निर्वातिक पंखों द्वारा वायु ही नहीं वरन् धुवाँ, धूल के कण आदि, जो वायु में निलम्बित होते हैं, वे भी बाहर निकल जाते हैं। पंखे की चाल (speed) पर नियन्त्रण रहता है। उसे कम अथवा अधिक किया जा सकता है जिससे वायु के निष्कासन की गति नियन्त्रण में रहती है। परन्तु अन्दर प्रवेश करने वाली वायु पर नियन्त्रण नहीं रहता है वायु दरवाजों, खिड़कियों के अतिरिक्त अन्य दराजों आदि से प्रवेश करती है। यदि बाहर शौचालय आदि स्थित होते हैं तो दुर्गन्धित वायु भी अन्दर प्रवेश कर जाती है।

बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थानों में उच्च दाब के निर्वातिक पंखे लगे रहते हैं जिनकी निष्कासन क्षमता अधिक होती है।

(२) प्लेनम संवातन—जिस प्रकार निवास स्थान पर जल वितरण प्रणाली में एक मुख्य पाइप द्वारा जल प्रवेश करता है फिर शाखाओं में बँटकर जहाँ आवश्यकता होती है पहुँचता है उसी प्रकार इस संवातन विधि में विद्युत पंखों के द्वारा वायु बाहर
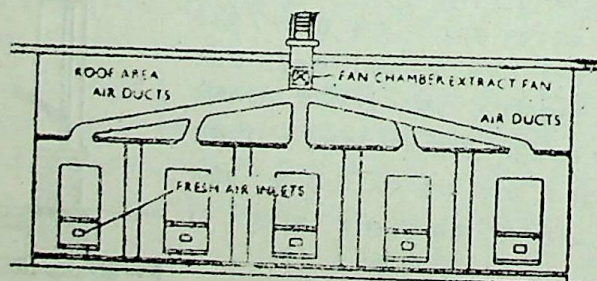
प्लेनम संवातन
चित्र 6·4

से अन्दर की ओर खींची जाती है। फिर उसे बड़े-बड़े पाइपों द्वारा जिस जिस कमरे अथवा हॉल आदि को संवातित करना होता है वहाँ फर्श के समीप अथवा जिस ऊँचाई पर चाहें, पहुँचा दिया जाता है। यह वायु उन स्थानों में प्रवेश कर वहाँ की वायु को निकास द्वार की ओर ढकेल देती है। निकासद्वार सामान्यत: छत के निकट रोशनदानों के रूप में होते हैं। जिन स्थानों को इस विधि से वायु संवातित करना होता है वहाँ पर वायु के प्रवेश के लिए केवल पाइप ही रखते हैं दरवाजे खिड़की आदि सब बन्द रखते हैं। पंखों द्वारा जो वायु अन्दर खींची जाती है वह अशुद्ध होती है अत: उसे पहिले जल की फौहारों के नीचे से निकलती हैं इससे वायु में निलम्बित धूल आदि अशुद्धियाँ तथा घुलनशील गैसें जल में घुलकर नीचे बैठ जाती हैं, फिर वायु को ऊनी परदों में से छलने के लिए निकाला जाता है। इस वायु को फिर यदि गर्म करना है तो विद्युत से गर्म किए पाइपों में गुजारते हैं तथा यदि ठण्डा करना है तो जल द्वारा ठण्डे किए पाइपों से गुजारते हैं। इस प्रकार गर्म अथवा ठण्डी वायु फिर कमरों में प्रवेश करती है। इस विधि का प्रयोग बड़े निवास स्थानों, थियेटर अथवा सिनेमाघरों, सभा भवनों में संवातन के लिए प्रयोग में लाते हैं। इस विधि में वायु का तापमान एवं आर्द्रता पर नियंत्रण किया जा सकता है। यद्यपि जो आनन्द खुली वायु में होता है उसका यहाँ अभाव होता है।

३. **सन्तुलित संवाहन**—निर्वातक संवातन तथा प्लेनम संवातन दोनों का उपयोग एक साथ जब करते हैं तो उसे सन्तुलित संवातन विधि कहते हैं। यह विधि बड़े-बड़े सिनेमाघरों, औद्योगिक संस्थानों के विशाल भवनों आदि के लिए उपयुक्त होती है।

यांत्रिक संवातन विधियों में विशेषता है कि वायु को ठण्डा अथवा गर्म किया जा सकता है उसे छाना जा सकता है तथा आर्द्रता पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। वायु के प्रवेश तथा निकास को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। परन्तु ये विधियाँ मँहगी होती हैं। भवनों के निर्माण के समय ही इसकी व्यवस्था रखी जा सकती है। इनका रख रखाव भी व्ययशील होता है।

४. **वातानुकूलन**—मनुष्य के स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारणों, यथा धूल के कण, जीवाणु, विषैली गैसों को रोककर सुखकर तापमान, गति तथा आर्द्रता पर वायु के किसी स्थान पर प्रवेश को वातानुकूलन (air conditioning) कहते हैं।

बड़े-बड़े संस्थानों, चिकित्सालयों, उद्योग स्थानों, सभा भवनों, थियेटर, सिनेमा गृहों तथा बड़े निवास गृहों में ये प्रणाली व्यवहार में लाई जाती हैं। रेल के डिब्बों में भी इसे व्यवहार में लाते हैं। प्लेनम संवातन के समान इस विधि में भी वायु को धूल, जीवाणुओं से मुक्त किया जाता है। फिर एक निश्चित तापमान पर निश्चित स्थान पर प्रवेश कराया जाता है। यदि वायु में जल वाष्प अधिक है तो उसे पृथक् कर दिया जाता है। यह ध्यान रखने की बात है कि वाह्य वायु के तापमान तथा प्रवेश करने वाली वायु के तापमान में 20°F से अधिक का अन्तर

नहीं होना चाहिये । सामान्यत: कमरे में प्रविष्ट वायु का तापमान 70°-72°F और
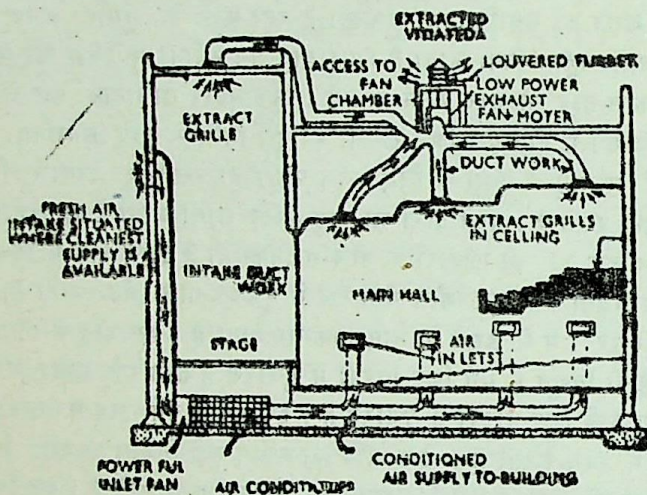
वातानुकूलन संवातन

चित्र 2·6

आपेक्षिक आर्द्रता 60 प्र० श० होती है । अन्दर के ठण्डे अथवा गर्म वातावरण से बाहर के विपरीत वातावरण में व्यक्ति को सीधे नहीं जाना चाहिए । दोनों के बीच में ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ वह ठहर कर बाहर जा सके ।

अन्य विधियाँ

१. **शीतलक** (coolers)—ग्रीष्म ऋतु में इनका प्रयोग होता है । जिस कमरे को शीतल करना होता है उसके बाहर किसी खिड़की के मुख पर एक बॉक्स नुमा शीतलक (कूलर) लगा दिया जाता है । इसके अन्दर एक विद्युत निर्वातक पंखा लगा होता है जो बाहर से वायु अन्दर खींचता है । बाहर तीनों ओर दुहरी जाली लगी रहती है जिसके मध्य में खस या लकड़ी का छीलन भरा रहता है, खिड़की की तरफ वाली दिशा में वायु के कमरे में प्रवेश के लिए खुला भाग रहता है । खस या लकड़ी के छीलन पर ऊपर से जल अति धीमी गति से गिरता हुआ उसे तर रखता है । जल का संचालन एक छोटी विद्युत मोटर पम्प द्वारा होता है । जब पंखा चलाया जाता है वह बाहर की वायु को अन्दर की ओर खींचकर कमरे में फेंकता रहता है । वायु जालियों के मध्य से होकर आने के कारण धूल आदि से रहित एवं ठण्डी हो जाती है । आजकल यह प्रणाली बहुत प्रचलित है ।

२. **खस की टट्टियां**—इनका प्रयोग भी बड़े कार्यालयों, बैंकों तथा मकानों में कमरों के प्रवेश द्वारों पर लगाकर किया जाता है । बाँस के ढाँचे पर खस की

घास को लगा दिया जाता है और व्यवहार में लाते समय उन पर जल छिड़क कर गीला रखा जाता है। प्रवेश द्वार से, इस प्रकार, वायु ठण्डी और सुगन्धित होकर प्रवेश करती है।

३. **अग्नि**—इसका प्रयोग शीत काल में होता है। कमरे की दीवार में एक तरफ अग्नि जलाने के लिए अंगीठी बनी रहती है। धुवाँ आदि निकलने के लिए दीवार में अन्दर ही अन्दर मार्ग बना होता है जो छत के निकट बाहर की ओर खुल जाता है। जब इस अंगीठी में अग्नि प्रज्वलित की जाती है तो कमरे की वायु संवहन (convention) तथा विकिरण (Radiation) द्वारा गर्म हो जाती है। धुवें के बाहर निकलने के मार्ग में साथ ही साथ वायु का निष्कासन भी होता रहता है, जिसका स्थान लेने बाहर की ठण्डी वायु कमरे में आती रहती है जो कमरे में पहुंचकर गर्म हो जाती है। आजकल इसके स्थान पर कमरों में विद्युत तापक (heaters) व्यवहार में आने लगे हैं। फिर भी जहाँ विद्युत प्रवाह नहीं होता है अथवा सुलभ नहीं होता है इस विधि का प्रयोग होता है।

———

७

प्रकाश (Light) एवं स्वास्थ्य

सूर्य प्राणी मात्र का जीवन दाता है। यदि सूर्य का प्रकाश पृथ्वी को प्राप्त नहीं हो तो २४ घंटों में वायु में उपस्थित समस्त जल वाष्प जम कर बर्फ के रूप में पृथक हो जायगी तथा 72 घंटों के अन्दर अन्दर समस्त प्राणी मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। वेदों में सूर्य की प्रार्थना के मंत्र भरे पड़े हैं। स्थान-स्थान पर सूर्य की महत्ता दर्शायी गई है। सूर्य रश्मियों द्वारा जल एवं वायु की शुद्धि के सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में पढ़ भी आये हैं। सूर्य प्रकाश अनेक प्रकार की सूर्य रश्मियों का संयुक्त स्वरूप है। इसका एक अल्प भाग ही हमें दृष्टि ज्ञान कराता है। इस भाग में भी सात प्रकार की प्रकाश किरणें होती हैं। ये हैं नीललोहित (बैंगनी-Violet), आसमानी (Indigo), नीली (Blue), हरी (Green), पीली (Yellow), नारंगी (Orange) तथा लाल (Red)। सूर्य के प्रकाश में ही ये सातों प्रकार की किरणें नहीं होती हैं वरन् लैम्प, दीपक, मोमबत्ती, बिजली के प्रकाश में भी होती हैं। सूर्य प्रकाश तथा बिजली आदि के प्रकाश में विद्यमान इन विभिन्न रंग प्रदान करने वाली किरणों की संख्या तथा आपेक्षिक तीव्रता भिन्न-भिन्न होती है। इसीलिए किसी एक वस्तु का रंग सूर्य प्रकाश तथा इन कृत्रिम प्रकाशों में विभिन्न दिखाई देता है। सातों प्रकार की ये किरणें परस्पर मिलकर श्वेत वर्ण का प्रकाश प्रदान करती हैं। प्रकाश की इन किरणों द्वारा हमें केवल दृष्टि ज्ञान प्राप्त नहीं होता है वरन वर्ण ज्ञान भी प्राप्त होता है। यथा (१) यदि कोई वस्तु अपने ऊपर पड़ने वाली इन सातों प्रकार की किरणों का शोषण कर लेती है, इनमें से किसी वर्ण की किरण को परावर्तित एवं संचरित नहीं करती है तो वह वस्तु हमें काली दिखाई देती है। (२) यदि वह वस्तु इस सातों प्रकार की प्रकाश किरणों को परावर्तित एवं संचरित करती है तो वह वस्तु वर्णहीन अथवा श्वेत दिखायी देती है। तथा (३) यदि वह वस्तु इन सातों प्रकार की किरणों में कुछ को शोषित कर लेती है तथा कुछ को परावर्तित एवं संचरित कर देती है तो वह वस्तु परावर्तित एव संचरित होने वाली प्रकाश किरणों के समान वर्ण की दिखाई देती है।

सूर्य प्रकाश की लाल वर्ण की किरणों से लेकर नीललोहित वर्ण की किरणों के द्वारा हमें दृष्टि ज्ञान इसलिए होता है कि ये किरणें दृष्टि तंत्रिका (optic nerve) के रेटीना (Retina) स्तर को प्रभावित करती हैं। इन किरणों को परदे पर लिया जा सकता है। अतः इन्हें दृश्य स्पेक्ट्रम (visible spectrum) कहते हैं। इस दृश्य स्पेक्ट्रम में लाल वर्ण की किरणें सबसे लम्बी तरंगदैर्ध्य (wave length) की तथा नील-

लोहित (violet) किरणें सबसे छोटी तरंगदैर्ध्य की होती हैं। जैसा हम ऊपर कह आये हैं कि सूर्य रश्मियाँ केवल दृश्य स्पेक्ट्रम तक ही सीमित नहीं होती हैं वरन् लाल वर्ण की किरणों से पूर्व तथा नीललोहित किरणों के पश्चात् भी फैली होती हैं। इन अन्य किरणों का रेटीना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है अतः इन्हें अदृश्य स्पेक्ट्रम (invisible spectrum) कहते हैं। दृश्य तथा अदृश्य स्पेक्ट्रमों की ये समस्त किरणें वास्तव में विद्युत चुम्बकीय तरंगें (electro magnetic waves) होती हैं और इन सबका कम अथवा अधिक प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है। इन समस्त तरंगों के क्षेत्र में दृश्य तरंगों का स्थान बहुत ही सीमित होता है परन्तु हम इनसे सबसे अधिक प्रभावित रहते हैं। कम तरंगदैर्ध्य से अधिक तरंगदैर्ध्य की किरणों को क्रमानुसार हम इस प्रकार रख सकते हैं :—(१) कॉस्मिक किरणें (cosmic rays)—ये अति तीव्रवेधन (highly penetrating) क्षमता वाली आवेश युक्त किरणें होती हैं। (२) गामा किरणें (γ-rays)—फोटोग्राफिक प्लेटों पर रासायनिक तथा आयनन (ionisation) क्रिया करने वाली, उच्च वेधन क्षमता युक्त परन्तु आवेश रहित होती हैं। (३) एक्स किरणें (x-rays)—ये गामा किरणों के समान गुण युक्त परन्तु कम वेधन क्षमता वाली किरणें हैं। (४) परा नीललोहित किरणें (परा बैंगनी ultra violet rays)। उपरोक्त वर्णित ये सब किरणें नीललोहित (violet) किरणों से पूर्व क्रम वार स्थित होती हैं। इसके बाद नीललोहित किरणों से लाल (red) किरणों तक दृश्य स्पेक्ट्रम (visible spectrum) होता है। दृश्य स्पेक्ट्रम की लाल किरणों के बाहर की ओर क्रमानुसार ये किरणें स्थित रहती हैं। (५) अवरक्त किरणें (इन्फ्रारेड infra-red rays), (६) लघु हर्टजी तरंगें (short hertzian waves) तथा (७) रेडियो तरंगें (radio waves)।

अदृश्य स्पेक्ट्रम की, स्वस्थवृत्त के प्रसंग में, हमारे जानने योग्य प्रमुख किरणें हैं। (i) परा नीललोहित किरणें तथा (ii) अवरक्त किरणें।

परा नीललोहित (अल्ट्रा वायलेट ultra violet) किरणें :—यद्यपि इन किरणों की मात्रा सूर्य प्रकाश में अधिक होती है परन्तु इनका अधिकांश भाग पृथ्वी के वायुमण्डल में ही अवशोषित हो जाता है। ये किरणें (१) फोटोग्राफिक प्लेटों पर रासायनिक प्रभाव डालती हैं। (२) प्रतिदीप्ति (Fluorescence) उत्पन्न करती हैं। (३) स्फुरदीप्ति (Phosphorescence) उत्पन्न करती हैं तथा (४) गैसों का आयनन (ionisation) करती हैं। उच्च ताप वाली वस्तुओं से ये किरणें उत्पन्न होती हैं।

उपयोग—(१) इनका रेटीना पर प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः इनसे दृष्टि ज्ञान नहीं होता है। (२) शरीर में विटामिन 'डी' की उत्पत्ति करती हैं। त्वचा के नीचे वसा (fat) में उपस्थित हाइड्रोक्लोरेस्टेरॉल (hydrocholesterol) पर इनका प्रभाव पड़ने से वह विटामिन डी (vitamin d) में परिवर्तित हो जाता है। (३) वायु में होने वाले जीवाणुओं को नष्ट करती है। वस्त्र आदि को धूप में रखने से उनमें उपस्थित जीवाणु (Bacteria) आदि इनके द्वारा नष्ट हो जाते हैं। जल में जहाँ

तक प्रकाश किरणें पहुँचती हैं वहाँ पहुँचकर ये जीवाणुओं को नष्ट करती हैं। (४) जब ये किरणें विभिन्न वर्ण (रंग) के पत्थर आदि पर पड़ती हैं तो इनमें विभिन्न प्रकार की प्रतिदीप्ति होती है। इस गुण के कारण मूल्यवान पत्थरों के असली और नकली होने की पहिचान हो जाती है। इस गुण के कारण किसी लिखे हुए दस्तावेज की स्याहियों के परिवर्तन का भी ज्ञान हो जाता है।

अवरक्त (इन्फ्रारेड Infra red) किरणें—ये किरणें कम ताप वाली वस्तुओं से भी निकलती हैं। (1) इनका रेटीना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। (2) ये शरीर में अवशोषित होकर ऊष्मा (heat) उत्पन्न करती हैं। अतः इनको उष्मा किरणें (heat rays) भी कहते हैं। परानील लोहित किरणों की अपेक्षा इनका प्रयोग अधिक सुरक्षित है। (2) कुहासे (mist) तथा कुहरे (fog) में भी ये किरणें प्रवेश कर जाती हैं।

उपयोग—(१) शरीर को ऊष्मा पहुँचाने में इनका प्रयोग होता है यथा चिकित्सालय में सिकाई (fomentation) के लिए अवरक्त लेम्प (infra red lamp) को व्यवहार में लाते हैं। इन विद्युत लैम्पों में बल्ब के फिलामेन्ट पर थोरियम ऑक्साइड का लेप होता है। सिलिकन कारबाइड की छड़ पर विद्युत धारा प्रवाहित करने से भी अवरक्त किरणें निकलती हैं। (२) वेधन शक्ति अधिक होने के कारण दूर स्थित वस्तुओं का कुहरे आदि में भी स्पष्ट फोटो लेने के काम आती हैं।

कृत्रिम प्रकाश साधन—सूर्य प्रकाश के अभाव में रात्रि के समय हमें कृत्रिम प्रकाश साधनों का उपयोग करना पड़ता है। इनमें प्रकाश को उत्पन्न करने में जिन साधनों द्वारा वायु की ऑक्सीजन का प्रयोग होता है उनमें परिणामस्वरूप कार्बन डाई ऑक्साइड, कार्बन मोनो ऑक्साइड आदि विषैली गैसों तथा धुवें की उत्पत्ति होती है। यथा दीपक, कैरोसीन तैल (मिट्टी के तैल) या गैस से जलने वाले लैम्प, मशाल, मोमबत्ती आदि के जलने से प्रकाश की प्राप्ति तो होती है परन्तु साथ ही साथ उपरोक्त वर्णित गैसों और धुवें की उत्पत्ति के कारण वायु दूषित हो जाती है। इनके गुण दोषों का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

विद्युत के प्रकाश साधन बल्ब आदि में ऑक्सीजन का उपयोग नहीं होता है अतः इस प्रकाश की प्राप्ति में उपरोक्त गैसों अथवा धुवें आदि की उत्पत्ति नहीं होती है और वायुमण्डल दूषित नहीं होता है। विद्युत प्रकाश की प्राप्ति बल्ब के फिलेमेन्ट की दीप्ति के कारण होती है। अतः कृत्रिम प्रकाश साधनों में विद्युत प्रकाश सर्वोत्तम होता है। परन्तु जहाँ इसकी सुविधा न ही हो वहाँ अन्य साधनों के उपयोग के समय यह ध्यान रखना चाहिए कि कार्बनडाइऑक्साइड आदि उत्पन्न गैसों तथा धुवों के निष्कासन का उचित प्रवन्ध रहना चाहिए तथा नवीन वायु उस स्थान पर निरन्तर आती रहनी चाहिए।

८

अपद्रव्य, मलादि निवारण

अपद्रव्यों में वे सब घन (solids) तथा अर्ध तरल (semi liquids) पदार्थ आ जाते हैं जिन्हें हम अनुपयोगी समझकर फेंक देते हैं। स्थान विशेष के अनुसार अपद्रव्य (उच्छिष्ट waste, कचरा refuge, कूड़ा garbase, मलमूत्र nightsoil) भी विभिन्न प्रकार के होते हैं यथा सड़क, मार्ग आदि से एकत्रित अपद्रव्यों में घास, फूंस, पत्तियाँ, कागज के टुकड़े, पशुओं की लीद, गोबर आदि पदार्थ होते हैं। बाजार के अपद्रव्यों में फलों आदि के छिलके, कागज के टुकड़े तथा मलमूत्र आदि होते हैं। सब्जी बाजार के अपद्रव्यों में सब्जियाँ, फल एवं पत्तियाँ तथा उनके पैकिंग (packing) आदि की वस्तुयें होती हैं। मौहल्लों के अपद्रव्यों में राख, कोयले, लकड़ियों के टुकड़े, सब्जियां के अंश, पके हुए भोजन के अंश आदि अधिकांश में होते हैं। औद्योगिक क्षेत्र के अपद्रव्यों में वहाँ के कारखानों के निर्माण में आने वाली तथा निर्माण के पश्चात् उत्पन्न व्यर्थ की वस्तुयें होती हैं। इन अपद्रव्यों का, चाहे वे कहीं से भी प्राप्त क्यों न हों, शीघ्र निस्तारण (disposal) करना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है क्योंकि (i) उनमें उपस्थित कार्वनिक (organic) पदार्थ शीघ्र सड़ने लगते हैं जिससे दुर्गन्ध उत्पन्न होती है तथा मक्खियों आदि की उत्पत्ति का वह स्थान बन जाता है। (ii) चूहे, कुत्ते, चील, गिद्ध आदि पशु पक्षी उसकी ओर आकर्षित होते हैं। (iii) मक्खियों और धूल के द्वारा रोगकारक जीवाणुओं से मनुष्य संक्रान्त (infected) हो जाते हैं। (iv) सड़ने से उत्पन्न अपद्रव्य जल को दूषित करते हैं, विशेष रूप से वर्षा ऋतु में। (v) दुर्गन्ध से वायु दूषित होती है तथा (iv) उस स्थान की सुन्दरता नष्ट हो जाती है।

अपद्रव्यों का संग्रह (collection)—नगर में सफाई आदि का प्रबन्ध करने वाली नगरपालिका आदि संस्थायें नगर में स्थान-स्थान पर डस्टबिन (dustbin कूड़ा कचरा पात्र) रखवा देती हैं। सफाई कर्मचारी इनमें कूड़ा कचरा एकत्रित करते रहते हैं। यहाँ से यह इकट्ठा हटा दिया जाता है। स्वास्थ्य विभाग को सबसे पहले इन कूड़े के संग्रह स्थानों पर ध्यान देना चाहिये कि (i) रखे गये डस्टबिन यदि उस क्षेत्र की आवश्यकता को पूरा नहीं करते हैं तो अधिक संख्या में रखने चाहिए। भारत में कूड़े कचरे की मात्रा लगभग 1/10 से 1/20 घन फुट प्रति व्यक्ति होती है। इस-लिए किसी स्थान पर रखे हुए डस्टबिन की समाई (capacity) उस स्थान की जन-

संख्या की पूर्ति के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। (ii) डस्टबिन सड़क के तल से 2-3 इन्च ऊँचे चबूतरे पर रखे होने चाहिए जिससे सड़क का जल आदि उनमें न जा सके (iii) कूड़े कचरे को हटाने के पश्चात् उस स्थान की तुरन्त सफाई होनी चाहिए तथा निसंक्रमण के लिए चूना, डी०डी०टी० आदि को व्यवहार में लाना चाहिए।

योरुप, अमेरिका के अधिकांश देशों में प्रत्येक परिवार अपने परिवार का कूड़ा कचरा प्लास्टिक अथवा कागज के थैलों में रखता है और संग्रह स्थानों पर रखे डस्टबिन में स्वयं डाल आता है अथवा नगरपालिका के कूड़ा कचरा ढोने वाले वाहन के आने पर उसमें डाल देता है। यह पद्धति नगर स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। हमारे यहाँ अभी इस प्रकार की स्वास्थ्य चेतना नहीं है। हम तो घरों का कूड़ा कचरा सड़क पर भी फेंक देते हैं, जिस कारण सफाई में कठिनाई होती है तथा नगरपालिका को इसके लिए अतिरिक्त सफाई कर्मचारी नियुक्त करने पड़ते हैं।

सामान्यतः पशु द्वारा खींची जाने वाली गाड़ियों, ट्रेक्टर द्वारा खींची जाने वाली ट्रॉलियों तथा मोटर ट्रकों द्वारा कूड़ा कचरा हटाया जाता है। इन्हें प्रायः खुला हुआ ले जाया जाता है, जिससे वायुमण्डल ही दूषित नहीं होता है वरन् स्वास्थ्य पर भी अनिष्ट प्रभाव पड़ता है।

अपद्रव्यों का निस्तारण (disposal)—अपद्रव्यों के निस्तारण के लिये कोई एक सर्वोत्तम विधि नहीं है। यह स्थान विशेष की सुविधा एवं साधनों पर निर्भर करती है। सामान्यतः अपद्रव्यों के निस्तारण के लिये निम्नलिखित विधियाँ काम में लाई जाती हैं।

(१) **क्षेपण** (dumping) एवं भूमि भराव (land filling), (२) भस्मीकरण (incineration) (३) कम्पोस्ट (खाद) निर्माण (composting)।

क्षेपण (dumping)—नगर के अन्दर अथवा बाहर नीची जमीन के भराव के लिये कूड़ा कचरा वहाँ डाल दिया जाता है। दिल्ली, कलकत्ता आदि नगरों में अपद्रव्यों को इस प्रकार भी नष्ट किया जाता है। यह विधि स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है क्योंकि इसमें कूड़ा कचरा खुला पड़ा रहता है जिससे (१) मक्खी आदि की उत्पत्ति के लिए अनुकूल वातावरण मिलता है। (२) नगर के कुत्ते, सूअर आदि अपने भोजन के लिये उन स्थानों पर घूमते रहते हैं। (३) चूहें आदि को रहने और सन्तान उत्पत्ति के लिए उपयुक्त स्थान मिल जाता है। (४) कूड़े कचरे के सड़ने से रोगकारक कीटाणुओं को उत्पत्ति के लिये अनुकूल माध्यम मिल जाता है। वायु द्वारा ये रोगकारक कीटाणु निकट के रहने वालों को रोगग्रस्त करते हैं। (५) इन कूड़े कचरे की तरफ से आने वाला जल अन्य जलसंग्रह स्थानों के जल को दूषित करता है। (६) वायु में दुर्गन्ध रहती है।

कूड़े कचरे के कार्बनिक पदार्थों पर बेक्टीरिया अपनी क्रिया द्वारा परिवर्तन कर देते हैं जिससे उसका आयतन कम हो जाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने इस विधि की निन्दा करते हुए कहा है

कि यह विधि जन स्वास्थ्य के लिये अति हानिकारक है। इसलिये इसे नहीं अपनाना चाहिये। यदि इसे अपनाना है तो उसके लिये नीचे लिखी सावधानियाँ बर्तनी चाहिये।

(१) आवश्यकतानुसार 2-3 मीटर (6-10 फीट) गहरे तथा 3-10 मीटर चौड़े, जमीन में खत्तें (trenches) खोद कर कूड़े कचरे को उसमें डालकर ऊपर से काफी मोटी तह मिट्टी की डालकर उसे ढक देना चाहिये। इस विधि के लिये दस हजार की आबादी के लिये एक एकड़ भूमि पर्याप्त होती है।

(२) नीची भूमि, एवं गड्ढों, सूखे तालाबों, नालों आदि को भरने के लिये यदि अपद्रव्यों को वहाँ डालते हैं तो साथ ही साथ उसे आस-पास की मिट्टी से ढकते जाना चाहिये। इसे ढकने के लिये अन्य स्थानों से मिट्टी लाने की आवश्यकता पड़ सकती है।

(२) भस्मीकरण (incineration)

अपद्रव्यों को भस्म करने की विधि स्वास्थ्य विज्ञान की दृष्टि से सर्वोत्तम है। चिकित्सालयों के अपद्रव्य को तो केवल भस्मीकरण द्वारा ही नष्ट करना चाहिए। बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में जहाँ खाली जमीन मिलने में कठिनाई है इस विधि का प्रयोग किया जाता है। भस्मीकरण वाले कूड़े कचरे में मिट्टी, राख, धूल आदि नहीं होनी चाहिये। क्योंकि ये पदार्थ भस्मीकरण में बाधा डालते हैं। वर्षा में कूड़ा, कचरा गीला होता है। उस समय उन्हें भस्म करने में कठिनाई आ सकती है।

अपद्रव्यों को भस्म करते समय उसमें से हानिकर गैसें निकलती हैं परन्तु यदि हम अग्नि का तापमान लगभग 2000°F पर रखें तो इस उच्च तापमान पर हानिकर गैसें स्वयं नष्ट हो जाती हैं और किसी प्रकार की दुर्गन्ध भी नहीं निकलती है।

भस्मीकरण के कार्य को नगर की आबादी वाले भाग से दूर करना चाहिये तथा उसका धुआँ निकलने के लिये ऊँची चिमनी लगा देनी चाहिये।

भस्मीकरण के पश्चात् जो राख (ash) रह जाती है उसका उपयोग चूने के साथ मिलाकर सीमेंट के स्थान पर किया जा सकता है।

कम्पोस्ट (खाद) बनाना (composting)—

कूड़े कचरे में जो कार्बनिक पदार्थ होते हैं उनसे कम्पोस्ट खाद बनती है इसके लिये पहिले उसमे अकार्बनिक पदार्थ यथा धातुओं के टुकड़े, प्लास्टिक की वस्तुएँ, काँच तथा हड्डियों के टुकड़े आदि को पृथक कर दिया जाता है। कार्बनिक पदार्थ बेक्टीरियाओं की क्रिया के फलस्वरूप नाइट्रेट एवं फास्फेट आदि में परिवर्तित हो जाते हैं। जो खेतों तथा बागों में खाद के रूप में काम आते हैं। बेक्टीरियाओं की क्रिया के समय तापमान 60 से० या अधिक हो जाता है जिससे मक्खियाँ, उनके अण्डे, लारवा तथा अन्य हानिकारक जीव नष्ट हो जाते हैं। बेक्टीरियाओं की क्रिया के समय कार्बनडाइऑक्साइड तथा जल की उत्पत्ति होती हैं। कार्बनडाइ ऑक्साइड वायु में निकल जाती है।

कम्पोस्ट (खाद) बनाने की विधि—

(१) कम्पोस्ट बनाने के लिये गाँवों में गोबर आदि के साथ बचे हुए चारे आदि के अंश को एक गड्ढे में एकत्रित कर उसे ऊपर से घास फूस अथवा मिट्टी से ढक कर छोड़ देते हैं। चार से छः मास में वेक्टीरियाओं की क्रिया पूर्ण हो जाती है और कम्पोस्ट खाद बन जाता है।

(२) लगभग 20 से॰ मी॰ (30 इन्च) गहरे तथा 1·5 से 2·5 मीटर (5 से 8 फीट) लम्बे चौड़े खत्ते खोदकर उसमें कार्बनिक कूड़ा कचरा भर देते हैं। जब यह ढेर जमीन से भी ऊपर, लगभग 30 से॰ मी॰ (एक फुट), ऊँचा, हो जाता है, उसे मिट्टी से ढक कर 4-6 मास के लिए छोड़ देते हैं। वेक्टीरियाओं की क्रिया से उत्तम खाद बन जाता है।

(३) उन्नतिशील देशों के अधिकांश नगरों में कम्पोस्ट बनाने की यान्त्रिक विधि का प्रयोग होता है। कूड़े कचरे से ऐसे द्रव्यों को, जिन पर वेक्टीरियाओं की क्रिया नहीं होती है यथा धातु, काँच, प्लास्टिक, अस्थियाँ आदि को पृथक कर दिया जाता है, शेष भाग को मशीनों द्वारा लगभग 5 से॰ मी॰ (2 इन्च) या छोटे टुकड़े करके कुचल दिया जाता है फिर उसमें मलमूत्र (nightsoil) आदि भी मशीनों द्वारा मिला दिया जाता है। फिर उपयुक्त तापमान पर उसे छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार 4 से 6 सप्ताहों में ही कम्पोस्ट बन जाता है।

(४) देहातों में तथा ऐसी बस्तियों में जहाँ कूड़ा कचरा हटाने की सुविधा नहीं है, प्रत्येक परिवार पृथक-पृथक अथवा अन्य परिवारों से मिलकर अपने-अपने स्थान का कूड़ा कचरा गोबर आदि एक छोटे गड्ढे में डालते जाते हैं फिर उस पर प्रतिदिन हल्की मिट्टी की तह डाल देते हैं। 5-6 मास में इन गड्ढों का कूड़ा कचरा कम्पोस्ट में परिवर्तित हो जाता है।

केम्पिग आदि के लिए जाने वाले समूह को भी प्रतिदिन का कूड़ा कचरा तथा मलमूत्र गड्ढों में डालकर ऊपर से मिट्टी से ढक देना चाहिए। इससे वातावरण संक्रमित नहीं होता है।

अपद्रव्यों के निस्तारण तथा उन्हें नष्ट करने की क्रिया में जनता का सहयोग प्रत्येक स्तर पर आवश्यक है। जनता को ज्ञात होना चाहिये कि इन अपद्रव्यों का स्वास्थ्य पर कितना हानिकारक प्रभाव होता है। अतः उनको इनके निस्तारण एवं नष्ट करने में अपना सहयोग देना आवश्यक है। शासन का भी कर्त्तव्य है कि वे जनता को समाचारों, रेडियो, टेलीविजन, तथा अन्य विज्ञापन के साधनों से, इस दिशा में, जागृत करें। अपद्रव्यों के निवारण एवं विनाश में नगरपालिका की लगभग बीस प्र॰ श॰ आय व्यय होती है। यदि जन सहयोग प्राप्त होता है तो यह व्यय कम हो सकता है।

मल एवं उसका निस्तारण

मनुष्य का पुरीष (excreta) संक्रमण का घर है। यह पर्यावरण को दूषित

करता है। अतः इसका तुरन्त निस्तारण (disposal) अति आवश्यक है अन्यथा इसके द्वारा (१) मिट्टी दूषित हो जाती है। (२) जल दूषित हो जाता है। (३) आहार द्रव्य दूषित हो जाते हैं। (४) मक्खियाँ बढ़ जाती हैं। (५) टाइफाइड (typhoid मन्थर, ज्वर), पराटाइफाइड, अतिसार (diarrhoea), प्रवाहिका (dysentery पेचिश), विसूचिका (cholera हैजा), अंकुशकृमि (hook worm) एवं गोलकृमि जन्यरोग (ascariasis), संक्रांत यकृतशोथ (infectious hepatitis) तथा आन्त्र के अनेक संक्रामक रोग तथा परजीवी संक्रामण (parasitic infection) हो जाते हैं। अतः पुरीष का भली भाँति निस्तारण स्वयं के स्वास्थ्य के लिये ही नहीं वरन् समाज के स्वास्थ्य के लिये भी अति आवश्यक है।

भारत में 80 प्र० श० व्यक्ति देहातों में रहते हैं उनमें अधिकांश घर के बाहर खेतों में या जंगल में शोच क्रिया से निवृत्त होते हैं। ये व्यक्ति आवश्यक साव-धानियाँ नहीं वर्तते हैं जिसका प्रभाव इनके स्वास्थ्य पर पड़ता है। अधिकांश व्यक्ति ऊपर वर्णित रोगों से ग्रसित रहते हैं विशेष रूप से आन्त्र रोगों से तथा अंकुश कृमि रोगों से। इसका एक ही समाधान है कि ग्रामीण क्षेत्र में भी मल त्याग एवं निस्ता-रण क्रिया में आवश्यक सुधार किए जायें।

भारत में वहुत कम नगर, आज भी ऐसे हैं कि जिनमें जलवाह पद्धति (Water carriage system/water flush system) पूर्ण रूप से व्यवहार में लाया जा रहा है। कुछ नगर ऐसे हैं जिसमें जलवाह पद्धति तथा मलवाहन पद्धति (con-servancy system) दोनों ही प्रचलित हैं। शेष नगरों एवं कस्बों में मलवाहन पद्धति ही व्यवहार में आ रही है। इस विधि में सफाई कर्मचारी घरों से कूड़ा कचरा तथा मलमूत्र एकत्रित करके सड़कों अथवा गलियों में किसी एक स्थान पर इकट्ठा कर देते हैं। वहाँ से उसे गाड़ी, ट्रेक्टर की ट्रोली या ट्रक में भरकर नगर से बाहर निस्तारण हेतु ले जाया जाता है। यही विधि मल त्याग की छोटे रेलवे स्टेशनों पर स्थायी शौचालयों के रूप में एवं केम्पिग तथा मेलों के समय अस्थायी शौचालयों के रूप में व्यवहार में लाई जाती है।

स्वास्थ्य एवं नैतिक दृष्टि से आज के युग में इस प्रकार के शौचालय उचित नहीं हैं क्योंकि (१) मल मक्खियों के लिये खुला रहता है। मक्खियाँ मल पर बैठती हैं उनके अंगों में मल लग जाता है, उसके साथ रोग के कीटाणु भी हो सकते हैं फिर हमारे शरीर पर एवं भोजन पर बैठकर हमें भी संक्रमित करती हैं। (२) मल गीला अथवा सूखा उस स्थान की मिट्टी में मिल जाता है और मिट्टी के द्वारा रोग फैलने की सम्भावना उत्पन्न रहती है। (३) मल जल को अशुद्ध करता है। पृथ्वी में प्रविष्ठ हो कुओं के जल को दूषित करता है। (४) मल को ले जाने वाले साधन बाल्टी आदि बार-बार बदलने पड़ते हैं, जिस कारण यह उपाय मँहगा पड़ता है। (५) सफाई कर्मचारियों पर पूर्ण रूप से निर्भर रहना पड़ता है। यदि वे

काम पर नहीं आते हैं उस दिशा में तमाम क्षेत्र में गन्दगी एवं रोग फैल जाते हैं। (६) नगर गन्दा तथा असुन्दर हो जाता है। (७) एक बड़ी संख्या में सफाई कर्मचारियों को रखना पड़ता है, जो काफी मँहगा होता है। (८) नैतिक दृष्टि से भी मनुष्य द्वारा मलमूत्र ढोना उचित नहीं है।
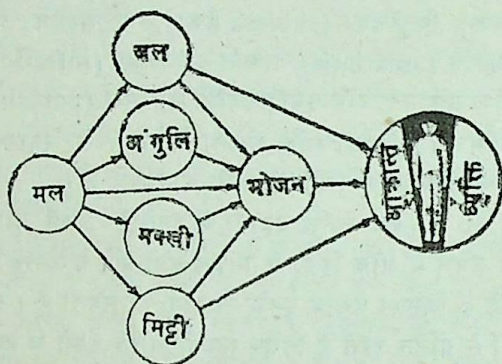
चित्र 8·1 मल के कीटाणु मनुष्य पर आक्रमण कर उसके स्वास्थ्य को हानि पहुंचाते हैं।

यदि मलवाहन पद्धति को कारणवश बदला नहीं जा सकता है तो मल के निस्तारण के उचित उपाय अपनाने आवश्यक होते हैं।

(१) मल को गड्ढे में दाब कर कम्पोस्ट (खाद) बनाते हैं। (२) खत्ते (trenches) खोद कर मल उसमें दबा देते हैं। (३) जला देते हैं। जलाने के लिये अग्नि तीव्र होनी चाहिये। गीले मल को जलाना कठिन होता है अतः उसके साथ सूखा कूड़ा कचरा मिलाकर जलाते हैं।

खत्ते नगर की आबादी से कम से कम एक किलो मीटर तथा नगर की जल आपूर्ति स्थान से कम से कम $\frac{1}{2}$ किलो मीटर दूर होने चाहिए। जमीन पथरीली और आस-पास से ऊँची नहीं होनी चाहिए तथा उस स्थान तक मल वाहक के पहुँचने का सुभीता होना चाहिए। चारों तरफ घास उगा देनी चाहिए जिससे धूल आदि नहीं उड़े। इस कार्य के लिए जितना स्थान हो उसे 24 खण्डों में बाँट देना चाहिये। प्रत्येक मास के मल को दबाने के लिये एक खण्ड को काम में लाना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक दो वर्ष के पश्चात् पुनः कार्य के लिये उस खण्ड की आवश्यकता पड़ती है। यदि स्थान कम है तो खत्तों की गहराई बढ़ा देनी चाहिये। गहरे खत्ते $\frac{1}{2}$ मीटर तक गहरे और इतने ही चौड़े हों तथा छिछले खत्ते 30 से०मी० (एक फुट) गहरे तथा $\frac{1}{2}$ मीटर चौड़े रखने उचित हैं। प्रत्येक एक हजार व्यक्तियों के मल को गहरे खत्तों में दबाने के लिये लगभग 5 घन मीटर स्थान ही आवश्यकता होती है। खत्तों की लम्बाई सुविधानुसार तथा भूमि के अनुसार रखी जाती है। खत्तों की गहराई की आधी गहराई में मल डालकर ऊपर से मिट्टी से बन्द कर देना चाहिए। मिट्टी आस पास की जमीन से ऊँची रखनी चाहिये क्योंकि बाद में वह बराबर समतल कर आ

जाती है। सामान्यतः तीन चार मास में मिट्टी में उपस्थित बैक्टीरिया मल का विघटन कर डालते हैं और वह उत्तम खाद में परिवर्तित हो जाता है। फिर उन खत्तों के स्थान पर हल चलाकर फसल उगाई जा सकती है, परन्तु उन फसलों को नहीं उगाना चाहिए जिन्हें बिना पकाये हुए खाया जाता है।
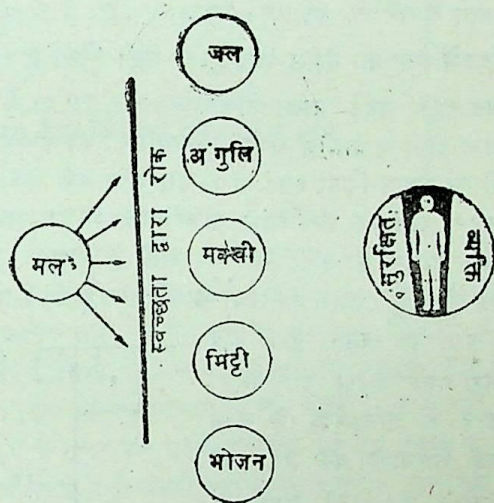
चित्र 8·2—मल के उचित निस्तारण अथवा जलवाह शौचालय से रोगों से बचा जा सकता है।

मेलों आदि में मनुष्यों का अस्थायी जमाव होता है। इस समय सफाई कर्मचारियों का अभाव हो सकता है तथा मल निस्तारण (disposal) की समस्या भी हो सकती है अतः लगभग 90 से० मी० (30 इन्च) गहरे तथा 40 से० मी० (15 इन्च) चौड़े तथा सुविधानुसार लम्बाई वाले खत्ते खोद दिये जाते हैं। इनमें आगे पीछे तथा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के बीच में ओट लगा दी जाती है। खत्तों पर पैर रखने के लिये तख्ते डाल दिये जाते हैं। प्रत्येक शौच के पश्चात् मल पर मिट्टी डाल दी जाती है। बाद में जब मल जमीन से लगभग 30 से० मी० (एक फुट) नीचा रह जाता है खत्ते को मिट्टी से पाट दिया जाता है। खत्तों की अधिक गहराई के कारण इन्हें गहरे खत्ते (deep trenches) वाले शौचालय कहते हैं। गहरे खत्तों में मक्खियाँ कम होती हैं। यदि मनुष्यों का जमघट कम है तो उथले खत्तों से काम चला लिया जा सकता है। इसमें उनकी गहराई 30 से० मी० से 60 से० मी० तथा चौड़ाई 30 से० मी० रखी जाती है। इन्हें प्रतिदिन मिट्टी से पाट देना चाहिये।

इसलिये प्रत्येक दिन के व्यवहार के लिये नये खत्तों की आवश्यकता होती है।

आजकल ऐसे शौचालयों का प्रचलन बढ़ गया है जिनमें मल वाहन के लिये सफाई कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। ऐसे शौचालय दो प्रकार के होते हैं।

(1) शौचालय जिनमें मल का वहन जल द्वारा नहीं होता है।
(2) शौचालय जिनमें मल का वहन जल द्वारा होता है।

(1) शौचालय जिनमें मल का वहन जल द्वारा नहीं होता है।

(i) भूमिगत गहरे गड्डे वाला शौचालय—सन् 1930 में अंकुश कृमि (hook worm) जन्य रोगों से ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों को बचाने के लिये इस प्रकार के शौचालयों का प्रचार किया गया था। इस शौचालय के लिये भूमि में लगभग 20 फिट गहरा तथा 16 इन्च व्यास वाला गड्ढा किया जाता है। ऊपर छिद्र पर पत्थर अथवा सीमेन्ट की पटिया रख दी जाती है जिसके मध्य में शौच निवृत्ति के लिये छिद्र होता है। 5–6 व्यक्तियों के परिवार के लिये लगभग एक वर्ष के प्रयोग के लिये यह ठीक रहता है। बाद में इसे बन्द कर दूसरा नया गड्डा खोद लिया जाता है। इस प्रकार के शौचालयों से लाभ है कि (1) सफाई कर्मचारी की सेवा की आवश्यकता नहीं होती है। (2) गड्ढे के अन्दर अन्धेरा रहता है इसलिये मक्खियों आदि की उत्पत्ति नहीं होती है। (3) जल के दूषित होने का भय नहीं होता है। इन सब अच्छाईयों के रहते हुये भी इस प्रकार के गहरे गड्ढे वाले शौचालयों का प्रचलन अधिक नहीं हो सका क्योंकि (1) गड्ढे जल्दी भर जाते हैं। (2) गड्ढे का व्यास कम होने के कारण खुदाई के लिये विशेष प्रकार के यन्त्रों की आवश्यकता होती है। (3) अनेक स्थानों पर पृथ्वी के भीतर जल स्तर के ऊँचा होने के कारण आस पास के कुओं के जल के दूषित हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है।
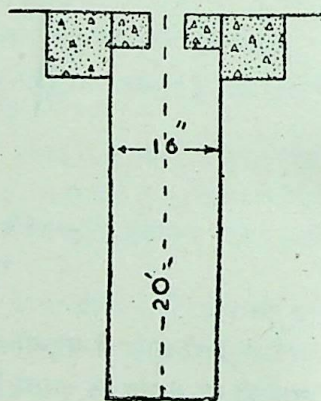
चित्र 6·3—भूमिगत गहरे गड्ढे वाला शौचालय

इन कठिनाईयों से बचने के लिये कम गहरे गड्ढे वाले शौचालयों के बनाने की स्वास्थ्य विभाग ने ग्रामीण निवासियों को सलाह दी। इनमें गड्ढों की गहराई 10–20 फिट तथा व्यास 40 इन्च रखा जाता है। यह 5–6 व्यक्तियों के परिवार के लिये 5–6 वर्ष तक व्यवहार करने के लिये पर्याप्त रहता है। इसके पश्चात् इसके गड्ढे को भरकर दूसरा गड्ढा खोद लिया जाता है।

उपरोक्त दोनों प्रकार के शौचालयों में वेक्टीरियाओं की मल पर क्रिया के कारण उत्पन्न होने वाली दुर्गन्ध युक्त गैसों के निकास के लिए मल त्याग के लिये बनाया गया छिद्र ही होता है। इसलिए उस स्थान की वायु में दुर्गन्ध रहती है।

चित्र 8·4—कम गहरा शौचालय

इस दुर्गन्ध से बचने के लिये जल आबद्ध (Water Sealed) शौचालयों का चलन प्रारम्भ हुआ है।

(२) शौचालय जिनमें मल का वहन जल द्वारा होता है।

जल आबद्ध (Water Sealed) **शौचालय**—योजना, अनुसंधान एवं कार्य संस्थान, (Planning Research and Action Institute) लखनऊ तथा केन्द्रीय मंत्रालय द्वारा सुधारे गये रूप में भूमिगत गड्ढे वाले शौचालयों के स्थान पर जल आबद्ध भूमिगत शौचालयों के निर्माण की सिफारिश की गई। इस उन्नत शौचालय में मल गड्ढे में सीधा नहीं जाकर एक घुमाव (trap बन्ध) में से गुजर कर गड्ढे में जाता है। इस घुमाव में जल भरा रहता है अतः जो दुर्गन्ध गड्ढे में से वैक्टीरियाओं के क्रिया के फलस्वरूप बनकर आती है वह जल में घुल जाती है।
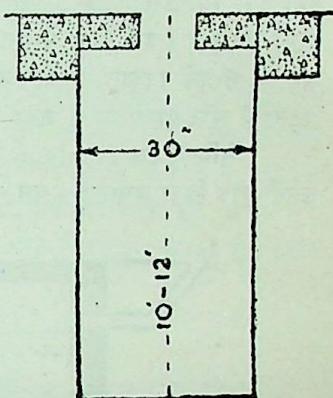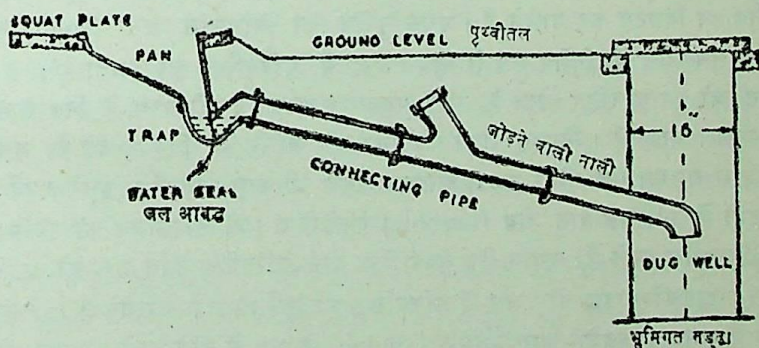
चित्र 8·5—आबद्ध शौचालय

ग्रामों और कालोनियों में इस प्रकार के शौचालय उपयोगी रहते हैं। बन्ध में सदैव जल भरा रहता है अतः दुर्गन्ध युक्त गैसें बाहर नहीं आ सकती हैं तथा मक्खी आदि अन्दर नहीं जा सकती हैं। गड्ढा निवास से बाहर 1·75 मीटर व्यास तथा 2 मीटर गहरा रखा जाता है। इसमें मल पाइप द्वारा आता है और वैक्टीरियाओं द्वारा विघटित हो जाता है। गड्ढे के मुख पर सीमेंट या पत्थर का ढक्कन

लगा दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का शौच के पश्चात् एक लीटर जल से मल को बहा देना पर्याप्त होता है। सबके शौच के पश्चात् 10-12 लीटर जल और डाल दिया जाता है। इस गड्ढे में मल का अवपंक (sludge) एकत्रित होता रहता है अतः 5-6 वर्ष पश्चात् यह भर जाता है। इसको बन्द कर अन्य गड्ढा खोदना पड़ता है और पाइप उसमें जोड़ दिया जाता है।

सेप्टिक टॅंक (septic tank)—सेप्टिक टैंक बनाकर मल वाहक पाइप को उससे जोड़ दिया जाता है। मल लगभग 24 घण्टे इसी में रुका रहता है। जब मल
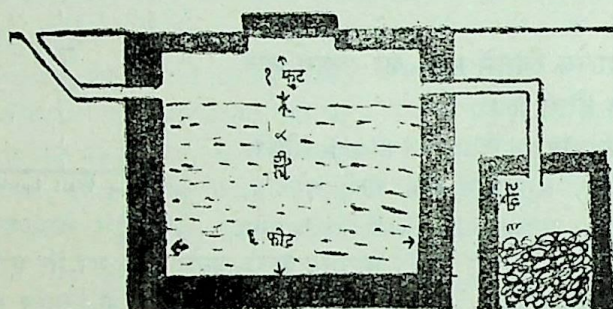
चित्र ८·६ सेप्टिक टॅंक

इसमें आ जाता है अवायु जीव (anaerobic) वेक्टीरिया (जो ऑक्सीजन की अनुपस्थिति में क्रियाशील रहते हैं) तथा फंजाई (fungi, एकवचन—fungus फंगस) पुरीष का विघटन कर डालते हैं। इससे पुरीष का अधिकांश घन (solid) भाग तरल तथा गैस में, विशेष रूप से मीथेन गैस, में परिवर्तित हो जाता है। तरल भाग, जो दुर्गन्ध रहित होता है, ऊपर सतह पर आकर दूसरी तरफ के निकास मार्ग से निकल जाता है। निकास पाइप को नगर की नाली में निकाल देते हैं अथवा भूमि में लगभग एक मीटर गड्ढा खोदकर उसमें निकाल देते हैं। दूसरे गड्ढे की मिट्टी में उपस्थित वायु जीव (aerobic) वेक्टीरिया (जो ऑक्सीजन की उपस्थिति में क्रियाशील रहते हैं) अवायुजीव वेक्टीरिया द्वारा परिवर्तित तरल अंश को नाइट्रेट, कार्बन डाइऑक्साइड और जल में परिवर्तित कर उसे समाप्त कर देते हैं। सेप्टिक टॅंक में मल का अवशेष भाग अवपंक (sludge) के रूप में नीचे तली पर जमा होता रहता है। इसे समय-समय पर बाहर निकाल देना होता है।

सेप्टिक टॅंक को व्यवहार में लाते समय कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ता है। (१) साबुन तथा फिनोल (phenol) आदि विसंक्रामक पदार्थ उसमें नहीं जाने देने चाहिए अन्यथा इनके द्वारा वेक्टीरिया नष्ट हो जाते हैं जिससे सेप्टिक टैंक का कार्य समाप्त हो जाता है। (२) अवपंक (sludge) को वर्ष में एक बार निकलवा देना चाहिए जिसमें टॅंक का आयतन कम नहीं हो। (३) टॅंक को शुरू में प्रयोग में लाने

से पूर्व उसमें कुछ अवपंक डालना पड़ता है, जिससे प्रारम्भ में टेंक में वेक्टीरिया मिल सकें।

शंकर सेप्टिक टेंक—यह उपरोक्त वर्णित टेंक का ही सुधरा हुआ रूप है। इसमें सामान्यत: अवपंक निकालने की आवश्यकता नहीं होती है तथा टेंक को ईंट सीमेन्ट से बनाने के स्थान पर कॉन्क्रीट के चौड़े पाइपों को काम में लाते हैं। प्रयोग लाने के पूर्व इसे भी जल से भर देना होता है। मुख्य टेंक का व्यास इस बात पर निर्भर करता है कि शौचालय को प्रतिदिन कितनी बार इस्तेमाल करना है। इस
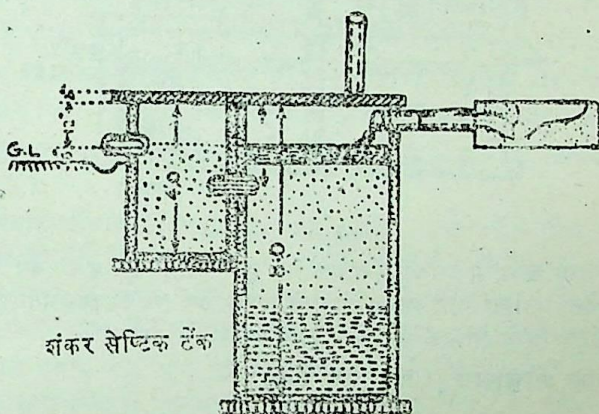
चित्र ८·७ शंकर सेप्टिक टेंक

बार प्रतिदिन उपयोग के लिए मुख्य टेंक 24 इन्च व्यास के पाइप का लगाते हैं। सौ व्यक्तियों के प्रतिदिन प्रयोग में आने के लिए पाइप 48 इंच व्यास का लगाते हैं। बड़े टेंक का निर्गम पाइप छोटे टेंक से जोड़ देते हैं और छोटे टेंक का निर्गम पाइप बाहर नाली में निकाल देते हैं। बड़े टेंक में दुर्गन्धित वायु के निकास के लिए एक $1\frac{1}{2}$ इंच व्यास का पाइप लगाकर उसे मकान से ऊपर वायु में खोल देते हैं।

एक्वाप्रीवी (aquaprivy, **जल शौचालय**)—ये शौचालय सेप्टिक टेंक के ऊपर ही निर्मित किए जाते हैं। सेप्टिक टेंक की क्षमता (capacity) 70 लीटर प्रति व्यक्ति प्रति दिन के हिसाब से रखी जाती है। एक टेंक के ऊपर एक से अधिक शौचालय बनाये जा सकते हैं। इसमें सेप्टिक टेंक को तीन खण्डों में बनाते हैं। पहिले खण्ड में जिसमें पुरीष आता है, अवायुजीव वेक्टीरिया क्रिया करते हैं। इससे मल तरल रूप में परिवर्तित हो दूसरे खण्ड में पहुँच जाता है। गैसों के निकलने के लिए पाइप पहिले खण्ड में लगा रहता है। दूसरे खण्ड में बाहर से वायु का प्रवेश होता है यहाँ वायुजीव वेक्टीरिया क्रियाशील रहते हैं तथा तीसरे खण्ड में कोयले के टुकड़े भरे रहते हैं। मल अंश पहिले भाग से दूसरे भाग में आता है और दूसरे भाग से तीसरे

भाग में पहुँच कायले के टुकड़ों से छनता हुआ बाहर निकल जाता है। इस प्रकार निर्गत अंश में कोई अपदूषणता नहीं होती है। इस जल को घरों के पौधों की सिंचाई के लिए काम में लाया जा सकता है अथवा नली द्वारा बाहर निकाल दिया जा सकता है।
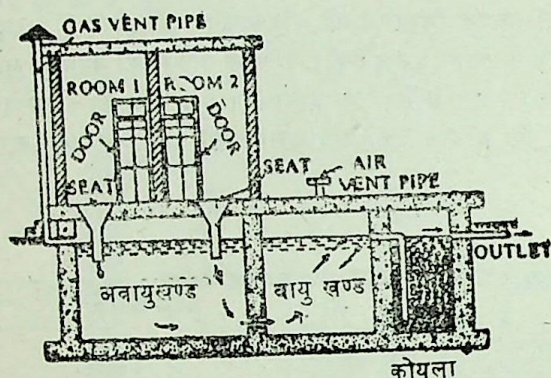
चित्र ८·८ एक्वाप्रीवी

अवायु खण्ड में जो अवपंक एकत्रित हो जाता है उसे वर्ष में एक बार निकलवा देना चाहिए तथा प्रयोग में लाते समय उन सब सावधानियों पर ध्यान रखना चाहिए जिन्हें सेप्टिक टेंक के लिए व्यवहार में लाते हैं।

रासायनिक शौचालय (Chemical Closet)—
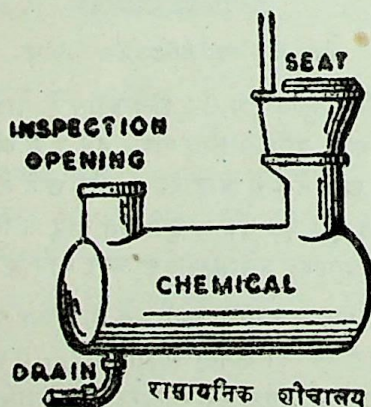
चित्र ८·९ रासायनिक शौचालय

रासायनिक शौचालयों का सामान्यत: नावों, जहाजों, वायुयानों में प्रयोग किया जाता है जहाँ अन्य प्रकार की सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं। टेंक धातु का बना होता है तथा उसमें कास्टिक सोडा (caustic soda-NaOH) का विलयन रहता है। ऊपर शौच निवृति का स्थान रहता है। इसमें जल का इस्तेमाल नहीं करते हैं। शौच के पश्चात् कागज का प्रयोग करते हैं। मल नीचे टेंक में पहुँच रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप विसंक्रमित तरल में परिवर्तित हो जाता है।

जलवाहन पद्धति (Water carriage System)

बड़े बड़े नगरों में जल वाह के लिए भूमिगत मल-नाली, जिन्हें सीवर (sewer) कहते हैं, होती हैं। इन नालियों में घरों की नालियों का जल, शौचालयों का मल मूत्र तथा सड़क की नालियों का कूड़ा कचरा लिए हुए जल का वाहन होता है। भारत में सबसे पहिले सन 1867 में भूमिगत मल-नाली कलकत्ते में बनी थी और एक शताब्दी से अधिक के पश्चात् भी भारत में इस समय केवल 15 प्रतिशत जनसंख्या को ही इस प्रकार की सुविधा प्राप्त है। इस समय एक ही सीवर द्वारा घरों का मलमूत्र, सड़क की नालियों का गन्दा जल आदि तथा वर्षा के जल का वहन होता है परन्तु दो सीवर लाइनें भी डाली जाने लगी हैं। (१) घरेलू वाहितमल (domestic sewage) के लिये सीवर तथा (२) वर्षा के जल तथा औद्योगिक बस्तियों के लिए सीवर। घरेलू वाहित मल तथा औद्योगिक वाहित मल में बहुत अन्तर होता है। इसलिए इनके वाहित मल के शोधन आदि के लिए भिन्न-भिन्न विधियाँ काम में लाई जाती हैं।

जलवाह शौचालय (flush latrines)—इन शौचालयों में शौच निवृत्ति के बाद मल को जल की तेज धार द्वारा बहा दिया जाता है। इसके लिए जल की एक टंकी ऊँचाई पर लगी रहती है जिसमें लगभग दस लीटर जल आ जाता है। इसमें एक चेन लटकती होती है जिसका सम्बन्ध टंकी के साइफन से होता है। जिसे खींचने से जल प्रवाह मार्ग खुल जाता है और जल की तेजधार सीट (seat/खुड्डी/कदमचे) के चारों ओर से निकल कर मल को बहाकर सीवर में पहुँचा देती है। सीट के ट्रेप (trap बन्ध) में 1-1·5 लीटर जल आबद्ध रहता है, जो इस मार्ग से दुर्गन्धित गैसों के निकास को रोक देता है।

सीवरों में सीवेज (वाहित मल sewage) के सड़ने तथा विघटित होने से अनेक गैसें निकलती हैं यथा कार्बनमोनोऑक्साइड (CO), कार्बन डाइऑक्साइड (CO_2), मीथेन (CH_4), सल्फरेटेट हाइड्रोजन (H_2S), अमोनिया (NH_3) आदि। ये गैसें स्वास्थ्य के लिए अति हानिकर होती हैं अतः सीवरों में 60 से 150 मीटर के अन्तराल से पाइपों के द्वारा ये गैस मकानों से भी अधिक ऊँचाई पर निकाल दी जाती हैं। इन पाइपों को संवातन शैफ्ट (ventilating shaft) कहते हैं। इन्हें सामान्यतः ऐसे स्थानों पर लगाते हैं जहाँ धूप रहती है। इससे शेफ्ट गर्म हो जाता है, जिससे इन गैसों को बाहर निकलने तथा बाहर की ताजी वायु को अन्दर सीवर में प्रवेश करने में सरलता रहती है।

जलवाहन पद्धति तथा मलवाहन पद्धति में तुलना

जलवाहन पद्धति (water carriage system)	मलवाहन पद्धति (conservancy system)
१. नगर की तथा निवास स्थानों	नगरों एवं मकानों की सफाई अच्छी

की सफाई अच्छी रहती है। मल मूत्र की दुर्गन्ध नहीं आती है। मक्खियों की उत्पत्ति न्यूनतम हो जाती है।

तरह से नहीं होती है। मल, मूत्र की दुर्गन्ध आती रहती है तथा मक्खियों की उत्पत्ति बढ़ जाती है।

२. शौचालयों को मकानों के साथ, यहाँ तक कि रहने के कमरों के साथ, बनाया जा सकता है।

शौचालयों से दुर्गन्ध आती रहने के कारण निवास से दूर बनाया जाता है।

३. इस विधि के शौचालय बनाने में प्रारम्भिक व्यय अधिक होता है।

इन शौचालयों के निर्माण में अपेक्षाकृत बहुत कम व्यय होता है।

४. इन शौचालयों की सफाई के लिए कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं होती है। यदि वे हड़ताल कर दें तो भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

शौचालयों की सफाई के लिये सफाई कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। यदि वे हड़ताल कर दें तो अति कठिनाई होती है। मल, मूत्र के इकट्ठा हो जाने से रहने वालों के स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव पड़ता है।

५. मल, मूत्र को बहाने के लिये जल की आवश्यकता होती है।

मल, मूत्र को हटाने के लिये जल की आवश्यकता नहीं होती है।

६. वाहित मल (sewage) के निःस्तारण से पहिले उसके शोधन (treatment) की आवश्यकता होती है।

मल मूत्र को नगर से बाहर ले जाकर जला दिया जाता है अथवा उसे जमीन में दाब दिया जाता है।

७. सीवेज के शोधन के पश्चात् उसे खाद के रूप में व्यवहार में लाया जा सकता है।

खेती के लिये 'कम्पोस्ट' (खाद) बनाते हैं।

८. जन सामान्य के लिये स्वास्थ्यकर है।

जन सामान्य के लिये स्वास्थ्य प्रद नहीं है।

९. सफाई कर्मचारियों को गन्दा नहीं होना पड़ता है।

सफाई कर्मचारियों को गन्दा रहना पड़ता है, जो हानिकर है।

१०. पद्धति को सुचारु रूप से चलते रहने के लिये टैकनिकल कर्मचारियों की आवश्यकता रहती है।

पद्धति के लिये टैकनिकल कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं होती है।

वाहितमल का निस्तारण
(Disposal of sewage)

जैसा हम पहिले बता चुके हैं कि वाहितमल (sewage) में स्नानघर, रसोईघर, शौचालय आदि से निकला गन्दा जल, मल-मूत्र आदि होता है। यदि नगर में एक ही प्रकार की सीवर लाइन है तो नगर के औद्योगिक संस्थानों तथा नालियों आदि

का जल भी उसी सीवेज में जाता है। साधारणतया सीवेज में 99 प्रतिशत के लगभग जल का भाग रहता है शेष घन पदार्थ होते हैं। घन पदार्थों में कार्बनिक एवं अकार्बनिक दोनों प्रकार के पदार्थ होते हैं। सीवर की दुर्गन्ध कार्बनिक पदार्थों के सड़ने से उत्पन्न होती है। सीवर ने अनेक प्रकार के जीवाणु होते हैं। केवल एक ग्राम मनुष्य के पुरीष में ही लगभग एक अरब एकाइनोकोलाई (Echinocoli/E. coli), एक करोड़ से दस करोड़ तक स्ट्रेप्टोकोकाई फीकेलिस (Striptococci foecalis), दस लाख से एक करोड़ तक क्लोस्ट्रीडियम परफ्रिनजेन्स (Clostridium perfringens) के स्पोर (spores बीजाणु) तथा अन्य अनेक प्रकार के जीवाणु होते हैं। प्रत्येक मनुष्य लगभग 100 ग्राम पुरीष प्रतिदिन त्याग करता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि केवल मनुष्य ही कितनी बड़ी संख्या में जीवाणु प्रतिदिन सीवेज में छोड़ता है इसके अतिरिक्त अन्य रोगोत्पादक जीवाणु इस वाहित मल में होते हैं। इसका इसी रूप में निस्तारण स्वास्थ्य के लिये अति हानिकारक होता है। अतः निस्तारण से पूर्व इसको न्यूनतम हानिकारक बनाया जाता है। इसके लिये कार्बनिक पदार्थों को सरलतम रूपों में विघटित किया जाता है, रोगोत्पादक जीवाणुओं को नष्ट किया जाता है तथा अन्य घन पदार्थों में भी इस प्रकार परिवर्तन किये जाते हैं कि वे स्वास्थ्य के लिये हानिकारक नहीं रहे।

वाहित मल में कार्बनिक पदार्थों का विघटन दो प्रकार से होता है।

(१) वायुजीवी (aerobic) **बेक्टीरियाओं द्वारा**—इसके लिये वाहित मल (सीवेज) में वायु के माध्यम से निरन्तर ऑक्सीजन पहुँचती रहनी चाहिए क्योंकि वायुजीवी बेक्टीरिया उसी दशा में कार्य कर सकते हैं। इनकी क्रिया के द्वारा कार्बनिक पदार्थ सरल यौगिकों में विघटित हो जाते हैं तथा कार्बनडाइऑक्साइड, अमोनिया, नाइट्राइट, नाइट्रेट, सल्फेट आदि की उत्पत्ति होती है। अनेक फंजाई (fungi कवक) तथा प्रोटोजुआ (protozoa) इस क्रिया में इन बेक्टीरियाओं की सहायता करते हैं।

(२) **अवायुजीवी** (anaerobic) **बेक्टीरियाओं द्वारा**—ये बेक्टीरिया वायु (ऑक्सीजन) के अभाव में कार्यशील होते हैं। यदि सीवेज का सान्द्रण (concentration) अधिक है अर्थात् घन पदार्थ अधिक हैं तो अवायु बेक्टीरियाओं की क्रिया अधिक होती हैं। इनके द्वारा भी कार्बनिक पदार्थ अनेक सरल यौगिकों में परिवर्तित हो जाते हैं और मीथेन (methane), अमोनिया, कार्बन डाइऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S) की उत्पत्ति होती है। अवायुजीवी बेक्टीरियाओं की विघटनात्मक शक्ति वायुजीवी बेक्टीरियाओं की अपेक्षा धीमी होती है।

वाहितमल (सीवेज) के शोधन की विधियाँ

सीवेज की शोधन की विधियों को निम्नलिखित खण्डों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) प्रारम्भिक शोध (primary treatment)
(२) द्वितीयक शोधन (secondary treatment)
(३) अन्तिम शोधन (final treatment)

(I) प्रारम्भिक शोधन—प्रारम्भिक शोधन में पदार्थों को भौतिक उपायों द्वारा हटाया जाता है। अनावश्यक पदार्थों को हटाने के लिए (१) स्क्रीनिंग (screening पटेक्षण) (२) ग्रिटचेम्बर (grit chamber) (३) स्किमिंग (skimming) तथा (४) अवसादन (sedimentation) के तरीके व्यवहार में लाते हैं।

(i) **स्क्रीनिंग** (screening **पटेक्षण**)—वाहित मल (सीवेज) को पम्प द्वारा ऊपर लेने से पूर्व छान लिया जाता है अन्यथा पम्पिंग करने में रुकावट आ जाती है। इसके लिए वाहित मल के मार्ग में लोहे की छड़ें 1 से०मी० से 4 से०मी० की दूरी पर क्षैतिज (horizontal) अथवा लम्बा (vertical) लगा दी जाती हैं। इसमें पेड़ों की डालियाँ, मरे हुए पशु आदि तथा अन्य ऐसे ही बड़े पदार्थ रुक जाते हैं। इनको समय-समय पर हटाकर खत्तों में दाब दिया जाता है अथवा किसी अन्य प्रकार से नष्ट कर दिया जाता है। पम्पिग के पश्चात् भी स्क्रीनिंग की जाती है। इस समय वाहित मल में बड़े पदार्थ नहीं होते हैं इसलिए छड़ों के मध्य का फासला कम कर दिया जाता है।

(ii) **ग्रिट चेम्बर**—वाहित मल में हमेशा ग्रिट (कंकड़, पत्थर, मोटा रेत) तथा अन्य अकार्बनिक पदार्थ रहते हैं जो भारी तथा कठोर होते हैं। यदि इनको नहीं हटाया जाता है तो ये पदार्थ पम्पों, साइफनों तथा सीवर के पाइपों को अवरुद्ध कर देते हैं। इसलिए इन्हें हटाने के लिए सीवेज को ग्रिट चेम्बरों में से निकाला जाता है। जो ग्रिट इस प्रकार चेम्बर में एकत्रित हो जाता है उसे समय-समय पर हटा दिया जाता है और उपयुक्त विधि से नष्ट कर दिया जाता है।
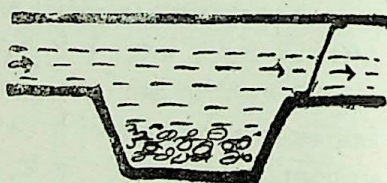
ग्रिट चेम्बर

चित्र 8·10

(iii) **स्किमिंग** (skimming)—सीवेज में तैल और चिकने पदार्थ भी होते हैं इनमें वसा (fat), कैल्शियम एवं मैगनेशियम का साबुन (magnesium soap), खनिज तैल (डीजल तैल, मोबिल ऑइल आदि) तथा अन्य प्रकार के चिकनाई वाले पदार्थ होते हैं। यदि ये पदार्थ सीवेज से हटाये नहीं जाते हैं तो (i) जब सीवेज के जल को नदी आदि में डालते हैं तो इनकी एक पतली पर्त जल के ऊपर फैल जाती है जिससे सूर्य की किरणों द्वारा शोधन क्रिया में बाधा पड़ती है, (ii) वायुजीवीवेक्टीरियाओं की क्रिया मन्द या समाप्त हो जाती है, केवल अवायुजीव वेक्टीरियाओं की क्रिया ही होती रहती है। (iii) चिकनाई वाले पदार्थ सीवेज के शोधन कार्य के यन्त्रों के कार्य में कठिनाई पैदा कर देते हैं।

लगभग एक मीटर गहरे तालाबों से सीवेज को धीमी गति से निकाला जाता है। तालाबों के आधार से सम्पीड़ित (compressed) वायु को सीवेज में प्रवेश कराते हैं जिससे ग्रीज चिकनाई आदि स्कन्दित (coagulate) होकर सतह पर तैरने लगती है। इन चिकनाई के पदार्थों को समय-समय पर ऊपर से हटाकर पृथक कर देते हैं तथा उपचार के पश्चात् ये समाप्त कर दिये जाते हैं। इससे सीवेज काफी हद तक साफ हो जाता है। हाइड्रोजन सल्फाइड आदि गैसें भी बाहर निकल जाती हैं।
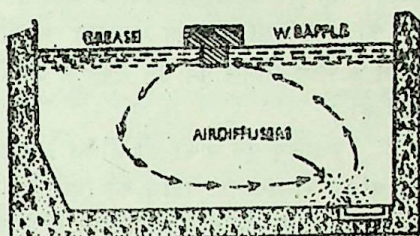
स्किमिंग टैंक (Skimming tank)

चित्र 8·11

(iv) अवसादन (sedimentation)—अवसादन का मुख्य उद्देश्य सीवेज के शेष निलम्बित (suspended) पदार्थों को पृथक करना है जिससे कि रासायनिक एवं जैव शोधन क्रियायें ठीक प्रकार से सम्पन्न हो सकें। इसके लिए टैंकों में सीवेज को कुछ समय के लिए रोक लिया जाता है अथवा अत्यन्त धीमी गति से प्रवाहित किया जाता है। इस प्रकार शेष निलम्बित पदार्थ भी नीचे सतह पर बैठ जाते हैं।
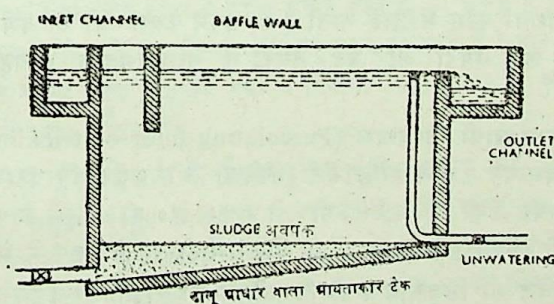
चित्र 8·12 अवसादन टैंक

इस अवपंक (sludge स्लज) को नीचे से समय समय पर हटाकर नष्ट कर दिया जाता है।

(II) द्वितीयक शोधन (**Secondary treatment**)—इस विधि के अन्तर्गत रासायनिक अवसादन एवं जीवाण्विक शोधन (Bacteriological treatment) आदि क्रियायें आती हैं।

1. रासायनिक अवसादन (chemical sedimentation)—इस शोधन विधि से सीवेज में घुले हुए बहुत महीन कणों तथा कॉलाइडी (colloidal) कणों, जिनकी मात्रा बहुत अधिक होती है, को हटाया जाता है। इन्हें अवसादन विधि से

हटाया नहीं जा सकता था क्योंकि अत्यन्त छोटे कण होने के कारण इनकी नीचे तल की ओर जाने की गति अत्यन्त धीमी होती है। इनको अवसादन विधि से हटाने के लिए सीवेज को उन टेंकों में काफी समय तक रोकना पड़ता, जो सम्भव नहीं था।

इसलिए इन कणों को सीवेज से हटाने के लिए सीवेज में नीचे लिखे किसी एक वर्णित रासायनिक पदार्थ को मिलाते हैं ये रासायनिक पदार्थ उन कणों से संयुक्त होकर उन्हें तल की ओर शीघ्र गति से ले जाते हैं। इस प्रकार इनका कार्य स्कन्दक (coagulant) के रूप में होता है। ये पदार्थ हैं—(१) फिटकरी, (२) चूना, (३) फेरिक सल्फेट, (४) एल्यूमीनियम क्लोरोहाइड्रेट (५) सोडियम सिलीकेट आदि।

उचित रासायनिक पदार्थ को सीवेज में डालकर लकड़ी के डण्डों से खूब मिला दिया जाता है फिर लगभग ½ घण्टे का समय ऊर्णन (flocculation) के लिए देते हैं। इस समय सीवेज के बहाव की गति लगभग 20 से०मी० प्रति सेकेण्ड रखते हैं। इसके पश्चात् सीवेज को लगभग 2 घण्टों के लिए इसी टेंक में रोक लिया जाता है इतने समय में लगभग समस्त कण तल पर बैठ जाते हैं। जहाँ से उन्हें समय-समय पर हटा कर भूमि में दाब दिया जाता है क्योंकि यह अवपंक (स्लज) अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त होता है।

(२) **जीवाण्विक शोधन** (Bactriological Treatment)—इस कार्य के लिए अनेक विधियाँ काम में लाई जाती हैं। उनमें केवल दो का वर्णन किया जा रहा है जिनको छोटे नगरों और बड़े नगरों में साधारणतया व्यवहार में लाया जाता है।

(1) **अन्तःस्रावी निस्यन्दक** (Percolating filter or trickling filter)—रासायनिक अवसादन टेंक से वाहितमल (सीवेज) सीधा इन निस्यन्दकों में आता है। इन निस्यन्दक टैंकों में 1-5 से०मी० से 6·50 से० मी० तक के पत्थरों, ईंटों के टुकड़े (रोड़ी (ballast) लगभग 1-2 मीटर मोटी तह के रूप में भरे रहते हैं। इनके ऊपर सीवेज का छिड़काव करते हैं। सीवेज को पाइपों द्वारा इनके ऊपर लाते हैं पाइपों में छोटे-छोटे छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा सीवेज छिड़काव के रूप में निकलकर रोड़ी के ऊपर गिरता रहता है। वायुमण्डल की ऑक्सीजन इस सीवेज के सम्पर्क में आती है और उसका कुछ अंश उसमें घुल जाता है। जब सीवेज रोड़ियों में रिसता हुआ नीचे की ओर चलता है, वहाँ पर उपस्थित वायुजीवी (aerobic) बेक्टीरिया, फंजाई (fungi कवक), प्रोटोज़ुआ (protozoa), शैवाल (algae) आदि के सम्पर्क में आता जाता है। सीवेज में उपस्थित कार्बनिक पदार्थ सरल कार्बनिक यौगिकों में परिवर्तित होते जाते हैं। इस क्रिया द्वारा सीवेज का जीवाणु भार 70 से 85 प्र०श० तक कम हो जाता है। नीचे के जल पर जो सीवेज पहुँचता है उसे, उसके कार्बनिक यौगिकों को हटाने के लिए, दूसरे अवसादन टेंक में भेज दिया जाता है। यहाँ पर सीवेज 2-2½ घण्टे रोक लिया जाता है जिससे समस्त निलम्बित कण नीचे तल पर

बैठ जाते हैं। जो अवपंक (sludge), इस प्रकार, नीचे बैठ जाता है वह गन्ध रहित होता है और उत्तम खाद के रूप में व्यवहार मे लाते हैं। इस अवपंक को सक्रियत (activated) अवपंक कहते हैं।

(२) **सक्रियत अवपंक प्रक्रम** (activated sludge process)—अन्त:स्रावी निस्यन्दक छोटे नगरों में ही काम में लाए जाते हैं क्योंकि उसकी गति धीमी होती है। जहाँ सीवेज अधिक होता है वहाँ यह प्रक्रम अधिक उपयोगी नहीं होता है। बड़े नगरों में सीवेज को बड़े तालों (टेंकों) में लाते हैं जहाँ कुछ सक्रियत अवपंक पहिले से ही होता है। इस टेंक के सीवेज में नीचे से वायु पहुंचाते हैं। वायु की ऑक्सीजन सीवेज के जल में घुल जाती है। सक्रियत अवपंक में वायुजीवी बेक्टीरिया, फँजाई, प्रोटोजोआ आदि पहिले से ही होते हैं। उनकी क्रिया के फलस्वरूप सीवेज में उपस्थित कार्बनिक पदार्थ कार्बन डाइ ऑक्साइड, नाइट्रेट तथा जल में परिवर्तित हो जाते हैं। इन बेक्टीरियाओं की क्रिया से टाइफाइड तथा विसूचिका के जीवाणु भी नष्ट हो जाते हैं। इस टेंक में सीवेज को कुछ समय के लिए रोककर फिर अवसादनार्थ अवसादन टेंक में भेज देते हैं, जहाँ अवसादन द्वारा समस्त निलम्बित पदार्थ तल में बैठ जाते हैं। वहाँ से उन्हें समय-समय पर हटा लिया जाता है। इसे उत्तम खाद के रूप में उपयोग किया जाता है।

(III) अन्तिम शोधन (Final treatment)—द्वितीय अवसादन टेंक से निकला सीवेज बिल्कुल साफ जल होता है परन्तु इसमें जीवाणु हो सकते हैं इसके लिए इसमें ब्लीचिंग पाउडर मिलाते हैं। जिससे जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। इस क्रिया के बाद सीवेज हानि रहित होता है। उसे नदी में निकाल दिया जाता है अथवा सिंचाई के लिए काम में लाया जाता है।

वाहित मल (सीवेज) के निस्तारण (disposal) की अन्य विधियाँ

(१) **समुद्र**—समुद्र के किनारे के नगरों में सीवेज को समुद्र में छोड़ दिया जाता है। अथाह जल में मिलकर सीवेज का घनत्व कम हो जाता है तथा सूर्य की किरणों द्वारा जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। बम्बई में २/३ भाग सीवेज इसी प्रकार समुद्र में निकाल दिया जाता है। इसमें हानि यह है कि लहरों के साथ मल आदि कभी-कभी समुद्र के किनारे पर आ जाता है जिसके कारण अस्वास्थ्यकर स्थिति हो जाती है। इस बुराई को रोकने के लिए अब समुद्र में बहुत अन्दर अनेक स्थानों पर सीवेज को डाला जाता है।

(२) **नदी**—बिना उपचार किए वाहितमल को नदियों के जल में छोड़ना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिप्रद है। भारत में मनुष्य नदियों में स्नान करते हैं उसके जल को पीने आदि के लिए भी प्रयोग में लाते हैं। वाहितमल-मिश्रित नदी जल इन सब कार्यों के लिए अत्यन्त दूषित होता है। सीवेज गिरने से काफी नीचे जाकर नदी का जल इतना दूषित नहीं रहता है क्योंकि सूर्य की किरणें, वायु की

ऑक्सीजन, शैवाल (algae), फंजाई (कवक fungi) आदि द्वारा जल के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, तथा कार्बनिक पदार्थ सरल यौगिकों में परिवर्तित हो जाते हैं, निलम्बित अशुद्धियाँ नीचे तल पर वैठ जाती हैं। इन कारणों से नदी जल में दूषण की उग्रता समाप्त हो जाती है।

(३) **कृषि**—अनेक नगरों में सीवेज को स्क्रीनिंग तथा ग्रिट पृथक्करण के पश्चात् कृषि भूमि में निकाल दिया जाता है। इसके प्राप्त होने के पश्चात् कृषि भूमि में अन्य किसी प्रकार के खाद की आवश्यकता नहीं होती है और लगभग प्रत्येक फसल की काश्त की जा सकती है। परन्तु उन फसलों को उगाना, जिन्हें कच्चा खाया जाता है, स्वास्थ्य के लिए उचित नहीं है। अतः टमाटर, खीरा, तरबूज, खरबूजा, गन्ना आदि की फसल नहीं लेनी चाहिये।

(४) **ऑक्सीजन ताल** (Oxidating ponds)—छोटे नगरों के लिए यह विधि उत्तम है। भारत में लगभग 50 नगरों में इस प्रक्रिया को व्यवहार में लाया जा रहा है। इस विधि में 1-1·5 मीटर (3-5 फिट) गहरे ताल में सीवेज को स्क्रीनिंग तथा ग्रिट पृथक्करण के बाद निकाल दिया जाता है। ताल में (१) वायुजीवी वेक्टीरिया दिन में तथा अवायुजीवी वेक्टीरिया रात्रि में क्रियाशील हो जाते हैं। इनकी क्रिया के फलस्वरूप कार्बनिक पदार्थ सरल कार्बोनिक यौगिकों में परिवर्तित हो जाते हैं तथा कार्बन डाइऑक्साइड आदि गैसों की उत्पत्ति होती है। (2) सूर्य प्रकाश में कार्बन डाइ ऑक्साइड तथा अनेक अकार्बनिक लवणों को शैवाल अपनी वृद्धि के लिए काम में ले आते हैं। वे कार्बनडाइऑक्साइड का उपयोग कर ऑक्सीजन को निकाल देते हैं। वह ऑक्सीजन ऑक्सीकरण की क्रिया सम्पन्न करती है। ये दोनों क्रियायें सूर्य प्रकाश में सम्पन्न होती रहती हैं।

तालों में नीचे जो निःसरण (efflucent) जमा हो जाता है उसका उपयोग खाद के लिए किया जाता है। ताल के सीवेज को या तो नदी आदि में निकाल दिया जाता है अथवा कृषि के काम में सिंचाई के लिए ले आते हैं। मच्छरों आदि की उत्पत्ति नहीं होने देने के लिए ताल के किनारों को पौधों, घास आदि से मुक्त रखा जाता है। इन तालों से दुर्गन्ध नहीं आती है क्योंकि वेक्टीरिया आदि अपनी क्रिया द्वारा कार्बनिक पदार्थों को विघटित कर देते हैं। दुर्गन्ध कार्बनिक पदार्थों के सड़ने से ही आया करती है यहाँ वह स्थिति नहीं होती है। सीवेज की मिकदार (quantity) के अनुसार एक से अधिक तालों की आवश्यकता हो सकती है।

———

६

शव का विनाश

शव के विनाश का ढंग विज्ञान की अपेक्षा अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं के साथ जुड़ गया है।

भारत में हिन्दू, बौद्ध तथा जैन शव का अग्नि दाह करते हैं। प्रत्येक नगर ग्राम आदि में इस कार्य के लिए स्थान नियत रहता है। यदि वह आबादी किसी नदी के तट पर बसी हुई है तो वह स्थान नदी के तट के समीप होता है। लकड़ियों की चिता बनाकर शव को उस पर रख, ऊपर से भी लकड़ियाँ रख सिर की ओर से अग्नि दाह करते हैं। यह मनुष्य का अन्तिम संस्कार माना जाता है। अत: अग्नि दाह वेद मंत्रों से घी एवं सामग्री (सुगन्धि काष्ठ औषधियों का चूर्ण) की आहुति से प्रारम्भ किया जाता है। तीसरे दिन अग्नि शान्त हो जाने पर शव की राख आदि एकत्रित कर किसी पवित्र नदी में उसे विसर्जित कर देते हैं। शव दाह के लिए सामान्यत: २-३ क्विटल लकड़ियों की आवश्यकता पड़ती है। इससे कम लकड़ियाँ होने पर अस्थियाँ पूर्ण रूप से राख में परिवर्तित नहीं होती हैं। वक्षादि कुछ भागों का पूर्ण दाह नहीं होता है। छोटे बच्चों के शव को भूमि में गाड़ देते हैं।

कुछ रोगों में यथा चेचक, सर्प दंश से मृत का अग्निदाह नहीं करने की एक अस्वस्थकर परिपाटी चली आती है। ऐसे व्यक्ति को जल प्रवाह कर देते हैं। नदियों में ऐसे एवं अर्ध दग्ध शव सामान्यत: देखे जाते हैं। यह स्वास्थ्य को अत्यन्त हानि पहुँचाने वाली प्रथा है जो समाप्त होती जा रही है। साधु सन्यासियों के परिवार नहीं होता है और नाही वे प्राचीन काल में अपने पास धन संचय रखते थे। अतः जल प्रवाह की सुविधा नहीं होने पर भूमि में गाड़ देते थे। साधु सन्यासी योग साधन में व्यस्त रहते थे। अत: उनके शव को पेशियों के कठोर होने के पूर्व ही बैठे हुए आसन में बैठा दिया जाता है। उसी स्थिति में जल प्रवाह अथवा भूमि विश्राम दिया जाता है। गिरि, पुरी, भारती आदि दशनाम के साधुओं का एक वर्ग यद्यपि गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर गया है फिर भी इनमें शव के अन्तिम संस्कार की विधि उपरोक्त वर्णित साधु सम्प्रदाय के समान ही है।

आजकल कुछ बड़े नगरों में, यथा कलकत्ता, बम्बई, देहली में, विद्युत शवदाह गृह बन गए हैं जिनमें शव के रखने के लिए लगभग २·२५ मीटर लम्बा तथा ४५ से० मी० चौड़ा स्थान होता है। शव को उस पर रख दिया जाता है तथा विद्युत धारा प्रवाहित कर दी जाती है। लगभग २ घण्टे में शव का पूर्ण रूप से दाह हो जाता है।

पश्चिम के ईसाई देशों में भी अब शव दाह की वैज्ञानिकता को पहिचानने लगे हैं। वे भी अपने शव का दाह करने लगे हैं। राख को पात्र में भरकर मृतक का नाम आदि लिखकर चर्च में इस कार्य के लिए बने स्थान पर रख देते हैं। अन्यथा ईसाई धर्मावलम्बी अपने शवों को लकड़ी के तावूत में बन्द कर भूमि में गाढ़ देते हैं। यही प्रथा यहूदी एवं मुस्लिम धर्म के मानने वालों में है। जमीन में गड्ढा कर उसमें चटाई बिछाकर उस पर शव को रख ऊपर से चटाई आदि से ढककर मिट्टी से गड्ढे को भर देते हैं। ईसाई तथा मुस्लिम धर्मावलम्बी कब्र के ऊपर मरने वाले का नाम आदि एक पत्थर पर लिखकर उसे खड़ा कर देते हैं। इस पत्थर के लेख को एपिटॉफ (epitaph) कहते हैं। एक शव के दफनाने के लिये ७ × ३ फीट स्थान की आवश्यकता होती है।

पारसी अपने शवों को एक नियत स्थान पर रख देते हैं जहाँ गिद्ध आदि पक्षी उसे नष्ट कर देते हैं। जिस प्रकार हमारी अंगीठी (सिगड़ी) होती है, कोयले रखने के लिए लोहे की सरियों का जाल होता है। इसी प्रकार ईंटों का बना टावर नुमा स्थान होता है। उसके ऊपरी भाग में दीवार में शव रखने के लिए स्थान बने रहते हैं। इस टावर को शान्ति स्तम्भ (tower of silence) कहते हैं। पारसी शवों को इन स्थानों पर रख देते हैं। गिद्ध आदि पक्षी इन शवों के माँस आदि भाग को समाप्त कर देते हैं तथा उनकी अस्थियाँ नीचे गिरती जाती हैं।

तिब्बत में ईंधन की कमी के कारण शवों के छोटे-छोटे टुकड़े कर पक्षियों के खाने के लिए मैदान में रख देते हैं। मांसाहारी पक्षी मांस आदि को समाप्त कर देते हैं।

इस प्रकार शव के विनाश की क्रियाओं में वैज्ञानिकता कम तथा धार्मिक एवं आर्थिक मान्यतायें अधिक जुड़ी रहती हैं।

———

१०

औद्योगिक संस्थान एवं स्वास्थ्य

आजकल कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक है। जैसे-२ उद्योगों का विस्तार होता जायेगा इन व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होती जायेगी। साथ ही साथ उनके स्वास्थ्य को बनाये रखने की समस्यायें भी बढ़ती जायेंगी। यहाँ हम इन व्यक्तियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारण तथा इन परिस्थितियों में स्वास्थ्य को बनाये रखने के उपायों का वर्णन कर रहे हैं। सुविधा की दृष्टि से हम इन कारणों को तीन भागों में बाँट रहे हैं।

(१) मनुष्य एवं उसको प्रभावित करने वाले भौतिक, रासायनिक तथा जैविक कारण

(२) मनुष्य एवं मशीन

(३) मनुष्य एवं मनुष्य

भौतिक कारण—उद्योगों में काम कर रहे व्यक्तियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले भौतिक कारण हैं ऊष्मा (heat), शीत (cold), वायुगति, आर्द्रता (humidity) प्रकाश, कोलाहल (noise शोर), कम्पन (vibration), आयनन विकिरण (ionizing radiation) आदि तथा श्वास लेने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होने वाली शुद्ध वायु की मात्रा, शौचनिवृत्ति स्नान आदि की सुविधाएँ, प्रकाश की व्यवस्था आदि, ये समस्त भौतिक आवश्यकतायें स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं।

तापमान (temperature) **(ऊष्मा अथवा शीत)**—अधिकांश औद्योगिक संस्थानों में भट्टी, बॉयलर आदि के कारण ऊष्मा की समस्या रहती है। यदि कार्य-कर्त्ता ऊष्मा के सीधे सम्पर्क में आता है और ऊष्मा का तापमान उच्च है तो वह दग्ध हो सकता है अन्यथा सीधे प्रभाव के कारण आतपक्लान्त (exhaustion), ऊष्मा घात (heat stroke), ऊष्मी उद्वेष्ठ (heat cramp) आदि होने की सम्भावना रहती है। यदि ऊष्मा का प्रभाव सीधा नहीं पड़ रहा है तो भी कार्य शक्ति में न्यूनता (शीघ्र थकान) आ जाती है, जिसके कारण दुर्घटनाओं की सम्भावना बढ़ जाती है।

कुछ उद्योगों में यथा ढलाई (foundries), काँच, स्टील आदि में भट्टी आदि से ऊष्मा विकसित (radiate) हो कार्यकर्त्ताओं को सीधे प्रभावित करती है जबकि जूट, कपड़ा आदि उद्योगों में ऊष्मा एक सी रहती है। यह कार्यकर्त्ताओं को सीधे

प्रभावित नहीं करती है। खानों (mines) आदि जो पृथ्वी तल से नीचे होती हैं, उनके अन्दर का तापमान गहराई के अनुसार अधिक हो जाता है। मैसूर की कोलार स्वर्ण खाने संसार की सबसे गहरी खानों में हैं, इनमें तापमान 150°F तक पहुँच जाता है। सामान्यत: 68° से 80°F के मध्य का तापमान काम करने वालों के लिए सबसे अधिक सुविधा जनक होता है। 80°F से जितना अधिक तापमान बढ़ता है कार्यकर्त्ताओं में उतना ही अधिक शक्ति शैथिल्य उत्पन्न करता है।

प्रकाश (light)—प्रकाश कम तेज हो अथवा अधिक तेज, दोनों ही दशाओं में कार्यकर्त्ता की नेत्रज्योति पर दुष्प्रभाव पड़ता है। अल्प प्रकाश में नेत्रों में शीघ्र थकान आ जाती है, जिससे दुर्घटनाओं की सम्भावना बढ़ जाती है। यदि नेत्रों पर कार्य करने के लिए अधिक समय तक जोर पड़ता रहता है, तो सामान्य दृष्टि पर उसका हानिकर प्रभाव पड़ता है। उसकी दृष्टि कमजोर हो जाती है। इसी प्रकार यदि प्रकाश अति तीव्र है, यथा वेल्डिंग आदि के कार्य में, उसका प्रभाव नेत्र की आन्तरिक रचना पर हानिकर पड़ता है और दृष्टि नष्ट हो जाने तक का डर रहता है। कार्य को ठीक प्रकार से करने के लिए प्रत्येक औद्योगिक संस्थान में प्रकाश की उचित व्यवस्था होना अत्यन्त आवश्यक होता है।

शोर (noise)—बहुत से उद्योगों में मशीन आदि का शोर बहुत होता है। ऐसे उद्योगों में लगातार काम करते रहने से कार्यकर्त्ता दो प्रकार से प्रभावित होते हैं (१) श्रवण शक्ति अस्थायी अथवा स्थायी रूप से नष्ट हो जाती है और वह व्यक्ति उसी के अनुरूप अस्थायी अथवा स्थायी बधिर हो जाता है। (२) व्यक्ति सामान्य बातचीत में भी जोर से बोलने लगता है। जिससे शीघ्र थकान आ जाती है, कार्य शक्ति कम हो जाती है तथा अधीरता (nervousness) के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

आयनन विकिरण (ionizing radiation)—चिकित्सा विज्ञान सम्बन्धी तथा अनेक अन्य उद्योगों में एक्स-किरण (x-ray) तथा रेडियोएक्टिव आइसोटोप (radioactive isotopes-विघटनाभिक समस्थानिक) का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है। रेडियोएक्टिव आइसोटोपों में कोबाल्ट 60 तथा फॉस्फोरस 30 प्रमुख हैं। शरीर के कुछ ऊतक तथा अंग अन्य ऊतकों की अपेक्षा इनसे शीघ्र प्रभावित होते हैं यथा जननांगों (gonads) पर अधिक प्रभाव पड़ने से बन्ध्यता हो जाती है। इनके दुष्प्रभाव से शरीर में जीनी (genetic) परिवर्तन तक की सम्भावना हो जाती है। कुरचना (malformation), केन्सर, अतिश्वेत कोशिका रक्तता (leukaemia), लोमशातन (depilation), अपुष्टि (atrophy), व्रणोत्पत्ति (ulceration) तथा बहुत अधिक विकिरण से मृत्यु भी हो जाती है।

उपरोक्त भौतिक कारणों से होने वाले रोग—

(१) **ऊष्मा** (heat) **द्वारा**—ऊष्मा अतिज्वर (heat hyperpyrexia),

आतप क्लान्ति, मूर्च्छा (syncope), ऊष्मा उद्वेष्ट (heat cramps), दग्धता, स्थानीय अंधौरी (prickly heat-धर्म राजिका) आदि।

(२) शीत (cold) द्वारा—खातपैर (trench foot), हिमोपहति (frost bite), शीतशोथ (chilblains चिलब्लेन) आदि।

(३) प्रकाश (light) द्वारा—मोतियाबिन्दु, खनिक अक्षि दोलन (miners mystagmus) आदि।

(४) दाव (pressure) द्वारा—कैसान रोग (caisson disease), वायु अन्त:शल्यता (air embolism), विस्फोट (blast, explosion) आदि।

(५) शोर (noise) द्वारा—वधिरता आदि।

(६) विकिरण (radiation) द्वारा—केन्सर, अति श्वेत कोशिका रक्तता, अविकारी अरक्तता (aplastic anaemia), पूर्ण रक्तकोशिका हीनता (pancyto-penia) आदि।

(७) यान्त्रिक कारणों (mechanical factors) द्वारा—क्षति (injury), दुर्घटना (accident)।

(८) विद्युत (electricity) द्वारा—दग्धता, आघात (shock) आदि।

रासायनिक कारण—आजकल उद्योगों में रासायनिक पदार्थों का व्यवहार अधिक मात्रा में हो रहा है और जैसे-जैसे विज्ञान उन्नति करता जा रहा है इनका प्रयोग भी बढ़ता जा रहा है। इन उद्योगों में काम कर रहे व्यक्ति इनसे अधिकाधिक संख्या में प्रभावित होते जा रहे हैं। यथा—

(१) **त्वच् रोग**—कुछ रासायनिक पदार्थ त्वक् रोगों के कारण हैं। ये रोग हैं पामा (छाजन, eczema एक्जीमा), केन्सर, व्रण आदि। इनमें से अधिकांश उनके प्रति प्रत्यूर्जता (allergy एलर्जी) के कारण होते हैं। कुछ रासायनिक पदार्थ यथा नाइट्रो एवं एमीनो यौगिक त्वचा द्वारा अवशोषित हो त्वक् रोग उत्पन्न करते हैं। मशीन का तैल, रबर, कास्टिक क्षार, चूना, एक्सकिरण आदि भी त्वक् रोगों के कारण हो जाते हैं।

(२) **धूल** (nust)—श्वास द्वारा धूल आदि के कण अन्दर फुफ्फुसों में पहुँच कर फुफ्फुस के अनेक रोग उत्पन्न करते हैं। अनेक उद्योगों यथा खान (mines), ढलाई (foundary), खदान (quarry), सीमेन्ट, पोटरी (pottery), कपड़ा, लकड़ी, पत्थर आदि उद्योगों में काम के समय धूल उत्पन्न होती है। धूल में पदार्थों के सूक्ष्म कण 0·1 से 150 माइक्रोन (μ=micron माइक्रोन=1/1000 मि० मी०) आकार के होते हैं। 5 माइक्रोन से बड़े कण श्वास मार्ग के ऊपरी भाग में रुक जाते हैं परन्तु छोटे कण विशेष रूप से 3 माइक्रोन से छोटे कण फुफ्फुसों में श्वास वायु के साथ पहुँच जाते हैं और वहाँ रुक कर फुफ्फुस धूलिमयता रोग (pneumoconiosis) का कारण बनते हैं।

धूल में कार्बनिक (organic), अकार्बनिक (inorganic) जल में विलेय तथा जल में अविलेय, सब प्रकार के कण, उद्योगों के अनुसार, होते हैं। अकार्बनिक धूल में अभ्रक, कोयला, रेत, चूना आदि के कण होते हैं तथा कार्बनिक धूल कणों में रूई, ऊन, जूट, गन्ने की खोई (baggase), भूसे आदि के कण होते हैं। जल में विलेय कण धीरे-धीरे रक्त में विलेयित हो अधिकांश वृक्कों द्वारा शरीर से निष्कासित हो जाते हैं परन्तु अविलेय धूल कण फुफ्फुसों में सदैव के लिये रुक जाते हैं तथा फुफ्फुस शोथ (pneumonitis) के कारण बन जाते हैं।

(३) **गैसें**—आजकल अनेक उद्योगों में विभिन्न गैसें उत्पन्न होती हैं। इनमें काम करने वालों का स्वास्थ्य प्रभावित होता है। ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि कुछ सरल गैसें हैं। परन्तु कुछ गैसें श्वासावरोध उत्पन्न करती हैं यथा कार्बनमोनो ऑक्साइड, क्लोरीन आदि। कुछ गैसें संवेदनाहारी (anaesthetic) होती हैं यथा क्लोरोफार्म, ईथर, ट्राईक्लोरइथेलीन, बेन्जीन आदि। स्टील तथा कोयले के उद्योगों में कार्बन मोनो ऑक्साइड विशेष रूप से निकलती हैं।

कार्बनडाइऑक्साइड (CO_2), कार्बनमोनोऑक्साइड (CO), एमोनिया (NH_3), हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S), हाइड्रोक्लोरिक एसिड (HCl), सल्फरडाई ऑक्साइड (SO_2), हाइड्रोजन साइनाइड (HCN) आदि गैसें विषैली होती हैं।

(४) **धातुयें और यौगिक** (metals & compounds)—एक बड़ी संख्या में धातुयें और उनके यौगिक आजकल उद्योगों के काम में लाये जाते हैं।-इनके छोटे सूक्ष्म कण धूल अथवा धुवें के रूप में श्वास एवं मुख मार्ग से शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। औद्योगिक क्षेत्रों के चिकित्सकों को उनके विषैले प्रभाव से परिचित रहना चाहिए। इस प्रकार की कुछ धातुयें हैं—'आर्सिनिक बैरीलियम (beryllium), लेड (सीसा-lead), केडमियम, कोबाल्ट, जिन्क (यशद-zinc), मैनगेनीज, पारद फॉस्फोरस, क्रोमियम आदि। इनके जो कण मुख द्वारा शरीर में पहुँचते हैं, उनमें अधिकांश पुरीष द्वारा शरीर से निकल जाते हैं फिर भी अनेक अपना विषैला प्रभाव शरीर में प्रकट करते हैं।

जैविक (Biological) कारण—जो कार्यकर्त्ता पशुओं तथा उनसे प्राप्त पदार्थों के उद्योगों में काम करते हैं, उन्हें वाइरस (viral), रिकेटसियेल (rickettsial), रेक्टीरियल (bacterial) तथा परजीवी (parasite) कीटाणुओं के सम्पर्क में आने की सम्भावना रहती है। ये कीटाणु जल, मिट्टी, तथा भोजन के द्वारा भी कार्यकर्त्ताओं को संक्रमित कर सकते हैं। इनके द्वारा उत्पन्न मुख्य रोग हैं—

ब्रूसेलोसिस (brucellosis), लेप्टोस्पाइरा रुग्णता (leptospirosis), फुफ्फुसी एन्थ्रेक्स (pulmonary anthrax) ऊन का काम करने वालों को होता है एक्टीनोमाईसीजता (actinomycosis), हाइडेटिडोसिस (hydatidosis), शुकरोग (सिटैकोसिस-psittacosis), टेटनस (tetanus धनुस्तम्भ), मस्तिष्कशोथ (encephalitis), कवक संक्रमण (fungal infection) आदि।

मनुष्य और मशीन—लगभग सभी कारखानों में मशीनें होती हैं। यदि कर्मचारियों की मशीनों से सुरक्षा के उचित प्रबन्ध नहीं किये जाते हैं तो उनसे दुर्घटनायें होने की सम्भावना रहती है। मशीनों पर बहुत देर तक काम करते रहने पर थकान (fatigue), पीठ में दर्द, पेशियों एवं संधियों में वेदना होते लगती है और स्वास्थ्य गिरता जाता है। कार्य कुशलता में भी कमी आ जाती है अतः कर्मचारियों से प्रति दिन ९ घण्टों से अधिक कार्य नहीं लेना चाहिये तथा 5 घण्टे लगातार काम करने के पश्चात् आधा घण्टे का अवकाश दिया जाना आवश्यक है।

मनुष्य और मनुष्य—इनमें वे सब सामाजिक एवं भावनात्मक कारण आ जाते हैं जिनसे एक कार्यकर्ता दूसरे कार्यकर्ता से तथा अपने उच्च अधिकारियों से सम्बन्ध रखता है। जिस वातावरण में वह घर में रहता है तथा कारखाने में जाकर काम करता है उसका उसके स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। घरेलू चिन्ताएँ उसको उसके कार्य क्षेत्र में भी घेरे रहती हैं। इसी प्रकार कारखाने की समस्यायें, कठिनाइयाँ घरेलू जिन्दगी में भी उसे चिन्तित रखती हैं। अतः यह आवश्यक है कि उसका घरेलू एवं कार्य क्षेत्र का वातावरण उसके अनुकूल रहे। उसकी समस्याओं का उचित समाधान का प्रबन्ध रहे।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने औद्योगिक संस्थानों के कार्य में लगे हुए व्यक्तियों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सन् 1953 में कुछ सिफारिशें की थी जिनका पालन औद्योगिक संस्थान करते हैं। उनमें से मुख्य सिफारिशें नीचे दी जा रही हैं।

(१) **पोषण**—औद्योगिक संस्थानों के संचालकों का यह कर्त्तव्य है कि वे देखें कि उनके संस्थान में कार्यरत व्यक्तियों को पौष्टिक भोजन उचित मूल्य पर उपलब्ध है, क्योंकि स्वस्थ कार्यकर्त्ता ही अधिक उत्पादन प्रस्तुत कर सकता है। सन् 1948 में भारत सरकार ने कानून बनाकर यह अनिवार्य कर दिया है कि जिस संस्थान में 250 या अधिक कर्मचारी काम करते हैं उस संस्थान के प्रबन्धकों को अपने यहाँ ऐसी केन्टीन (canteen-भोजनालय) अवश्य खोलना होगा जहाँ स्वस्थ एवं स्वच्छ वातावरण में काम करने वाले व्यक्तियों को अल्प मूल्य में अधिक पोषक तत्वों वाली आहार वस्तुएँ प्राप्त होती रहें तथा जो कर्मचारी अपने साथ अपना भोजन लाते हैं, उन्हें भोजन करने के लिए स्वच्छ एकान्त स्थान मिलता रहे।

(२) **संचारी रोगों पर नियन्त्रण**—औद्योगिक संस्थान को कर्मचारियों के रोगी होने पर उनके निदान एवं चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध रहना चाहिए तथा रोगों के नहीं हो इसकी रोकथाम का भी पहिले से ही प्रबन्ध होना चाहिए। ऐसे रोग विशेषों के प्रति, जो उस औद्योगिक संस्थान में व्यक्तियों को हो सकते हैं, रोग क्षमता (immunity) उत्पन्न करने का प्रबन्ध भी होना चाहिए जिससे उस संस्थान से कर्मचारी उन रोगों के प्रभाव से मुक्त रहें। कर्मचारियों के परिवारजनों की चिकित्सा आदि का प्रबन्ध भी रहना चाहिए।

(३) **पर्यावरण की स्वच्छता**—संस्थान के कर्मचारी एवं उनके परिवारजन स्वस्थ बने रहें इसके लिये संस्थान के संचालकों का कर्त्तव्य है कि वे उनके लिये (i) **शुद्ध पेयजल** की व्यवस्था करें। जल पर्याप्त मात्रा में उनके निवास स्थानों पर भी मिलता रहे। जल में, स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाला, कोई भी अंश नहीं होना चाहिए। कारखाने में जल को लेने की भी सुव्यवस्था होनी चाहिए। एक पात्र से जल पीने की विधि स्वास्थ्य के लिये हानिकर होती है। ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पात्र में जल ले सके। ग्रीष्म ऋतु में ठण्डे जल प्राप्ति की भी व्यवस्था होनी चाहिए। (ii) **आहार**—भोजन की वस्तुएँ, उनको पकाने का ढंग, पकाने तथा खाने के पात्र, उनको रखने का स्थान, परोसने एवं भोजन करने का स्थान पूर्ण स्वच्छ रहना चाहिए। वहाँ पर मक्खी आदि का पूर्ण अभाव होना चाहिए, अन्यथा अनेक रोगों के, विशेष रूप से जठरान्त्र (gastro-intestinal) रोगों के होने की सम्भावना रहती है। (iii) **शौचनिवृत्ति**—औद्योगिक संस्थानों में उचित स्थान पर प्रति २५ व्यक्ति के लिये कम से कम एक शौचालय अवश्य होना चाहिए। स्त्री एवं पुरुषों के लिये पृथक्-पृथक् शौचालय एवं मूत्रालय होने चाहिए। शौचालयों में मल निस्सारण व्यवस्था होनी चाहिये। मक्खी आदि का अभाव रहना चाहिये। मूत्रालयों में मूत्र त्याग के स्थान पर नेफ्थलीन की गोलियाँ (naphthaline balls) पड़ी रहनी चाहिये। कर्मचारियों के निवास गृहों में यदि पृथक् शौचालय नहीं हैं, तो पर्याप्त संख्या में सामूहिक शौचालय और उनकी सफाई का प्रबन्ध होना चाहिए। (iv) कारखानों तथा कार्यालय की इमारतों की वर्ष में कम से कम एक बार पुताई अवश्य होनी चाहिये। मशीनों पर जो धूल जम जाती है उसे जल से अथवा वेक्यूम-क्लीनर (vacuum cleaner-निर्वाहित शोधित) द्वारा अथवा गीले वस्त्र आदि से हटाते रहना चाहिये अन्यथा पैरों द्वारा तथा मशीन के चलने पर उसके कम्पनों द्वारा धूल उड़कर कार्य करने वालों के स्वास्थ्य को हानि पहुंचाती है।

(४) **विविध**—(i) **स्थान**—उद्योग में प्रत्येक काम करने वाले कर्मचारी को काम करने के लिए पर्याप्त स्थान होना चाहिए। कारखाने की इमारत की प्रत्येक मंजिल की ऊँचाई भी कम से कम 14 फीट होनी चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने के लिए कम से कम 50 वर्ग फीट का स्थान होना चाहिए। (ii) **प्रकाश**—कार्य करने वाले को उसके कार्य की आवश्यकता के अनुसार प्रकाश मिलना चाहिए। यदि कार्य बारीक है तो प्रकाश कुछ तेज होना चाहिए, जिससे काम करने वाला भली-भाँति काम को देखकर कार्य कर सके। यदि प्रकाश आवश्यकता से कम होता है तो उसका प्रभाव काम की उत्तमता पर भी पड़ता है। कारखाने के अन्दर ही नहीं बाहर रास्तों में भी पर्याप्त प्रकाश रहना चाहिए। (iii) **संवातन** (ventilation)—काम करने के स्थान पर संवातन का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये जिससे वायु द्वारा फैलने वाले रोगों की सम्भावना नहीं रहे। उत्तम संवातन में काम करने वालों को आलस्य नहीं आता है, दुर्घटनाओं में कमी आ जाती है। कमरों के फर्शों

के क्षेत्रफल का कम से कम 1/10 क्षेत्रफल दरवाजों और खिड़कियों का होना चाहिए। खिड़कियों में कम से कम आधी खिड़कियाँ मनुष्य की ऊँचाई के बराबर ऊँची होनी चाहिए। भारतीय फैक्ट्री कानून के अनुसार प्रत्येक कार्य करने वाले को कम से कम 500 घन फीट वायु मिलनी चाहिए। घन फुट मापन के लिए कमरे की ऊँचाई यदि दस फीट से अधिक है तो भी गणना में अधिकतम दस फीट ही लेते हैं। 150 वर्ग फीट स्थान प्रत्येक कर्मचारी को मिलता है तो वायु 500 घन फीट हो जाती है। (iv) **विकट कार्यों से बचाव**— यदि उद्योग में स्वास्थ्य के लिए हानिकर पदार्थ उत्पन्न होते हैं, यथा विषैली धूल या धूम, तो प्रत्येक कर्मचारी के लिए उसके बचाव का प्रबन्ध होना चाहिए। (v) **निवास**—कर्मचारियों के निवास स्थान उद्योग भवन के निकट होने चाहिये और उन स्थानों पर कर्मचारियों के लिए समस्त आवश्यक सुविधायें, जो एक अच्छे स्वच्छ नगर के लिये चाहिये, होनी चाहिये, यथा पेय जल व्यवस्था, जल निकास व्यवस्था, मल निस्सारण व्यवस्था, प्रकाश व्यवस्था, सफाई की व्यवस्था, शिक्षा-चिकित्सा-बाजार-सभागृह, खेलकूद के मैदान तथा मनोरंजन की व्यवस्था होनी आवश्यक है (vi) **मानसिक स्वास्थ्य**—उद्योगों में काम करने वाले व्यक्तियों का शारीरिक स्वास्थ्य ही अच्छा नहीं होना चाहिये वरन् मानसिक दृष्टि से भी वे स्वस्थ रहने चाहिए। मन पर परिस्थितियों का वहुत प्रभाव पड़ता है। यदि रहने आदि की असुविधा है तथा खान-पान की भी असुविधा है तो वह व्यक्ति अपना कार्य उत्तमता से नहीं कर सकता है। इसके विपरीत यदि वह अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में परेशान रहता है तो वह घर पर भी खिन्न ही रहता है। अतः मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि उद्योगों में काम करने वाले व्यक्तियों को घर एवं कारखानों दोनों स्थानों पर अनुकूल वातावरण प्राप्त होता रहे।

(५) **स्त्रियों के लिए**—कानून स्त्री कर्मचारियों को कुछ अतिरिक्त सुविधायें देता है जो उनके लिए आवश्यक हैं। (i) माता को प्रसव पूर्व तथा प्रसव पश्चात् 6-6 सप्ताह के संवेतन अवकाश की व्यवस्था है। (ii) प्रसव पूर्व तथा प्रसव पश्चात् पूर्ण चिकित्सा सुविधा की प्राप्ति भी उसे रहती है। (iii) सायं 7 बजे के पश्चात् तथा प्रातः 6 बजे के पहिले उनसे कार्य नहीं लिया जाता है। (iv) खानों (mines) में उनसे पृथ्वी तल से नीचे कार्य नहीं लिया जाता है। (v) जहाँ 50 या अधिक स्त्री कर्मचारी हैं वहाँ उनके कार्य के समय उनके छोटे बच्चों की देखभाल की सुविधा प्रदान की जाती है। (vi) स्त्रियों को स्वास्थ्य की हानि पहुंचाने वाले कार्यों में नहीं लगाया जाता है।

(६) **बच्चों के लिए**—(१) 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कार्य पर नहीं लगाया जाता है (२) 15 वर्ष से 18 वर्ष की आयु के युवक तथा युवतियों को उनके स्वास्थ्य परीक्षण के पश्चात् ही काम पर लगाया जाता है तथा उन्हें खतरनाक काम करने के लिए नहीं दिए जाते हैं।

उद्योगों के सम्बन्ध में उपरोक्त ज्ञान प्रत्येक चिकित्सक को होना चाहिए। अब हम कुछ विशेष उद्योगों के सम्बन्ध में बताते हैं, जो प्रायः प्रत्येक नगर में मिलते हैं। इनमें मुख्य हैं पशु एवं मुर्गी पालन, पशु वध तथा ईंट-चूने के भट्टे ।

पशु आदि पालन

दूध के लिए गाय, भैंस, बकरी को पालते हैं। सूअर का पालन केवल मांस के लिए किया जाता है। इसी प्रकार मुर्गी, बत्तख आदि का पालन अण्डों एवं मांस के लिए किया जाता है।

इन सब के लिए स्थान नगर की आबादी से कम से कम 100 मीटर दूर होना चाहिए, जिससे इनके मल, मूत्र आदि की गन्दगी से नागरिक बचे रहें। स्थान सायेदार, साफ और हवादार होना चाहिए। दरवाजों एवं खिड़कियों में मक्खियों आदि से बचाव के लिए जालियाँ लगा देनी चाहिए। जल की पूर्ण सुविधा होनी चाहिए तथा इनके मल, मूत्र को हटाने का अच्छा प्रबन्ध करना चाहिए।

दुधारू पशुओं के दूध निकालने के पात्र साफ होने चाहिए तथा दूध निकालने वाले व्यक्ति भी स्वच्छ वस्त्रों में रहने चाहिऐं। दूध निकालने से पूर्व उन्हें अपने हाथों को साफ कर लेना चाहिए।

पशुओं का चारा तथा पीने का जल साफ होना चाहिए। सूअरों को गलियों में नहीं छोड़ना चाहिए और न ही उन्हें सड़ा गला पदार्थ अथवा विष्ठा आदि खाने के लिए देना चाहिए।

मुर्गी आदि के लिए साफ जालीदार स्थान होना चाहिए जिससे मक्खी आदि नहीं पहुँच सके। उनके पीने का पानी तथा दाना आदि साफ रहना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में उन्हें अपने स्थान पर शीतलता मिलती रहनी चाहिए तथा सर्दी की ऋतुओं में शीत से बचाव रहना चाहिए।

पशुवध स्थल (Slaughter House, बूचरखाना)

पशुवध स्थल आबादी से दूर होना चाहिए। इसकी इमारत साफ पक्की कम से कम दो तरफ से खुली हुई तथा ऊँची भूमि पर होनी चाहिए। दीवारों पर सीमेंट का प्लास्टर तथा फर्श सीमेंट कॉन्क्रीट का होना चाहिए। दरवाजों और खिड़कियों पर तार की जाली लगी होनी चाहिए जिससे मक्खियाँ आदि नहीं आ सकें। इस स्थान पर सफाई तथा जल का प्रबन्ध उत्तम होना चाहिए।

कर्मचारी अपने पहिनने के कपड़ों के ऊपर स्वच्छ, धुला हुआ लम्बा वस्त्र (over all) पहिने हुए होने चाहिए। उस स्थान पर कुत्ते, बिल्ली, गिद्ध आदि मांसाहारी पशु पक्षी नहीं आने चाहिए।

पशु के मल मूत्र, माँस, हड्डी आदि के हटाने का प्रबन्ध रहना चाहिए।

वध के लिए लाए गए पशु स्वस्थ होने चाहिए। पशु की, माँस के अतिरिक्त, रक्त, हड्डियाँ, आंतें, चर्बी तथा खाल सब काम में आते हैं।

हड्डियों से खाद बनाते हैं, सरेश, जिलेटिन आदि बनाते हैं तथा

खिलौने एवं चाकू, छड़ी आदि की मूँठ बनाते हैं। हड्डियों को चूने में डालकर उबालते हैं जिससे वे साफ हो जाती हैं। इनके उबालने से जो वाष्प निकलती है वह दुर्गंधमय होती है। उसकी ऊपर की ओर निकासी का प्रबन्ध होना चाहिये।

आंतों को साफ करने के स्थान पर जल का पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिये तथा व्यर्थ के भागों को हटाने का प्रबन्ध भी रहना चाहिये। जिस स्थान पर यह सफाई का कार्य होता है वहाँ पर मक्खी आदि नहीं होनी चाहिये।

चर्बी का प्रयोग साबुन बनाने, मोमबत्ती बनाने तथा मशीनों की ग्रीज, चिकनाई आदि के बनाने में करते हैं।

खालों को पानी में डालते हैं जिसमें चूना तथा सोडियम सल्फाइड मिला होता है, फिर ब्रुश से झाड़कर बाल साफ करते हैं। इसके पश्चात् चमड़े को टेन्ड करते हैं। इन सब कार्यों में अति तीव्र दुर्गन्ध निकला करती है अतः इस कार्य के लिये स्थान नगर से दूर, चारों ओर ऊँची दीवारों से ढका हुआ होना चाहिये।

ईंट, चूने आदि के भट्टे

ईंटों तथा चूने के भट्टों पर ईंटों को पकाने तथा चूने के पत्थर को फूंकने के लिये लकड़ी या कोयला व्यवहार में लाते हैं। इससे धुएँ में कार्बन डाइ ऑक्साइड (CO_2), कार्बन मोनोऑक्साइड (CO), सल्फरडाइऑक्साइड (SO_2), हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S) आदि विषैली गैसें निकलती हैं। अतः ये स्थान आबादी से दूर होने चाहिये। धुएं के निकलने के लिये ईंटों के भट्टों पर ऊँची चिमनियाँ होनी चाहियें। ईंटें पाथने के लिये पर्याप्त जल उपलब्ध होना चाहिये। काम करने वालों के लिये निवास, पेयजल, शौच आदि के लिये स्थान आदि की पूर्ण सुविधा होनी चाहिये।

११

शिक्षा एवं स्वास्थ्य

शिक्षण संस्था की इमारत, उसका स्थान, साज-सज्जा तथा सहपाठियों द्वारा उत्पन्न वातावरण में बालक बढ़ता है तथा विकसित होता है। शिक्षा संस्था का स्वस्थ वातावरण छात्र की भावनाओं, सामाजिक विचारों एवं उसके अपने स्वास्थ को उत्तमता की ओर अग्रसरित करता है। इसके लिए शासन द्वारा नियुक्त अनेक समितियों ने अनेक स्वस्थ परामर्श दिए हैं। उनके आधार पर नीचे वर्णन किया जा रहा है—

(१) स्थिति (Location)—शिक्षण संस्था नगर के ऐसे भाग में स्थित होनी चाहिए जहाँ छात्र सरलता से प्रत्येक ऋतु में पहुंच सकें। साथ ही साथ वह संस्था नगर की घनी आबादी वाले भाग, सिनेमा, थियेटर, ऐसे औद्योगिक संस्थान जिनमें मशीनों का शोर अधिक होता है अथवा विषैली गैस आदि उत्पन्न होती हैं, तथा रेलवे लाइन आदि से दूर होनी चाहिए। स्थान के चारों ओर तार अथवा पक्की दीवार होनी चाहिए।

वहाँ की भूमि में नमी नहीं हो और ना ही वर्षा का जल एकत्रित होता हो तथा जल निकास का अच्छा प्रबन्ध हो। स्कूल स्वास्थ्य समिति ने सन् 1961 में सुझाव दिया था कि उच्च शिक्षा संस्थाओं की भूमि कम से कम दस एकड़ तथा प्रारम्भिक शिक्षा संस्थाओं की कम से कम पाँच एकड़ होनी चाहिये तथा प्रत्येक सौ छात्रों की वृद्धि पर एक एकड़ अतिरिक्त भूमि बढ़ती रहनी चाहिये। जहाँ इस प्रकार की सुविधा उपलब्ध नहीं है, वहाँ पर शिक्षालय के निकट ही ऐसे खुले पार्क, मैदान आदि होने चाहियें, जिनका उपयोग संस्था कर सकती हो।

प्रारम्भिक शिक्षा संस्थाओं तथा माध्यमिक शिक्षण संस्थाओं की इमारत एक मंजिल की होनी चाहिये और यदि इमारत दो मंजिल की है तो प्रारम्भिक कक्षायें नीचे की मंजिल पर होनी चाहिए।

शिक्षा संस्थाओं की इमारतों की बाहरी दीवारें कम से कम दस इन्च (लगभग 25 सेन्टीमीटर) मोटी गर्मी को सहन कर लेने वाली होनी चाहिए। शिक्षण कक्ष के सामने बरामदा अवश्य होना चाहिए। कोई भी शिक्षण कक्ष 40 छात्रों से अधिक के लिए नहीं होना चाहिए तथा प्रत्येक छात्र के लिए कम से कम दस वर्ग फीट स्थान रहना चाहिए। शिक्षण कक्षों की खिड़कियाँ जमीन से 2·5 फीट (लगभग 80

से०मी०) ऊँची होनी चाहिए तथा दरवाजे और खिड़कियाँ कम से कम 25 प्रतिशत स्थान ले रही हों। रौशनदान (ventilators) कम से कम 2 प्रतिशत भाग में हों। कमरों के अन्दर सफेदी से पुताई की जाए तथा कुछ समय के अन्तर से पुताई होती रहनी चाहिए।

(२) प्रत्येक कमरे में प्रकाश आने का उत्तम साधन होना चाहिए। प्रकाश का छात्र के बाँयी ओर से आना उत्तम है। सामने से नहीं आना चाहिए। संस्था में पीने के शुद्ध जल का प्रबन्ध रहना चाहिए तथा प्रत्येक छात्र सुविधापूर्वक जल ले सके इसका भी उचित प्रबन्ध रहना चाहिए। प्रत्येक 60 छात्रों पर एक मूत्रालय तथा 100 छात्रों पर एक शौचालय होना आवश्यक है। बालिकाओं के लिये मूत्रालय तथा शौचालय पृथक होने चाहिए।

प्रत्येक कक्ष में छात्रों के बैठने के लिए उपयुक्त फर्नीचर रहना चाहिए। जहाँ तक हो सके प्रत्येक छात्र के लिए मेज तथा कुर्सी पृथक होनी चाहिए। कुर्सियों के पीछे पीठ इस प्रकार लगी होनी चाहिए जिससे छात्र सुविधापूर्वक आराम कर सके। यदि डेस्क तथा कुर्सी एक साथ जुड़ी हुई हैं तो कुर्सी की सीट का कुछ सिरा मेज के नीचे जाता हुआ होना चाहिये, जिससे छात्र को आगे की ओर झुकना नहीं पड़े।

संस्था के पुस्तकालय तथा वाचनालय में प्रकाश का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए तथा छात्रों को बैठकर अध्ययन करने एवं पढ़ने की सुविधा होनी चाहिए।

संस्था में केवल अधिकृत व्यक्तियों को ही खाने पीने की वस्तुओं की क्रय करने की आज्ञा होनी चाहिए तथा खाद्य सामग्री की शुद्धता तथा बर्तन आदि की स्वच्छता पर संस्था की उचित देखभाल रहनी चाहिए। छात्रों को दोपहर के भोजन के लिए पृथक स्थान की सुविधा रहनी चाहिए।

शिक्षा संस्था और स्वास्थ्य

शिक्षा संस्था में छात्रों के स्वास्थ्य पर ध्यान देना अति आवश्यक है क्योंकि (१) देश की शिक्षा संस्थाओं में 5 वर्ष से 14 वर्ष की आयु के मध्य आने वाले छात्रों की संख्या देश की आबादी का 25 प्रतिशत भाग से भी अधिक होती है। यदि इस विशाल संख्या में छात्रों के स्वास्थ्य को सुधार लिया जाता है तो देश में होने वाले अनेक रोगों को रोका जा सकता है, एवं राष्ट्र के स्वास्थ्य एवं चिकित्सा पर होने वाले व्यय में कमी हो सकती है। इसके अतिरिक्त इससे राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को बल मिलता है।

(२) यही ऐसी अवस्था है जबकि बालक में तेजी से शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक परिवर्तन होते हैं। यदि इस अवस्था में बालक को सही दिशा प्रदान की जाती है तो देश का भविष्य भी उज्जवल होता है।

(३) इस आयु के बालक संचारी (communicable) रोगों से शीघ्रता से प्रभावित हो जाते हैं। संचारी रोगों का पता लगते ही बचाव का तुरन्त उपाय करना चाहिये, जिससे बालकों के स्वास्थ्य पर उनका दुष्प्रभाव नहीं पड़े तथा नगर में रोग न फैले।

(४) इन शिक्षा संस्थाओं में बालक प्रथम बार अन्य बालकों के साथ रहना सीखता है। अन्य बालकों से वह बुरी आदत भी सीख सकता है जिसका दुष्प्रभाव उसके शारीरिक एवं मानसिक भावनाओं पर पड़ता है। अतः शिक्षा संस्थाओं के प्राध्यापकों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे छात्र में इन दुष्परिवर्तनों को प्रारम्भ से ही रोकें जिससे बालक अनुशासित नागरिक बन सकें।

उपरोक्त उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए प्रत्येक शिक्षा संस्था में स्वास्थ्य सेवा का गठन होना आवश्यक है। उसका कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह—

(१) छात्रों के अच्छे स्वास्थ्य की उन्नति के लिए उपाय करें।

(२) उन्हें संचारी रोगों से बचाने के प्रतिरोधात्मक उपाय करें।

(३) रोग ग्रस्त होने की दशा में छात्रों को उचित चिकित्सा सहायता उपलब्ध करायें।

(४) छात्रों में स्वच्छ रहने की आदत को बढ़ावें।

इसलिए समय-समय पर छात्रों के स्वास्थ्य परीक्षण संस्था के चिकित्सक द्वारा किया जाना चाहिये। संस्था में प्रवेश के समय प्रत्येक प्रवेशार्थी के स्वास्थ्य का पूरी तरह परीक्षण किया जाना चाहिये। उसके भार, ऊँचाई, दृष्टि, श्रवणशक्ति तथा शब्द उच्चारण आदि का परीक्षण करके उसका ब्यौरा रखना चाहिये। उसके रक्त, मल, मूत्र, थूक तथा दाँतों का परीक्षण करके उसका भी ब्यौरा रखना चाहिये।

प्रत्येक छात्र का उपरोक्त लेखा पृथक-पृथक रखना उचित है जिसमें—

(१) छात्र का नाम, जन्मतिथि, अभिभावक का नाम तथा पता।

(२) उसका स्वास्थ्य सम्बन्धी इति वृत्त।

(३) स्वास्थ्य परीक्षणों के परिणाम।

(४) स्वास्थ्य सेवा अथवा चिकित्सा, जो दी गई है तथा परामर्श, जो दिये गये हैं, उनका पूरा लेखा रहना चाहिये। यह अधिक उचित है कि स्वास्थ्य परीक्षा के समय छात्र के अभिभावक को भी उपस्थित रखा जाय जिससे उन्हें आवश्यक परामर्श दिया जा सके। इस प्रकार छात्र की थोड़े-थोड़े समय पश्चात् पुनः परीक्षा होती रहनी चाहिये जिससे उनके स्वास्थ्य की प्रगति का ज्ञान होता रहे।

समय-समय पर शिक्षा संस्था के प्राध्यापकों के स्वास्थ्य का परीक्षण भी होता रहना चाहिये, क्योंकि छात्र अधिकांश समय संस्था में उनके सम्पर्क में व्यतीत करता है।

शिक्षण संस्था के प्राध्यापक वर्ग को ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि वे किसी छात्र के व्यवहार में असामान्यता देखें तो उसकी तुरन्त सूचना चिकित्सक को देकर छात्र के स्वास्थ्य का परीक्षण कराये यथा (१) छात्र के चेहरे पर असामान्य लाली, (२) शरीर पर किसी प्रकार के विस्फोट (rash-दाने), (३) अतिशीत के लक्षण, (४) असामान्य रूप से खाँसी अथवा छींके, (५) गले में दाह (sore throat)

(६) ग्रीवा का दृढ़ (rigid) होना, (७) उत्क्लेश (मितली nausea) अथवा वमन होना, (८) नेत्र का लाल होना अथवा असामान्य रूप से पानी का निकालना, (९) शिर पीड़ा, (१०) सर्दी एवं ज्वर, (११) बेचैनी अथवा निद्रालुता, (१२) खेल में अरुचि, (१३) शरीर में पीड़ा, (१४) त्वचा पर दद्रु (ringworm) अथवा कण्डू, (१५) अतिसार अथवा प्रवाहिका, (१६) यूका रोग (pediculosis) आदि ।

रोग क्षमता (immunity)—शिक्षा संस्था में प्रवेश के समय ही इतिवृत्त में यह ज्ञात कर लेना चाहिये कि उसने डीपीटी (रोहिणी-diphtheria, कालीखासी pertussis/whooping cough तथा धनुस्तम्भ-tetanus) पोलियो माइलाइटिस (polio myelitis), रोमन्तिका (measles) के बचाव का टीका आदि क्या ले लिया है ।

यदि बालक डीपीटी का कोर्स ले चुका है तो शिक्षा संस्था में प्रवेश के समय (5–6 वर्ष की आयु में) (i) डी० टी० (diphtheria + tetanus) की अनुवर्धक (booster) मात्रा तथा (ii) टाइफाइड की पहिली मात्रा देनी चाहिए । अनुवर्धक मात्रा दुगुनी मात्रा को कहते हैं । एक दो मास के पश्चात् टाइफाइड की दूसरी मात्रा देनी चाहिये । जब बालक दस वर्ष का हो जाय तब (i) टिटेनस टाक्साइड की तथा (ii) टाइफाइड की अनुवर्धक मात्रायें देनी चाहिए ।

प्रत्येक शिक्षा संस्था में प्राथमिक चिकित्सा (first-aid) का प्रबन्ध होना चाहिए तथा आपात स्थिति (emergency) में इसका उपयोग करना भी अध्यापकों एवं छात्रों को आना चाहिये ।

पौष्टिक आहार—यदि छात्र शारीरिक दृष्टि से दुर्बल है तो वह मानसिक दृष्टि से भी दुर्बल रहता है । इसलिए शिक्षा संस्थाओं में दोपहर के समय छात्रों को पौष्टिक आहार प्राप्त कराने का प्रबन्ध करना चाहिए । यदि छात्रों को बिना मूल्य ऐसा आहार प्राप्त कराने से संस्था को आर्थिक कठिनाई है तो सस्ते मूल्य पर सुलभ कराना चाहिए ।

खेलकूद—प्रत्येक शिक्षण संस्था में छात्रों के मैदानी खेलों का यथा फुटबाल, हॉकी, बॉलीबाल, कबड्डी आदि का प्रबन्ध रहना चाहिए तथा संस्था के प्राचार्य को यह भी देखना चाहिए कि बालक इनमें नियमित रूप से भाग लेते रहते हैं ।

———

१२

संक्रमण एवं विसंक्रमण

संक्रमण (Infection)

शरीर ऊतकों (tissues) पर सूक्ष्म कीटाणुओं (germs) के सफल आक्रमण को, जिसके फलस्वरूप शरीर व्याधि ग्रस्त हो जाता है, संक्रमण कहते हैं।

जब से मनुष्य जाति के इतिहास का लेखा उपलब्ध है उससे स्पष्ट विदित होता है कि हजारों वर्ष पूर्व भी मनुष्यों को यह निश्चय के साथ विदित था कि संक्रामक रोगों की उत्पत्ति के कारक सूक्ष्म कीटाणु हैं। उस समय यद्यपि सूक्ष्म दर्शक जैसे यन्त्र तथा सम्वर्ध (culture) जैसी कीटाणुओं को पहिचानने की प्रक्रिया से वे अनभिज्ञ थे परन्तु अपने अनुभव एवं परिकल्पना रूपी दिव्य दृष्टि के आधार पर वे सत्यता से पूर्णतया परिचित थे। वैदिक एवं संहिता काल में दृश्य एवं अदृश्य इन सूक्ष्म रोगोत्पादक जीवों के लिए क्रिमि शब्द का उपयोग किया गया है। इस संज्ञा के अन्तर्गत सूक्ष्म कीटाणुओं, जो सामान्यत: कोरी दृष्टि से अदृश्य होते हैं, का भी समावेश है। प्रमाण में हम कुछ वैदिक ऋचाएँ उपस्थित कर रहे हैं।

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरुरुमतृहम।

अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ अथर्व २/३१/२

नेत्रों से दिखाई देने वाले (कृमी) तथा नहीं दिखाई देने वाले (कीटाणु) एवं कुत्सित शब्द करने वाले रोग उत्पादकों का मैं विनाश करता हूँ। सब प्रकार के कण्डू (त्वक् रोग) उत्पन्न करने वाले (अर्थात् त्वचा पर रहकर रोग उत्पन्न करने वाले) एवं शरीर में प्रवेश कर रोग उत्पन्न करने वाले वेगवान (प्रभावशाली) क्रिमियों एवं कीटाणुओं का बताये हुये उपायों से, मैं विनाश कर देता हूँ।

ये रोग उत्पादक कीटाणु कहाँ पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में ऋचा है।

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः।

ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्तिम जनिम क्रिमीणाम् ॥ अथर्व २/३१/५

ये रोग उत्पादक कीटाणु पर्वतों पर, वनों जंगलों में, भोजन के पदार्थों में, पशुओं में, जल में तथा अन्य द्रव पदार्थों में मिलते हैं। हमारे शरीर में ये क्षत (injury) द्वारा अथवा अन्न एवं जल द्वारा प्रवेश पा जाते हैं। इन सब प्रकार के रोग कारक क्रिमियों की उत्पत्ति के मूल कारणों का मैं विनाश करूँ।

संक्रमण के प्रसार के ढंग के विषय में कहा गया है कि—

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परिदद्मसि ।। अथर्व ५।२२।१४

जिस प्रकार एक व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज दिया जाता है अथवा धन एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को पहुँचा दिया जाता है उसी प्रकार संक्रामक रोग अस्वच्छ, दुर्गन्धपूर्ण, निर्बल, कुपथ्यगामी तथा पराश्रय जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों के पास पहुँचते हैं।

इन कीटाणुओं के नष्ट करने के सम्बन्ध में अनेक मंत्र सूर्य, अग्नि, मिट्टी, जल, विद्युत से इनको नष्ट करने के सम्बन्ध में प्रार्थना स्वरूप हैं।

उत पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टाश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ।। अथर्व ५।२३।६

सूर्य भी ठीक सामने से आये और अपना प्रकाश डाले तो वह सूर्य स्वयं दीखने वाले तथा नहीं दीखने वाले कीटाणुओं का नाश करता है क्योंकि वह अपनी तीक्ष्ण किरणों द्वारा दृष्ट तथा अदृष्ट सब प्रकार के कीटाणुओं का विनाश तथा उच्छेदन करता है।

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
आतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भतामिति ।। अथर्व ५।३१।१

सूर्य और पृथ्वी सब प्रकार परस्पर सम्मिलित होकर और दिव्य गुण वाली यह जलधारा संगत होकर और इन्द्र (विद्युत, वायु) और अग्नि ये दोनों भी परस्पर मिलकर रोग उत्पादक क्रिमियों (कीटाणुओं) को मेरे लिए विनाश करें।

संक्रामक रोगों की शामक औषधियों का भी वर्णन अथर्व वेद में स्थान-स्थान पर प्राप्त है यथा सप्तपर्णी, सरसों, पित्ता (दारुहल्दी) गुडुची (१।२४।१), अजश्रृंगी (काकड़ासिंगी), गुल्गुल (गुग्गुल), पीला (पीलू), नलदी (जटामांसी), औक्षिगन्धी (आकाशमांसी), प्रमन्दनी (प्रमोदनी), अश्वत्था (पीपल), न्यग्रोधाः (वट), शिखण्डिन (काकमाची), अर्जुनाः (अर्जुन) (४।३७।२-५) आदि को संक्रमण निरोधक के रूप में एवं रोगग्रस्त होने पर औषधि रूप में प्रयोग का वर्णन है।

यही नहीं अनेक स्थलों पर इन रोग कारक कीटाणुओं के नाम भी वैदिक साहित्य में मिलते हैं यथा रक्ष (राक्षस) रक्त में मिलने वाले कीटाणुओं को कहते थे, मांस में प्राप्त होने वाले कीटाणुओं को अप्यरस कहते थे, वेदना देने वाले कीटाणु यातुधान कहलाते थे आदि आदि।

संहिता काल तक पहुंचने में क्रिमियों एवं कीटाणुओं की रोग उत्पादकता के

विषय में हमारा ज्ञान और आगे बढ़ा । चरक संहिता (सूत्र १९) में २० प्रकार की जातियों के रोग उत्पादक क्रिमियों का वर्णन है । इनमें दो प्रकार की जातियाँ बाह्य मलज, ६ प्रकार की रक्तज, ७ प्रकार की कफज तथा ५ प्रकार की पुरीषज कही गई हैं । सुश्रुत संहिता (उ० ५४) में भी २० प्रकार की क्रिमि जातियों का वर्णन है परन्तु इनका वर्गीकरण चरक संहिता के वर्गीकरण से कुछ भिन्न है । सुश्रुत संहिता के अनुसार पुरीषज क्रिमि ७ प्रकार के, कफज ६ प्रकार के तथा रक्तज ७ प्रकार के कहे गये हैं । इनमें रक्तज क्रिमियों को अदृश्य क्रिमि कहा गया है ।

संचारी रोगों के प्रसारण का बड़ा अच्छा तथा आज के मतानुसार भी मान्य सुश्रुत (निदान ५/३३-३४) में वर्णन किया गया है—

प्रसङ्गात् गात्रसंस्पर्शात् निःश्वासात् सहभोजनात् ।
एकशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ।।
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ।।

औपसर्गिक रोगों के फैलने के प्रकार :—(१) **प्रसंगात्**—रोगी व्यक्ति से सहवास करने से यथा फिरंग (syphlis), सूजाक (gonorrhoea), (२) **गात्र-संस्पर्शात**—रोगी व्यक्ति के शरीर के स्पर्श (सम्पर्क) से यथा मसूरिका, (३) **निः-श्वासात**—रोगी के श्वास के बाहर निकालने और स्वस्थ व्यक्ति द्वारा उसे ग्रहण करने से यथा प्रतिश्याय, यक्ष्मा, (४) **सहभोजनात्**—रोगी व्यक्ति के साथ एक हीं पात्र में भोजन करने से, (५) **एकशय्यासनात्**—रोगी के बिस्तर का उपयोग करने से तथा (६) **वस्त्रमाल्यानुलेपनात्**—रोगी व्यक्ति के वस्त्रों को पहिनने, उसकी माला को धारण करने से उसके चन्दन आदि अनुलेपन द्रव्यों को स्वयं प्रयोग करने से रोग के कीटाणु स्वस्थ व्यक्ति में प्रवेश कर उसे रोग से आक्रान्त कर देते हैं ।

उपरोक्त प्रकार के कुष्ठ, ज्वर, क्षय, नेत्राभिष्यन्द तथा अन्य औपसर्गिक (संक्रामक) रोग स्वस्थ मनुष्यों को संक्रान्त करते हैं ।

विसंक्रमण—शल्य कर्म से पूर्व शस्त्रों को अग्नि में तप्त कर लेने का निर्देशन सुश्रुताचार्य ने किया है (अग्नितप्तेन शस्त्रेणछिन्धात्–सु०) इसकी व्याख्या करते हुए डल्हण ने कारण बताया है कि इस प्रकार तप्त करके शस्त्रों को शल्य कर्म में प्रयोग करने से व्रण में पूय नहीं पड़ता है । संक्रमण को रोकने के लिए अग्नि कर्म का यह विधान प्रयोग में लाया जाता था ।

सूर्य किरणों द्वारा विसंक्रमण का निर्देशन वाग्भट ने किया है—

शुचिसूक्ष्मदृढ़ा पट्टाः कवल्यः सविकेशिकाः ।
धूपितामृदवः श्लक्ष्णा निर्वलीकाव्रणे हिताः ।। अ० हृ० सू० २९/२९

इसका भाव यह है कि स्वच्छ, बारीक, दृढ़, बिना सलवट की मुलायम पट्टियों, कवलिका (कपड़े की गद्दियों), विकेशिका (वत्तियों) को सूर्य की धूप में रख कर प्रयोग से पूर्व विसंक्रमित कर लेना चाहिए । इस प्रकार का विसंक्रमण व्रण में पूय नहीं होने देने के लिए आवश्यक है ।

वैदिक काल से संहिता काल तक जनसाधारण भी संक्रमण के कारण तथा उससे बचने के लिए निरोधक उपाय जानते थे। उस समय मनुष्यों का जीवन आज के समान भौतिकवादी नहीं था। वह प्रकृति के अधिक निकट था। इस कारण वायुमण्डल, जल आदि आजकल के समान दूषित नहीं थे। चरक संहिता में अधर्म अर्थात् स्वस्थवृत्त के प्राकृतिक गुणकारी नियमों की अपेक्षा करना संचारी रोगों को निमन्त्रित करना कहा गया है। अतः-उस समय विसंक्रमण के प्राकृतिक उपाय पर्याप्त थे।

आयुर्वेद की मान्यता है कि व्याधियों का कारण दोषों का विषम होना है (रोगस्तुदोष वैषम्यम्), यह प्राकृतिक नियम है अतः सदैव सत्य है। दोषों की विषमता होने पर ही संक्रामक रोग शरीर पर अधिकार करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो वायुमण्डल में उपस्थित अनेक रोगों के जीवाणु उस स्थान के समस्त व्यक्तियों को व्याधिग्रस्त करने में समर्थ होते। इस विषय का आगे के पृष्ठों में यथा स्थान पुनः उल्लेख किया गया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान भी दृश्य एवं अदृश्य रोगकारक जीवाणुओं की उपस्थिति को मानता है। जीवाणु अनेक प्रकार के होते हैं सामान्यतः इनमें अधिकांश प्रकृति के सहायक होते हैं परन्तु अनेक मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पतियों में रोग उत्पन्न भी करते हैं। मुख्य रूप से इनके स्वरूप, जीवनयापन के ढंग आदि की दृष्टि से ये अनेक वर्गों में विभाजित हैं जिनमें मुख्य वर्ग हैं—बेक्टीरिया (bacteria), वाइरस (virus), रिकेट्सिया (rickettsia), प्रोटोजुआ (protozoa), कवक (फँगस-fungus)।

बेक्टीरिया—ये एक कोशीय जीवाणु होते हैं। जो गोलाकार होते हैं, उन्हें गोलाणु (कॉकस-cocus, बहुवचन cocci)। जो दण्ड (rod) के समान होते हैं उन्हें दण्डाणु (बेसीलस bacillus, बहुवचन bacilli) कहते हैं। जो सर्पिल (spiral) होते हैं, वे स्पाइरिलम (spirillum, बहुवचन spirilla) हैं, जो दण्डाणु कशाभी (flagellated) होते हैं वे काशाभिका (flagella, एकवचन flagellum) कहलाते हैं, कभी-कभी इनको ट्राइकोबेक्टीरिया (trichobacteria) भी कहते हैं।

बेक्टीरिया पूर्ण प्राणी है। उसका अपना चपापचय है तथा सन्तानोत्पत्ति प्रक्रिया है। प्रत्येक बेक्टीरिया अनुप्रस्थ (transverse) विखण्डित होकर अपनी संख्या वृद्धि करते हैं। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हैं तो यह वृद्धि बड़ी शीघ्रता से होती है। हानिकर बेक्टीरियाओं द्वारा एक विषैला पदार्थ उत्पन्न होता है जिसे जीवविष (toxin) कहते हैं। आक्रमणकारी बेक्टीरिया शरीर में प्रवेश के स्थान पर सामान्यतः शोथ (inflammation) उत्पन्न करते हैं परन्तु कभी-कभी बिना शोथ को उत्पन्न किये भी रक्त संचरण में पहुँच जाते हैं। जीवविष (toxin) ऊतकों में पहुँच कोशिकाओं को क्षति पहुँचाते हैं। इस स्थिति को जीवविष रक्तता (toxaemia) कहते हैं। कुछ बेक्टीरिया यथा क्लोस्ट्रीडिया (clostridia), स्टेफिलो-

कोकाई (staphylococci), स्ट्रैप्टोकोकाई (streptococci), रोहिणी जीवाणु (diphtheria bacilli) आदि ऊतकों पर सीधा विषैला प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार के जीवविष को बहिर्जीवी विष (exotoxin) कहते हैं। ये उसी स्थान पर अपना हानिकार प्रभाव प्रदर्शित करते हैं जहाँ जीवाणुओं की वृद्धि होती है। जीवविष द्वारा ऊतक कोशिकायें नष्ट होने लगती हैं यहाँ तक कि ऊतक परिगलन (tissue necrosis) की भी कभी-कभी सम्भावना होने लगती है, यथा यक्ष्मा में। कुछ संक्रमणों में रक्त का स्कन्दन (clotting) प्रारम्भ हो जाता है। जब ऐसा होने लगता है तो रक्त वाहिकाओं में स्थान-स्थान पर फाइब्रिन (fibrin) इकट्ठा हो जाता है यह प्रसृत अन्तःवाहिका (intravascular) रक्त स्कन्दन मृत्यु का कारण हो जाता है।

जीवाणुओं के द्वारा किसी भी एक अवयव अथवा ऊतक में हुआ परिवर्तन समस्त शरीर पर अपना प्रभाव डालता है। इससे शरीर का तापमान बढ़ जाता है, चपाचपय (metabolic) दर बढ़ जाती है। भूख कम हो जाती है तथा प्रति खुराक भोजन की मात्रा भी कम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप ऊतकों का विनाश होने लगता है। स्वेद, वमन अथवा अतिसार के कारण शरीर का जलयांश कम होने से निर्जलीकरण (dehydration) तथा लवणों (electrolytes) की कमी से चयापचय को और हानि पहुँचती है।

यदि शरीर का स्थानीय बाह्य बचाव पूर्ण प्रभावशाली नहीं है तो आक्रमणकारी जीवाणु रक्त संचरण में प्रवेश कर जाते हैं। यदि शरीर की आन्तरिक रोग क्षमता भी कम है अथवा आक्रमणकारी जीवाणुओं की संख्या अधिक है तो रोग उत्पादक ये जीवाणु रक्त में पहुँचकर अपनी संख्या वृद्धि के द्वारा पूतिजीवरक्तता (septicaemia) उत्पन्न करते हैं। इस दशा में रोग के सामान्य लक्षण गम्भीर रूप में प्रकट होते हैं। यदि आक्रमणकारी जीवाणुओं की संख्या कम है तो उनके प्रभाव में पूतिजीवरक्तता की गम्भीरता नहीं होती है। इस दशा को जीवाणु रक्तता (bacteraemia) कहते हैं। रक्त वाहिकाओं में अन्तःशल्य (emboli, एकवचन embolus) संक्रमित हो पूतिजीवरक्तता (septicaemia) के कारण शरीर के विभिन्न भागों में व्रण (abcess) उत्पन्न करते हैं। पूति (septic) अन्तःशल्य फुफ्फुसों में पहुँचकर वहाँ व्रण उत्पन्न करते हैं और प्रतिहारिणी शिरा (portal vein) में प्रतिहारिणी पूयरक्तता (pyaemia) या सपूय प्रतिहारी शिराशोथ (suppurative pylephlebtis) उत्पन्न कर यकृत में व्रणों के कारण हो सकते हैं।

पूतिजीवरक्तता (septicaemia) उत्पन्न करने वाले बेक्टीरिया हैं— स्टेफिलोकॉकस ओरियस (staphylococcus aureus), स्ट्रेप्टोकोकस पायोजेनिस (streptococcus pyogenes), न्यूमोनीकॉकस (pneumonial coccus), नाइसीरिया मेनिन्जिटिडिस (neisseria meningitides), क्लोस्ट्रीडियम वेलशाई (clostridium welchi), सूडोमोनस एरूजिनोसा (pseudomonous aerugenosa), एशेरिशिया कोलाई (escherichia coli) आदि तथा पूयरक्तता अधिकतर स्टेफिलो ओरियस (staphylo aureus) द्वारा होती है।

प्रतिजीवी (antibiotic) औषधियाँ वेक्टीरियाओं की वृद्धि को रोककर उन्हें प्रभावहीन बना देती हैं।

वाइरस (Virus)—ये वेक्टीरियाओं से बहुत छोटे होते हैं तथा कोशिकाओं (cells) के अन्दर परजीवी (parasites) के रूप में रहते हैं। बनावट में इनके केन्द्र में न्यूक्लिक अम्ल (nucleic acid) होता है तथा उसके चारों ओर प्रोटीन का आवरण रहता है। न्यूक्लिक अम्ल राइबोन्यूक्लिक एसिड (ribonucleic acid RNA) के रूप में अथवा डेसॉक्सीराइबोन्यूक्लिक एसिड (desoxyribonucleic acid/DNA) के रूप में होता है। डी० एन० ए० वाइरसों में दो गुण देखे जाते हैं— (१) ये काफी समय तक अपने पोषद (host) में गुप्त (clatnt) अथवा प्रसुप्त (dorment) रूप में पड़े रहते हैं। कभी-कभी तो जीवनपर्यन्त इसी दशा में रहते हैं अथवा कभी-कभी अपनी उपस्थिति रोग लक्षणों के रूप में बताते रहते हैं। (२) सामान्य कोशिकाओं में परिवर्तन कर जीवित ऊतक में अर्बुद (tumour) उत्पन्न कर देते हैं। वेक्टीरियाओं के विपरीत वाइरसों का न अपना कोई चयापचय होता है और न सन्तानोत्पत्ति का विधान। वे इसके लिये जीवित सम्वर्ध (culture) पर निर्भर करते हैं। इसलिये प्रतिजीवी (antibiotic) औषधियाँ इन पर प्रभावहीन होती हैं।

रिकेट्सिया (Rickettsia)—ये वेक्टीरिया से छोटे तथा वाइरस से बड़े होते हैं। जीवित सम्वर्ध (culture) में ही ये वृद्धि को प्राप्त होते हैं और अपने पोषद (host) की कोशिका के प्रोटोप्लाज़्म में परजीवी (parasite) के रूप में रहते हैं। इनका संक्रमण जूँ (यूका louse), किलनी (tick), पिस्सू (flea) आदि के द्वारा मनुष्य में पहुँचता है। टाइफस (typhus) ज्वर इनके द्वारा होता है। वास्तव में इनका संक्रमण छोटे प्राणियों तथा चूहे, कुत्ते आदि में होता है। मनुष्य तो अचानक ही संक्रमित हो जाता है। ये जीवाणु, यूका आदि अपने पोषदों की अन्त्रभित्ति में वृद्धि को प्राप्त होते हैं और फिर उसकी विष्ठा के साथ निकल जाते हैं। संक्रांत यूका, पिस्सू आदि जिस प्राणी पर बैठते हैं अपनी विष्ठा के साथ इन जीवाणुओं को भी निकाल देते हैं। प्राणी के उस स्थान पर खुजाने से त्वचा में दरार उत्पन्न हो जाती है और जीवाणु इस प्रकार शरीर में प्रवेश पा जाते हैं।

संक्रमण का विस्तार—जीवाणु एक संक्रान्त व्यक्ति से अन्य स्वस्थ मनुष्य में पहुँचकर उसे भी संक्रमित कर देते हैं। पशु, मिट्टी, जल, वायु आदि द्वारा भी संक्रमण (infection) फैलता है। संक्रमण की रोकथाम में उस समय अति कठिनाई का सामना करना पड़ता है जब संक्रान्त व्यक्ति में संक्रमण उद्भवन काल (incubation period) में होता है। इस समय उस रोगवाहक व्यक्ति में संक्रमण के, किसी प्रकार के, लक्षण प्रकट नहीं होते हैं परन्तु उसमें अन्य व्यक्तियों को संक्रान्त करने की शक्ति होती है। ये रोगवाहक स्वस्थ दिखाई देते हैं तथा कोई इसके विपरीत अनुमान भी नहीं कर सकता कि ये संक्रमित हैं। केवल जीवाणु विज्ञान सम्मत परीक्षण (bacteriological examination) से ही इसका ज्ञान हो सकता है।

व्यक्तियों में संक्रमण स्वयं अपने से भी हो जाता है। अनेक व्यक्तियों में त्वचा में पूतिता (sepsis) तथा विद्रधि (abscess फोड़े-फुन्सी) आदि स्वयं से ही उत्पन्न (autogenous) होते हैं। इस प्रकार के संक्रमण में नासिका विशेष भाग लेती है। 30–40 प्रतिशत व्यक्तियों में नासिका के अन्दर जीवाणु उपस्थित रहकर वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं। जिन व्यक्तियों की नासिका की श्लेष्मिक कला (mucous membrane) स्वस्थ होती हैं ये अन्दर ऊतकों में प्रवेश नहीं पा सकते हैं। परन्तु श्लेष्मिक कला अथवा त्वचा के कहीं पर भी क्षत होने पर ये जीवाणु त्वचा में प्रवेश पा जाते हैं और स्थानीय पूतिता (sepsis) उत्पन्न करते हैं। नासिका में जीवाणु वायु द्वारा प्रवेश पाते हैं तथा छींकने आदि के द्वारा वायु में निकलते भी रहते हैं।

जो रोगी फुफ्फुस के संक्रमण से ग्रस्त रहते हैं उनके खाँसने के साथ जीवाणु वायु में निकलते रहते हैं। ये जीवाणु श्लेष्मा के कणों से चिपके रहते हैं। बड़े-बड़े श्लेष्मा के कण तो व्यक्ति के निकट ही गिर जाते हैं और निकट ही संक्रमण करते हैं परन्तु छोटे कणों से लगे जीवाणु दूर तक जा सकते हैं और उन श्लेष्मा कणों के सूख जाने पर ये जीवाणु वायु में और दूर तक फैल जाते हैं।

बृहत् अन्त्र में रहने वाले जीवाणुओं में अधिकांश रोगकारक नहीं होते हैं। इनकी उपस्थिति एवं संख्या परिवर्तनशील रहती है। ये मल के द्वारा अन्त्र से बाहर निकलते रहते हैं। सार्वजनिक चिकित्सालयों एवं शौचालयों में विसंक्रमण के प्रति उपेक्षा बरतने से इनमें उपस्थित हानिकारक जीवाणु संक्रमण को फैलाने में भाग लेते हैं।

रोगकारक जीवाणु मिट्टी, धूल, जल में अधिकांश रहते हैं। अनेक बीजाणु (spore) उत्पादक जीवाणु यथा वेसीलस एन्थ्रेसिस (bacillus anthracis) मिट्टी तथा धूल में काफी समय तक सक्रिय रहते हुए जीवित रह सकते हैं। बीजाणु उत्पन्न न करने वाले जीवाणु यथा स्ट्रेप्टो पायोजेनिस (strepto pyogenes), स्टेफिलो-कॉकस ओरियस (staphylo coccus aureus) आदि भी हफ्तों तथा महीनों मिट्टी तथा धूल में जीवित रह जाते हैं। परीक्षण से ज्ञात हुआ कि शुष्क जीवाणु तुरन्त के निकले जीवाणुओं की अपेक्षा कम हानिकारक होते हैं।

पशुओं द्वारा भी मनुष्य में संक्रमण फैलता है। गायों से क्षय रोग के जीवाणु दूध के द्वारा मनुष्य में क्षय रोग उत्पन्न कर सकते हैं। दूध दूहने वाले व्यक्ति द्वारा भी रोगों के जीवाणु दूध में आ जाते हैं। वाइरस रोग यथा रेबीज (rabies, जल सन्त्रास), पीत ज्वर (yellow fever) आदि पशुओं द्वारा ही मनुष्यों में पहुँचते हैं।

यद्यपि औपसर्गिक रोगों की चिकित्सा में काफी प्रगति हुई है फिर भी इन रोगों से मरने वाले व्यक्तियों की संख्या काफी अधिक है। इसके मुख्य कारण हैं—

(१) समुचित चिकित्सा न कराना। (२) गलत चिकित्सा कराना। (३) चिकित्सा व्यवस्था उचित होने पर भी अपनी अशक्तता के कारण मृत्यु को प्राप्त हो जाना।

अब प्रश्न यह उठता है कि वायुमण्डल में, मिट्टी, धूल आदि में, जल में जब सर्वत्र जीवाणु भरे पड़े हैं जिनमें मनुष्य के लिए हानिकारक जीवाणु भी हैं फिर भी अधिकांश मनुष्य रोग संक्रमणों से अछूते रहते हैं। आयुर्वेद इस दिशा में निर्देशन करता है कि जब तक वात, पित्त तथा कफ शरीर में समावस्था में रहते हैं तब तक किसी प्रकार की व्याधि शरीर को हानि नहीं पहुँचा सकती है। यह तथ्य परीक्षणों द्वारा भी प्रमाणित है। शरीर के बचाव के साधन जब तक समर्थ हैं, और ये उसी समय तक समर्थ रह सकते हैं जब तक त्रिदोष साम्यावस्था में रहते हुए शारीरिक धातुओं के निर्माण, पोषण तथा मलोत्सर्ग क्रियाओं का समुचित प्रकार से सम्पादन करते हैं, तब तक शरीर में इन संक्रमणों को प्रश्रम नहीं मिल सकता है। यदि त्रिदोषों की शरीर में स्थिति प्राकृतिक है तो शरीर की बाह्य एवं आन्तर रक्षा पंक्तियाँ शरीर को संक्रान्त नहीं होने देती हैं। आन्तर रक्षा पंक्ति के विषय में रोग क्षमता प्रकरण में आगे के पृष्ठों में वर्णन किया गया है। यहाँ बाह्य रक्षा पंक्ति के विषय में बताया जाता है।

बाह्य व्याधि क्षमत्व प्रदान करने में (१) त्वचा (२) श्लेष्मिक कला तथा (३) जालीय अन्त:कला कोशिकाएँ (reticulo endothelial cells) भाग लेते हैं।

(१) त्वचा की पारगम्यता (permeability) अत्यन्त अल्प होती है जिस कारण जीवाणु स्वस्थ त्वचा का भेदन नहीं कर सकते हैं। (i) त्वचा पर स्वेद (sweat) तथा त्वक्स्नेह ग्रंथियों (sebacious glands) का स्राव जीवाणुओं को बहा ले जाता है। स्वेद की अम्लता एवं स्वेद ग्रन्थियों के स्राव में उपस्थित स्नेह यौगिक अनेक प्रकार के जीवाणुओं को नष्ट कर देते हैं। (ii) यदि त्वचा में किसी प्रकार का क्षत हो जाता है अथवा स्वेद ग्रन्थियों और त्वक् स्नेह ग्रन्थियों में किसी प्रकार की क्रिया शिथिलता उत्पन्न हो जाती है तो जीवाणु इन मार्गों से प्रवेश पा जाते हैं। इन्जेक्शन देने के लिए सुई से भेदन करने से पूर्व यह देख लेना चाहिये कि उस स्थान की त्वचा को विसंक्रमित कर दिया गया है तथा सुई और सिरिन्ज का भी पूर्ण रूप से विसंक्रमण हो गया है अन्यथा सुई के द्वारा त्वचा में जो छेद हो जाता है उसके द्वारा जीवाणुओं का प्रवेश हो सकता है। इन्जेक्शन के पश्चात् भी त्वचा को विसंक्रमित कर देना चाहिये जिससे उस स्थान के जीवाणु नष्ट हो जाय।

(iii) त्वचा के अवत्वक् भाग में स्थित तन्त्रिकाएँ (nerves) त्वचा की पारगम्यता को कम रखने में सहायक होती हैं। यदि इन तन्त्रिकाओं की कार्य शक्ति में बाधा आती है तो त्वचा की पारगम्यता बढ़ जाती है, जिससे जीवाणुओं का त्वचा द्वारा प्रवेश सरल हो जाता है।

(२) श्लेष्मिक कला (mucous membrane) की पारगम्यता भी बहुत कम होती है अत: इसका भी जीवाणु भेदन नहीं कर सकते हैं। इसके तरल स्राव में

जीवाणु रुक जाते हैं तथा उनकी वृद्धि रुक जाती है और वे प्रभावहीन हो जाते हैं। श्वसनिका (bronchiol) में स्थित श्लैष्मिक कला की कोशिकाओं की पक्ष्माभिका (cilia) इन जीवाणुओं को बाहर की ओर निकाल देती हैं। आमाशयिक स्राव (gastric juice) की प्रतिक्रिया अम्लीय होती है यह अनेक जीवाणुओं को नष्ट कर देती है। कोमाबेसिलाई जीवाणु जो प्रवेश कर जाते हैं नष्ट हो जाते हैं। नेत्र के स्राव, अश्रु तथा मुख के स्राव, थूक, लार आदि में लाइसोजाइम (lysozyme) आदि पदार्थ अनेक जीवाणुओं को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार जीवाणु न तो बाह्य त्वचा भाग से और ना ही आन्तरिक श्लेष्मिक कला द्वारा शरीर में प्रवेश पाते हैं। इस कारण शरीर इन जीवाणुओं के आक्रमण से बचा रहता है।

(३) जालीय अन्तःकला कोशिकाएँ (reticulo endothelial cells)—ये कोशिकाएँ लसिका ग्रन्थियों के अतिरिक्त सरक्त मेद, प्लीहा, यकृत आदि स्थानों पर होती हैं। यदि जीवाणु शरीर में किसी प्रकार प्रवेश पा जाते हैं तो लसिका ग्रन्थियों में रोक लिए जाते हैं और कोशिकाएँ उन्हें नष्ट कर देती हैं।

यदि फिर भी जीवाणु शरीर ऊतक अथवा रक्त वाहिकाओं में पहुँच जाते हैं तो आभ्यान्तर रक्षा पंक्ति कार्यशील हो जाती है। इसका वर्णन आगे व्याधि क्षमता शीर्षक से दिया जा रहा है।

विसंक्रमण (Disinfection)

विसंक्रमण के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते समय कुछ शब्द भी कभी-कभी व्यवहार में आते हैं इन शब्दों के अर्थ एवं भावों का ज्ञान आवश्यक है इनमें से कुछ प्रमुख शब्द नीचे दिये जा रहे हैं।

विसंक्रामक (disinfectant)उन पदार्थों को कहते हैं जो रोगों के सूक्ष्म जीवाणुओं (micro organism) तथा उनके बीजाणुओं (spores स्पोर्स) को नष्ट करने के लिये व्यवहार में लाये जाते हैं। **पूतिरोधी** (antiseptic, ऐण्टिसेप्टिक) उन पदार्थों को कहते हैं जो सूक्ष्म जीवाणुओं की वृद्धि को रोकते हैं। **गन्धहर** (deodorant) उन पदार्थों को कहते हैं जो दुर्गन्ध को नष्ट करने के लिये व्यवहृत होते हैं। **अपमार्जक** (detergent) उन पदार्थों को कहते हैं जो तल तनाव (surface tension) को कम करते हैं जिससे गन्दगी के कण पृथक हो जाते हैं। इस प्रकार अपमार्जक सफाई करने का गुण रखते हैं यथा साबुन।

विसंक्रमण के प्रकार

(१) **प्राकृतिक** (natural)—(i) सूर्यप्रकाश (ii) वायु

(२) **भौतिक** (Physical)—(i) दहन (burning) (ii) उष्णवायु (iii) उबालना (boiling) (iv) वाष्प (steam) (v) विकिरण (radiation), आयनकारी विकिरण (ionizing radiation), पराबैंगनी विकिरण (ultraviolet radiation)।

(३) **रासायनिक** (Chemical)—(i) घन (solids) तथा चूना, ब्लीचिंग पाउडर (bleaching powder), पोटेशियम परमेगनेट आदि।

(i) द्रव (liquids)—फॉरमेलीन (formalin) तथा कोलतार के व्युत्पन्न (derivatives) यथा फिनोल (phenol), क्रेसोल (cresol), लाइसोल (lysol), डिटौल (dettol) आदि।

(iii) गैसीय (gases) यथा फॉरमेल्हीहाइड (formaldehyde) आदि।

प्राकृतिक विसंक्रामक

(१) **सूर्य प्रकाश**—सूर्य प्रकाश में जीवणुओं को नष्ट करने के गुण होते हैं। पराबैंगनी किरणें (ultraviolet rays) विशेष रूप से कीटाणु संहारक हैं। इसके लिये प्रकाश काफी देर तक और सीधा उस वस्तु पर पड़ना चाहिये। यदि प्रकाश काँच आदि में होकर वस्तु पर पड़ता है तो पराबैंगनी किरणें प्रवेश नहीं कर सकती हैं और सूर्य प्रकाश की कीटाणुनाशक शक्ति में ह्रास हो जाता है।

(२) **वायु**—वायु वस्तु को शुष्क (dry) और जलहित (desiccate) करती है। इस प्रकार वह अनेक रोग उत्पादन जीवाणुओं के लिये प्राणघातक है।

आजकल विसंक्रमण के लिये केवल इन प्राकृतिक साधनों पर निर्भर नहीं रहा जा सकता है। वास्तविक विसंक्रमण के लिए भौतिक एवं रासायनिक दोनों प्रकार के साधनों को व्यवहार में लाना होता है।

भौतिक विसंक्रामक

(१) **दहन** (burning)—संक्रामक वस्तुओं को जला डालना सबसे उत्तम है परन्तु ऐसा उन्हीं वस्तुओं के लिए किया जा सकता है जिनका पुनः उपयोग नहीं किया जा सकता है तथा जो मूल्यवान नहीं हैं यथा रोगी की मरहम पट्टी, रुई आदि। दहन के द्वारा नष्ट की जाने वाली वस्तु को या तो जलती हुई अग्नि में डालकर जला डालना चाहिए अथवा उस वस्तु को लकड़ी के बुरादे आदि में मिला कर जला डालना चाहिए।

(२) **उष्णवायु** (hot air)—मोट वस्त्र आदि में प्रवेश करने की शक्ति उष्ण-वायु में नहीं होती है। अतः उष्णवायु द्वारा केवल उन वस्तुओं को विसंक्रमित किया जा सकता है जिनकी मोटाई अधिक नहीं है यथा काँच के बर्तन, पट्टियाँ, रुई आदि।

(३) **उबालना** (boiling)—किसी वस्तु को जल में 5 से 10 मिनिट तक उबालने से उसके जीवाणु नष्ट हो जाते हैं, परन्तु बीजाणुओं (spores) को नष्ट करने के लिए कम से कम 30 मिनट तक उबालना आवश्यक होता है। धातु, काँच के बर्तन तथा उपकरणों, रबर की वस्तुओं आदि को विसंक्रमित करने की यह विधि अच्छी है। यदि वस्त्रों को भी उबालना हो तो जल में एक प्रतिशत साबुन तथा 0·3 प्रतिशत कपड़ा धोने का सोडा (sodium carbonate) डालकर कम से कम दो घण्टे तक उबालना चाहिए। वस्त्र ताप के कुचालक होते हैं इसलिए कुछ-कुछ अन्तर

से उन्हें उलट-पलट करते रहना चाहिए। मोटे वस्त्रों यथा गद्दे आदि तथा ऊनी वस्त्र एवं एल्बुमिन के धब्बों आदि के लिये यह विधि उपयुक्त नहीं है।

(४) वाष्प (steam)—सामान्यत: विसंक्रमण हेतु वाष्प का उपयोग आजकल अधिक किया जाता है। 100°C ताप की वाष्प में जीवाणु तथा बीजाणु पाँच मिनिट में नष्ट हो जाते हैं। यदि वाष्प का दाब बढ़ा दिया जाय तो वाष्प का तापमान भी अधिक हो जाता है फिर उसकी मारण शक्ति भी उसी के अनुसार बढ़ जाती है। इसके लिये जिस उपकरण को व्यवहार में लाते हैं उसे ऑटोक्लेव (autoclave) कहते हैं। ये विभिन्न माप के मिलते हैं।

(५) विकिरण (radiation)—इसके लिये आयनकारी विकिरण (ionizing radiation) उत्तम है। इसके द्वारा वस्तुओं को बिना गर्म किए विसंक्रमित किया जा सकता है। इन किरणों की वेधन (penetrating) शक्ति अधिक होती है अत: जिन वस्तुओं को विसंक्रमित करना होता है उन्हें प्लास्टिक की थैली में पृथक से सील बन्द कर किरणों से प्रभावित किया जाता है। इससे लाभ यह है कि उनको अलमारी आदि में उसी प्रकार रखा जा सकता है। व्यवहार के समय प्लास्टिक थैली से निकालकर उनको व्यवहार में लाया जाता है। आजकल शल्य कर्म में काम आने वाले प्रत्येक अस्त्र, शस्त्र, यन्त्र, सिरिंज तथा सुई, गट (gut) आदि को इस विधि से विसंक्रमित किया जाता है।

पराबैंगनी किरणों की वेधन शक्ति आयनकारी विकिरण की अपेक्षा कम होती है। अत: वस्तु पर पराबैंगनी किरणों का प्रभाव अधिक समय तक डालना होता है तथा इनकी वेधन शक्ति के कम होने के कारण प्लास्टिक आदि की थैली में बन्द कर वस्तुओं को इन किरणों द्वारा विसंक्रमित नहीं किया जा सकता है।

रासायनिक विसंक्रामक

(१) **घन** (solids)—१. **चूना** (lime)—समस्त जीवाणु नाशकों में चूना सबसे सस्ता है। इसका प्रयोग शुष्क रूप में अथवा 10 से 20 प्रतिशत जलीय घोल में किया जाता है। मल (faeces) के कीटाणुनाशन के लिए मल के आयतन से दुगुना चूने का घोल डालकर लगभग 4 घण्टों के लिए छोड़ देना चाहिए। इससे समस्त कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। दीवारों पर सफैदी के लिए भी चूने के घोल का प्रयोग विसंक्रण के लिये किया जाता है।

(२) **ब्लीचिंग पाउडर** (bleaching powder) :—यह एक अच्छा कीटाणुनाशक है। अच्छे ब्लीचिंग पाउडर से 33 प्रतिशत क्लोरीन प्राप्त होती है। खुला रखने पर इससे क्लोरीन निकलती रहती है। इसलिए जितना पुराना ब्लीचिंग पाउडर हो जायगा उसमें क्लोरीग का प्रतिशत उतना ही कम होता जायगा और उसकी जीवाणु नष्ट करने की शक्ति भी कम होती चली जायगी। (i) मल आदि का विसंक्रमित करने के लिए प्रत्येक एक लीटर मल के लिए 400 ग्राम पाउडर की आवश्यकता होती है। मल जल में घुले हुए रूप में होना चाहिए। (ii) मूत्र को विसंक्रमित

करने के लिए एक लीटर मूत्र को केवल 5 ग्राम पाउडर पर्याप्त होता है और दस मिनिट में जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। (iii) पूय (pus) अथवा थूक को विसंक्रमित करने के लिए 200 ग्राम प्रति लीटर पाउडर की आवश्यकता होती है। (iv) जल को विसंक्रमित करने के लिए 1000 गेलन जल में एक आउन्स (25 ग्राम) पाउडर पर्याप्त होता है। लगभग तीस मिनट में जल विसंक्रमित हो जाता है।

३. **पोटेशियम परमेंगनेट** (potassium permagnate)—यह ब्लीचिंग पाउडर की अपेक्षा कम शक्तिशाली होता है तथा अधिक मूल्य होने के कारण कम प्रयोग में लाते हैं। परन्तु फल, सब्जी आदि को विसंक्रमित करने के लिए इसका जल में हल्का घोल प्रयोग में लाते हैं।

(II) द्रव (Liquids)--(१) **फॉरमेलीन**—इसका 40 प्रतिशत का जलीय घोल जीवाणु तथा बीजाणुओं (spores) को नष्ट कर देता है। 40 प्र०श० घोल का 4, 6 आउन्स एक गेलेन जल में मिलाकर घर की दीवारों, फर्नीचर आदि पर छिड़कने (spray) के लिए व्यवहार में लाते हैं। वस्त्रों पर इसका कोई हानिकारक प्रभाव नहीं पड़ता है। (२) **फीनोल** (phenol)—शुद्ध फीनोल (कारबोलिक अम्ल) क्रिस्टलीय (crystalline) होता है। प्रकाश में यह गुलाबी वर्ण का हो जाता है। शुद्ध रूप में यह शक्तिशाली विसंक्रामक नहीं होता है। अतः मल मूत्र को जीवाणु रहित करने के लिए इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। परन्तु फीनोल तथा क्रेसोल (cresol) का मिश्रण अच्छा और सस्ता विसंक्रामक है। पुरीष के लिए 10 प्र०श० का घोल तथा फर्श आदि के लिए 5 प्र०श० का घोल पर्याप्त होता है। (३) **क्रेसोल** (cresol)—यह फीनोल से तिगुना अधिक शक्तिशाली जीवाणुनाशक है। इसका 5–10 प्रतिशत का घोल मल, मूत्र, थूक आदि को विसंक्रमित करने के लिए पर्याप्त है। एक गेलन जल में 8 आउन्स डालने से इसका 5 प्र०श० का घोल बन जाता है। (४) **लाइसोल** (lysole) आदि भी कोलतार के व्युत्पन्न (derivatives) हैं और इसी के समान प्रभावकारी हैं। (५) **डिटोल** (dettol)— यह रासायनिक दृष्टि से क्लोरॉक्सीलेनोल (chloroxylenol) है। स्ट्रेप्टोकोकाई (streptococci) को नष्ट करने में विशेष समर्थ है। परन्तु ग्राम नेगेटिव जीवाणुओं पर इसका प्रभाव बहुत कम होता है।

(III) गैस (gases)—विसंक्रमण के लिए सबसे अधिक प्रयोग में आने वाली गैस फॉरमेल्डीहाइड (formaldehyde) है। इस गैस को उत्पन्न करने के लिए पोटेशियम परमेंगनेट के क्रिस्टलों पर फॉरमेलीन को डालने से उसका ऑक्सीकरण हो जाता है और फॉरमेल्डीहाइड गैस में परिणित हो जाता है। फॉरमेल्डीहाइड गैस के जल में 40 प्र०श० घोल या संतृप्त घोल को फारमेलीन कहते हैं। फॉरमेल्डीहाइड, ब्लीचिंग पाउडर के समान वस्त्रों के रंगों की हानि नहीं करता है। लगभग 5 आउन्स पोटेशियम परमेंगनेट के क्रिस्टलों पर 10 आउन्स फॉरमेलीन डालकर कमरे को 6 से 12 घण्टे के लिए बन्द कर देते हैं। यह मात्रा लगभग 1000 घन फीट वाले कमरे के लिए पर्याप्त होती है। इन 6 से 12 घण्टों के अवकाश में कमरा विसंक्रमित हो जाता है।

१३

व्याधि प्रतिरक्षा

जिस अर्थ में व्याधि क्षमता शब्द को व्यवहार में लाते थे उस अर्थ में इसकी परिभाषा का उपयोग एक सीमित अर्थ में ही रह गया था। अतः व्याधि क्षमता की नई परिभाषा की आवश्यकता पड़ी। पहिले की परिभाषा के अनुसार 'बाह्य संक्रमण के प्रति शरीर में जो प्रतिरक्षा बल है उसे व्याधिक्षमता (immunity) कहते हैं।' यह परिभाषा रक्ताधान (blood transfusion) में रक्तवर्गों के सम्बन्ध में एवं ऊतक निरोपण (tissue grafting) या औषध प्रतिक्रिया आदि के समय सिद्ध नहीं होती थी। अतः एक नई परिभाषा की गई है कि **'शरीर में अपने प्रोटीन संगठनों से भिन्न प्रोटीन संगठनों के प्रवेश पर उन्हें निष्कासित करने की शक्ति को व्याधि-क्षमरा कहते हैं।'** शरीर अपने शरीर के ऊतक (tissue) को तो सहन कर सकता है परन्तु अन्य जीव के ऊतक को सहन नहीं कर सकता है वह उसे नष्ट करने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा प्रतिरक्षा शक्ति द्वारा की जाती है।

शरीर के प्रतिरक्षा विज्ञान को समझने के लिए कुछ शब्दों के भावों का ज्ञान होना आवश्यक है।

प्रतिजन (एन्टीजन antigen)—एन्टीजन या प्रतिजन उस द्रव्य को कहते हैं जो शरीर ऊतकों में पहुँचकर प्रतिकाय (antibody एन्टीबॉडी) की उत्पत्ति को उत्तेजित करता है। प्रतिजन के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं—(१) वह शरीर के लिए विजातीय (foreign) हो तथा (२) उसका अणुभार कम से कम ५,००० के लगभग हो।

अधिकांश प्रतिजन रासायजिक दृष्टि से प्रोटीन होते हैं तथा डिफथीरिया, टॉक्सिन, टिटेनस टॉक्सिन आदि परन्तु कुछ पॉलीसेकराइड (polysaccharides) भी हैं यथा रक्त वर्ग के एण्टीजन आदि। कुछ ऐसे भी द्रव्य हैं जो एण्टीजन नहीं होते हैं, परन्तु शरीर में पहुँचकर वे एण्टीजन की भाँति शरीर की व्याधि क्षमता को उत्साहित करते हैं यथा पेन्सिलीन (penicillin)। यह शरीर में पहुँचकर एक प्रोटीन विशेष से संयोग करता है। फिर वह प्रोटीन-पेनिसलीन संयोग विजातीय प्रोटीन के समान प्रतिजन का कार्य करने लगता है।

प्रतिकाय (एण्टीबॉडी antibody)—प्रतिजन (antigen एण्टीजन) के शरीर में प्रवेश से उत्तेजना प्राप्त कर उसे नष्ट करने के लिए शरीर के कुछ स्थानों पर

शरीर प्रोटीन प्रतिकाय उत्पन्न करने लगती है। प्रतिजन के हानिकारक प्रभाव को नष्ट करने वाले प्रोटीन के इस यौगिक को प्रतिकाय कहते हैं। प्रतिकाय उत्पन्न करने वाली कोशिकायें वैसे तो शरीर के लगभग सभी ऊतकों में होती हैं परन्तु लसिका पर्व (lymph nodes) तथा प्लीहा (spleen) इस कार्य के विशेष क्षेत्र हैं। जब प्रतिजनों का शरीर में प्रवेश अवत्वक् (subcutaneous) अथवा अवपेशीय (sub-muscular) मार्ग से होता है तो उस स्थान से वहन करने वाली लसिकाओं के निकट के पर्वों (nodes) में प्रतिकायों की उत्पत्ति होती है। अन्तःशिरीय (intra-venous) अथवा अन्तःपर्युदर्या (intraperitoneal) मार्ग से प्रवेश करने वाले प्रतिजनों की उत्तेजना से, मुख्य रूप से, प्लीहा में प्रतिकायों की उत्पत्ति होती है। यदि प्रतिजन जीवविष (toxin) है तो प्रतिकाय प्रतिजीवविष (antitoxin) होती है यथा प्रति-डिफथीरिया तथा प्रतिटिटेनस जीवविष। इस प्रकार प्रतिजन के जीवाणु (bacteria) होने से प्रतिकाय प्रतिजीवाणु (antibacterial) होता है अर्थात् जैसा प्रतिजन होता है उसके हानिकारक प्रभाव को नष्ट करने के लिए उसी के अनुसार प्रतिकाय उत्पन्न होते हैं।

रक्त सीरम की प्रोटीनों में एक प्रोटीन ग्लोबुलिन है। यही प्रोटीन प्रतिकायों को उत्पन्न करती है। इसका जो अंश प्रतिकायों को उत्पन्न करता है उसे इम्यूनो-ग्लोबुलिन (Immunoglobulin) कहते हैं। इम्यूनोग्लोबुलिन पाँच प्रकार की होती हैं उनके नाम हैं इम्यूनोग्लोबुलिन जी (IgG), इम्यूनोग्लोबुलिन ए (IgA), इम्यू-नोग्लोबुलिन एम (IgM), इम्यूनोग्लोबुलिन डी (IgD) तथा इम्यूनोग्लोबुलिन ई (IgE)। प्रत्येक इम्यूनोग्लोबुलिन विशेष प्रतिकायों को ही उत्पन्न करती है।

इम्यूनोग्लोबुलिन जी(IgG)—शरीर की समस्त इम्यूनोग्लोबुलिनों में इसका 80 प्र०श० भाग होता है। सामान्यतः 100 मि०ली० रक्त सीरम में यह 600 से 1800 मि०ग्रा० मिलती है। यह रक्त तथा अन्तरालीय (interstitial) ऊतकों में समान रूप से परिसंचरित होती रहती हैं। केवल यही ऐसी इम्यूनोग्लोबुलिन है जो अपरा (placenta) को पार कर गर्भ-शिशु के शरीर में पहुँच जाती है और उसे व्याधि-क्षमता प्रदान करती है। शिशु के जन्म के एक से तीन महीनों में शिशु अपनी इम्यूनोग्लोबुलिन उत्पन्न करने लगता है। उस समय तक यह उसे व्याधि-क्षमता देती है उसके बाद जैसे-जैसे शिशु में उसकी स्वयं की रोग क्षमित्वशक्ति उत्पन्न होने लगती है इसकी मात्रा कम होती चली जाती है। एक-दो वर्ष की आयु में शिशु में पूर्ण रूप से उसकी स्वयं की इम्यूनोग्लोबुलिन उत्पन्न होने लगती है।

ग्राम पोजेटिव पूयजनक जीवाणु, वाइरस तथा जीवविष (toxin) के विषाक्त प्रभाव को नष्ट करने वाले विपरीत प्रतिजीवाणु (antibacterial), प्रति-वाइरल (antiviral) तथा अधिकांश प्रतिजीवविष (antitoxin) प्रतिकायें इसी इम्यूनोग्लोबुलिन द्वारा उत्पन्न होती हैं।

रिसेस प्रतिकाय (Rh antibody) भी इसी ग्लोबुलिन के वर्ग का है। इसकी

उत्पत्ति उस दशा में होती है जबकि रिसेस ऋणात्मक (Rh⁻) रक्त वर्ग वाली माता का गर्भ-शिशु रिसेस धनात्मक (Rh⁺) वर्ग का होता है। गर्भ-शिशु का Rh⁺ कारक माता के रक्त में पहुंच प्रतिजन (antigen) का कार्य करता है जिसके प्रतिकार के लिए माता के रक्त में रिसेस प्रतिकाय उत्पन्न हो जाता है। और यह अपरा द्वारा गर्भ के रक्त में प्रवेश कर उसकी लोहित कोशिकाओं (RBC) को हानि पहुँचाता है। इस कारण गर्भ शिशु की गर्भ में ही मृत्यु की सम्भावना बढ़ जाती है।

इम्यूनोग्लोबुलिन ए (IgA)—शरीर की समस्त इम्यूनोग्लोबुलिन में इसका केवल दस प्र०श० अंश होता है। 100 मि०ली० रक्त सीरम में यह 70 से 380 मि०ग्रा० होती है। यह प्रोटीन अश्रु, प्रथमस्तन्य (colostrum), लालारस (saliva) तथा नासिका तथा श्वसन मार्ग के स्राव में होती है। आइसोहीमोग्लुटिनिनि (Iso-heamoglutinin समलोहित कोशिका समूहिका), प्रतिब्रूसेला (antibrucella), प्रतिडिफ्थीरिया (antidiphtheria) आदि प्रतिकायें इसी इम्यूनोग्लोबुलिन द्वारा उत्पन्न होती हैं।

शिशु में जन्म से दूसरे सप्ताह के पश्चात् इसकी उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है और एक वर्ष की आयु वाले शिशु में वयस्क की अपेक्षा आधी मात्रा के लगभग उत्पन्न हो जाती है।

इम्यूनोग्लोबुलिन एम (IgM)—समस्त इम्यूनोग्लोबुलिनों में 5 से 10 प्र०श० अंश इम्यूनोग्लोबुलिन 'एम का होता है। 100 मि०ली० सीरम में इसकी मात्रा 20 से 130 मि०ग्रा० होती है। ग्रामनेगेटिव जीवाणु के प्रतिकाय इसी इम्यूनोग्लोबुलिन द्वारा उत्पन्न होते हैं। वासरमन प्रतिकाय (Wasserman antibody) भी इसी वर्ग का प्रतिकाय है। रक्त के 'ए बी ओ' (ABO) वर्गों के प्लाज्मा में उपस्थित प्रतिकाय 'प्रति ए' (anti A) तथा प्रति बी (Anti B) इसी वर्ग में आते हैं।

इम्यूनोग्लोबुलिन एम (IgM)—केवल रक्त वाहिकाओं में ही रहती है। इसलिए प्रतिजन (antigen) के विरुद्ध यही प्रोटीन सबसे पहिले प्रतिकाय (antibodies) उत्पन्न करती है।

इम्यूनोग्लोबुलिन डी (IgD)—रक्त सीरम में इसकी उपस्थिति 4 से 40 मिली/ग्राम होती है। इसके कार्य के विषय में अभी अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

इम्यूनोग्लोबुलिन ई (IgE)—प्रत्यूर्जता (allergy) की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतिप्रत्यूर्जता प्रतिकाय (antiallergy antibodies) इसी ग्लोबुलिन से सम्बन्धित रहती है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न प्रकार की प्रतिकायें किस प्रकार उत्पन्न होती हैं। ऊपर हम कह आये हैं कि जब रोग उत्पादक जीवाणु अथवा जीवविष (toxin) शरीर में प्रवेश पा जाते हैं तब शरीर इनको एण्टिजन के रूप में ग्रहण करता है और इससे उत्तेजना प्राप्त कर सम्बन्धित प्रतिकायों की

उत्पत्ति होती है। इन प्रतिकाय द्रव्यों की कार्यकारी मात्रा की उत्पत्ति में लगभग दस दिन का समय लग जाता है। सबसे पहिले इम्यूनोग्लोबुलिन एम से सम्बन्धित प्रतिकाय उत्पन्न होते हैं। इनके २-३ दिन के पश्चात् इम्यूनोग्लोबुलिन जी से सम्बन्धित प्रतिकाय उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति में कितना समय लगता है यह एण्टीजन की शक्ति पर निर्भर करता है। यदि एण्टीजन पर्याप्त मात्रा में होने से शक्तिशाली है तो प्रतिकाय भी शीघ्र और अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं। इम्यूनोग्लोबुलिन शरीर की स्वाभाविक प्रोटीन है। अतः इसके द्वारा उत्पन्न प्रतिकाय भी शरीर की स्वाभाविक प्रतिरक्षा पंक्ति है। इससे शरीर को सहज रोग क्षमता प्राप्त होती है। इसलिए इसे सहज या जन्मजात (innate) रोग क्षमता कहते हैं। यदि इन प्रतिकाओं की उत्पत्ति आवश्यकता से कम है अथवा बाह्य एन्टीजन अधिक शक्तिशाली है तो उनसे निबटने के लिए बाहर से रोगक्षमित्व शक्ति प्रदान करने वाले उपाय करने पड़ते हैं। इस प्रकार उत्पन्न रोगक्षमता को उपार्जित रोग क्षमता (acquired immunity) कहते हैं। उपार्जित रोग क्षमता दो प्रकार की होती है सक्रिय (active) तथा निष्क्रिय (passive) जैसा कि नीचे दी गई तालिका से ज्ञात होगा।
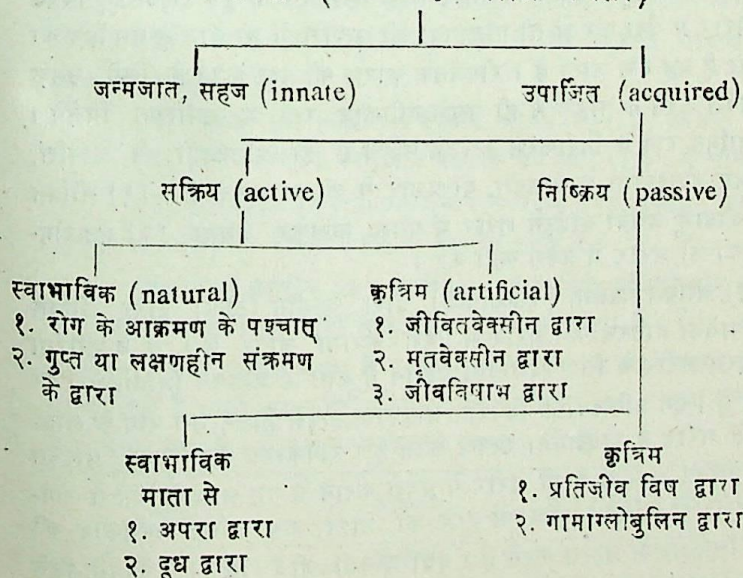
सहज अथवा जन्मजात रोगक्षमता के विषय में हम पीछे पढ़ आये हैं। अनेक सहज रोगक्षमतायें जातिगत होती हैं यथा पशुओं का प्लेग मनुष्य को नहीं होता है।

उपार्जित रोगक्षमता

सक्रिय स्वाभाविक रोगक्षमता—

(१) **रोगों के आक्रमण के पश्चात्**—कुछ रोग यथा मसूरिका, छोटी माता, रोमान्तिका आदि ऐसे रोग हैं कि जब इनका प्रथम संक्रमण शरीर में होता है तो उससे उत्तेजना प्राप्त कर शरीर में उनके विरुद्ध प्रतिकाय उत्पन्न हो जाते हैं। जिससे उस रोग के पुनः संक्रमण के प्रति शरीर सामान्यतः रोगक्षम्य हो जाता है।

(२) कुछ रोगों के रोगजनक कीटाणु सुसुप्त तथा लक्षणहीन अवस्था में मनुष्य के शरीर में पड़े रहते हैं इनकी उपस्थिति के समय वह व्यक्ति इन रोगों के प्रति क्षम्य रहता है। यद्यपि इनमें से अनेक के लिये वह व्यक्ति रोगवाहक (carrier) का कार्य करता है अर्थात् उसके शरीर में स्थित ये रोगजनक कीटाणु अन्य व्यक्ति में रोग उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न रोगक्षमता सक्रिय स्वाभाविक कहलाती है। ऐसे कुछ रोगों के नाम हैं पोलियो (polio), डिफ्थीरिया (diphtheria-रोहिणी), संक्रामक यकृतशोथ (hepatitis), विसूचिका (cholera) आदि।

सक्रिय कृत्रिम रोगक्षमता—

जब रोग कारक कीटाणु शरीर में प्रवेश करते हैं तो उनके दुष्प्रभाव को नष्ट करने के लिए शरीर में प्रतिकाय उत्पन्न हो जाते हैं। यह हम सहज रोगक्षमता में पढ़ आये हैं। परन्तु यदि हम किसी रोग की सम्भावना से पूर्व ही उसके विरुद्ध प्रतिकाय शरीर में पैदा कर लें तो प्रतिकायों की उत्पत्ति में जो तीन से दस दिन का समय लगता है वह वच जाता है। रोगजनक कारक को नष्ट करने के लिये उसके शरीर में प्रवेश करने के पहिले से ही उसके प्रतिकाय रक्त में उपस्थित मिलेंगे। किसी सम्भावित रोग के निराकरण के लिये पहिले से ही प्रतिकायों की उत्पत्ति, सक्रिय कृत्रिम रोगक्षमता के अन्तर्गत, दो प्रकार से की जा सकती है—(१) जीवित रोगजनक जीवाणु अथवा वाइरस शरीर में प्रवेश कराकर अथवा (२) मृत रोगजनक कारकों को शरीर में प्रवेश करा कर।

(१) **जीवित वेक्सीन** (Vaccines) द्वारा वेक्सीन (टीके) द्वारा जीवित बेक्टीरिया अथवा वाइरसों को शरीर में प्रवेश कराया जाता है। ये बेक्टीरिया अथवा वाइरस शरीर के लिए विजातीय प्रोटीन हैं अतः ये प्रतिजन (antigen) का कार्य करते हैं। इन प्रतिजनों के विपरीत प्रतिकाय उत्पन्न होकर उस रोग के आक्रमण के प्रति शरीर में रोगक्षमता उत्पन्न करते हैं। रोगकारक बेक्टीरिया, वाइरस आदि को जीवित अवस्था में ही शरीर में प्रवेश कराने से यह लाभ है कि ये रोगउत्पादक शरीर में पहुँचकर संख्या में वृद्धि को प्राप्त कर अधिक प्रतिकाय की उत्पत्ति के लिए प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। यथा बी०सी०जी० (BCG) वेक्सीन-जिसे अन्तस्त्वक् (intradermaly) द्वारा दिया जाता है। (२) मसूरिका, पीतज्वर, रोमान्तिका, गलसुआ (mumps मम्प्स) आदि वेक्सीन तथा पोलियो वेक्सीन, जो मुख द्वारा दिया जाता है, इसी प्रकार के हैं।

(२) मृत वेक्सीन (Killed vaccines)—इसमें रोग उत्पादक कीटाणु मृत अवस्था में रहते हैं। जीवित वेक्सीन की अपेक्षा ये उतने शक्तिशाली नहीं होते हैं। अतः आवश्यक प्रतिकाय उत्पत्ति के लिए एक बार से अधिक बार देना पड़ता है। इन्हें सामान्यतः अन्तःत्वक अथवा अन्तःपेशीय देते हैं। ये हैं (१) वेक्टीरिया जन्य (bacterial) टाइफाइड, विसूचिका, काली खांसी (whooping cough-pertusis), प्लेग आदि तथा (२) वाइरस जन्य (viral) अलर्क (रेबीज-rabies), पोलियो, इन्फ्लुएँजा (influenza) आदि के वेक्सीन।

३. टॉक्साइड (Toxoids जीवविषाभ)—जिन जीवविषों (toxing) का दुष्प्रभाव नष्ट कर दिया जाता है परन्तु उनकी प्रतिकाय की उत्पत्ति को उत्तेजित करने की शक्ति बनी रहती है उन्हें जीवविषाभ (toxoids) कहते हैं। मुख्य रूप से उपयोग में लाये जाने वाले जीवविषाभ हैं (१) डिफथीरिया टॉक्साइड तथा (२) टिटनेस टॉक्साइड।

इनके अतिरिक्त एक से अधिक रोगों के वेक्सीनों को मिश्रित करके भी प्रयोग में लाते हैं, जिसके कारण, शरीर में एक साथ ही अनेक रोगों के विरुद्ध प्रतिकाय उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार के मिश्रित वेक्सीन, जो अधिक व्यवहार में आते हैं, निम्नलिखित हैं।

(१) डिफथीरिया (रोहिणी Diphtheria), परटूसिस (Pertussis, whooping cough कुकुरकास, काली खांसी) तथा टिटनेस (Tetanus-धनुस्तम्भ) का मिश्रित वेक्सीन जिसे डीपीटी (DPT) वेक्सीन या ट्रिपिल एण्टिजन (Triple Antigen) कहते हैं।

(२) डिफथीरिया+टिटेनस वेक्सीन को डिटी (DT) वेक्सीन कहते हैं।

(३) डिफथीरिया+परटूसिस वेक्सीन को डिपी (DP) वेक्सीन कहते हैं।

(४) टाइफाइड (Typhoid मन्थर ज्वर)+पराटाइफाइड अ, ब (Para typhoid A,B) को टीएबी (TAB) वेक्सीन कहते हैं।

शिशुओं में वेक्सीन देकर उपार्जित (स्वाभाविक कृत्रिम) रोग क्षमता उत्पन्न कर उन्हें भविष्य में इन रोगों से सुरक्षित रखा जा सकता है। किस आयु पर कौन सा वेक्सीन देना उपयुक्त रहता है इसकी एक तालिका भारत सरकार द्वारा घोषित, दी जा रही है। इसे अन्तर्राष्ट्रीय बालआपतकोष (यूनीसेफ UNICEF) द्वारा प्रचारित किया गया है। प्रत्येक राष्ट्र इसको मान्यता देते हैं।

आयु	वेक्सीन	कुल मात्रायें (No. of doses)
1. 3 से 9 मास के मध्य प्रथम बार	डीपीटी (DPT)	पुनः 4 से 6 सप्ताहों के अन्तराल से (कुल तीन बार)
2. ,,	पोलियो	पुनः 4 से 6 सप्ताहों के अन्तराल से मुख द्वारा (कुल तीन बार)

3. ,,	बीसीजी (BCG)	केवल एक बार
4. 9 से 12 मास के मध्य	रोमान्तिका (measles)	,,
5. 5 से 7 वर्ष की आयु पर पाठशाला में प्रवेश के समय	टाइफाइड डिफ्थीरिया टिटनेस टॉक्साइड	तीनों को मिलाकर एक बार
6. 11 से वर्ष 12 की आयु पर प्रा० शाला छोड़ते समय	टाइफाइड टिटनेस टॉक्साइड	टिटनेस की अनुवर्धक मात्रा टाइफाइड वेक्सीन के साथ दें
7. गर्भवती स्त्री को 16 से 36 सप्ताह के मध्य	टिटनेस टॉक्साइड	यदि पहिले नहीं दिया गया है तो अनुवर्धक मात्रा में केवल एक बार इससे माता एवं गर्भस्थ शिशु दोनों का धनुस्तम्भ (tetanus) से बचाव हो जाता है।

अनुवर्धक मात्रा (booster dose) का अर्थ है दुगनी मात्रा।

(i) केन्द्रीय चिकित्सा अनुसन्धान संस्थान के वैलूर स्थित वाइरस विज्ञान प्रगत अनुसंधान केन्द्र (centre of advance research in virology) के प्रोग्राम निदेशक डा० टी० जेकब जोन्स का कथन है कि भारत में पोलियो के प्रति पूर्ण प्रारम्भिक रोग क्षमित्व प्राप्त करने के लिए शिशुओं को 2, 3, 4, 5 और 6 ठे मास में इस प्रकार कुल पाँच बार मुख द्वारा पोलियो वेक्सीन देना आवश्यक है।

(ii) भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् (ICMR) के डा० जोन्स साक (Jones Sak) ने पोलियो वेक्सीन खोज निकाला है जिसे डी.पी.टी. के साथ मिला कर दिया जा सकता है। इस वेक्सीन को केवल दो बार देने से पोलियो से पूर्ण छुटकारा मिल जाता है।

(iii) पोलियो वेक्सीन की निश्चित मात्रा से अधिक ड्राप्स एक बार में नहीं दें।

निष्क्रिय कृत्रिम रोग क्षमता

निष्क्रिय स्वाभाविक रोग क्षमता माता से गर्भस्थ शिशु को अपरा (placenta) द्वारा तथा दूध पीते शिशु को दूध द्वारा प्राप्त होती है। कृत्रिम निष्क्रिय रोग क्षमता के विषय में यहाँ लिखा जा रहा है।

सामान्यतः घोड़े के शरीर में रोग जनक जीवविष (toxin) प्रवेश करा दिया जाता है। रेबीज में यह कार्य भेड़ अथवा मुर्गी के शरीर में प्रवेश कराकर किया जाता है। जब इनके रक्त में प्रतिकाय उत्पन्न हो जाते हैं तब इनके रक्त की आवश्यक मात्रा ली जाती है। उसका सीरम पृथक कर लिया जाता है। इस सीरम

में उस रोग के प्रति जीवविष (antitoxin) उपस्थित रहते हैं। रोग से बचाव के लिये इसे मनुष्य शरीर में आवश्यक मात्रा में दिया जाता है इससे उस रोग विशेष के प्रति रोग क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

कृत्रिम रोग क्षमता उत्पन्न करने के लिए टीका लगाते समय कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाया करती हैं। उनके प्रति पूर्व से ही सावधान रहना चिकित्सक के लिये आवश्यक है। इनमें मुख्य कठिनाइयों का वर्णन किया जाता है।

(1) टीका (इनॉकुलेशन inoculation) गलत तरीके से अथवा गलत स्थान पर लगाने से उस स्थान पर गाँठ पड़ जाती है जिससे उस स्थान पर लाली (redness) उत्पन्न हो जाती हैं, वेदना होती है तथा स्पर्श असह्यता (tenderness) हो जाती है। कभी-कभी सिरदर्द घबराहट आदि भी हो जाते हैं। इसलिए टीका सही स्थान पर सही तरीके से लगाना चाहिए।

(2) पिचकारी (syringe सिरिंज) के भली-भाँति विसंक्रमित (sterilized) नहीं होने से स्टेफिलो (Staphylo) तथा स्ट्रेप्टो (Strepto) कॉकस जीवाणु शरीर में प्रवेश पाकर कभी-कभी रोग उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार यदि टीके (vaccine) के सीरम में यकृत शोथ (hepatitis) के वाइरस हैं तो टीके के 2-3 माह पश्चात् कामला (Jaundice) के रूप में रोग के लक्षण प्रकट हो सकते हैं।

(3) कुछ व्यक्ति प्रतिसीरम (एण्टीसीरम antiserum) यथा एण्टिटिनेनस सीरम (ATS) आदि के प्रति सुग्राही (sensitive) होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को इन्जेक्शन के पश्चात् 7 से 12 दिन के अन्दर ज्वर, विस्फोट (rash), शौफ तथा सन्धियों (joints) में पीड़ा आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और यदि पहले भी यह सीरम उनको दिया जा चुका है तो उपरोक्त लक्षण 3–4 दिन में ही प्रकट हो जाते हैं। जो व्यक्ति अधिक सुग्राही होते हैं, उनमें लक्षण इन्जेक्शन के कुछ क्षणों से 2 घण्टे के अन्दर प्रकट हो जाते हैं, यह तीव्रग्राही स्तब्धता (anaphylic shock) की अवस्था होती है। इसमें श्वसनी आकर्ष (broncho spasm), कष्ट से श्वास (dyspnoea), अल्प रक्तदाब, शरीर का पीला पड़ जाना, पाण्डुता तथा निपात (collapse) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह दशा बड़ी गम्भीर होती है और इसमें तुरन्त ही उपचार किया जाना चाहिये।

इसलिए प्रतिसीरम के इन्जेक्शन से पूर्व पूर्ण सावधानी वरतनी चाहिये यथा—

(१) इन्जेक्शन के लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिये नई विसंक्रमित सिरिञ्ज तथा सूई व्यवहार में लानी चाहिए। अनेक देशों में ऐसी विधि अपनाई जाती है। एक विसंक्रमित सूई और सिरिंज पौलीथीन की थैली में वन्द रहती है। इसे एक व्यक्ति के लिए ही व्यवहार में लाते हैं। यदि ऐसा सम्भव नहीं है तो सिरिंज तथा सूई आदि को भली-भाँति विसंक्रमित कर लेना चाहिए। इसके लिए (i) इसको 160°C तापमान की वाष्प में कम से कम एक घण्टे रखना चाहिये। (ii) ओटोक्लेव

(autoclave) में 15 पाउण्ड के दाब तथा 120°C के तापमान पर कम से कम 20 मिनट रखना चाहिए। (iii) खौलते जल में 15 मिनट तक रखना चाहिए अथवा (iv) 140°C तापमान पर पिघली हुई पेराफिन (Paraffin) मोम में 10 सेकण्ड तक रखना चाहिए। केवल मैथिलेटेड स्प्रिट में डालकर रखने से सूई अथवा सिरिंज विसंक्रसित नहीं होती है।

(ii) प्रति सीरम (anti serum) अथवा प्रति जीवविष (anti toxin) की 0·2 मि० ली० मात्रा को 1 : 10 सेलाइन में तनु (dilute) करके व्यक्ति को अन्तःत्वचीय (intra dermal) इन्जेक्शन देकर देखना चाहिए कि इन्जेक्शन के स्थान पर स्फोट (wheal) तथा लाली (flare) तो नहीं हो गई है। यदि व्यक्ति उस सीरम आदि के प्रति सुग्राही है और ऐसा होता है तो फिर उसे वह प्रतिसीरम या प्रतिजीव विष नहीं देना चाहिये।

(3) प्रति सीरम या प्रतिजीवविष का शरीर पर दुष्प्रभाव प्रकट होते ही स्तब्धता (shock) से बचाने के लिये नई सिरिंज तथा सुई से तुरन्त एड्रेनेलीन (adrenaline) के 1 : 1000 विलयन की 0·5 मि०ली० मात्रा अन्तःपेशीय मार्ग से दे देनी चाहिये। यदि रक्त का सिस्टॉली दाब (systolic pressure) 100 मि०मी० से कम है तो प्रत्येक 20 मिनिट के पश्चात् इस मात्रा को देते रहना चाहिये जब तक कि रक्त दाब उचित न हो जाय। इसके साथ किसी प्रति हिस्टेमीन (anti histamine) औषध का इन्जेशन भी देना उचित होता है जिससे शोथ (oedema) तथा शीत पित्त (urticaria) को रोका जा सके। रोगी को कम से कम तीस मिनट तक चिकित्सक को अपनी स्वयं की निगरानी में रखना चाहिए।

१४

जनपदोद्ध्वंस

जनपदोद्ध्वंस (चरक विमान स्थान तृतीय अध्याय)

आचार्य अग्निवेश (चरक संहिता के आदि प्रणेता) ने अपने **गुरुप्रवर भगवान** आत्रेय से शंका प्रकट की कि मनुष्य विभिन्न प्रकृति के होते हैं एवं आहार, देहबल, सात्म्य, मन तथा आयु में विभिन्न होते हुए भी एक साथ ही समस्त व्यक्ति एक प्रकार के रोग से क्यों ग्रसित हो जाते हैं ? इससे जीवन का बड़ी संख्या में विनाश होकर नगर, ग्राम, प्रदेश आदि प्राणी विहीन होकर उजड़ जाते हैं ।

भगवान आत्रेय ने शंका का समाधान करते हुए उत्तर दिया कि यह सत्य है कि व्यक्तियों में प्रकृति आदि भाव भिन्न-भिन्न होते हैं परन्तु कुछ भाव ऐसे भी हैं जिनके विकृत हो जाने पर सब प्राणियों पर एक समान प्रभाव पड़ता है और वे समान लक्षण वाले रोगों से ग्रस्त हो अधिकांश जीवन हानि को प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रकार के जनपद नाशक भाव चार हैं—(१) वायु (२) जल (३) देश तथा (४) काल ।

(१) वायु के विकृत होने के लक्षण—वायु का ऋतु विपरीत होना, अति-शान्त और निश्चल होना अथवा अति वेगवान् होना, अत्यन्त कर्कश होना, अत्यन्त शीतल अथवा अत्यन्त उष्ण होना, अत्यन्त रूक्ष अथवा अत्यन्त अभिष्यन्द (क्लेद उत्पन्न करने वाला) होना, अत्यन्त भीषण शब्द करते रहना, विपरीत दिशाओं में तेज चलते हुये आपस में टकराते रहना, बवण्डर युक्त होना, हानिकर गन्ध, वाष्प, धूल, रेत अथवा धुवें से युक्त होना । ऐसी वायु सब मनुष्यों पर हानिकर प्रभाव डालती है ।

(२) जल के विकृत होने के लक्षण—अत्यन्त विकृत गन्ध, वर्ण, रस एवं स्पर्श वाला होना, जिसे जलचर भी छोड़कर चले गये हैं ऐसा सड़ा हुआ होना; जल का सूखकर अत्यन्त कम रह जाना; पीने में अच्छा नहीं लगना तथा जिसके गुण नष्ट हो गये हैं । ऐसा जल विकृत जल होता है । इसको व्यवहार में लाने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

(३) देश के विकृत होने के लक्षण—जिस स्थान पर पदार्थों के वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श विकृत हो गये हैं । प्रत्येक तरफ दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध व्याप्त है । सांप तथा हिंस्र जन्तु, टिड्ढे, मच्छर, मक्खी, चूहे, उल्लू, गिद्ध, गीदड़ आदि पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े अधिक हो गये हैं । तृण, बांस, लतायें, झाड़ियां अत्यधिक बढ़ गई हैं ।

सूखा पड़ गया है। वायु धूप वर्ण की दिखाई पड़ती है। पक्षी निरन्तर शब्द करते हैं। कुत्ते उच्च स्वर से रोते हैं। मृग आदि पशु तथा पक्षी बेचैनी अनुभव कर इधर-उधर भागते फिरते हैं। ऐसा स्थान (देश) विकृत होता है।

नगरों में मनुष्यों ने सत्य, लज्जा, आचार, शील, आदि शुभ गुणों को छोड़ दिया है। जलाशयों का जल स्थिर नहीं रहता है, उनमें ऊँची लहरें उठती हैं। निरन्तर उल्कापात, वज्राघात (बिजली गिरने से मृत्यु) तथा भूकम्प आते हैं और इनके कारण भयंकर शब्द ध्वनि होती है। सूर्य, चन्द्र तथा तारागण श्वेत बादलों में छिपे रहते हैं। अहितकर एवं अप्रिय शब्द होते रहते हैं। ये उस देश की विकृति के लक्षण हैं।

(४) **काल की विकृति के लक्षण**—ऋतु के विपरीत लक्षणों का हो जाना यथा ग्रीष्म ऋतु में सर्दी और शरद ऋतु में गर्मी का पड़ना अथवा उस ऋतु के लक्षणों का अति प्रबल अथवा अति न्यून हो जाना। ऐसा काल वहाँ के रहने वालों के लिये अति अहितकर होता है। काल का अयोग, मिथ्यायोग अथवा अतियोग रोग का कारण होता है।

आचार्य अग्निवेश ने पुनः पूछा कि इन चारों भावों में, जो जनपद नाश के कारण हैं, कौन-सा भाव सर्वाधिक प्रबल है? भगवान आत्रेय ने कहा कि यद्यपि जनपद के विनाश में ये चारों कारण दुष्परिहार्य हैं परन्तु वायु से जल; जल से देश तथा देश से काल जनपद विनाश के लिये अधिक बलवान है।

इन चारों में भी जो लक्षण विकृति के बताये गये हैं, इनमें जितने कम या अधिक कारण उपस्थित होंगे उन्हीं के अनुसार उनकी विकृत करने की शक्ति होगी। यथा यदि वायु में विकृति के एक दो लक्षण ही हैं तो उनके प्रतिकार में उतनी ही सरलता होती है और यदि अधिक लक्षण वायु में उपस्थित हैं तो उनका प्रतिकार उतना ही कठिन होता है। इनकी विनाशकारी शक्ति उतनी ही अधिक प्रबल होती है। इसी प्रकार जल, देश तथा काल के लक्षणों के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

वायु, जल, देश एवं काल की विकृति के कारण—

वायु आदि इन भावों की विकृति का कारण (i) अधर्म है। जब देश का शासक वर्ग उचित अनुचित की पर्वाह न करते हुए प्रजा के साथ वैसा ही व्यवहार करता है। जब शासन का मुखिया ही अधर्माचरण करने लगता है, रिश्वत आदि लेता है, तो उसके आधीन कर्मचारी भी अधर्माचरण करने लगते हैं। व्यापारी वर्ग भी अपना लेन-देन उनके साथ करने लगते हैं। इन अधर्माचरणों के कारण पृथ्वी विकृत हो जाती है जिससे वर्षा समय पर नहीं होती है, वायु सम्यक् प्रकार से नहीं चलती है, जलागार सूख जाते हैं अथवा बाढ़ आ जाती है। औषधियाँ स्वभाव को छोड़कर विकृत हो जाती हैं। तब उनके संसर्ग तथा आहार के दोष के कारण जनपद उजड़ जाते हैं।

(ii) लड़ाइयों के कारण भी जनपदों का विनाश हो जाता है। जब दो राष्ट्र एक दूसरे से लड़ाई छेड़ देते हैं तो लड़ाई का क्षेत्र जनपद विहीन हो जाता है।

(iii) अधर्म या अन्य अपचार (अस्वच्छता आदि) के कारण नाना प्रकार के रोगों के कारण (वेक्टीरिया, वाइरस आदि) उत्पन्न हो विविध प्रकार के रोगों के कारण बनते हैं और जनपदों का विनाश हो जाता है। अतः स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन नहीं करना अधर्म है एवं जनपद विनाश का कारण है।

(iv) गुरु, वृद्ध, सिद्ध पुरुषों द्वारा दी गई सलाह की अवज्ञा करके अहित कर्मों में रत रहना भी जनपदोद्ध्वंस का कारण होता है। ये महापुरुष अपने अनुभव, ज्ञान तथा अनुमान आदि के द्वारा आने वाली विकृतियों की पहिले से ही चेतावनी देते हैं। उस चेतावनी की अवज्ञा कर पहिले से बचाव के साधनों को व्यवहार में नहीं लाने के कारण जनपदों का ध्वंस हो जाता है।

व्यक्ति की आयु दो बातों पर आश्रित करती है (i) दैव (पूर्वकृत कर्म) तथा (ii) पौरुष (ऐहिक कर्म)।

पूर्व जन्म में किए गए कर्मों को 'दैव' और इस जन्म में किये गये कर्मों को 'पौरुष'' कहते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों में परस्पर जो बलाबल हुआ करता है उसी के अनुसार आयु होती है। कभी दैव बलवान होता है और कभी पौरुष। कभी-कभी दोनों ही बलवान होते हैं, इस दशा में आयु दीर्घ, सुखमय एवं निश्चित होती है। कभी-कभी दोनों ही क्षीण होते हैं तब आयु क्षीण, दुःखयुक्त एवं अनिश्चित होती है। उदाहरण के लिए—गाड़ी का अक्ष (धुरा) सब प्रकार से ठीक है। जो गुण एक अच्छे अक्ष में होने चाहिए, वे सब गुण इसमें विद्यमान हैं। यह उसकी पूर्ण आयु का एक निश्चित प्रमाण है ऐसा माना जा सकता है। इसे दैव कह सकते हैं। जिस प्रकार यह अच्छा अक्ष अत्यधिक भार उठाने से, ऊँचे-नीचे मार्ग में चलने से, उसके दोषों को दूर नहीं करने से, उसमें तैल और चिकनाई नहीं देने से, बीच में ही नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार आयु भी बल से अत्यधिक कार्य करने से, पाचकाग्नि के अनुसार भोजन नहीं करने से, विषम भोजन देने से, शरीर को विषम परिस्थितियों में रखने से, अत्यन्त मैथुन से, दुष्ट व्यक्तियों की संगति से, दुर्गुण प्राप्त करने से, जिन वेगों को धारण करना चाहिये, उन्हें धारण नहीं करने तथा अधारणीय वेगों के प्रवृत्त वेगों को रोकने से, वायु, अग्नि आदि के सन्ताप से, उचित चिकित्सा के अभाव आदि कारणों से यह शारीर आयु अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।

जनपदोद्ध्वन्स के कारणों के होते हुए भी यदि किसी व्यक्ति की उचित प्रकार से चिकित्सा की गई है तथा उसका पौरुष ठीक है एवं उसकी दैव आयु शेष है तो वह व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ कर जाता है, अन्यथा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

चिकित्सा में—(i) गर्म जल पीने को देना चाहिये। क्योंकि सामान्यतः ज्वर आदि रोग आमाशय से उत्पन्न होते हैं। आमाशय से उत्पन्न होने वाले रोगों में पाचन, वमन तथा अपतर्पण (लंघन आदि) में समर्थ औषध ही उपयोगी होती है।

पाचन के लिए गर्म जल हितकर होता है। अतः गर्म जल पीने के लिये देना चाहिये, परन्तु एक साथ अधिक गर्म जल नहीं देना चाहिये। यदि रोग अत्यधिक पित्त के कारण हैं तथा दाह, भ्रम, प्रलाप तथा अतिसार आदि लक्षण भी साथ हैं तो ऐसे रोगी को गर्म जल नहीं दिया जाता है। गर्म जल के उपचार से दाह, भ्रम, प्रलाप तथा अतिसार अत्यधिक बढ़ जाते हैं। इसमें शीतल जल से ये लक्षण शान्त होते हैं।

(ii) अन्य रोगों की निदान विपरीत चिकित्सा करनी चाहिये। यथा अपतर्पण से उत्पन्न रोगों में संतर्पण के बिना शान्ति नहीं होती है। इसी प्रकार संतर्पण से उत्पन्न रोगों में अपतर्पण चिकित्सा की जाती है। इसके बिना रोग का नाश नहीं होता है। अपतर्पण तीन प्रकार का होता है—(i) लंघन, (ii) लंघन एवं पाचन तथा (iii) दोषावसेचन या दोष निर्हरण (संशोधन)।

(अ) जब दोषों का बल अल्प हो तब लंघन कराना चाहिये। लंघन कराने से अग्नि तथा वायु की वृद्धि होती है जिससे अल्प दोषों का शमन हो जाता है।

(ब) जब दोषों का बल मध्यम हो तब लंघन-पाचन कराना चाहिये। इससे दोषों का शमन हो जाता है क्योंकि लंघन दोषों को इस प्रकार सुखाता है जिस प्रकार वायु और धूप जल को सुखा देती हैं, तथा पाचन इस प्रकार दोषों को सुखाता है जिस प्रकार राख अथवा धूल जल को सुखा देते हैं।

(स) जब दोष बलवान हों तब दोष निर्हरण (संशोधन) चिकित्सा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त उनके शमन का अन्य कोई उपाय नहीं है।

(ii) जनपदोद्ध्वंस और भूमि के रसरहित होने के पूर्व एकत्रित की गई औषधियाँ एवं द्रव्य, जिनके रस, वीर्य और विपाक नष्ट नहीं हुए हैं तथा ऐसे द्रव्यों से तैयार की गई औषधियाँ ही चिकित्सा के व्यवहार में लानी चाहिये।

———

१५

संचारी रोग

संचारी रोगों की उत्पत्ति के कारण जीवाणु, वाइरस (virus) आदि हैं जैसा हम बता आये हैं। इनमें से कुछ सीधे वायु, वस्त्र आदि के द्वारा स्वस्थ व्यक्ति को संक्रमित करते हैं तथा अधिकांश अन्य कीट आदि का सहारा लेकर मनुष्य के शरीर पर आक्रमण करते हैं। मलेरिया आदि का संक्रमण (infection) इसी दूसरे प्रकार से होता है। पहले हम इसी पर विचार करते हैं।

प्रोटोजुआ द्वारा संक्रमण
(Protozoal Infection)

प्रोटोजुआ समुदाय में जीव सूक्ष्मदर्शीय एवं एक कोशिकीय (unicellular) होते हैं। इस समुदाय के अनेक जीव मनुष्य के शरीर में रोग उत्पन्न करते हैं। अधिकांश प्रोटोजुआ समुदाय के आथ्रोपोडों (arthropod-सन्धिपाद प्राणी) श्रेणी के जीव यथा मच्छर आदि, मनुष्य को हानि पहुँचाते हैं। सामान्यतः आथ्रोपोड प्रकृति के सहायक होते हैं यथा शहद की मक्खी पुष्पों के निषेचन में अत्यन्त सहायक होती है एवं अनेक आथ्रोपोद खाद के निर्माण का कार्य करते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि संसार में प्रति वर्ष जितनी मृत्तुएँ होती हैं उनमें लगभग आधी इन जीवों द्वारा रोगों के कीटाणुओं के वहन से होती हैं। इनमें कुछ का यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

नाम आँथ्रोपोड	नाम रोग जिसके कीटाणुओं का वहन करते हैं
१. मच्छर (mosquito)	मलेरिया (malaria विषम ज्वर), पीत (yellow) ज्वर, डेन्गु (dengue) ज्वर, मस्तिष्क शोथ (encephalitis), फाइलेरिया (filaria), रक्तस्रावी (haemorrhagic) ज्वर आदि।
२. घरेलू मक्खी (house fly)	टाइफाइड (आन्त्र ज्वर typhoid), पराटाइफाइड, अतिसार (diarrhoea), विसूचिका (हैजा cholera), जठरान्त्र शोथ (gastroenteritis), अमीबारुग्णता (amoebiasis), कृमिजंन्य (helminthic) संक्रमण, पोलियो मायलाइटिस (poliomyelitis पोलियोमेरुरज्जु-

	शोथ), नेत्रश्लेष्मलाशोथ (conjunctivitis), ट्रेकोमा (trachoma रोहें) आदि ।
३. यूका (louse जूं)	आवर्ती (relapsing) ज्वर, खाई (trench) ज्वर, जनपादिक सन्तत ज्वर (epidemic typhus fever) आदि ।
४. उन्दुर पिस्सू (rat flea)	ग्रथिल प्लेग (bubonic plague औपसर्गिक सन्निपात) स्थानिक टाइफस (endemic typhus सन्तत ज्वर) आदि ।
५. कण्डू माइट (itch mate)	स्केबीज (scabies पामा) सार्कोप्टेस सैबिबआई (sarcoptes scabiei) परजीवी द्वारा ।
६. साइक्लोप (cyclops)	नेहरुआ (गिनी कीट रोग guineaworm disease), फीताकृमि (tape worm) रोग आदि ।

आर्थ्रोपोडों द्वारा रोगों का संचारण (transmission)—

रोग संचारण तीन प्रकार से होता है ।

(१) **प्रत्यक्ष सम्पर्क** (direct contact)—इसमें आर्थ्रोपोड मनुष्य के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आकर रोग का संक्रमण करता है यथा स्केबीज । संक्रामित व्यक्ति के सम्पर्क में जब स्वस्थ व्यक्ति आता है तो इचमाइट (itchmite) स्वस्थ व्यक्ति में पहुँच जाती है और वहाँ स्केबीज (कण्डू-खुजली) उत्पन्न करती है ।

(२) **यान्त्रिक संचारण** (mechanical transmission)—इसमें रोग उत्पन्न करने वाले रोग वाहकों को आर्थ्रोपोड स्वयं स्वस्थ व्यक्ति तक ले जाते हैं । यथा मक्खी अपनी टाँगों में चिपटा कर रोग के जीवाणुओं को ले जाती है ।

(३) **जैविक संचरण** (biological transmission)—आँर्थ्रोपोड के शरीर के भीतर रोग के वाइरसों में परिवर्तन हो जाता है और वह परिवर्तित रूप मनुष्य के शरीर में पहुँचकर रोग उत्पन्न करता है, यथा मच्छरों द्वारा मलेरिया ।

मच्छर एवं मलेरिया

मच्छर—मच्छर समस्त संसार में पाया जाता है । भारत में इनके चार वंश (genera) मुख्य रूप से रोगों से सम्बन्धित हैं । ये हैं (i) ऐनोफेलीज (Anopheles), (ii) क्यूलेक्स (Culex), (iii) ईडीज (Aedes) तथा (iv) मैनसोनिया (Mensonia) ।

प्रत्येक मच्छर के जीवन में चार स्थितियाँ होती हैं (i) अण्डा (egg) (ii) लारवा (larva) (iii) प्यूपा (pupa) तथा पूर्ण (adult) मच्छर ।

मादा मच्छर जल की सतह पर एक बार में 100–200 अण्डे देती है । ऐनोफेलीज के अण्डे पृथक-पृथक रहते हैं और वे नाव की शक्ल के होते हैं । क्यूलेक्स के अण्डे छोटे-छोटे समूहों में होते हैं । ईडीज के अण्डे भी पृथक-पृथक होते हैं परन्तु

वे सिगार की शक्ल के होते हैं। मैनसोनिया मादा जल में किसी पौधे की पत्ती पर अण्डे देती है और ये अण्डे पत्ती के नीचे के भाग पर चिपके रहते हैं।
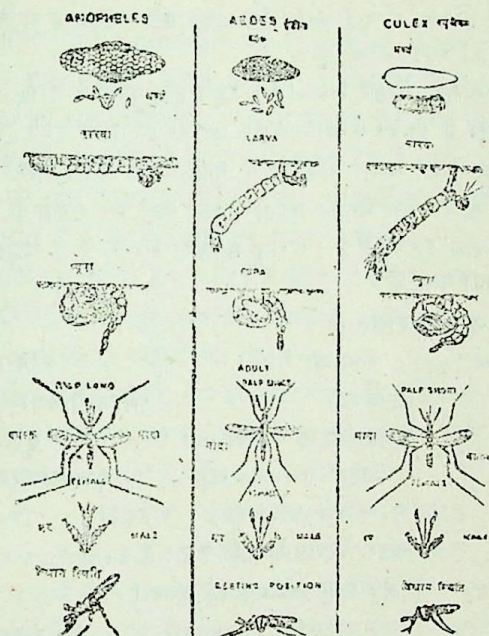
चित्र 15·1

एक दो दिन में अण्डे लारवा का रूप ग्रहण कर लेते हैं। लारवा लम्बी शक्ल के होते हैं और जल में सरलता से तैरते रहते हैं। ऐनोफेलीज लारवा जल की सतह पर क्षैतिज (horizontal) स्थिति में रहते हैं जबकि क्यूलेक्स और ईडीज के लारवा का सिर नीचे पानी में डूबा रहता है। मैनसोनिया के लारवा जल में पौधों की जड़ों से चिपके रहते हैं और जड़ों से ही वायु प्राप्त करते हैं। लारवा स्थिति 5-7 दिन रहती है और फिर ये प्यूपा में परिवर्तित हो जाते हैं। प्यूपा से 1-2 दिन में पूर्ण मच्छर के रूप में बदल जाता है। सामान्यतः मादा मच्छर की आयु 8-34 दिन है। नर मच्छर की आयु कम होती है।

ऐनोफेलीज मादा मच्छर साफ जल में अण्डे देती है। क्यूलेक्स मादा गन्दे जल में अण्डे देती है। ईडीज मादा सामान्यतः बर्तन आदि में भरे जल में अण्डे देती है जबकि मैनसोनिया मादा जल में डूबी पौधों की पत्तियों पर अण्डे देती है।

नर मच्छर पौधों के रस को चूस कर अपना जीवन निर्वाह करता है परन्तु मादा मच्छर अण्डे देती है इसलिए ... भोजन पर निर्भर रहती है। मादा प्रत्येक

दो तीन दिन के अन्तर से अण्डे देती रहती है। कुछ मादा मच्छर केवल मनुष्यों के रक्त का पान करती है, कुछ पशुओं के रक्त का तथा कुछ ऐसी भी मादा मच्छर हैं जो दोनों के रक्त का स्वाद लेती हैं। मनुष्य के लिए, उसका रक्त पीने वाले मच्छर अधिक घातक हैं। मादा मच्छर सामान्यत: दिन ढलने के बाद से लेकर दिन निकलने तक रक्त चूसने का कार्य करती है।

दिन में मच्छर अन्धेरे स्थानों पर रहते हैं। परदे के पीछे, फरनीचर के नीचे और पीछे, दीवार के चित्रों के पीछे आदि स्थानों पर छिपे रहते हैं। कुछ मच्छर घरों से बाहर वृक्षों पर, पुराने मकानों में, कुओं आदि की दीवारों से लगे आराम करते रहते हैं। सामान्यत: मच्छर लम्बी उड़ान नहीं भर सकते हैं, वे अपने रहने के स्थानों के आस-पास ही रहते हैं। परन्तु मच्छरों को $\frac{1}{2}$ से 3 मील की दूरी तक जाते हुए भी पाया गया है।

मच्छरों द्वारा उत्पन्न रोग—

मच्छर की किस्म	रोग का नाम	रोग का कारक
१. ऐनीफेलीज	मलेरिया	प्लाजमोडियम (Plasmodium)
२. क्यूलेक्स	वेन्क्रॉफ्टाई फाईलेरिया (filaria bancrafti)	वुशेरेरिया वेन्क्राफ्टाई (wuchereria bancrofti)
३. ईडीज	१. पीत (yellow) ज्वर भारत में नहीं होता है।	पीतज्वर वाइरस
	(२) डेन्गु (dengue) ज्वर।	डेन्गुज्वर वाइरस
	(३) रक्तस्रावी (haemo-rrhagic) ज्वर	रक्तस्रावीज्वर वाइरस
४. मैनेसोनिया	फाइलेरिया (filaria)	वुशेरेरिया मेलेयी W. malayi)

मच्छरों को नष्ट करने के उपाय—

(I) प्रजनन स्थलों (breeding places) **पर नष्ट करना—**

(१) जिन स्थानों पर जल एकत्रित हो जाता है, यथा गड्ढों में, नाली, चबच्चों, बागीचों, गमलों, घड़ों, टंकियों आदि में, वहाँ जल को एकत्रित न होने दें। आस-पास के गड्ढों को भरवा दें।

(२) मैनसोनिया मच्छर के विनाश के लिये पानी के किनारों से तथा जल से पौधों को हटा दें।

(३) मिट्टी का तैल (kerosene oil), डिजेल तैल (disel oil) आदि को पानी में डालने से वह पानी की सतह पर फैल जाता है। मच्छरों के अण्डे, लारवा, प्यूपा आदि मर जाते हैं। एक एकड़ जल की सतह के लिए 10–15 गैलन तैल पर्याप्त होता है। मच्छर का जीवन-चक्र लगभग आठ दिन का होता है अत: प्रत्येक आठवें दिन तैल डालते रहना चाहिये। तैल डालने के पश्चात् [illegible]

जानवरों के पीने योग्य नहीं रहता है और मछलियाँ भी मर जाती हैं। अतः तैल उस जल में नहीं डालना चाहिये जो मनुष्यों और पशुओं के काम आता है तथा जिसमें मछलियाँ हों।

(४) **पेरिस ग्रीन** (paris green)—यह हरे रंग का पाउडर (powder) होता है। रासायनिक दृष्टि से यह कॉपर एसीटो आर्सनाइट (Copper aceto arsenite) है। इसका दो भाग और चूना या खड़िया का 98 भाग मिलाकर 400 ग्राम प्रति एकड़ के हिसाब से पानी की सतह पर छिड़क देते हैं। यह अघुलनशील है अतः पानी की सतह पर फैल जाता है। इससे केवल ऐनोफेलीज के अण्डे, लारवा, प्यूपा आदि नष्ट हो जाते हैं। जल को छानकर व्यवहार में लाया जा सकता है। मछलियों को कोई हानि नहीं होती है। आजकल इसका उपयोग कम हो गया है क्योंकि यह केवल ऐनोफेलीज पर ही क्रियाशील होता है।

(II) कीटनाशी (insecticides) **पदार्थों का प्रयोग**—

कीटनाशी पदार्थ केवल अण्डों, लारवा तथा प्यूपा को ही नष्ट नहीं करते हैं वरन् सम्पूर्ण मच्छरों को नष्ट कर देते हैं। इनका प्रयोग पीने वाले जल अथवा मछली आदि जल-जन्तुओं वाले जल में नहीं करना चाहिये।

(१) **डी०डी०टी०** (डाईक्लोरो डाईफेनिल ट्राईक्लोरोइथेन—Dichloro Diphenyl Trichloroethane)—यह सफेद पाउडर है जिसमें एक धीमी गन्ध आती रहती है। यह जल में अविलेय है परन्तु अनेक कार्बनिक विलायकों (organic solvents) में घुल जाता है। यह सम्पर्क विष है जो कीट इसके सम्पर्क में आता है यह उसके शरीर में प्रवेश कर उसे कुछ घण्टों में मार देता है। यदि इसका छिड़काव दिवार आदि पर कर दिया जाता है तो लगभग 18 मास तक इसका प्रभाव रहता है। एक वर्ग मीटर के लिये एक दो ग्राम मात्रा पर्याप्त होती है। यह जल में घुलता नहीं है परन्तु जल में निलम्बित (suspended) 5 प्र०श० का घोल व्यवहार में लाते हैं। एक हजार वर्ग फीट के लिये ऐसा एक गैलन घोल पर्याप्त होता है। युका (जूं), पिस्सू आदि कीटों को मारने के लिए 5-10 प्र०श० का घोल व्यवहार में लाते हैं। इसके अधिक प्रयोग से मच्छरों में इसके प्रति जन्मजात क्षमत्व शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस तरह इसका प्रभाव नये पैदा होने वाले मच्छरों पर नहीं पड़ता है, यदि प्रभाव पड़ता है तो बहुत देर से। यह सब होते हुए भी इसका प्रयोग आज भी सबसे अधिक किया जाता है। इसका 10-12 दिन के पश्चात् छिड़काव करते रहना चाहिये।

(२) **बी०एच०सी०** (Benzene hexachloride या hexacholoro-cyclohexane) या गमेक्सेन gammexane)—यह सफेद अथवा कुछ चॉकलेट से वर्ण का पाउडर है। इसमें भी गन्ध आती रहती है। इसकी वाष्प नेत्र, नासिका तथा त्वचा में दाह (irritation) उत्पन्न करती है। यह डी०डी०टी० से दुगुना

शक्तिशाली होता है परन्तु इसका प्रभाव उसकी अपेक्षा कम समय तक रहता है। 250 से 300 मिलीग्राम प्रति वर्ग मीटर के लिये पर्याप्त होता है।

(३) डेलड्रिन (Dieldrin)—डी०डी०टी०, गमेक्सेन तथा डेलड्रिन ये तीनों क्लोरिनेटेड हाइड्रोकार्बन (chlorinated hydrocarbons) हैं। यह सफेद क्रिस्टलीय घन पदार्थ है। यह भी उपरोक्त दोनों के समान जल में अविलेय परन्तु अनेक कार्बनिक विलायकों में विलेय है। डी०डी०टी० की अपेक्षा यह 4-5 गुणा अधिक शक्तिशाली है अतः इसकी केवल 600 मि०ग्रा० मात्रा, प्रतिवर्ग मीटर के हिसाब से लेकर, छिड़काव करते हैं। इसके व्यवहार में दो हानियाँ हैं। (१) छिड़कने वाला व्यक्ति, तथा सम्पर्क में आने वाला अन्य व्यक्ति अथवा पशु इसके विषैले प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं। (२) मच्छर अथवा कीट, इसके निरन्तर प्रयोग से, इसके प्रति क्षमत्व प्राप्त कर लेते हैं। इन दोनों दोषों के कारण इसका प्रयोग सीमित ही किया जाता है।

(४) **मेलाथिओन** (Malathion) :—यह ऑरगेनो फॉस्फोरस (organo phosphorus) यौगिक है। पीले वर्ण के तरल रूप में अथवा जल में घोलने के लिये पाउडर के रूप में मिलता है। यह जल में घुलनशील होता है। एक दो ग्राम मात्रा प्रति वर्ग मीटर के अनुसार प्रयोग करते हैं। इसका विषैला प्रभाव भी मनुष्य तथा पशुओं पर पड़ता है।

(५) **डायजिनॉन** (Diazinon) :—यह भी ऑरगेनो फॉस्फोरस यौगिक है। मेलाथीयोन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। मच्छर के लारवा आदि को नष्ट करने में यह अत्यन्त सफल है। जहाँ डी०डी०टी० आदि प्रभावशाली नहीं होते हैं यह सफल रहता है। इसकी मात्रा एक ग्राम प्रति वर्गमीटर के अनुसार छिड़काव के लिये प्रयोग में लाई जाती है।

(६) **पायरेथ्रम** (pyrethrum) :—इस कीटनाशी की उत्पत्ति वनस्पति फूलों से होती है। लगभग 250 से 500 ग्राम गुलदाउदी (क्रिस्ओन्थेमम इण्डिकम-chrysanthemum indicum) फूलों को एक गैलन मिट्टी के तैल में 72 घंटों के लिये भिगो देते हैं। पुष्पों का सक्रिय अंश तैल में आ जाता है। इस मिट्टी के तैल का 20-25 मि० ली० प्रति 1000 वर्ग फीट के अनुसार छिड़काव के लिये प्रयोग में लाते हैं। इसमें एक दोष है कि इसका प्रभाव बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है। इसके लिये इससे दुगुनी मात्रा में डी०डी०टी० का घोल इसमें मिलाकर छिड़काव करते हैं। मकानों में छिड़काव के लिये 3-5 ग्राम प्रति 1000 वर्ग फीट के अनुसार प्रयोग करते हैं।

(III) वयस्क मच्छरों को नष्ट करने के उपाय—

(१) विश्वस्वास्थ्य संगठन (WHO) ने मच्छरों को नष्ट करने के लिये डी०डी०टी०, डेलड्रिन, लिनडेन तथा मेलाथियोन के प्रयोग की सलाह दी थी परन्तु

इन चारों के प्रति मच्छर शीघ्र ही प्रतिरोधक शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। विशेष रूप से क्यूलेक्स मच्छर पर ये शीघ्र ही प्रभावहीन हो जाते हैं। अतः ऑरगेनो फॉस-फोरस कीटनाशी द्रव्यों का ही व्यवहार करना श्रेयस्कर है।

(२) मैदानों में पानी भरे स्थानों पर पायरेथ्रम को स्प्रे करते हैं। पायरेथ्रम के साथ 3 प्र०श० डी०डी०टी०, 3 प्र०श० मिथोक्सीक्लोर (methoxychlore) और 2 प्र०श० मेलाथियोन के सम्मिश्रण को मिलाकर स्प्रे करते हैं। इन छिड़कावों का प्रभाव अस्थायी होता है।

(३) मच्छरों के वंश (genera) पर कन्ट्रोल की पद्धति अनेक देशों में व्यवहार में लाई जा रही है। इसमें नर मच्छरों को निर्जीवाणुक (sterile) कर हजारों की संख्या में मच्छर वाले स्थानों पर छोड़ देते हैं। इन नर मच्छरों का मादा मच्छरों से सम्पर्क होता है। तत्पचात् मादा मच्छर जो अण्डे देती है उनसे मच्छरों की उत्पत्ति नहीं होती है।

मच्छरों के दंश (bite) से सुरक्षा—

(१) **मच्छरदानी का प्रयोग**—मच्छर रात्रि में काटते हैं। उनसे बचने के लिये मच्छरदानी का प्रयोग करना चाहिए। मच्छरदानी के जाल के छिद्र 0·0475 इन्च से बड़े नहीं होने चाहिए। मच्छरदानी के अभाव में शरीर को पूरी तरह से वस्त्र से ढककर सोना चाहिये।

(२) **प्रवेश मार्गों पर जाली लगवाना**—घर के तमाम उन मार्गों पर जिनके द्वारा मच्छर प्रवेश कर सकते हैं जाली लगवा लेनी चाहिए। जाली के तार एक इन्च में कम से कम 20-20 दोनों ओर से होने चाहिए।

(३) **अपकर्षक (repellent) द्रव्यों का प्रयोग**—ऐसे द्रव्य हैं (१) डाईईथिल-टोलूमाइड (Diethyltolumied), लगभग 18-20 घण्टों तक क्रियाशील रहता है। (२) इन्डालोन (indalon) तथा डाईइथिल कारबेट (diethyl carbate) का प्रभाव कुछ घन्टे ही रहता है। (३) सरसों का तैल, नीलगिरि तैल या इनके मिश्रण का भी त्वचा पर लेप करने से मच्छर नहीं आते हैं।

मलेरिया ज्वर

इतिहास—प्राचीन भारत में चिकित्सक सतत ज्वर (24 घण्टों में दो बार आने वाला ज्वर), अन्येद्युष्कज्वर (24 घण्टों में एक बार आने वाला ज्वर), तृतीयक ज्वर (तीसरे दिन आने वाला ज्वर), चतुर्थक ज्वर (चौथे दिन आने वाला ज्वर) आदि विषम ज्वरों से परिचित थे। 2½ हजार वर्ष पूर्व हिपोक्रेट ने मलेरिया ज्वर का वर्णन किया है। यह माना जाता था कि यह ज्वर अशुद्ध वायु के कारण होता है लेटिन भाषा में माला (mala) अशुद्ध को कहते हैं और एरिया (aria) वायु को कहते हैं, दोनों के संयोग से इसे मलेरिया (अशुद्ध वायु द्वारा) ज्वर कहने लगे। सन् 1880 में लेवरन (Laveran) नामक फ्रांसीसी शल्यक ने इस ज्वर

का प्रथम वार मच्छर में उपस्थित परजीवी (parasite) को इसका कारण ज्ञात किया। सन् 1897 में डा॰ रोनाल्ड रोस (Ronald Ross) ने सिकन्दराबाद (आन्ध्र) में मलेरिया के इन परजीवियों का पूरा लेखा ज्ञात किया।

ज्वर का कारण—भारत में ऐनोफेलीज मच्छर की 44 किस्में मिलती हैं। परन्तु इनमें मलेरिया परजीवी वाहक 6 किस्में ही हैं। जो भारत के विभिन्न स्थानों पर भौगोलिक कारणों से मिलती हैं, कुछ पहाड़ों पर और कुछ मैदानी भागों में। मलेरिया परजीवी प्लैज्मोडियम (Plasmodium) कहलाता है। प्लैज्मोडियम की अनेक जातियाँ हैं परन्तु मलेरिया 4 जातियों द्वारा ही उत्पन्न होता है। ये हैं—(१) प्लैज्मोडियम वाइवैक्स (vivax)—भारत में लगभग 65 से 69 प्र॰श॰ मलेरिया संक्रमण का कारण यही परजीवी है। (२) प्लैज्मोडियम फैल्सीपेरम (falciparum)—लगभग 25-30 प्र॰श॰ संक्रमण का कारण होता है। (३) प्लैज्मोडियम मलेरियाई (malariae)—भारत में यह परजीवी बहुत कम होता है। केवल एक प्र॰श॰ संक्रमण इसके कारण होते हैं तथा (४) प्लैज्मोडियम ओवेल (ovale)—इस परजीवी का संक्रमण बहुत ही कम पाया जाता है।

परजीवी प्लैज्मोडियम का जीवन चक्र—

(i) **लैंगिक चक्र** (sexual cycle)—जब मादा ऐनोफेलीज किसी मलेरिया ग्रस्त व्यक्ति का रक्तपान करती है तो रक्त के साथ प्लैज्मोडियम के नर तथा मादा

चित्र 15·2

युग्मक (gametocytes) भी मच्छर में पहुँच जाते हैं। युग्मक के अतिरिक्त प्लैज्मोडियम के अन्य स्वरूप जो पहुंच जाते हैं वे मच्छर के शरीर में नष्ट हो जाते हैं। प्लैज्मोडियम के जीवन चक्र को आगे चलते रहने के लिए नर तथा मादा दोनों प्रकार के युग्मक उपस्थित रहने चाहिये। यदि इनमें से केवल एक ही प्रकार के युग्मक पहुँचते हैं तो वे भी नष्ट हो जाते हैं। मच्छर के आमाशय में पहुँच नर तथा मादा युग्मक परस्पर संयोग कर एक पुटी (cyst) के रूप में आमाशय की दीवार से चिपक जाते हैं तथा पुटी के अन्दर परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। परिवर्तन के अन्त में प्रत्येक पुटी के युग्मक अनेक बीजाणुओं (sporozoites) में विभाजित हो जाते हैं। पुटी के फट जाने से ये बीजाणुक स्वतन्त्र हो मच्छर की लाला ग्रन्थियों (salivary glands) में पहुँच कर एकत्रित हो जाते हैं। इन परिवर्तनों में 7 से 14 दिन लग जाते हैं। ऐसा मादा मच्छर अपनी शेष आयु पर्यन्त संक्रमित (infected) हो जाता है। यह मच्छर किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटता है तो इसकी लाला ग्रन्थियों से कुछ बीजाणुक उस स्वस्थ व्यक्ति के रक्त में प्रवेश कर जाते हैं। मनुष्य के शरीर में पहुँचकर इन परजीवियों के जीवन का दूसरा चक्र प्रारम्भ हो जाता है।

(ii) अलैंगिक चक्र (asexual cycle)—मादा ऐनोफेलीज मच्छर के काटने से जो बीजाणुक (sporozoites) मनुष्य के रक्त में पहुँचते हैं वे आध घण्टे के अन्दर यकृत में पहुँच जाते हैं। मनुष्य के शरीर में इन परजीवियों में परिवर्तन की चार प्रावस्थायें होती हैं।

(१) पूर्व लोहित कोशिका प्रावस्था (pre erythrocytic phase)—यकृत में ये बीजाणुक पेरन्काइमा कोशिकाओं (parenchymla cells) में पहुँच जाते हैं। यहाँ इनमें परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। ये शक्ल में गोल हो जाते हैं और फिर इनमें विभाजन और परिवर्तन होना प्रारम्भ हो जाता है। प्लैज्मोडियम वाइवेक्स में यह परिवर्तन 8 दिन में तथा प्लै० फेलसीपेरम में 6 दिन में पूर्ण हो जाता है। इनके परिवर्तित रूप को क्रिप्टोजॉइट (cryptozoites) कहते हैं। क्रिप्टोजॉइट स्वतन्त्र हो रक्त परिसंचरण में प्रवेश कर रक्त की लोहित कोशिकाओं (RBC) में प्रवेश कर जाते हैं। यहाँ से दूसरी प्रावस्था प्रारम्भ होती है।

(२) लोहित कोशिका प्रावस्था (erythrocytic phase)—लोहित कोशिकाओं में प्रवेश करने के उपरान्त क्रिप्टोजॉइटों के रूप में एक के पश्चात् एक इस प्रकार चार स्तरों में परिवर्तन होते हैं (i) यह अगूठी के समान हो जाता है इसे वलय अवस्था (ring form) कहते हैं फिर (ii) पोषाणु अवस्था (ट्रोफोजॉइट trophozoites) फिर (iii) शाइजोन्ट (schizont-खण्डप्रसू) अवस्था तथा तथा अन्त में (iv) खण्डजाणु (merozoite, मीरोजॉइट) अवस्था। खण्डजाणु के रूप में ये लोहित कोशिका को नष्ट कर बाहर निकल आते हैं और नवीन लोहित कोशिकाओं में प्रवेश कर उन्हें संक्रमित करते हैं। इस समय इनके द्वारा उत्पन्न जीवविष (toxin) [illegible] के कारण हमें ज्वर हो जाता
[illegible] स्वतन्त्र हो रक्त में प्रवेश करता है।

है। लोहित कोशिकाओं के इस प्रकार नष्ट हो जाने से अरक्तता हो जाती है। नष्ट लोहित कोशिकाओं के प्लीहा में एकत्रित होने और रक्त से पृथक होने के कारण प्लीहा वृद्धि हो जाती है। क्रिप्टोजॉइट के लोहित कोशिका में प्रवेश और मीरोजॉइट के रूप में पुनः नवीन लोहित कोशिकाओं पर आक्रमण करने का चक्र प्लै० फेल्सीपेरम, प्लै० वाइवैक्स तथा प्लै० ओवेल में 48 घण्टे में पूर्ण होता है जबकि प्लै० मेलेरीयाई 72 घण्टे लेता है।

(३) **युग्मक जनन** (gametogamy)—कुछ मेरोजॉइट नर (male) तथा कुछ मादा (female) युग्मकों (gametocytes) में परिवर्तित हो जाते हैं। ये नर एवं मादा युग्मक मादा ऐनोफेलीज के शरीर में प्रवेश पाकर लैंगिक चक्र प्रारम्भ करते हैं।

(४) **लोहित कोशिका बाह्य प्रावस्था** (exoerythrocytic phase)—जब बीजाणुक (sporozoites) मनुष्य के रक्त से यकृत में पहुँचकर परिवर्तित होकर क्रिप्टोजॉइट रूप ग्रहण करते हैं उसी समय कुछ बीजाणुक बिना परिवर्तन के ही यकृत की पेरन्काइमा कोशिकाओं में रुक जाते हैं। केवल प्लै० फेल्सीपेरम में तो ऐसा नहीं होता है। ये रुके हुए बीजाणुक समय-समय पर क्रिप्टोजॉइट में परिवर्तित होते रहते हैं और अलैंगिक चक्र प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार उस व्यक्ति में ज्वर की पुनः पुनः आवर्ति (relapse) होती रहती है। प्रथम ज्वर के पश्चात् तीन वर्ष के अन्तराल से भी ज्वर की आवृत्ति देखी गई है।

किसी मनुष्य का मलेरिया परजीवीवाहक (carrier) होने के लिए आवश्यक है कि उसके रक्त में (i) नर और मादा दोनों प्रकार के युग्मक (gametocytes) हों। एक ही प्रकार के युग्मक यदि हैं तो मच्छर के शरीर में पहुँचकर नष्ट हो जाते हैं। (ii) युग्मक परिपक्व (mature) होने चाहिये। यदि वे परिपक्व नहीं होंगे तो भी मच्छर के शरीर में नष्ट हो जायेंगे और उनका परस्पर संयोग नहीं होगा। परिपक्व होने के लिए उन्हें अपनी उत्पत्ति के पश्चात् 2 से 4 दिन का समय चाहिये। (iii) युग्मकों का मनुष्य के रक्त में काफी संख्या में होना आवश्यक है। कम से कम कितनी संख्या हो इस विषय में अभी कोई निश्चित मत नहीं है परन्तु देखा गया है कि एक घन मिली मीटर रक्त में इनकी न्यूनतम संख्या 12 होनी चाहिये। (iv) यदि मनुष्य ने मलेरिया के उपचार के लिए उचित औषधियों का सेवन किया है तो ऐसे मनुष्य के रक्त में उपस्थित युग्मकों में जीवन चक्र पूरा करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। वे मच्छर के शरीर में प्रवेश करने के पश्चात् भी बीजाणुओं (sporozoites) की उत्पत्ति नहीं कर सकते हैं। अतः यद्यपि मलेरिया एक संचारी (communicable) व्याधि है परन्तु ऐसा उसी समय सम्भव है जबकि संक्रामक व्यक्ति के रक्त में काफी संख्या में परिपक्व जीवनक्षम्य प्लैज्मोडियम परजीवी नर एवं मादा युग्मक (gametocytes) उपस्थित रहते हैं।

मलेरिया प्रसार के कारण :

(१) जलवायु—मलेरिया ऋतुनिष्ट व्याधि है। इसका वेग जुलाई से नवम्बर तक सर्वाधिक रहता है। (२) तापमान -मलेरिया परजीवी के लिए 20 से 30°C (68°—86°F) तापमान सबसे अधिक अनुकूल होता है। यदि तापमान कम होकर 16°C (60·8°F) हो जाता है तो मच्छर में परजीवी का जीवन-चक्र सम्भव नहीं होता है। इसी प्रकार 30°C (86°F) से ऊपर का तापमान भी परजीवी के अनुकूल नहीं होता है। (३) **आर्द्रता** (humidity)—यद्यपि आर्द्रता का परजीवी पर कोई प्रभाव नहीं होता है परन्तु मच्छर इससे प्रभावित रहता है। जब आपेक्षिक आर्द्रता (relative humidity) 60 प्र० श० या इससे अधिक होती है तो मच्छर अपनी पूर्ण आयु भोगता है और उसकी रक्त चूसने की तीव्रता बढ़ जाती है। यदि आर्द्रता कम होती है तो मच्छर की आयु भी कम हो जाती है। (४) **वर्षा**—वर्षा से मच्छर दो प्रकार से प्रभावित होते हैं—(i) वर्षा में आर्द्रता बढ़ जाती है। (ii) अण्डे देने के लिये पर्याप्त स्थान सुलभ हो जाते हैं। परन्तु यदि वर्षा अधिक होती है तो मच्छरों की उत्पत्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। (५) **ऊँचाई** (altitude **तुंगता**)—मच्छर सामान्यत: 6000 फीट से अधिक ऊँचाई पर रह नहीं सकता है क्योंकि उस ऊँचाई पर वातावरण, वायुमण्डल, तापमान आदि सब उसके प्रतिकूल होते हैं।

उद्भवनकाल (incubation period)—किसी संक्रमण के शरीर में प्रवेश करने एवं शरीर में लक्षण पगट होने के मध्य के अन्तराल को उद्भवनकाल (incubation period) कहते हैं। मच्छर के काटने और ज्वर के लक्षण प्रकट होने के बीच का समय सामान्यत: दस दिन से कम नहीं होता है। प्लै० फैल्सीफेरस में यह 12 दिन का तथा अन्य में 13-14 दिन का होता है।

रोग के लक्षण (clinical symptoms) :—लोहित कोशिका प्रावस्था (erythrocytic phase) के प्रारम्भ होते ही कुछ लक्षण शरीर में प्रकट हो जाते हैं। ये हैं—शरीर में दुर्बलता, समस्त शरीर में पीड़ा, अरुचि (anorexia), उत्क्लेश (nausea), हल्की सर्दी लगना तथा कभी-कभी वमन होना आदि लक्षण सामान्यत: होते हैं और इन लक्षणों से इन्फ्लुऐन्जा (influenza) का भ्रम हो जाता है।

शाइजॉन्ट (schizont-खण्ड प्रसू) के परिपक्व होने पर वह फट जाता है और मीरोजॉइट रक्त में स्वतन्त्र हो जाते हैं। उस समय ज्वर का प्रवेग (paroxysm) होता है। यदि समस्त परजीवियों के चक्रानुसार परिवर्तन एक साथ होते हैं तो समस्त शाइजॉन्ट एक साथ फट कर मीरोजॉइटों को रक्त में निकाल देते हैं और ये मीरोजॉइट एक साथ नवीन लोहित कोशिकाओं पर आक्रमण करते हैं। यदि ऐसा हो तो प्रत्येक 48 घण्टे के पश्चात् चक्र की समाप्ति पर ज्वर का प्रवेग होता है। इस प्रकार प्रत्येक तीसरे दिन ज्वर आता है इसे तृतीयक (tertian) ज्वर कहते हैं। परन्तु यदि शाइजॉन्ट की परिपक्वता एक साथ नहीं होती है तो ज्वर का प्रवेग प्रतिदिन होता है। उस दशा में ज्वर को अन्येद्युष्क (quotidian) ज्वर

कहते हैं। यदि लोहित कोशिका प्रावस्था का चक्र 24 घण्टों से कम समय में पूर्ण होता है तो उसे अवतृतीयक (subtertian) ज्वर कहते हैं। प्लै० मेलेरियाई (P. Malariae) में चक्र के पूरे होने में 72 घण्टे लगते हैं। अत: ज्वर का प्रवेग चौथे दिन होता है। इस ज्वर को चतुर्थक (quartan) ज्वर कहते हैं। प्लैज्मोडियम वाइवैक्स के संक्रमण के लक्षणों तथा प्लै० फैलसीपेरम के लक्षणों में अन्तर होता है।

प्लै० वाइवेक्स के ज्वर प्रवेग के लक्षण—इनमें ज्वर प्रवेग की तीन स्थितियाँ स्पष्ट रहती हैं। ये हैं—(१) शीत अवस्था (cold stage), (२) ऊष्ण अवस्था (hot stage) तथा (३) स्वेद अवस्था (sweating stage)।

शीत अवस्था में रोगी को सर्दी लगती है, वह काँपने लगता है। सर्दी को भगाने के लिये वह अपने ऊपर कपड़े डलवाता है फिर भी शीत का वेग नहीं जाता है। नाड़ी तेज परन्तु दुर्बल होती है। रक्तदाब बढ जाता है। उत्क्लेश तथा वमन भी कभी-कभी हो जाते हैं। रोगी को अत्यधिक शीत का अनुभव होता है। अचानक मह दशा ऊष्ण दशा में बदल जाती है। ऊष्णता के साथ-साथ ज्वर भी बढ़ जाता है। त्वचा जो शीतावस्था में पीली दीखती थी अब उसमें लालिमा आ जाती है। नाड़ी तेज व पूर्ण भरी हुई हो जाती है, रक्तदाब कम हो जाता है। यह दशा शीत दशा की अपेक्षा काफी देर तक रहती है। इसके पश्चात् स्वेद दशा (sweating stage) आती है। स्वेद पहिले चेहरे पर प्रकट होता है फिर समस्त शरीर स्वेद से भीग जाता है, ज्वर उतरने लगता है। कभी-कभी तापमान सामान्य से भी नीचा तो जाता है। नाडी की गति धीमी हो जाती है, वमन आदि की इच्छा भी समाप्त हो जाती है। रोगी को आराम मिलता है और वह सो जाता है। जब सोकर उठता है तो थकावट दूर हो जाती है। यह प्रवेग का एक चक्र है। समुचित चिकित्सा के अभाव में यह चक्र पुन: पुन: आता है और उसके साथ ही साथ अन्य लक्षण यथा रक्त अल्पता, प्लीहा और यकृत की वृद्धि आदि हो जाते हैं। ऐसा ही प्रवेग प्लै० ओवेल के संक्रमण में भी होता है।

प्लै० फैलसीपेरम के ज्वर प्रवेग के लक्षण :

पूर्वरूप (prodromal) लक्षणों में भीषण सिर दर्द, पीठ में दर्द और कभी-कभी शीत के कारण कम्पन आदि लक्षण सामान्यत: होते हैं। ज्वर प्रवेग में शीत अवस्था आदि नहीं होती है। सीधा ज्वर का प्रवेग होता है। ज्वर प्लै० वाइवेक्स के समान तेज तो नहीं होता परन्तु अधिक समय (18–20 घण्टों तक) रहता है। कभी-कभी ज्वर बराबर बना रहता है। रक्त अल्पता बढ़ जाती है। यकृत तो सदैव ही इस ज्वर में प्रभावित रहता है।

चिकित्सा—

१. महाज्वरांकुश रस 120 मिली ग्राम दिन में तीन बार तुलसी पत्र स्वरस के साथ।

२. करंजादिवटी एक ग्राम दिन में तीन बार गर्म जल में।

३. सुदर्शन चूर्ण दो ग्राम मात्रा दिन में दो बार गर्म जल से।

४. पटोलादि क्वाथ, गुडुच्यादि क्वाथ अथवा देवदार्वादिक्वाथ दस मि० ली० शहद और मिश्री मिलाकर दिन में दो बार।

५. **क्वीनेन** (quinine)—5-7 ग्रेन दिन में तीन बार 6-7 दिन तक लेनी चाहिए। यदि इन्जेक्शन लेना है तो 7-10 ग्रेन क्वीनेन बाईहाइड्रोक्लोराइड (Q. bihydrochloride) को पाँच मिली लीटर सामान्य लवण घोल (normal saline) में मिलाकर अन्त.शिरा (intravenous) अति धीमी गति से देना चाहिए। यदि माँसपेशी में लेना है तो दो मिलीलीटर सामान्य सेलाइन में लेना चाहिए।

६. **क्लोरोक्वीन** (Chloroquine)—(15 मि० ग्राम० की प्रत्येक गोली)—प्रथम दिन दो दो गोली दिन में तीन बार तथा दूसरे और तीसरे दिन एक एक गोली दिन में दो बार लेनी चाहिए।

७. **केमोक्वीन** (Camoquine)—(प्रत्येक गोली 20 मि०ग्रा०)—प्रथम दिन एक एक गोली दिन में तीन बार तथा दूसरे और तीसरे दिन एक एक गोली दिन में दो बार लेनी चाहिए। इनके अतिरिक्त और अनेक औषधियाँ हैं जो ली जा सकती हैं।

घरेलू मक्खी एवं विसूचिका

मक्खी

कीटों में मक्खी मनुष्य का सबसे अधिक जाना पहिचाना कीट है। यह मनुष्य के अति निकट रहता है और सारे साल देखा जाता है। वैसे मक्खी गन्दगी होने की निशानी है। घरेलू मक्खी को प्राणीशास्त्र में मास्काडोमेस्टिका (muscado-mestica) कहते हैं।

मक्खियों की आयु सर्दियों में 25 दिन तथा गर्मियो में 15 दिन के लगभग होती है। एक समय में एक मक्खी 120 से 150 अण्डे देती है और अपने जीवन
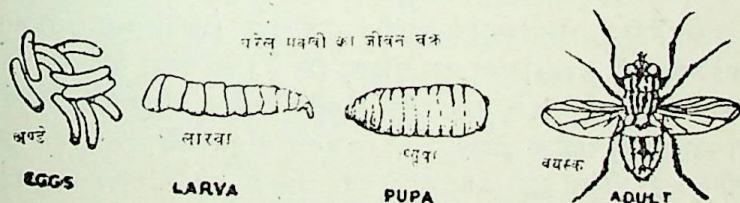
चित्र 15·3 मक्खी का जीवन चक्र

में 600 से 900 बार अण्डे देती है। इस प्रकार एक ही ग्रीष्म ऋतु में एक जोड़ा मक्खी से 3,26,00,000 मक्खी परिवार हो जाता है। मक्खियाँ गन्दे स्थानों पर यथा मनुष्यों तथा पशुओं की विष्ठा, गोबर, लीद, सड़ी सब्जियाँ, फल, पत्ते, मरे हुए जीव आदि पर अण्डे देती हैं। अण्डे सफेद रंग के लगभग एक मि० मी० लम्बे होते

हैं। ये कोरी निगाह से देखे जा सकते हैं। ग्रीष्म ऋतु में तीन घंटों में तथा अन्य ऋतुओं में सामान्यतः 8 से 14 घंटों में अण्डे लारवा में परिवर्तित हो जाते हैं। लारवा प्रकाश से बचता है। अतः गन्दगी में अन्दर घुस जाता है। जन्म के समय लारवा लगभग 1-2 मि०मी० लम्बा होता है परन्तु वह बढ़कर लगभग 12 मि० मी० तक पहुँच जाता है। अक्सर गोबर वगैरा के नीचे सफेद सफेद रेंगते कीड़ों के समान देखे जा सकते हैं। लारवा स्थिति 2 से 7 दिन रहती है और फिर प्यूपा में बदल जाती है। मौसम के अनुसार प्यूपा स्थिति 3 से 6 दिन रहती है। गर्मी में शीघ्र तथा सर्दियों में अधिक समय लेती है। प्यूपा गहरे बादामी वर्ण का लगभग ¼ इंच लम्बा होता है। अण्डे से मक्खी बनने में, इस प्रकार, गर्मियों में 5-6 दिन और सर्दियों में 8 से 20 दिन लगते हैं।

मक्खी का स्वभाव एवं रोगवहन—मक्खी अपने स्वभाव के कारण रोग की एक अच्छी वाहक होती है।

(१) मक्खियाँ गन्दे स्थानों पर अण्डे देती हैं। इनकी टाँगों पर बाल होते हैं। अतः गन्दे स्थानों पर बैठने से इनकी टाँगों में गन्दगी और गन्दगी से रहने वाले जीवाणु आदि चिपक जाते हैं। यह मक्खी अब जहाँ कहीं बैठती है टाँगों की गन्दगी तथा जीवाणु उन स्थानों पर छोड़ती जाती है। इस प्रकार मक्खी रोगों की यान्त्रिक (mechanical) वाहक है।

(२) मक्खी सदैव भोजन और गन्दगी (विष्ठा आदि) के मध्य उड़ती रहती है। उसकी यह आदत यान्त्रिक वाहकी में सहायक होती है।

(३) मक्खी ठोस पदार्थ को नहीं खा सकती है। उसे मुलायम बनाने के लिए वह अपने आमाशय के द्रवों को, वमन द्वारा, उस पदार्थ पर निकालती है। इन द्रवों में अत्यधिक जीवाणु होते हैं। इस प्रकार खाने पीने के पदार्थों पर बैठकर मक्खी उन्हें जीवाणुयुक्त बनाकर स्वास्थ्य के लिए अनुपयुक्त बनाती हैं।

(४) मक्खी प्रत्येक समय विष्ठा त्यागती रहती है। जिस स्थान पर बैठेगी विष्ठा कर देती है। इस विष्ठा में आन्त्रीय परजीवियों (intestinal parasites) के अण्डे एवं पुटी (cysts) तथा अन्य जीवाणु होते हैं। इस प्रकार मक्खियों द्वारा आन्त्रीय परजीवियों के अण्डे आदि मनुष्य में पहुँच जाते हैं। मक्खी अपनी टाँगों तथा भक्षण द्वारा रोगों के जीवाणुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान को वहन कर ले जाती हैं। जो जीवाणु इसके आमाशय में पहुँच जाते हैं उनको वमन तथा विष्ठा द्वारा दूसरे स्थान पर पहुँचा देती है।

(५) मक्खी सामान्यतः अपने अण्डे देने के स्थान से अधिक दूर नहीं जाती है। घरों में या अन्य लटकने वाली वस्तुओं पर बैठकर विश्राम लेती है। प्रकाश की ओर यह आकर्षित होती है।

मक्खी किन-किन रोगों का कारण होती है, यह हम पीछे के पृष्ठों में बता

आये हैं। पाठकों की सुविधा के लिए उनका पुन: उल्लेख कर रहे हैं। आन्त्र-ज्वर (typhoid), पराटाइफाइड (paratyphoid), अतिसार (diarrhoea), प्रवाहिका (पेचिश dysentery), विसूचिका (cholera), जठरान्त्र शोथ (gastroenteritis), अमीबा रुग्णता (amoebiasis), कृमिजन्य संक्रमण, ट्रैकोमा (tracoma, रोहे) आदि।

मक्खियों को नष्ट करने के उपाय

(१) **अण्डे देने वाले स्थानों पर नियन्त्रण**—मक्खियों को नष्ट करने का सबसे उत्तम उपाय है कि इनके अण्डे देने के स्थानों को अण्डे देने के अनुकूल न रहने दिया जाय। इसके लिए (1) कूड़ा कर्कट, सब्जियों तथा भोजन की झूँठन को ढक्कनदार बर्तनों में एकत्रित करना चाहिए (2) कूड़ा, कचरा आदि बन्द गाड़ियों में हटाया जाय। (3) शौचालय आदि को जल प्रवाह (flush type) बनाना चाहिए। जहाँ इस प्रकार का साधन नहीं हो वहाँ शौचालयों के दरवाजे आदि पर जाली लगाई जाय तथा मल आदि को मिट्टी अथवा राख से ढक दिया जाना चाहिए (4) मवेशियों के रखने के स्थानों पर गोबर, लीद तथा उनका बचा हुआ चारा आदि खुला नहीं छोड़ा जाना चाहिए। (5) रहने के स्थान और आस-पास के स्थानों को साफ रखना चाहिए।

(२) **कीटनाशी** (insecticidal) **पदार्थों का प्रयोग**—मक्खियों को तथा उनके अण्डों को नष्ट करने के लिए कीटनाशी पदार्थों को व्यवहार में लाया जाता है। मुख्य कीटनाशी हैं–डी०डी०टी० (5% घोल), मिथोक्सीक्लोर (methoxy-chlor) (5% घोल), लिनडेन (lindane) ($\frac{1}{2}$% घोल), क्लोरडेन (chlordane) ($2\frac{1}{2}$% घोल) इन पदार्थों के घोल को 100 वर्ग मीटर के लिए 4 गैलन के हिसाब से छिड़काव कर देना चाहिए। इससे मक्खियाँ तथा उनके अण्डे नष्ट हो जाते हैं। इन कीटनाशी पदार्थों को बार-बार प्रयोग करने से मक्खियों में इनके प्रति प्रतिरोध उत्पन्न हो जाता है। उस दशा में डायजिनॉन (diazinon) (2% घोल), डाई-मिथोएट (dimethoate) ($2\frac{1}{2}$% घोल), मेलाथियोन (melathion) (5% घोल) अथवा फेनथिऑन (fenthion) ($1\frac{1}{2}$% घोल) का छिड़काव करना चाहिये। इन पदार्थों के छिड़काव के समय यह ध्यान रखना चाहिये कि भोजन के पदार्थ तथा पीने के पदार्थों पर इनका छिड़काव न हो। इन कीटनाशी पदार्थों की 0·1 से 0·2 प्रतिशत मात्रा में दस प्रतिशत मात्रा शर्करा मिलाकर जल से तर कर गाढ़ा-गाढ़ा लेप करने से उस स्थान पर मक्खियाँ बैठते ही मर जाती हैं अथवा तीन चाय के चम्मच फॉरमेलीन (formalin) को आधे लीटर जल में घोलकर तथा उसमें कुछ शर्करा मिलाकर रख दें। मक्खियाँ इस पर बैठते ही नष्ट हो जाती हैं।

मक्खियों को नष्ट करने के लिये एक अन्य लेप का व्यवहार किया जाता है। एक किलो रेजीन (बिरोजा resin) को लगभग $\frac{1}{2}$ लीटर अंरण्डी के तैल (castor

oil) में मिलाकर गर्म करें जब यह मिलकर गाढ़ा तरल हो जाये तब गर्म तरल को ब्रुश से कागज, रस्सी आदि पर लेप कर दें। इस पर मक्खियाँ बैठते ही चिपक जाती हैं।

(३) घरों में दरवाजों और खिड़कियों पर जालीदार किवाड़ें लगाकर मक्खियों को आने से रोका जा सकता है।

(४) भोजन आदि खाने-पीने के पदार्थों को खुला नहीं छोड़ना चाहिये।

विसूचिका (Cholera हैजा)

सूची भिरिव गात्राणितुदनसतिष्ठतेऽनिलः।
यात्राजीर्णेन सा वैद्यै विसूचीति निगद्यते ।। सुश्रुत

जब व्यक्ति को अजीर्ण के कारण वायु आदि के अत्यन्त कोप से शरीर में विविध प्रकार की सुई चुभने के समान वेदना होती है तो उस रोग को विसूचिका कहते हैं।

उपरोक्त कथन के अनुसार अजीर्ण से वायु का कोप होने से विसूचिका होती है। यह अजीर्ण जनित विसूचिका के लक्षण हैं।

माधव निदान में विसूचिका के लक्षण बताते हुए कहा है कि—

मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासाशूलो भ्रमोद्वेष्टन जुम्भ दाहाः।
वैवर्ण्य कम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्चभेदः ।।

मूर्च्छा, अतिसार (पतले दस्त), वमन, प्यास, शूल, भ्रम, शरीर का जकड़ना, जम्भाई, दाह, शरीर के वर्ण में परिवर्तन होना, कंप होना, हृदय तथा शिर में पीड़ा आदि विसूचिका के लक्षण हैं। ये लक्षण कृमि जनित विसूचिका के हैं।

इस प्रकार विसूचिका रोग दो प्रकार से होता है—(१) अजीर्ण जनित विसूचिका तथा (२) कृमि जनित विसूचिका। यहाँ हम कृमि जनित विसूचिका का वर्णन कर रहे हैं।

विसूचिका को उत्पन्न करने वाले जीवाणु को विब्रिओ कॉलेरी (vibrio cholerae) कहते हैं।

चिकित्सा विज्ञान जगत में यह माना जाता है कि विसूचिका का प्रारम्भ बंगाल से हुआ। भारतीय चिकित्सा ग्रन्थों में इस रोग का वर्णन आया है। आज भी एशिया और अफ्रीका में इस प्रकार के देश हैं जहाँ विसूचिका रोग स्थानिक (endemic) रूप से बना रहता है। इसके अनेक कारण हैं यथा (१) तालाब आदि, जो प्रत्येक प्रकार के व्यक्तियों के लिये खुले रहते हैं, के निकट ही मनुष्य एवं पशु मल मूत्र त्यागते हैं। मनुष्य उनमे गन्दे वस्त्रों आदि को धोते हैं। उसी जल को पीने आदि के काम में लाते हैं। (२) मक्खियाँ विसूचिका के रोगी के मल तथा वमन पर बैठती हैं। उनकी टांगों में रोग के जीवाणु चिपक जाते हैं। विसूचिका रोगी के मल

तथा वमन को खाने से रोग के जीवाणु मक्खी के आमाशय में पहुंच जाते हैं। ये मक्खियाँ, इस प्रकार रोग वाहक के रूप में, जहाँ कहीं बैठती हैं इनकी टाँगों में चिपके जीवाणु वहाँ रह जाते हैं। मक्खी के वमन तथा विष्ठा करने से जीवाणु उसके आमाशय से भी बाहर निकल जाते हैं। ऐसे पदार्थों के सेवन से स्वस्थ व्यक्ति के रोग ग्रस्त होने की सम्भावना रहती है। (३) रेल तथा सड़क द्वारा मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर अब शीघ्रता से पहुँच जाते हैं। रोग ग्रस्त व्यक्ति भी दूसरे स्थानों पर पहुँच मल, वमन आदि से रोग के जीवाणुओं को इन दूसरे स्थानों पर पहुँचा देते हैं। (४) किसी स्थान विशेष के व्यक्तियों के स्वच्छता के नियमों का पालन नहीं करने से, विशेष रूप से मल आदि की सफाई पर ध्यान न देने से, मक्खियों की संख्या बढ़ जाती है और रोगों के फैलने की सम्भावना बढ़ जाती है।

उद्भवन काल (incubation period)—विसूचिका में उद्भवन काल कुछ घण्टों से लेकर 5 दिन तक का हो सकता है। सामान्यतः एक या दो दिन का ही होता है। यद्यपि विसूचिका कीटाणुओं की संक्रमण शक्ति बहुत प्रबल होती है परन्तु रोग का प्रसार उस अनुपात से कम होता है। इसका कारण है कि मनुष्य की इस व्याधि के प्रति क्षमत्व शक्ति अधिक हो जाती है। किसी-किसी नगर और गाँव में मक्खियों की संख्या बहुत ही अधिक होती है परन्तु फिर भी विसूचिका आदि से कम व्यक्ति ही ग्रसित होते हैं।

रोग लक्षण (clinical features)—

अचानक अतिसार (diarrhoea) तथा वमन (vomitings) प्रारम्भ हो जाते हैं। मल पतला होता है। प्रारम्भ में पुरीष का अंश होता है। परन्तु बाद में सफेद चावल के धोवन के समान हो जाता है। मल त्याग में पीड़ा नहीं होती है। थोड़ी-थोड़ी देर के बाद मल त्यागता रहता है। यहाँ तक कि एक दिन में 40-42 बार तक मल त्याग क्रिया हो जाती है।

रोगी शीघ्र ही निपात (collapse) की स्थिति में पहुँच जाता है। नेत्र गड्ढों में हो जाते हैं; गाल में गड्ढे पड़ जाते हैं; शरीर का तापमान सामान्य से कम हो जाता है; हाथ-पैर ठण्डे हो जाते हैं; ओष्ठ आदि नीले दीखने लगते हैं; श्वास उथला तथा तेज हो जाता है। वहिः प्रकोष्ठिका नाड़ी (radial pulse) की गति अनुभव नहीं होती है। मूत्र त्याग में मूत्र की मात्रा धीरे-धीरे कम होती जाती है और अन्त में मूत्र का आना बन्द हो जाता है। रोगी की बेचनी बढ़ती जाती है, अत्यधिक तृष्णा लगती है; टाँगों और उदर में ऐंठन (cramps उद्वेष्ट) होने लगती है। अतिसार के कारण शरीर में (१) जल की अत्यन्त कमी हो जाने से निर्जलीकरण (dehydration) हो जाता है; रक्ताम्लता (acidosis) हो जाती है तथा वृक्कों के कार्य न करने के कारण अमूत्रता (anuria) आदि से मृत्यु हो जाती है।

यदि रोगी की समय पर उचित चिकित्सा की जाती है तो रोगी की स्थिति में सुधार होना प्रारम्भ हो जाता है। अतिसार और वमन में कमी आ जाती है, मूत्र त्याग होने लगता है। रक्त दाब बढ़ना प्रारम्भ कर देता है। तापमान सामान्य हो जाता है और धीरे-धीरे रोगी स्वास्थ्य लाभ करना प्रारम्भ कर देता है।

चिकित्सा—वर्तमान में विसूचिका की चिकित्सा के सफल साधन उपलब्ध हैं जिस कारण इस रोग से मरने वालों की मृत्यु दर में कमी आई है। चिकित्सा में सबसे पहले शरीर के निर्जलीकरण को दूर करना चाहिये। इसके लिये समतानी (isotonic) लवण (saline) घोल को अन्त: शिरा (intravenous) इन्जेक्शन द्वारा एक लीटर (1000 मि० ली०) 15 मिनट की गति से देना चाहिये। एक दो लीटर सेलाइन इसी प्रकार देकर फिर गति धीमी (30-35 मिनट में 1000 मि० ली०) कर देनी चाहिये। नाड़ी की गति को देखते रहना चाहिये। रोगी को सामान्यत: 4-5 लीटर सेलाइन की आवश्यकता पड़ जाती है। नाड़ी गति तथा रक्त दाब के सामान्य हो जाने पर सेलाइन की मात्रा मल त्याग के बराबर कर देनी चाहिये। अतिसार समाप्त हो जाने तथा मूत्र त्याग हो जाने पर सेलाइन बन्द कर देना चाहिये। रक्ताम्लता (acidosis) के लिये प्रति लीटर सेलाइन घोल में 4 ग्राम सोडियम लेक्टेट अथवा सोडियम बाईकार्बोनेट मिला देना अच्छा रहता है। यदि सेलाइन उपलब्ध नहीं है तो एक लीटर शुद्ध जल में 5 ग्राम सोडियम क्लोराइड, 4 ग्राम सोडियम बाईकार्बोनेट अथवा सोडियम लेक्टेट तथा एक ग्राम पोटेशियम क्लोराइड को मिलाकर अन्त: शिरा द्वारा दे देना चाहिये। जहाँ पर इन्जेक्शन की सुविधा नहीं है वहाँ पर एक लीटर जल में 3·5 ग्राम सोडियम क्लोराइड + 2·52 ग्राम सोडियम बाईकार्बोनेट + 21·6 ग्राम ग्लूकोज मिलाकर अथवा ग्लूकोज 20 ग्राम + सोडियम क्लोराइड 4·2 ग्राम + सोडियम बाईकार्बोनेट 4·0 ग्राम + पोटेशियम क्लोराइड 1·8 ग्राम एक लीटर जल में मिलाकर पहिले घण्टे में 500 से 700 मि० ली० तक मुख द्वारा पिलाना चाहिये उसके पश्चात् मल की मात्रा से $1\frac{1}{2}$ गुनी मात्रा में देते रहना चाहिये, जब तक कि अतिसार बन्द न हो जाये तथा मूत्र न आने लगे। साधारण रोग की अवस्था में इससे पूर्ण लाभ की सम्भावना रहती है। गम्भीर रोगियों में भी 60 प्रतिशत लाभ की सम्भावना रहती है।

(२) इसके साथ ही 10 बूँद कर्पूरासव सौंफ के अर्क के साथ रोगी की अवस्था की गम्भीरता के अनुसार प्रत्येक घन्टे बाद देते रहना चाहिये। इससे मुख द्वारा अथवा अन्त:शिरा द्वारा दिये जाने वाले सेलाइन की मात्रा में कमी हो जाती है।

(३) विस्तृत स्पेक्ट्रम प्रतिजीवी (broad spectrum antibiotics) यथा टेट्रासाइक्लिन (tetracycline) 250 मि० ग्राम प्रति मात्रा के हिसाब से 2 ग्राम 24 से 48 घन्टों में देना चाहिये। इससे अतिसार को लाभ होता है। सल्फाग्वानी-

डीन (sulphaguanidine) (0·5 ग्राम प्रति टेबलेट) 2 से 6 टिक्की तक अतिसार रोकने के लिये लाभदायक हैं। यदि परिवार के किसी व्यक्ति को विसूचिका हो गया है तो अन्य समस्त सदस्यों को कपूरासव की 5–10 बूंदें दिन में 2 बार देते रहना चाहिये। प्याज का रस भी लाभ करता है अथवा टेट्रासाइक्लिन एक ग्राम प्रतिदिन 3 दिन तक देते रहना चाहिए।

विसंक्रमण (disinfection)—विसंक्रमण के लिये (१) रोगी के मल तथा वमन, (२) रोगी के बिस्तर तथा उपयोग में आने वाले वस्त्रादि, (३) रोगी के सम्पर्क में आने वाले बर्तन आदि, (४) रोगी के रहने तथा मल त्याग के स्थान तथा (५) मक्खियों की उत्पत्ति के स्थान पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(१) मल एवं वमन—वमन और मल के पात्र में 5% का क्रीसोल (cresol) का घोल (एक गैलन जल में 8 आउन्स क्रीसोल) अथवा ब्लीचिंग पाउडर का 30% का घोल डालकर 2 घन्टे छोड़ देना चाहिये फिर मल और वमन को जमीन में गाढ़ देना अथवा जला डालना चाहिये। मल एवं वमन के पात्रों को 15 मिनट तक जल में उबाल लेना चाहिये।

(२) वस्त्रादि—जिन वस्त्रों का मूल्य कम है उन्हें जला देना चाहिये। अन्य वस्त्रों को $2\frac{1}{2}\%$ क्रीसोल घोल में $\frac{1}{2}$ घन्टे रखना चाहिये फिर उन्हें साबुन लगा धो डालना चाहिये।

(३) बर्तन आदि—इनको भी 15 मिनट तक क्रीसोल के घोल में डालकर फिर कपड़े धोना सोडा और जल से साफ कर लेना चाहिये।

(४) निवास स्थान—कमरे व फर्श तथा तीन फीट तक दीवारें, शौचालय आदि को 5% क्रीसोल के घोल से बिल्कुल विसंक्रमित कर देना चाहिये।

(५) मक्खियों की उत्पत्ति का स्थान—मक्खियों को नष्ट करने के जो उपाय बताये गये हैं इनको व्यवहार में लाना चाहिये।

संगरोध (Quarantine)—रोगी को रोग मुक्ति के पश्चात् कम से कम 5 दिन तक पृथक् रखना चाहिये।

स्वच्छता (Sanitation)—विसूचिका के प्रसार को रोकने के लिये स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना होता है इसके लिये (१) जल वितरण पर नियन्त्रण रखना चाहिए जिससे जल हानिकर जीवाणुओं आदि से मुक्त रहे। विसूचिका की सम्भावना की दशा में जल में घुलित क्लोरीन की मात्रा सामान्य से अधिक रखनी चाहिए। कुएँ पर भी पूर्ण स्वच्छता बरतनी चाहिए। मेले आदि में वितरित जल पूर्ण रूप से हानिकर जीवाणु एवं अन्य पदार्थों से मुक्त रहना चाहिए। (2) मल निस्सारण— यदि मल नलियों द्वारा ले जाया जाता है तो उसके विसंक्रमण करने के पूरे उपाय किए जाने चाहिए। शौचालय निर्माण एवं मल निस्सारण में उन सब उपायों को काम में लाना चाहिए जो उस प्रकरण में पीछे कहे जा चुके हैं। (३) भोजन का

बचाव—कटे हुए फल एवं सब्जियों को जो धूल और मक्खियों के लिए खुली हुई है, बिना उबाले नहीं खाना चाहिए। भोजन आदि के पदार्थों को गर्म खाना चाहिए। किसी ऐसे खाद्य पदार्थ को नहीं खाना चाहिए जिन पर मक्खियाँ बैठ सकती हैं और धूल मिट्टी जम सकती है। (4) मक्खियों पर नियन्त्रण—यद्यपि समस्त मक्खियों को नष्ट करना प्रायः सम्भव नहीं है, परन्तु जहाँ तक हो सके उन्हें नष्ट करके उनकी उत्पत्ति को न होने देने के उपायों को काम में लाना चाहिए।

वेक्सीनेशन (vaccination टीका लगाना—विसूचिका का रोग-निरोधी (prophylatic) एक ही उपाय है कि इस रोग के टीके (vaccine) को लगवा लिया जाय। सामान्यतः विसूचिका के टीके को गहरा अवस्त्वक् (subcutaneous) या अन्तः पेशी (intra muscular) लगाते हैं। यह दो मात्राओं में लिया जाता है। पहिली मात्रा में 0·5 मि.ली. तथा उसके 7 से 28 दिन पश्चात् एक मि.ली. की दूसरी मात्रा लेनी चाहिए। इसके बाद प्रत्येक 6 मास पश्चात् एक मिली लीटर की मात्रा लेते रहना चाहिए। परन्तु मेले आदि में एक बार में ही एक मि.ली. की मात्रा ली जाती है।

विसूचिका के टीके के लगने के 6 दिन पश्चात् शरीर में रोग क्षमता की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और तीन महीने तक रहती है उसके पश्चात् कम होना प्रारम्भ हो जाता है। 6 मास के पश्चात् यह क्षमत्व शक्ति समाप्त हो जाती है।

इन्जेक्शन के पश्चात् कभी कभी कुछ व्यक्तियों को हल्का ज्वर तथा इन्जेक्शन के स्थान पर लालिमा तथा शोथ हो जाता है। ये लक्षण 2-3 दिन में स्वयं शान्त हो जाते हैं।

विसूचिका का टीका शत प्रतिशत रोगनिरोधी सिद्ध नहीं हुआ है। परन्तु 60 प्रतिशत के लगभग व्यक्तियों में रोग का निरोध हो जाता है। विसूचिका से बचाव के लिये टीका लेने एवं स्वच्छता की पूरी सावधानी रखने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

पिस्सू एवं प्लेग (ग्रन्थिक ज्वर) (Fleas and Plague Bubonic)

पिस्सू

संसार में एक हजार से भी अधिक पिस्सुओं की जातियाँ मिलती हैं, परन्तु भारत में केवल 15 जातियों के ही पिस्सू पाये जाते हैं। पिस्सुओं के पर नहीं होते हैं इसलिए वे 5-6 इंच ऊँची तथा 3-4 इंच लम्बी कूद लेते हुए चलते हैं। नर एवं मादा दोनों ही पिस्सू रक्त चूसने वाले होते हैं। सामान्यतः एक जाति के पिस्सू एक ही जाति के जानवर का रक्त चूसने के आदी होते हैं परन्तु आवश्यकता पड़ने पर दूसरे जानवर का रक्त पान भी करते हैं। पिस्सू का जीवन चक्र भी चार प्रावस्थाओं से निकलता है। (1) अण्डे (2) लारवा (3) प्यूपा तथा (4) पूर्ण पिस्सू। अण्डे
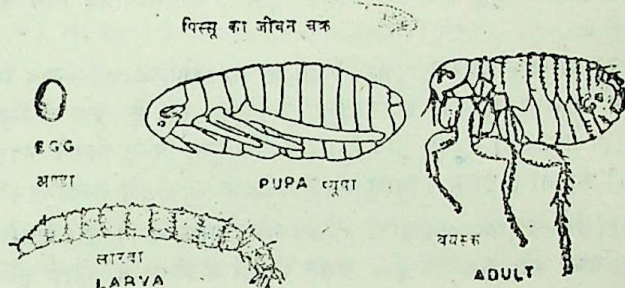
चित्र 8·4—पिस्सू का जीवन चक्र

श्वेतवर्ण के लगभग 0·5 मि० मी० अण्डाकार आकार के होते हैं। मादा पिस्सू पोषक (host) के बालों में या उसके रहने के स्थान पर अण्डे देती है। एक बार में 2 से 6 अण्डे ही देती है, इस प्रकार अपने जीवन काल में वह 300-400 अण्डे दे देती है। अनुकूल परिस्थितियों में अण्डे 2 से 7 दिन में लारवा में बदल जाते हैं। लारवा अपने भोजन के लिए कार्बनिक (organic) पदार्थों पर निर्भर करता है और लगभग दो सप्ताह में प्यूपा में बदल जाता है। प्यूपा भी एक दो सप्ताह में पूर्ण पिस्सू में परिवर्तित हो जाता है। सामान्यत: पिस्सू की आयु एक मास होती है परन्तु कुछ जातियों के पिस्सू एक वर्ष या अधिक भी जीवित रहते हैं।

पिस्सू अपने पोषक के शरीर, उसके रहने के स्थानों, मकान की दीवारों, फर्श की दरारों, कालीनों के नीचे और इसी प्रकार के स्थानों पर रहते हैं। पिस्सू हर समय रक्त नहीं चूसते रहते हैं वरन् ऐसा वे कुछ समय के अन्तराल से करते हैं। दिन में कम से कम एक बार तो रक्त लेते ही हैं। अन्तराल में पोषक के शरीर पर बैठकर अथवा सामान आदि पर रहते हैं।

पिस्सुओं के द्वारा रोगों के कीटाणुओं के वहन के कारण मनुष्य में प्लेग, स्थानिक (endemic) टाइफस, हाईमेनोलेपिस डिमिन्यूटा (hymenolepis diminuta फीताकृमि व्याधि), चिगर व्याधि (chiggerosis-शरीर में ददोरे पड़ जाते हैं जिसमें अत्यधिक खुजली होती है) आदि रोग होते हैं।

रोग संचरण की विधियाँ—(i) दंशन (biting)—पिस्सू के द्वारा रोग संचरण की मुख्य विधि दर्शन है, विशेष रूप से प्लेग व्याधि के लिए। यदि पिस्सू प्लेग जीवाणुओं (plague bacilli) से ग्रसित है तो ये जीवाणु उसके आमाशय में संख्या में बढ़ने लगते हैं और पिस्सू का समस्त आमाशय इन जीवाणुओं से भर जाता है। ऐसे पिस्सुओं को अवरुद्ध (blocked) पिस्सू कहते हैं। इसके आमाशय में रक्त के लिए स्थान नहीं रहता है। पिस्सू भूख से व्याकुल होकर पोषक (host) को जोर के साथ काटता है। रक्त तो वह ले नहीं पाता है परन्तु इस दंशन से उसके

आमाशय से कुछ जीवाणु पोषक के रक्त में पहुँच जाते हैं और वह प्लेग से आक्रान्त हो जाता है।

(२) **यान्त्रिक संचरण** (mechanical transmission)—जब पिस्सू प्लेग बेसीलाई से आक्रान्त चूहे को काटता है तो चूहे के रक्त से कुछ जीवाणु उसकी शुण्डिका (proboscis) में लग जाते हैं। अब जब यह पिस्सू किसी स्वस्थ पोषक (host) को काटता है तो ये जीवाणु उसके शरीर में पहुँच उसे आक्रान्त कर देते हैं।

(३) **विष्ठा** (faeces) **द्वारा**—जिस समय आक्रान्त पिस्सू काटता है तो उस स्थान पर विष्ठा भी कर देता है। उसके विष्ठा में प्लेग बेसिलाई होते हैं जब पोषक दंशन वाले स्थान को खुजाता है तो खरोचों (scratches) के द्वारा ये जीवाणु उसके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

पिस्सुओं का नियन्त्रण—(१) कीटनाशी पदार्थों के व्यवहार से। इसके लिए डी०डी०टी० सबसे सस्ता और अच्छा रहता है। इसके एक भाग में दस भाग (खड़िया chalk) मिलाकर चूहों के रहने के स्थान पर फैला देते हैं। चूहों के चलने से यह उड़कर चूहों के बालों में पहुंचकर पिस्सुओं को नष्ट कर देता है। यदि पिस्सुओं में डी०डी०टी० के प्रति प्रतिरोध उत्पन्न हो गया है तो फिर डी०डी०टी० के स्थान पर डायजिनॉन (diazinon) का दो भाग 98 भाग चॉक के साथ अथवा मेलाथियोन (malathion) का 5 भाग 95 भाग चॉक के साथ व्यवहार में लाते हैं।

(२) प्रतिकर्षकों (repellants) का व्यवहार (१) एक कपड़े के टुकड़े को डाइइथिलटोलुएमाइड (diethyltoluamide) में भिगोकर, पिस्सुओं के स्थान पर रख देने से पिस्सू भाग जाते हैं। एक बार का भिगोया हुआ वस्त्र एक सप्ताह तक प्रभावकारी रहता है। (२) बेनजिल बेनजोएट (Benzyl Benzoate) भी अच्छा पिस्सू प्रतिकारक है।

(३) **चूहों को नियन्त्रित करना**—इसके लिए (१) चूहेदान (rat trap) द्वारा चूहों को नष्ट किया जा सकता है। (२) बेरियम कारवोनेट (barium carbonate) एक सफेद पाउडर होता है। इसके एक भाग में चार भाग आटा मिलाकर चूहों के स्थान पर रख दिया जाता है। इसे खाकर चूहे 10 से 48 घण्टों में मर जाते हैं। (३) जिंक फॉस्फाइड (zinc phosphoide), काला पाउडर होता है। इसमें फॉस्फोरस की गन्ध आती है। इसका एक भाग दस भाग आटे में मिलाकर तथा चूहों को आकर्षित करने के लिए कुछ बून्दे खाने के तेल की डालकर, रख देते हैं। चूहे इसे खाकर लगभग तीन घण्टे में ही मर जाते हैं। जिन्क फॉस्फाइड अत्यन्त विषैला होता है। अतः इसे व्यवहार मे लाते समय सावधानी बर्तनी चाहिये। घर के पालतू जानवरों तथा बच्चों से दूर रखना चाहिये तथा हाथों को तुरन्त साबुन से धो लेना चाहिये। अच्छा हो ... के दस्ताने पहिन कर इसे छुयें।

धूमन (fumigation)—चूहों और पिस्सुओं को बिलों में ही नष्ट करने के लिये धूमन किया जाता है। इसके लिए कैल्शियम साइनाइड (ca. cyanide) सबसे अच्छा रहता है। कार्बनडाइ सल्फाइड, मिथिल ब्रोमाइड, सल्फरडाइ ऑक्साइड आदि भी व्यवहार में ला सकते हैं। कैल्शियम साइनाइड के पाउडर को पम्प द्वारा चूहों के बिलों में फेंकते हैं। प्रत्येक बिल में लगभग 50 ग्राम पाउडर पम्प कर बिलों को गीली मिट्टी से बन्द कर दिया जाता है। बिलों के अन्दर ही चूहे और पिस्सू नष्ट हो जाते हैं।

प्लेग (ग्रन्थिक ज्वर)

प्लेग का का कारण पास्चुरेला पेस्टिस (Pasteurella pestis) जीवाणु है। प्लेग वास्तव में चूहों की व्याधि है जो उनसे मनुष्यों में ग्रन्थिक प्लेग (bubonic plague ग्रन्थिक ज्वर) के रूप में हो जाती है। एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में थूक तथा श्लेष्मा द्वारा फुपफुसी प्लेग (pneumonic plague) भी हो जाता है।

प्लेग रोग के विषय में अति प्राचीन काल से मनुष्यों की जानकारी है। भारत में प्लेग का प्रभाव घटता जा रहा है। सन् 1948 में इस देश में 23 हजार से ऊपर मृत्युएँ प्लेग के कारण हुई थीं वहाँ सन 1968 में एक भी मृत्यु अंकित नहीं हुई। फिर भी संसार में जब तक प्लेग बना हुआ है हमें इसके प्रति सावधान रहने की आवश्यकता है।

पा० पेस्टिस उष्णता एवं सूर्य प्रकाश को सहन नहीं कर सकते हैं। इसलिये गर्मियों में चूहे के शरीर से बाहर अधिक दिन जीवित नहीं रह सकते हैं परन्तु सर्दियों एवं वर्षा की ठण्ड और नमी में एक दो वर्ष तक भी जीवित रह सकते हैं। इसलिये सामान्यतः प्लेग रोग सर्दियों और नम मौसम में फैलता है। रोग बार-बार हो जाने पर अधिकतर व्यक्ति इस रोग के प्रति क्षमता प्राप्त कर लेते हैं।

पिस्सू जंगली चूहों के शरीर पर, सामान्यतः रहते हैं। इन पिस्सुओं में पा० पेस्टिस जीवाणुओं से संक्रमित पिस्सू भी हो सकते हैं। इन पिस्सुओं के दंशन से ये जीवाणु चूहों के रक्त में पहुँच जाते हैं। ऐसे संक्रमित जंगली चूहों का सम्पर्क जब घरेलू चूहों से होता है तब पिस्सुओं द्वारा घरेलू चूहे भी प्लेग के जीवाणुओं से आक्रांत होकर मरने लगते हैं। इन चूहों का निवास घरों में होता है। अतः इन चूहों के मरने से पिस्सू उनसे पृथक हो मनुष्यों पर आक्रमण करते हैं जिससे मनुष्य भी प्लेग से ग्रसित हो जाते हैं। इस तरह यदि घर में अचानक चूहे मरने लगें तो सावधान हो जाना चाहिये।

उद्भवन काल (incubation period)—दो से दस दिन का होता है। अधिकांश में 3 से 4 दिन ही होता है। फुपफुसी प्लेग में उद्भवनकाल एक से चार दिन का होता है।

रोग लक्षण—पिस्सू अधिक नहीं उछल सकता है इसलिए वह मनुष्य की टाँगों पर आक्रमण करता है इससे पा० पेस्टिस मनुष्य के रक्त में प्रवेश कर लसिका

पर्वों (lymph nodes) में रुक कर ग्रन्थिल (bubonic) प्लेग को उत्पन्न करते हैं। इससे पर्व कठोर और शोथयुक्त हो जाते हैं। ऊपर से त्वचा का स्पर्श उष्ण होता है। धीरे-धीरे पर्व स्थान मुलायम हो जाता है और पूय बननी प्रारम्भ हो जाती है।

पूय लक्षणों (prodromal symptoms) में शिर और पीठ में पीड़ा, घबराहट (malaise), मानसिक भावहीनता (apathy) होती है और फिर तेज ज्वर का आवेग हो जाता है। ज्वर 40°C (104°F) या अधिक हो जाता है। यह 2 से 5 दिन तक रहता है फिर धीरे-धीरे या अचानक कम हो जाता है। लसिका पर्वों की पूयता के कारण अन्य उपसर्ग भी हो सकते हैं। जैसे-जैसे व्याधि बढ़ती जाती है रोगी भावहीन, मन्द भ्रमित (confused) रहता है। सिर तथा पीठ में पीड़ा बनी रहती है। धीरे-धीरे अवसादि जड़िमा (stupor) बढ़ता जाता है, वाणी स्खलित (slurred) होती जाती है। पेशियों में कम्पन (tremor), स्फुरण (switching) उत्पन्न होने लगता है। जिह्वा शुष्क और शोथ युक्त हो जाती है समस्त त्वचा भी शुष्क तथा उष्ण होती है। स्थान-स्थान पर रक्तवाहिकाओं से स्राव के कारण रक्त के एकत्रित हो जाने से काले-काले निशान दिखाई देने लगते हैं। प्लेग के जीवाणु शरीर के अन्य अवयवों को आक्रान्त करने लगते हैं। फुफ्फुसों में पहुँचकर फुफ्फुसों को भी आक्रान्त करते हैं। ऐसे रोगी की श्लेष्मा में प्लेग के वेसीलाई पहुँच जाते हैं तथा उसके थूक तथा श्लेष्मा के साथ बाहर आकर वायु द्वारा अन्य स्वस्थ व्यक्तियों में पहुँच उनमें फुफ्फुसी प्लेग का कारण होते हैं। ऐसा प्रायः वहाँ अधिक होता है जहाँ एक ही स्थान पर अधिक व्यक्ति रहते हैं। पूतिजीवरक्तता (septicaemia—सेप्टीसीमिया) फुफ्फुसी प्लेग में सदैव तथा ग्रन्थिल प्लेग में सामान्यतः उपस्थित होती है।

चिकित्सा—(१) रत्नगिरिरस 200 मि०ग्रा० 4-4 घण्टों पर (२) चण्डेश्वर रस 100 मि०ग्राम 4-4 घण्टों पर (३) टेट्रासाइक्लिन 500 मि०ग्रा० की मात्रा प्रत्येक 4-4 घण्टों के पश्चात् देते रहना चाहिए जब तक कि ज्वर उतर न जाय। इसके पश्चात् प्रत्येक 6-6 घण्टों के बाद भी कुछ दिनों तक देते रहना चाहिये। बच्चों को उनकी आयु एवं भार के अनुसार देना चाहिए। सामान्यतः 50 मि०ग्रा० प्रति किलो भार प्रतिदिन के हिसाब से देते हैं।

(४) स्ट्रेप्टोमायसिन 650 मि०ग्रा० अन्तःपेशी इन्जेक्शन द्वारा तुरन्त देना चाहिये। फिर 350 मि०ग्रा० प्रत्येक 4-4 घण्टों के पश्चात् देते रहना चाहिये जब तक ज्वर नहीं उतर जाय, उसके पश्चात् भी दो दिन तक देते रहना चाहिये। ग्रन्थिल प्लेग के प्रारम्भ में 1-2 ग्राम स्ट्रेप्टोमायसिन एक ही बार देने का भी कुछ चिकित्सक परामर्श देते हैं।

(१) फुफ्फुसी प्लेग में अन्तःपेशी इन्जेक्शन द्वारा दस दिन में 15-20 ग्राम स्ट्रेप्टोमायसिन दे देना चाहिये। (२) प्रारम्भ में ऑक्सीटेट्रासाइक्लिन की 500 मि०ग्रा० मात्रा अन्तःशिरा द्वारा देकर फिर 500 मि०ग्रा० प्रति तीन-तीन घण्टों के

पश्चात् मुख से तीन मात्रा देकर फिर 6-6 घण्टों पर देते रहना चाहिये जब तक कि औषधि की 20 ग्राम मात्रा शरीर में न पहुंच जाय।

प्रतिरोध के लिए टीका (veccination)—प्लेग के जानपदिक (epidemic) प्रसार के समय बचाव के लिए क्षेत्र के समस्त व्यक्तियों को बचाव का टीका लगा देना चाहिये। टीके को 7 से 14 दिन के अन्तर से दो बार अवत्वक् अथवा अन्त: पेशी मार्ग द्वारा देना चाहिये। पहिली मात्रा एक मि०ली० तथा दूसरी मात्रा 1·5 मि०ली० की होनी चाहिये। बालकों में आयु की दृष्टि से पहिली मात्रा 0 3 मि०ली० से 0 4 मि०ली० तथा दूसरी मात्रा पहिली से दुगुनी देनी चाहिये। प्रत्येक 6 मास पश्चात् पहिली मात्रा के अनुसार स्थानिक (endemic) प्लेग की दशा में देते रहना चाहिये।

आमवातज्वर (Rhematic fever)

आमवातज्वर उन स्थानों पर अधिक होता है जहाँ स्वास्थ्य के नियमों का पालन नहीं होता है। निवास स्थान में वायु के आने जाने का उचित प्रबन्ध नहीं होता है, नमी अधिक रहती है तथा कम स्थान में अधिक व्यक्ति रहते हैं।

स्ट्रेप्टोकोकस पायोजेनिस (streptococcus pyogenes) के संक्रमण के बाद के उपद्रवों (complications) के रूप में यह रोग उत्पन्न हो जाता है। इसमें शरीर के संयोजी ऊतक (connective tissue) प्रभावित होते हैं। सामान्यत: शरीर की सन्धियाँ (joints) तथा हृदय इससे प्रभावित होता है। जब रोग पुराना हो ज़ाता है तो हृदय के कपाट (valves) भी रोग से प्रभावित हो जाते हैं।

रोगलक्षण—70 प्र०श० रोगियों में रोग के अन्य लक्षण प्रकट होने से पूर्व 15-20 दिन तक गला खराब रहता है। यदि इस समय पेन्सिलीन आदि लेकर उपचार कर लिया जाय तो यह रोग नहीं होता है, अन्यथा वयस्कों में कम्पन तथा शरीर का तापमान बढ़ जाता है तथा एक अथवा अधिक सन्धि स्थलों में पीड़ा होने लगती है। तापमान 39°C (102°F) से शायद ही कभी अधिक होता है। रोगी निर्बल होता जाता है। जिह्वा पर मैल जम जाता है, भूख नष्ट हो जाती है, कब्ज बना रहता है। कभी-कभी अत्यधिक स्वेद आता है जिसमें अम्लीय गन्ध रहती है। बच्चों को रोग के प्रारम्भ में थकान, शारीर दौर्बल्य, भोजन के प्रति अरुचि (anorexia) नासारक्तस्रवण (epistaxis नकसीर) तथा सन्धि स्थल अथवा मांसपेशियों में पीड़ा, ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ज्वर बराबर बना रहता है परन्तु तापमान अधिक नहीं होता है। इससे कभी-कभी रोगी को ज्वर होने का पता ही नहीं चलता है। सन्धि स्थलों में पीड़ा परिभ्रमी होती है। कभी एक सन्धि स्थल पर पीड़ा है तो दूसरे दिन किसी अन्य सन्धि स्थल पीड़ित हो जाता है। सन्धि स्थल जानु (knees घुटने), टखने (ankles), कोहनी (elbow), मणिबन्ध (wrist कलाई) तथा स्कन्ध अंस (shoulders) इस क्रम से सन्धिस्थल बहुधा पीड़ा युक्त होते हैं। सन्धि स्थलों पर लालिमा, शोथ तथा अत्यन्त पीड़ा होती है। बच्चों में उदर पीड़ा (abdominal-

pain) होती है कभी-कभी तो यह पीड़ा अत्यन्त तीव्र होती है। रोग के साथ लोहित कोशिका अवसादन दर (Erythrocyte Sedimentation Rate-ESR) बढ़ा हुआ होता है।

चिकित्सा–(१) आमवातारि रस 240 मि०ग्रा० अथवा आमवातारि गुटिका एक दो वटी प्रातः।

(२) रास्नादिक्वाथ।

(३) सेलीसिलेटस (salicylates) अथवा कॉरटीकोस्टेराइड (corticosteroids) इसकी औषधियां हैं।

(४) पेन्सिलीन (panicillin) लाभप्रद है। जो पेन्सिलीन नहीं ले सकते हैं उनको चाहिए कि वे सल्फाडिमिडीन (sulphadimidine) अथवा सल्फाडायजीन (salphadiazine) मुख द्वारा एक ग्राम प्रतिदिन विभाजित मात्राओं में ले।

वाइरस संक्रमण (Viral Infection)

वाइरस संक्रमण द्वारा होने वाले मुख्य रोग हैं—मसूरिका (variola), लघुमसूरिका (chickenpox), रोमान्तिका (measles), रोहिणी (diphtheria), इन्फ्लूएन्जा (Influenza), प्रतिश्याय (common cold), मस्तिष्क आवरण शोथ (meningitis), पोलियोमायलाइटिस (poliomyelitis पोलियो मेरुरज्जु शोथ), अलर्क (जलसंत्रास rabies), पीत ज्वर (yellow fever), हरपीज (herpes), गलसुआ (कनफेड़ (mumps मम्प्स) आदि।

रोहिणी (Diphtheria)

यह रोग कोरिने वेक्टीरियम डिफथरी (coryne bacterium diphtheriae) नामक क्लैब्सलोफलर वेसीलस (klebs loeffper bacillus) द्वारा उत्पन्न होता है। इसमें वैसीलस के संक्रमण के स्थान पर उनका निःस्राव (exudate) कला (झिल्ली membrane) के रूप में जमा हो जाता है और बाद में शरीर के अन्य भागों में जीवविष (toxin) पहुँच विषैला (toxic) प्रभाव डालता है विशेष रूप से रक्त संचरण में बाधा उत्पन्न हो जाती है तथा घात (paralysis) हो जाता है।

यह रोग कम या अधिक समस्त संसार में फैला हुआ है। अधिकतर दो वर्ष से दस वर्ष तक के बालक इससे संक्रमित होते हैं। 6 मास के छोटे तथा 10-11 वर्ष से बड़े बालकों में कम देखा जाता है। अक्टूबर से जनवरी तक का शीतकाल इस रोग के लिए अनुकूल प्रतीत होता है। रोगी बालक की लार में इस रोग के जीवाणु उपस्थित रहते हैं। ये जीवाणु ऊष्णता, शीतता एवं शुष्कता को सहन कर जीवित रहते हैं। अतः रोगी व्यक्ति द्वारा स्वस्थ व्यक्ति के समीप छींकने, थूकने से वायु द्वारा उसमें पहुंच जाते हैं। रोगी व्यक्ति के वस्त्रों, तौलियों, रूमाल आदि तथा अन्य व्यवहार में आने वाली वस्तुओं यथा गिलास, प्याले, खिलौने, पुस्तकें आदि में ये जीवाणु रहते हैं और स्वस्थ व्यक्ति यदि इनको व्यवहार में लाता है तो ये जीवाणु उसको आक्रान्त कर देते हैं।

ये जीवाणु संक्रमण स्थान पर ही रहकर अपनी संख्या वृद्धि करते रहते हैं। इस वृद्धि के समय जो जीवविष उत्पन्न होता है वह स्थानीय उपकला (epithelium) को परिगलित कर उपकला परिगलन (epithelial necrosis) उत्पन्न करता है। उस स्थान पर शोथ (inflamation) हो जाता है तथा रक्त से फाइब्रिन (fibrin) तथा श्वेत कोशिकाएँ (leucocytes) वहाँ एकत्रित हो जाती हैं। इस प्रकार वह परिगलित (necrotic) भाग एक कला (membrane) के रूप में दीखने लगता है। यद्यपि वह वास्तव में कला नहीं होती है अतः इसे मिथ्या कला (false membrane) कहते हैं। देखने में यह पतली, श्वेत तथा पारदर्शक से लेकर भूरी (greyish) तथा अपारदर्शक तक होती है। गलतोरणिका (fouces) तथा नासाग्रसनी (nasopharynx) से लेकर श्वास प्रणाल (trachea) तथा मुख्य श्वसनी (bronchi) तक फैली हो सकती है।

उद्भवन काल (incubation period)—एक दिन से लेकर दस दिन तक होता है। सामान्यतः दो से पाँच दिन का होता है।

लक्षण—संक्रमण का मुख्य स्थान सामान्यतः गलतोरणिका (fauces) होता है क्योंकि इस स्थान पर जीवविष (toxin) का शोषण अन्य स्थानों की अपेक्षा शीघ्रता से होता है, संक्रमण होते ही बालक की चंचलता समाप्त हो जाती है वह शान्त हो जाता है, भोजन लेना बन्द कर देता है। आलस्य, हल्का सिर दर्द तथा गले में दुखन की शिकायत करता है। निगलने में कष्ट होता है। पहिले दो दिन ज्वर नहीं होता है। ज्वर सामान्यतः 37·8°C (100°F) से अधिक नहीं होता है तथा 38·4°C (101°F) से अधिक तो कभी नहीं जाता है।

संक्रमण के 24 घण्टों में मिथ्या कला बन जाती है। इसका प्रारम्भ दोनों ओर की गल तुण्डिकाओं (टान्सिल tonsils) से होता है और गलतोरणिका स्तम्भ (pillars of fauces), काकलक (युवुला uvula), तथा तालु (palate) तक फैल जाती है। जैसा ऊपर बता आये हैं यह कला पतली अथवा मोटी, श्वेत से भूरे वर्ण की, प्रारम्भ में चमकदार होती है। यदि परिगलित भाग में रक्त आ गया है तो कला मटमैले काले (dusty gray) वर्ण की दिखाई देने लगती है। क्योंकि यह वास्तव में कला नहीं होती हैं, इसलिए हटाई नहीं जा सकती है। यदि इसे किसी प्रकार हटाते हैं तो नीचे से रक्त निकलने लगता है। यह प्रारम्भ में पतली तथा पारदर्शक होती है, समय बीतने पर मोटी तथा अपारदर्शक हो जाती है।

इस समय बालक का शरीर रक्त की अल्पता के कारण पीला (paller) दिखाई देता है। उसे तन्द्रा (drowiness) रहती है। वमन होती है। श्वास लेने में कठिनाई तथा हृद्क्षिप्रता (tachycardia) लक्षण प्रकट होते हैं। यदि दशा गम्भीर हो गई है तो मुख खुला रहने लगता है, चेहरा फूला हुआ (puffy) दिखता है, बार-बार वमन होता है, नाड़ी की गति तेज हो जाती है, रक्त दाब गिर जाता है, श्वास तेज (rapid) तथा उथली (shallow) हो जाती है। गले में शोफ

(oedema) हो जाता है तथा मूत्र में एल्बुमिन (albumin) आने लगता है। ऐसी दशा में यदि ठीक ढंग से चिकित्सा नहीं की गई तो 5 से 21 दिन के अन्दर रोगी की रक्त संचारण रुक जाने से मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—(1) प्रति जीवविष (antitoxin) की उपयुक्त मात्रा देते रहना चाहिये। अन्य उपसर्गों को रोकने के लिए पैनिसिलीन (pencillin) भी देते रहना आवश्यक है। उपरोक्त चिकित्सा से 2-3 दिन में मिथ्या कला मोटी तथा अपारदर्शक हो जाती है फिर हट जाती है और कण्ठ 7-10 दिन में सामान्य हो जाता है।

(२) लोकनाथ रस (रसयोगसागर) की मात्रायें दिन में तीन-चार बार मधु से देने पर प्रारम्भिक अवस्था में लाभ देखा गया है।

(३) **निरोधक चिकित्सा** (preventive treatment)—(१) रोग फैलने की दशा में स्वस्थ बालकों में तुरन्त 24 घण्टों के अन्दर रोग क्षमता उत्पन्न करने के लिए 1500 यूनिट एण्टीडिफथेरिटिक सीरम (anti diphtheritic serum/ADS) का इन्जेक्शन दे देना चाहिये। इससे 2-3 सप्ताह के लिए रोग क्षमता (immunity) उत्पन्न हो जाती है। इसके साथ ही साथ दूसरी बाँह में 0·5 मि०ली० एलम प्रेसिपिटेटेड टॉक्साइड (alum precipitated, toxiod-APT) का इन्जेक्शन दे देना चाहिये। चार सप्ताह पश्चात् पुनः 0·5 मि०ली० की मात्रा में एपीटी (APT) दे देना चाहिए। इससे कम से कम दो वर्ष के लिए बालक में रोग क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

(२) रोग ग्रस्त व्यक्ति को पृथक् रखना चाहिये तथा उसके मुख एवं नासिका स्राव को तुरन्त नष्ट कर देना चाहिये। उसके वस्त्रों को तथा व्यवहार में लाई जाने वाली वस्तुओं को, यदि नष्ट करने में हानि नहीं है, तो नष्ट कर देना चाहिये अन्यथा किसी विसंक्रामक से विसंक्रमित कर देना चाहिये।

(३) रोगी व्यक्ति के स्वस्थ्य होने के पश्चात् भी कम से कम 6 सप्ताह उसे पाठशाला तथा अन्य ऐसे स्थानों पर नहीं जाने देना चाहिये जहाँ उसका सम्पर्क अन्य बालक, बालिकाओं के साथ होता है।

मसूरिका, चेचक (Variola, Smallpox)

संसार के प्रायः समस्त देशों में मसूरिका का रोग होता था परन्तु एशिया में भारत, पाकिस्तान तथा इण्डोनेशिया; अफ्रीका में इथोपिया तथा सूडान; दक्षिण अमेरिका में ब्रेजील देश मुख्य रूप से मसूरिका के घर कहे जाते थे। परन्तु यह रोग अब संसार से नष्ट हो गया है। इसलिए इसका संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा मसूरिकाः पित्तकफात्प्रदिष्टाः। चरक

पित्त और कफ से दूषित होकर समस्त शरीर में मसूर के आकार के दाने के

समान उत्पन्न पीड़िका को मसूरिका कहते हैं।

कारण—मसूरिका अत्यन्त प्रबल संचारी (communicable) रोग है जो वैरियोला (variola) वाइरस द्वारा होता है। इसका प्रसार एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को होता है। संक्रमित व्यक्ति के (i) श्वसन मार्ग के स्राव (mucosa), त्वचा भी विक्षति (lessions) तथा मसूरिका पपड़ी (scales) में ये वाइरस अच्छी संख्या में रहते हैं। इस प्रकार रोगी व्यक्ति के खासने, छींकने तथा जोर से बोलने से ये वाइरस पास के स्वस्थ व्यक्ति में पहुँच जाते हैं। (ii) थूक, श्लेष्मा आदि के सूख जाने पर धूल के साथ इनमें उपस्थित वाइरस अन्य व्यक्ति में पहुँच जाते हैं। (iii) रोगी व्यक्ति के कपड़ों में भी वाइरस रहते हैं जो वायु आदि के द्वारा अन्य व्यक्ति में मुख अथवा श्वास मार्ग द्वारा पहुँच जाते हैं। (iv) मसूरिका की पपड़ी में तो ये वाइरस काफी समय तक जीवित रहते हैं और स्वस्थ व्यक्ति में वायु द्वारा प्रवेश कर जाते हैं।

सूर्य के प्रकाश में ये वाइरस नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए ग्रीष्म ऋतु में यह रोग कम होता है।

उद्भवन काल (incubation period)—सामान्यत: 11 दिन से 14 दिन होता है। कभी-कभी 7 दिन से 17 दिन तक भी होता देखा गया है।

रोग लक्षण (clinical features)—35°–40°C (103°–104°F) ज्वर, सिर में, पीठ में तीव्र वेदना। कभी-कभी समस्त शरीर में वेदना। बच्चों में इस समय वमन (vomiting), उबकाई (retching), प्रलाप (delirium) तथा आक्षेप (convulsions) आदि लक्षण भी दिखाई देते हैं। यह स्थिति एक से चार दिन रहती है। (ii) तीसरे अथवा चौथे दिन शरीर पर विस्फोट (rash) प्रकट हो जाते पर ये मुख्य रूप से चेहरे, बाँह तथा टाँगों पर और जो खुले भाग रहते हैं उन भागों पर होते हैं। पाँव के तलवों, हाथ की हथेलियों पर भी दिखाई देते हैं। जिस समय ये विस्फोट होने प्रारम्भ होते हैं 2-3 मि०मी० के गोल लाल धब्बों के रूप में होते हैं। उनका उभार त्वचा के समतल होता है। इनको बिन्दु (macules) कहते हैं। एक दिन के अन्दर ही ये त्वचा की सतह से उभर आते हैं, इन्हें अब पिटिका (papules) कहते हैं। फिर इनमें स्वच्छ तरल भर जाता है, इस समय इन्हें जल स्फोट (vesicles) कहते हैं। ये स्फोट त्वचा में गहरे स्थित रहते हैं। वृत्ताकार मध्य में नाभियुक्त (umbilicated) होते हैं। कभी-कभी एक से अधिक स्फोट परस्पर मिले रहते हैं। स्फोटों के प्रकट होने के चौथे या पाँचवें दिन इनमें भरा स्वच्छ तरल पूय (pus) के समान हो जाता है। इन्हें अब पूयस्फोट (pustules) कहते हैं। पूयस्फोट धीरे-धीरे सूख जाते हैं, त्वचा पर इनका उभार और अधिक हो जाता है। इनके ऊपर की त्वचा पपड़ी (scales) के समान हो जाती है। एक दो सप्ताह में यह पपड़ी हट जाती है और त्वचा में काले गहरे चिह्न रह जाते हैं।

प्रारम्भ के ज्वर के तीसरे या चौथे दिन विस्फोटों के निकलने से ज्वर का बेग कम हो जाता है, कभी-कभी सामान्य के लगभग हो जाता है परन्तु लगभग आठवें दिन जबकि ये विस्फोट पूयस्फोट बनते हैं, ज्वर फिर बढ़ जाता है। पूयस्फोट के सूखने पर शरीर का तापमान सामान्य हो जाता है। यदि कोई अन्य उपद्रव (complications) नहीं हुए तो रोगी निरोग हो जाता है। नेत्र की श्लेष्मिक कला (conjunctiva-नेत्र श्लेष्मला) में विस्फोट होने पर अत्यन्त सावधानी रखनी पड़ती है नहीं तो नेत्रहीनता (अन्धापन blindness) होने का भय रहता है।

मसूरिका से बचाव (Protection against Smallpox)—

चेचक का टीका लगवाना (vaccination) इससे बचाव का एक मात्र उपाय है। शिशु के उत्पन्न होने के तीन मास में प्रथम टीका लगवा लेना चाहिए फिर प्रत्येक 3 से 5 वर्ष के अन्तराल से टीका लगवाते रहना चाहिये।

चेचक के रोग के प्रति सावधानियाँ—

(१) रोगी के नाक तथा मुख के स्राव को जलाकर नष्ट कर देना चाहिये।

(२) रोगी के विस्तर तथा अन्य सम्पर्क में आये वस्त्रों को क्रिसोल (cresol) या फॉरमेल्डीहाइड (formaldehyde-formalin) के साथ उबालना चाहिये।

(३) रोगी के कमरे को विसंक्रमित कर देना चाहिये। सफेदी करा देनी चाहिये तथा उसे सूर्य के प्रकाश के लिए खुला रहना चाहिए।

(४) नीम की पत्तियों का धुँवा तथा मुलायम पत्तियों को पीसकर शरीर पर लेप वाईरसों को नष्ट करता है।

(५) मसूरिका का सन्देह होने पर तुरन्त सिविल सर्जन अथवा स्वास्थ्याधिकारी को सूचित कर देना चाहिये।

(६) यदि रोगी की मृत्यु हो जाती है तो एक वस्त्र को फॉरमेलीन में भिगोकर उसमें लपेटकर अन्तिम संस्कार तक रखना चाहिये।

(७) रोगी के शव को जला देना अथवा गाड़ देना चाहिये। उसका जलप्रवाह नहीं करना चाहिये।

चिकित्सा—(१) मसूरिकाहर वटी (छोटी कटेली की जड़, काली मिर्च समान भाग, नीम की पत्ती के स्वरस की भावना देकर काली मिर्च के समान गोली) 4 गोली की मात्रा (२) चिञ्चाबीजादि (इमली के बीज 10 ग्राज, हल्दी 5 ग्राम, जल में पीसकर) देना चाहिये।

रोमान्तिका (Measles, Rubeola खसरा)

रोमान्तिका रोग समस्त संसार में बच्चों के रोगों के रूप में जाना जाता है। यदि इस रोग के साथ अन्य उपसर्ग नहीं हैं तो इस रोग में मृत्युदर अत्यन्त ही अल्प है। जहाँ बच्चों में पोषण का अभाव रहता है, मृत्युदर कुछ अधिक है। इस रोग का कारण भी वाईरस है और रोगग्रस्त व्यक्ति के नासिका एवं मुख के स्राव से दूसरे स्वस्थ व्यक्ति रोग ग्रस्त हो जाते हैं।

रोमकूपोन्नति समा रागिण्यः कफ पित्तजाः ।
कासारोचकं संयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विका ।।

कफ और पित्त से उत्पन्न रोम कूपों के आकार की लाल वर्ण की रोमान्तिका निकलती हैं। इसमें पहिले ज्वर, कास और अरुचि होती है।

उद्भवनकाल—लगभग दस दिन का होता है।

रोगलक्षण—रोग काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) विस्फोट पूर्व (preeruptive) तथा विस्फोट काल (eruptive stage)। विस्फोट पूर्व काल तीन चार दिन रहता है। इस समय ज्वर, खांसी, छींक, नाक से स्राव तथा नेत्रों में लाली, ये लक्षण होते हैं। विस्फोट प्रकट होने के एक दो दिन पूर्व मुख और ओष्ठ की श्लैष्मिक कला में छोटे-छोटे लाल चिन्ह हो जाते हैं जिनके मध्य में श्वेत चिन्ह रहता है। रोग के लगभग चौथे दिन ये चिन्ह विस्फोट के रूप में हो जाते हैं। विस्फोट (rash) गुलाबी या लाल वर्ण के बिन्दु के रूप में होते हैं। इनमें स्वच्छ तरल भरा रहता है। पहिले चेहरे पर प्रकट होते हैं फिर गर्दन पर। दो चार दिन में ये समस्त शरीर में, बाहों और टाँगों पर भी निकल आते हैं। पाँचवे छठे दिन से ये मुरझाने शुरू हो जाते हैं और त्वचा पर विवर्णता के धब्बे रह जाते हैं जो कुछ समय पश्चात् अपने आप समाप्त हो जाते हैं।

उपद्रव (complications)—अन्य संक्रमणों के कारण उपद्रव हो सकते हैं यथा—

(1) श्वसन मार्ग के संक्रमण द्वारा न्यूमोनिया (pneumonia), गम्भीर श्वसनी शोथ (bronchitis), श्वसनिका शोथ (bronchiolitis) आदि। (2) मध्य कर्ण शोथ (otitis media)। (5) मस्तिष्क शोथ (encephalitis) तथा मानसिक मन्दता (mental retardation)। (4) व्यवहार में परिवर्तन। (5) प्रेरक तन्त्रिकाओं (motor nerves) के कार्यों में विषमता आदि उपद्रव हो सकते हैं।

चिकित्सा—यदि कोई उपद्रव नहीं है तो संक्रमण अपने आप समाप्त हो जाता है। उपद्रव होने की दशा में उसके अनुसार चिकित्सा की जाती है।

बचाव के साधन—बच्चे को 9 से 12 मास की आयु में रोमान्तिका का टीका लगवा देना चाहिये। एक दो मास से कम आयु के शिशु को टीका नहीं देना चाहिये। प्रत्यूर्जता (allergy) या एकजिमा से पीड़ित को भी टीका नहीं लगाना चाहिये। इसी प्रकार जिनका आक्षेप (convulsions) का पारिवारिक इतिवृत्त है अथवा क्षय रोग है या अन्य कोई तीव्र (acute) रोग है उस दशा में भी टीका नहीं लगाना चाहिये।

लघुमसूरिका (Varicella वैरिसेला, Chicken pox छोटी माता)

लघुमसूरिका भी प्रवल संचारी रोग है। यह हर्पीज वाइरस वैरिसेली (varicallae) द्वारा होता है। यह वाइरस रोगी व्यक्ति के मुखग्रसनी (oropharyngeal) स्राव, त्वचा की विक्षति (lesions), श्लैष्मिक कला (mucous membrane)

तथा रक्त में रहता है। मसूरिका के समान यह वाइरस भी खाँसने, छींकने आदि से स्वस्थ व्यक्ति में पहुँच जाता है। रोगी व्यक्ति के वस्त्रादि में भी यह वाइरस मिलता है। परन्तु विस्फोट के पश्चात् पपड़ी (scales) में यह नहीं होता है। यद्यपि छोटी माता दस वर्ष की आयु तक के बच्चों को ही अधिक संक्रान्त करती है परन्तु इससे बड़ी आयु के मनुष्यों को भी संक्रान्त होते देखा गया है। भारत में प्रथम 6 मास तक के बच्चों में इसका संक्रमण अधिक देखा जाता है।

उद्भवनकाल (incubation period)—सामान्यत: 15-16 दिन का होता है।

रोगलक्षण—अचानक ज्वर हो जाता है। शरीर में वेदना, विशेष रूप से, पीठ में वेदना तथा कम्पन होने लगता है। तीव्र ज्वर के साथ 24 घण्टों के भीतर विस्फोट (rash) प्रकट हो जाते हैं जबकि मसूरिका में तीन चार दिन के पश्चात् प्रकट होते हैं। विस्फोट वक्ष, उदर पर अधिक होते हैं। चेहरे, बाँह तथा टाँगों पर नहीं होते हैं अर्थात् मसूरिका के विपरीत स्थानों पर। विस्फोट त्वचा में गहरे नहीं होते हैं अत: रोग शान्त होने पर चिन्ह नहीं रहते हैं। मसूरिका के विस्फोट कक्षा (axilla) में नहीं होते हैं परन्तु लघु मसूरिका के विस्फोट कक्षा में भी होते हैं। मसूरिका के विस्फोट वृत्ताकार होते हैं परन्तु लघुमसूरिका के विस्फोट अण्डाकार होते हैं। मसूरिका में सब विस्फोट एक साथ निकल आते हैं परन्तु लघुमसूरिका के विस्फोट 3-4 दिन तक निकलते रहते हैं। मसूरिका में समस्त विस्फोट एक स्थिति से दूसरी स्थिति में लगभग एक साथ ही जाते हैं परन्तु लघुमसूरिका में ऐसा नहीं होता है, सब स्थितियों के विस्फोट एक साथ देखे जा सकते हैं। इसमें पूयस्फोट एक दूसरे से पृथक रहते हैं जबकि चेचक में संयुक्त भी देखे जाते हैं इसके पूयस्फोट नाभि युक्त नहीं होते हैं। इसके स्फोटों के चारों ओर शोथ रहता है मसूरिका में नहीं होता है। लघुमसूरिका के विस्फोटों के प्रकट होने के १४ दिन के भीतर ही पपड़ी उतर जाती है। इस रोग में मृत्यु एक या दो प्र०श० ही होती है, वह भी रोगी की परिचर्या मे लापरवाही के कारण अथवा अन्य उपसर्ग हो जाने के कारण होती है।

बचने के उपाय—

(१) रोगी को पपड़ी उतर जाने तक अन्य बालकों से पृथक् रहना चाहिये। (२) नासिका तथा मुख के स्राव को विसंक्रमित करते रहना चाहिये, फिर नष्ट कर देना चाहिये तथा वस्त्रों को उबाल लेना चाहिये। (३) रोग मुक्त हो जाने पर कमरे को भी विसंक्रमित कर देना चाहिये।

केन्सर (Cancer)

केन्सर का शाब्दिक अर्थ है—कर्कट, कर्क, केकड़ा (Crab)। केकड़ा जहाँ

कहीं चिपकता है अपने पैरों द्वारा मजबूती से उस स्थान को पकड़ लेता है। उसका चिपकना दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है इसी समानता के कारण इस रोग का नाम भी कैंसर रखा गया है। केन्सर की गाँठ उत्पन्न होकर अपने आसपास के ऊतकों में अपने मजबूत अंकुर फैला देती है।

केन्सर रोग केवल मनुष्य को ही नहीं होता है। यह पशुओं एवं अन्य प्राणियों में तथा पेड़-पौधों में भी होता है। शरीर के किसी भी अंग में केन्सर हो सकता है और प्रत्येक भाग के केन्सर के लक्षण अन्य भागों के लक्षणों से भिन्न होते हैं।

केन्सर के प्रकार—केन्सर मुख्यत: दो प्रकार का होता है—(i) उपकला (epithelium) ऊतक में होने वाला केन्सर उपकला अर्बुद (epithelial cancer) या कार्सिनोमा (carcinoma) कहलाता है तथा (ii) संयोजी ऊतक (connective tissue) में होने वाला केन्सर दुष्टार्बुद या सार्कोमा (sarcoma) कहलाता है।

केन्सर का प्रभाव—प्रारम्भिक अवस्था में केन्सर एक मिलीमीटर से भी छोटे आकार से लेकर 3-4 मि०मी० व्यास की गाँठ होता है। प्रारम्भ में गाँठ कुछ मुलायम सी प्रतीत होती है तथा इधर-उधर हिलाई जा सकती है। ऐसी स्थिति में शल्य चिकित्सा द्वारा इस गाँठ को शरीर से निकाल देना चाहिये। इससे केन्सर की उत्पत्ति समाप्त हो जाती है। परन्तु यदि इस गाँठ को नहीं निकाला जाता है तो यह गाँठ अधिक बढ़ जाती है और आस-पास के भाग में फैलकर कठोर हो जाती है। शरीर के अन्य भागों में भी केन्सर की कोशिकायें (cells) पहुँचकर नया केन्सर उत्पन्न कर देती हैं। ऐसे केन्सर को अनुषंगी केन्सर (secondary cancer) कहते हैं। यह असाध्य माना जाता है।

केन्सर के कारण—केन्सर को उत्पन्न करने वाले पदार्थों और कारणों को 'अर्बुदजन' या कार्सिनोजन (carcinogen) कहते हैं। इन्हें मुख्य रूप से ५ भागों में बाँटा जा सकता है—(१) रासायनिक अर्बुदजन, (२) आयनन विकिरण, (३) वायरस एवं परजीवी, (४) हॉर्मोन, (५) धूम्रपान।

१. रासायनिक अर्बुदजन (Chemical Carcinogen)

सर परसिवल पॉट (Sir Percival Pott) ने सन् 1775 में ही यह विचार व्यक्त किया कि चर्म केन्सर (skin cancer) कोलतार उद्योग में काम करने वाले मजदूरों में अधिक पाया जाता है। सन् 1932 में परीक्षणों से यह विदित हो गया कि कोलतार में हाइड्रोकार्बन बैंजपाइरिन (benjpyrin) चर्म केन्सर उत्पन्न करने वाला कार्सिनोजन है। इसके पश्चात् अनेक रासायनिक पदार्थों की, जो केन्सर उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं, खोज की गई। एजो रंगों (azo dyes) से यकृत केन्सर, एनेमिल रंगों (enamel dyes) से मूत्राशय केन्सर, एलकाई लेटिंग एजेन्ट से फुफ्फुस केन्सर, डाइबनजेनथासिन (dibanjenthasin) से चर्म केन्सर प्रमुखता से हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों परीक्षणों के परिणाम ज्ञात होते जाते हैं रासायनिक

कार्सिनोजन की सूची लम्बी होती जाती है। कोलतार और रंगों (dyes) के अतिरिक्त एरोमेटिक एमिन (aromatic amines), यूरेथेन (urethane) तथा अनेक धातुयें—निकिल, लौह, क्रोमियम, आर्सेनिक, बेरीलियम (beryllium), एसबेसटस (asbestos) आदि के अनेक यौगिक भी कार्सिनोजन का कार्य करने लगते हैं।

२. आयनन विकिरण (Ionizing Radiation)

इस अणु युग में आयनन विकिरण केन्सर उत्पन्न करने में सहायक हो रहा है। गत महायुद्ध में (सन् 1945 में) जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगर पर अणु विस्फोट के पश्चात् उस क्षेत्र में एक बहुत बड़ी संख्या में व्यक्ति अतिश्वेत कोशिका रक्तता (ल्यूकीमिया leukaemia) केन्सर से पीड़ित हैं। अनेक व्यक्ति अन्य अंग विकारों से भी पीड़ित हैं। क्ष-किरण (x-ray) के सम्पर्क में आने वाले चिकित्सक तथा तकनीशियनों में प्रायः चर्म केन्सर अथवा ल्यूकीमिया होने की आशंका रहती है।

लगातार धूप में बहुत अधिक समय तक रहते रहने से चर्म केन्सर हो जाता है।

३. वाइरस तथा परजीवी (Virus and Parasites) द्वारा

विटनर नामक वैज्ञानिक ने पाया कि यदि चुहिया, जिसे स्तन केन्सर है, के नये बच्चों को, उस चुहिया का दूध पिलाया जाय तो कालान्तर में सब बच्चों को स्तन केन्सर हो जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि चुहिया के दूध में केन्सर उत्पन्न करने वाले वाइरस रहते हैं जो नए बच्चों में भी वैसा ही केन्सर उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं।

मनुष्य के शरीर में कौन से वाइरस कार्सिनोजन का कार्य करते हैं यह अभी बहुत स्पष्ट नहीं है परन्तु कुछ मैटाजुआ (matazoan) परजीवियों के विषय में निश्चय हो गया है कि वे मनुष्य शरीर में केन्सर की उत्पत्ति करते हैं।

४. हार्मोन आदि

शरीर में शारीरिक क्रियायें सम्यक् प्रकार से होती रहें इसमें हार्मोन अत्यन्त आवश्यक होते हैं। शरीर की क्रियाओं में पारस्परिक तालमेल का सन्तुलन बिगड़ने से केन्सर होने की सम्भावना बढ़ जाती है। स्त्रियों में स्तन, गर्भाशय तथा गर्भाशय ग्रीवा (cervix) का केन्सर रक्त में इस्ट्रोजन (oestrogen) हार्मोन के अधिक मात्रा में होने से हो जाता है। इस प्रकार पुरुषों में पुरःस्थ (prostate-प्रॉस्टेट) ग्रन्थि का केन्सर एण्ड्रोजन (androgen) नामक हॉर्मोन की अधिकता के कारण होता है।

सुपारी अधिक खाने से मुख का केन्सर देखा गया है। यह सुपारी के कारण शायद नहीं होता है। सुपारी खाते समय मुँह को चलाते रहने (chewing) के कारण होता है।

आमाशय तथा ग्रासनली (ईसोफेगस (oesophagus) का केन्सर हो जाता है।

५. धूम्रपान (smoking)—अधिक धूम्रपान करने से फुफ्फुसों में केन्सर उत्पन्न होता है। सिगरेट, बीड़ी तथा हुक्के के धुवें में एक प्रकार का कार्सिनोजन होता है जो धीरे-धीरे फुफ्फुस में एकत्रित होता रहता है और केन्सर उत्पन्न करने का कार्य करने लगता है, जिसके फलस्वरूप कुछ समय पश्चात् केन्सर हो जाता है।

कार्सिनोजन (carcinogen अर्बुदजन) का प्रभाव —

कार्सिनोजन मुख्य रूप से शरीर की कोशिकाओं (cells) पर अपना सीधा प्रभाव डालकर उनके संवर्धन में अत्यधिक तेजी उत्पन्न कर केन्सर उत्पन्न करने में सफल होते हैं। शरीर की प्रत्येक कोशिका में एक केन्द्रक (न्यूक्लियस nucleus) होता है जो कोशिका की क्रियाओं का संचालन करता है। केन्द्रक में गुणसूत्र (क्रोमोसोम chromosomes) होते हैं जिनमें डी.एन.ए. (डिसोक्सीरिबोन्यूक्लिक अम्ल desoxyribonucleic acid) नामक पदार्थ भी होता है। डी.ए न.ए. कोशिका विभाजन तथा नवीन कोशिका में आनुवंशिक गुणों को पहुँचाने का कार्य करता है। सभी प्रकार के कार्सिनोजन डी.एन.ए. पर अपना प्रभाव डालकर इस की विभाजन एवं संवर्धन क्षमता को अत्यधिक बढ़ा देते हैं। इससे शरीर की कोशिकाएँ द्रुत गति से असामान्य रूप से विभाजित होकर बढ़ने लगती हैं तथा केन्सर का रूप धारण कर लेती हैं।

केन्सर की व्यापकता—अमेरिका में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार प्रति वर्ष लगभग 5 लाख 30 हजार व्यक्ति केन्सर से पीड़ित होते हैं। जिनमें एक लाख 75 हजार व्यक्ति केन्सर से मर जाते हैं। ब्रिटेन में अन्य केन्सर की अपेक्षा अतिश्वेत कोशिका रक्तता (ल्युकीमिया leukaemia) अधिकतर होता है। भारत में भी केन्सर रोग से पीड़ित व्यक्ति अमेरिका अथवा इंगलैंड से कम नहीं होते हैं। ऐसा समझा जाता है कि बीमारियों द्वारा होने वाली मृत्युओं में केन्सर का स्थान दूसरा है। वैसे तो केन्सर किसी भी आयु में हो सकता है परन्तु 45 और 65 वर्ष की आयु में यह अधिक होता है।

केन्सर के लक्षण—केन्सर के अन्य रोगों के समान प्रारम्भिक लक्षण प्रकट नहीं होते हैं। इसका ज्ञान केवल कोशिका प्रकरण (cytology) तथा सूक्ष्मदर्शक के द्वारा हो सकता है। परन्तु इसका प्रबन्ध हर चिकित्सक के लिए सुलभ नहीं है तथा रोगी भी इतना ज्ञान नहीं रखते हैं कि प्रारम्भिक चिन्हों को पहचान कर चिकित्सक की सहायता प्राप्त करें। इस तरह केन्सर की स्थिति का प्रारम्भ में पता लगाना अत्यन्त कठिन होता है। जब केन्सर शरीर के किसी भाग में बड़ा होकर गाँठ का रूप धारण कर लेता है तब इसका पता लगाना सम्भव होता है परन्तु दुर्भाग्यवश उस समय तक केन्सर की विकृत कोशिकाएँ शरीर के अन्य आस पास के भागों में पहुँच कर नया केन्सर उत्पन्न कर देती हैं तभी पीड़ा का अनुभव होने लगता है। इस स्थिति में शरीर में दुर्बलता, भूख का कम हो जाना, शरीर भार घटने लगना,

हल्का सा ज्वर रहने लगना, रक्ताल्पता, किसी भी प्रकार की शरीर में गाँठ का शीघ्रता से बढ़ने लगना, उदर तथा मूत्राशय की कार्य प्रणाली में परिवर्तन होना, किसी घाव के उपचार के पश्चात् भी ठीक न होना तथा थूक में रक्त आना आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

केन्सर की चिकित्सा—केन्सर की चिकित्सा की दृष्टि से केन्सर की स्थितियों को चार श्रेणियों में बाँट सकते हैं।

(१) जब केन्सर प्रारम्भिक अवस्था में होता है तथा उत्पत्ति स्थान तक ही सीमित रहता है। इस स्थिति में किसी प्रकार की शारीरिक वेदना का अनुभव नहीं होता है।

(२) केन्सर की गाँठ अपना स्थायित्व ले लेती है। उसका इधर-उधर हिलना कठिन हो जाता है। अब आस-पास की लसिका पर्वों (lymph nodes) में केन्सर की कुछ कोशिकायें पहुँचनी प्रारम्भ कर देती हैं।

इन दोनों स्थितियों में केन्सर की शल्य चिकित्सा तथा आयनन विकिरण (ionizing radiatisn) द्वारा शत-प्रतिशत सफल चिकित्सा सम्भव है।

(३) केन्सर की गाँठ शरीर के आस-पास के भागों में पहुँचकर अधिक लसिका पर्वों में प्रवेश कर जाती है। अब अधिक वेदना का अनुभव होने लगता है और कभी-कभी रक्त स्राव भी हो जाता है। ऐसी अवस्था में केन्सर के प्रायः सभी लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

(४) केन्सर की गाँठ का फैलाव और अधिक बढ़ जाता है तथा केन्सर कोशिकाएँ रक्त वाहिनियों तथा लसिका वाहिनियों के माध्यम से शरीर के अन्य भागों में भी पहुँच जाती हैं और वहाँ इसी प्रकार केन्सर उत्पन्न कर देती हैं। इन्हें द्वितीय विक्षेपण या स्थलान्तरण (metastasis मेटास्टेसिस) अथवा द्वितीयक केन्सर (secondary cancer) कहते हैं। ये विशेषतः यकृत, फुफ्फुस, अस्थि, मेरुदण्ड आदि में होते हैं।

उपरोक्त तीसरी एवं चौथी स्थितियों में चिकित्सा असाध्य है। अतः केन्सर की सफल चिकित्सा के लिए प्रारम्भिक स्थिति में ही सही निदान की अत्यन्त आवश्यकता होती है जिससे इसकी सफलता पूर्वक चिकित्सा हो सके।

कुप्रसंगज रोग (रतिज रोग Venereal diseases)

रतिज रोगों में उन रोगों की गणना होती है जो संभोग क्रिया द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे में पहुँचते हैं। ऐसे रोग–(१) रतिज सिफलिस (venereal syphilis फिरंग रोग), (२) गोनोरिया (gonorrhoea औपसर्गिक उष्णवात, सूजाक), (३) शैंकराभ (chancroid or softsore मृदु शैंकर, उपदंश), (४) रतिज लसिका कणिका गुल्म (लिम्फोग्रेनुलोमा वेनिरियम lymphogranuloma venereum) तथा (५) वंक्षण लसिका कणिका गुल्म (लिम्फो ग्रेनुलोमा इन्ग्वीनेल lympho granuloma inguinale) हैं।

इनमें सिफलिस तथा गोनोरिया सबसे प्रमुख हैं। विस्तार में मलेरिया तथा क्षय के बाद इन्हीं की गणना की जाती है। (१) सिलफिस बड़े नगरों में, बन्दरगाहों तथा औद्योगिक क्षेत्रों में, कश्मीर से लेकर बिहार तक पहाड़ी भागों में अधिक होती है। (२) गोनोरिया का विस्तार यद्यपि सिलफिस से अधिक है परन्तु इससे ग्रसित व्यक्ति चिकित्सा के लिये सार्वजनिक चिकित्सालयों में कम पहुँचते हैं। (३) शैंकराभ ग्रसित व्यक्ति भी भारत में सब स्थानों पर मिल जाते हैं। यद्यपि पहिले दोनों रोगों से संख्या में कम है। (४) (५) इन दोनों प्रकार के लसिका कणिका गुल्म के रोगी दक्षिण भारत में, विशेष रूप से तमिलनाडू, आन्ध्र तथा उड़ीसा में, अधिक मिलते हैं।

रतिज रोगों में सामाजिक कारण मुख्य होते हैं जिनमें निर्धनता विशेष स्थान रखती है। यहाँ हम सिफलिस तथा गोनोरिया का वर्णन कर रहे हैं।

सिफलिस (फिरंग रोग Syphilis)

सिफलिस का कारण ट्रेपोनेमा पैलिडम (treponema pallidum) जीवाणु है। इस रोग से ग्रसित व्यक्ति संभोग द्वारा इन जीवाणुओं को अन्य व्यक्ति में पहुँचा देते हैं। इस प्रकार दूसरा व्यक्ति भी इस रोग का शिकार हो जाता है। सिफलिस से संक्रमित व्यक्ति प्रथम दो वर्ष तक ही इस रोग के वाहक होते हैं उसके पश्चात् वे दूसरे व्यक्ति को संक्रान्त नहीं कर सकते हैं, स्वयं ही रोगी रहते हैं। रोग ग्रसित गर्भवती माता की अपराध (placenta) को पार कर ये जीवाणु गर्भ शिशु को भी रोग ग्रसित कर देते हैं। जीवाणुओं में यह सामर्थ रोग के प्रारम्भ के दो तीन वर्षों तक ही होती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों नें सिफलिस के आक्रमण का प्रभाव कम तीव्र होता है। ऐसा स्त्रियों के जनन हार्मोनों के कारण होता है।

उद्भवन काल—9 से 90 दिन का होता है। सामान्यतः 28 दिन है। यदि उद्भवन काल में ऐसे रोगी का रक्त किसी अन्य स्वस्थ व्यक्ति को रक्ताधान (blood transfusion) द्वारा दे दिया जाता है तो रक्त द्वारा जीवाणु स्वस्थ व्यक्ति के रक्त में पहुँच उसे भी इस रोग से संक्रमित कर देते हैं।

रोग लक्षण—उद्भवन काल व्यतीत हो जाने पर जननेन्द्रिय पर एक छोटी पिटिका (papule) प्रकट होती है जो शीघ्र ही बढ़कर व्रण का रूप धारण कर लेती है। अंगूठे और अंगुली से दबाने पर यह कठोर प्रतीत होती है। इसलिए इसको कठोर शैंकर (hard chancre) कहते हैं। इसमें किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती है। इसके साथ ही पास वाली लसिका ग्रन्थियाँ (lymph glands) भी बढ़ जाती हैं। यदि अन्य कोई संक्रमण नहीं है तो वे भी पीड़ा रहित होती हैं। चिकित्सा के अभाव में व्रण कुछ सप्ताहों में स्वयं ही समाप्त हो जाता है परन्तु उस स्थान पर एक कठोर बटन के समान बना रहता है। व्रण कुछ सप्ताह के अन्तर से पुनः विस्तार के साथ प्रकट हो जाता है। शरीर के अन्य भागों, विशेष रूप से पीठ, वक्ष, उदर

पर लाल-लाल दानें हो जाते हैं जो बाद में व्रण बन जाते हैं। शैंकर के सीरम (sernm) में ट्रेपोनीमा पेलिडम मिलते हैं।

चिकित्सा–(१) रस माणिक्य (२) भैरव रस (३) आर्सेनिक योग (४) पारद योग (५) चोपचिन्यादि चूर्ण अथवा पाक (६) पेन्सिलीन आदि से उपचार करते हैं। आजकल पेन्सिलीन (penicillin) मुख्य औषध है।

गोनोरिया (Gonorrhoea सुजाक)

इस रोग का कारण नाइसीरिया गोनोरी (neisseria gonorrhoeae) है। इसे गोनोकोकस (gonococcus) भी कहते हैं। यह रोग संभोग द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे में पहुँचता है।

उद्भवन काल—सामान्यतः दो से दस दिन का है।

रोग लक्षण—यह रोग मूत्र मार्ग (urethra) तक सीमित रहता है। मूत्र मार्ग में पहिले कुछ कष्ट के साथ स्राव निकलता है फिर यह स्राव पूय युक्त हो जाता है। इसका वर्ण पीला या हरा पीला होता है। कभी-कभी रक्त की बूंदें भी निकलती हैं। यदि रोगी अन्य संक्रमणों से ग्रस्त हो जाता है तो ज्वर 39·4°–40°C (103°–104°F) तक हो जाता है। मूत्र मार्ग के स्राव में गोनोकोकस मिलते हैं।

चिकित्सा—(i) उष्णवातरिचूर्ण 15 ग्राम मात्रा (ii) पूयमेहान्तक रस 1–2 ग्राम (iii) पेनिसिलीन (penicillin) इस रोग की सर्वोत्तम औषध है (iv) सल्फोनेमाइड (sulphonamide) भी दी जा सकती है। (v) ट्रिमथोप्रिम (Trimethoprim) 400 मि० ग्राम तथा सल्फामथोक्साजोल 0·80 मि० ग्रा० की संयुक्त गोली ट्रीमोक्साजोल (Trimoxazole) भी लाभप्रद है। (vi) विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति के लिए एमपिसिलीन (ampicillin) 3·5 ग्राम तथा प्रोवेनेसिड (probenecid) एक ग्राम की संयुक्त केवल एक मात्रा लेने की सलाह दी है। यदि अन्य कोई उपद्रव (complication) नहीं है तो केवल एक मात्रा से ही रोग का नाश हो जाता है। हिन्दुस्तान एण्टीबॉयोटिक्स ने इस औषधि को **डायनोसिल पीआरबी** के व्यापारिक नाम से तैयार किया है।

———

१६

चिकित्सालय एवं स्वास्थ्य प्रशासन

चिकित्सालय

स्थान—चिकित्सालय नगर के ऐसे भाग में स्थित होना चाहिये जहाँ प्रत्येक ऋतु में व्यक्ति सरलता से पहुँच सकें तथा अशक्त रोगी व्यक्ति को भी ले जाया जा सके। वह स्थान नगर के शोरगुल से प्रभावित नहीं होना चाहिये। वर्षा ऋतु में उसके निकट जल संचय नहीं हो, इसके लिए जल निकास का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये तथा नगर के कारखानों के विषाक्त गैसों एवं हानिकारक पदार्थों से बचा रहना चाहिये।

भवन—चिकित्सालय भवन के प्रत्येक कक्ष में वायु संवातन एवं प्रकाश का उत्तम प्रबन्ध रहना चाहिये। भवन, भूमि की सतह, से कम से कम तीन फीट ऊँचा होना चाहिये। अन्तरंग (indoor) विभाग बहिरंग (out door) विभाग से पृथक् रहना चाहिये। अन्तरंग विभाग में रोगी शय्या कक्ष बहुत बड़े नहीं होने चाहिए जिससे बहुत अधिक शय्यायें एक ही कमरे में न रहें। प्रत्येक शय्या के चारों ओर पर्याप्त खाली स्थान रहना चाहिये।

विभाग—तीन विभाग प्रत्येक चिकित्सालय में अवश्य रहते हैं—(१) बहिरंग (out door) विभाग, (२) अन्तरंग (indoor) विभाग तथा (३) आपात (emergency) एवं दुर्घटना विभाग।

बहिरंग तथा अन्तरंग विभाग में निम्नलिखित चिकित्सा सेवायें प्रदान की जाती हैं। ये सेवायें पृथक्-पृथक् चिकित्सा विशेषज्ञों के अधीन रहती हैं।

१. काय चिकित्सा (medicine) **विभाग**—इस विभाग में विशेषज्ञों चिकित्सकों द्वारा निम्न प्रकार की चिकित्सा सेवायें प्रदान की जाती हैं। (i) सामान्य काय चिकित्सा, (ii) त्वक् रोग चिकित्सा, (iii) रतिज रोग चिकित्सा, (vi) हृद् एवं रुधिर रोग चिकित्सा, (v) चयापचय जन्य रोग चिकित्सा, (vi) तन्त्रिका रोग चिकित्सा तथा (vii) मनोविज्ञान सम्बन्धी परामर्श एवं चिकित्सा आदि।

२. शल्य चिकित्सा (surgery) **विभाग**—इस विभाग में (i) सामान्य शल्य चिकित्सा, (ii) तन्त्रिका शल्य (neuro surgery) चिकित्सा, (iii) प्लास्टिक शल्य चिकित्सा, (iv) शिशु शल्य चिकित्सा, (v) हृद् वृक्ष (cardio thorasic) शल्य चिकित्सा, (vi) विष चिकित्सा तथा (vii) विकलांग चिकित्सा आदि उप विभाग चिकित्सा शल्यकों के आधीन होते हैं।

३. **शालाक्य विभाग**—इसके अन्तर्गत निम्न विभाग होते हैं। (i) नेत्र रोग, काय चिकित्सा, (ii) नेत्र शल्य चिकित्सा, (iii) कर्ण, नासा, मुख रोग काय चिकित्सा, (iv) कर्ण, नासा, मुख रोग शल्य चिकित्सा।

४. **स्त्री रोग प्रसूति एवं बाल चिकित्सा विभाग**—इसके अन्तर्गत निम्न विभाग होते हैं। (i) स्त्री रोग चिकित्सा, (ii) प्रसूति चिकित्सा, (iii) बाल चिकित्सा।

५. **एक्स किरण** (x' ray) **विभाग**—इस विभाग में एक्स किरण फोटोग्राफी लेने तथा निष्कर्ष निकालने का प्रबन्ध रहता है।

६. **विकृति विज्ञान विभाग**—इसमें रक्त, मूत्र, पुरीष, वीर्य, थूक आदि के परीक्षण तथा जीवाणु परीक्षण का प्रबन्ध रहता है।

७. **आपात सेवा विभाग**—यह विभाग चौबीसों घण्टे खुला रहता है। गम्भीर स्थिति के रोगियों को तुरन्त भर्ती कर उपचार का प्रबन्ध होता है। इससे सम्बन्धित चिकित्सक अपने कार्य में दक्ष होते हैं। यदि रोगी भर्ती करने योग्य नहीं है तो उसको उचित उपचार एवं परामर्श दिया जाता है।

८. **रक्त बैंक** (blood bank)—शल्य कर्म के समय एवं गम्भीर रोगियों को, दुर्घटना की अवस्था में तथा आपात स्थिति में, रोगी की प्राण रक्षा के लिए, तुरन्त रक्त देने की आवश्यकता उत्पन्न होती है। रक्त-बैंक होने से रोगी के स्वयं के वर्ग का रक्त प्रदान कर उसके प्राण बचाये जा सकते हैं।

अन्तरंग विभाग में (i) काय चिकित्सा के रोगी (ii) शल्य चिकित्सा के रोगी (iii) बाल चिकित्सा के रोगी (iv) नेत्र चिकित्सा के रोगी तथा (v) प्रसूति विभाग के रोगियों को पृथक्-पृथक् कक्षों में रक्षा जाता है। उनकी सेवा सुश्रुषा के लिए नर्स आदि की सेवायें उपलब्ध रहती हैं।

बहिरंग विभाग में चिकित्सार्थ पंजीकरण हेतु अनेक स्थानों पर साधारण शुल्क लेकर तथा अधिकांश स्थानों पर निःशुल्क पर्ची दी जाती है। रोगी अपने रोग के अनुसार विभाग में जाकर चिकित्सक से निदान कराता है और फिर उनके आदेशानुसार औषधि लेता है। अन्तरंग विभाग में रोगी कक्षों में रोगियों को चिकित्सा के अतिरिक्त विश्राम एवं सेवा की आवश्यकता होती है। रोगियों को असुविधा न हो इसलिए उनसे मिलने वालों को एक विशेष समय निर्धारित कर दिया जाता है।

९. **एम्बुलेन्स सेवा**—लगभग प्रत्येक चिकित्सालय में आजकल रोगियों को उनके स्थान से लाने तथा ले जाने के लिए साधारण शुल्क देकर एम्बुलेंस की सुविधा प्राप्त है। निर्धन रोगियों को यह सेवा निःशुल्क उपलब्ध कराई जाती है। चिकित्सा का उद्देश्य मनुष्य के प्राण बचाना है। इसमें चिकित्सालय का प्रत्येक चिकित्सक एवं कर्मचारी अपना पूरा योगदान करता है।

स्वास्थ्य प्रशासन

आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली अनादि काल से परिष्कृत होती हुई चली आ रही है। ईसा पूर्व 3000-4000 वर्ष से तो यह लिपिबद्ध रूप से प्राप्त है। ईसा-पूर्व 600 वर्ष से ईसा पश्चात् 600 वर्षों का इतिहास बताता है कि उत्तर में तक्षशिला तथा पूर्व में नालन्दा विश्वविद्यालयों में पूर्ण विकसित चिकित्सा संकायें थीं। अशोक के समय में न केवल मनुष्यों के लिए राज्य चिकित्सालय थे वरन् पशु-पक्षियों के लिये भी थे। स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए समुचित उपाय बरते जाते थे। इन सबके पीछे निश्चय रूप से प्रशासनिक नियम थे जिनके द्वारा इन सब का संचालन होता था। वर्तमान में इन सेवाओं का किस प्रकार जन सामान्य को लाभ प्राप्त होता है इसका वर्णन किया जा रहा है।

केन्द्रीय स्वास्थ्य संगठन—भारत की केन्द्रीय सरकार में पृथक् से एक स्वास्थ्य मन्त्रालय है। सन् 1966 से इस मन्त्रालय के आधीन परिवार कल्याण कार्य भी सम्मिलित कर दिया गया है। यह मन्त्रालय एक केबिनेट स्तर के स्वास्थ्य मन्त्री के आधीन रहता है। उनकी सहायता के लिए एक अथवा अधिक राज्य मन्त्री तथा विभागीय सचिव आदि होते हैं। इस मन्त्रालय के आधीन कार्यों को दो वर्गों में रखते हैं। (i) वे कार्य जो केवल केन्द्रिय स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा ही नियन्त्रित एवं संचालित होते हैं। तथा (ii) वे कार्य जो केन्द्रीय शासन के साथ ही साथ प्रदेशीय शासनों के कार्य क्षेत्र में भी आते हैं।

केवल केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा संचालित कार्य

(i) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य के नियमों में तालमेल बनाये रखना।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों तथा समुद्री बन्दरगाहों पर विदेशों से वाले व्यक्तियों के स्वास्थ्य पर दृष्टि रखना तथा आवश्यकता पड़ने पर संगरोध (quarantine) करना।

(iii) केन्द्रीय स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षण संस्थाओं का प्रबन्ध करना।

(iv) चिकित्सा, औषधि निर्माण, दन्त चिकित्सा तथा परिचर्या आदि के सम्बन्ध में नियम बनाना तथा उनकी उन्नति हेतु योजनायें बना उन्हें कार्यान्वित करना एवं कराना।

(v) औषधियों के मानकीकरण (standardisation) का प्रबन्ध करना।

(vi) जनगणना के आँकड़े एकत्रित कर उन्हें प्रकाशित करना।

(vii) आप्रवास (immigration) तथा स्वदेश त्याग (emigration) वाले व्यक्तियों के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम बनाना।

(viii) खदानों (mines), औद्योगिक संस्थानों, तैल (petrol) के क्षेत्रों आदि काम करने वाले कर्मचारियों के स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव रोकने के लिए नियम बनाना।

(ix) प्रदेशों के स्वास्थ्य मन्त्रालयों से तालमेल कायम रखना।

३. **शालाक्य विभाग**—इसके अन्तर्गत निम्न विभाग होते हैं। (i) नेत्र रोग, काय चिकित्सा, (ii) नेत्र शल्य चिकित्सा, (iii) कर्ण, नासा, मुख रोग काय चिकित्सा, (iv) कर्ण, नासा, मुख रोग शल्य चिकित्सा।

४. **स्त्री रोग प्रसूति एवं बाल चिकित्सा विभाग**—इसके अन्तर्गत निम्न विभाग होते हैं। (i) स्त्री रोग चिकित्सा, (ii) प्रसूति चिकित्सा, (iii) बाल चिकित्सा।

५. **एक्स किरण (x' ray) विभाग**—इस विभाग में एक्स किरण फोटोग्राफी लेने तथा निष्कर्ष निकालने का प्रबन्ध रहता है।

६. **विकृति विज्ञान विभाग**—इसमें रक्त, मूत्र, पुरीष, वीर्य, थूक आदि के परीक्षण तथा जीवाणु परीक्षण का प्रवन्ध रहता है।

७. **आपात सेवा विभाग**—यह विभाग चौवीसों घण्टे खुला रहता है। गम्भीर स्थिति के रोगियों को तुरन्त भर्ती कर उपचार का प्रबन्ध होता है। इससे सम्बन्धित चिकित्सक अपने कार्य में दक्ष होते हैं। यदि रोगी भर्ती करने योग्य नहीं है तो उसको उचित उपचार एवं परामर्श दिया जाता है।

८. **रक्त बैंक (blood bank)**—शल्य कर्म के समय एवं गम्भीर रोगियों को, दुर्घटना की अवस्था में तथा आपात स्थिति में, रोगी की प्राण रक्षा के लिए, तुरन्त रक्त देने की आवश्यकता उत्पन्न होती है। रक्त-बैंक होने से रोगी के स्वयं के वर्ग का रक्त प्रदान कर उसके प्राण बचाये जा सकते हैं।

अन्तरंग विभाग में (i) काय चिकित्सा के रोगी (ii) शल्य चिकित्सा के रोगी (iii) बाल चिकित्सा के रोगी (iv) नेत्र चिकित्सा के रोगी तथा (v) प्रसूति विभाग के रोगियों को पृथक्-पृथक् कक्षों में रक्षा जाता है। उनकी सेवा सुश्रुषा के लिए नर्स आदि की सेवायें उपलब्ध रहती हैं।

बहिरंग विभाग में चिकित्सार्थ पंजीकरण हेतु अनेक स्थानों पर साधारण शुल्क लेकर तथा अधिकांश स्थानों पर निःशुल्क पर्ची दी जाती है। रोगी अपने रोग के अनुसार विभाग में जाकर चिकित्सक से निदान कराता है और फिर उनके आदेशानुसार औषधि लेना है। अन्तरंग विभाग में रोगी कक्षों में रोगियों को चिकित्सा के अतिरिक्त विश्राम एवं सेवा की आवश्यकता होती है। रोगियों को असुविधा न हो इसलिए उनसे मिलने वालों को एक विशेष समय निर्धारित कर दिया जाता है।

९. **एम्बुलेन्स सेवा**—लगभग प्रत्येक चिकित्सालय में आजकल रोगियों को उनके स्थान से लाने तथा ले जाने के लिए साधारण शुल्क देकर एम्बुलेंस की सुविधा प्राप्त है। निर्धन रोगियों को यह सेवा निःशुल्क उपलब्ध कराई जाती है। चिकित्सा का उद्देश्य मनुष्य के प्राण बचाना है। इसमें चिकित्सालय का प्रत्येक चिकित्सक एवं कर्मचारी अपना पूरा योगदान करता है।

स्वास्थ्य प्रशासन

आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली अनादि काल से परिष्कृत होती हुई चली आ रही है। ईसा पूर्व 3000-4000 वर्ष से तो यह लिपिवद्ध रूप से प्राप्त है। ईसा-पूर्व 600 वर्ष से ईसा पश्चात् 600 वर्षों का इतिहास बताता है कि उत्तर में तक्ष-शिला तथा पूर्व में नालन्दा विश्वविद्यालयों में पूर्ण विकसित चिकित्सा संकायें थीं। अशोक के समय में न केवल मनुष्यों के लिए राज्य चिकित्सालय थे वरन् पशु-पक्षियों के लिये भी थे। स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए समुचित उपाय बरते जाते थे। इन सबके पीछे निश्चय रूप से प्रशासनिक नियम थे जिनके द्वारा इन सब का संचालन होता था। वर्तमान में इन सेवाओं का किस प्रकार जन सामान्य को लाभ प्राप्त होता है इसका वर्णन किया जा रहा है।

केन्द्रीय स्वास्थ्य संगठन—भारत की केन्द्रीय सरकार में पृथक् से एक स्वा-स्थ्य मन्त्रालय है। सन् 1966 से इस मन्त्रालय के आधीन परिवार कल्याण कार्य भी सम्मिलित कर दिया गया है। यह मन्त्रालय एक केविनेट स्तर के स्वास्थ्य मन्त्री के आधीन रहता है। उनकी सहायता के लिए एक अथवा अधिक राज्य मन्त्री तथा विभागीय सचिव आदि होते हैं। इस मन्त्रालय के आधीन कार्यों को दो वर्गों में रखते हैं। (i) वे कार्य जो केवल केन्द्रिय स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा ही नियन्त्रित एवं संचालित होते हैं। तथा (ii) वे कार्य जो केन्द्रीय शासन के साथ ही साथ प्रदेशीय शासनों के कार्य क्षेत्र में भी आते हैं।

केवल केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा संचालित कार्य

(i) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य के नियमों में तालमेल बनाये रखना।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों तथा समुद्री बन्दरगाहों पर विदेशों से वाले व्यक्तियों के स्वास्थ्य पर दृष्टि रखना तथा आवश्यकता पड़ने पर सगरोध (quarantine) करना।

(iii) केन्द्रीय स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षण संस्थाओं का प्रबन्ध करना।

(iv) चिकित्सा, औषधि निर्माण, दन्त चिकित्सा तथा परिचर्या आदि के सम्बन्ध में नियम बनाना तथा उनकी उन्नति हेतु योजनायें बना उन्हें कार्यान्वित करना एवं कराना।

(v) औषधियों के मानकीकरण (standardisation) का प्रबन्ध करना।

(vi) जनगणना के आँकड़े एकत्रित कर उन्हें प्रकाशित करना।

(vii) आप्रवास (immigration) तथा स्वदेश त्याग (emigration) वाले व्यक्तियों के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम बनाना।

(viii) खदानों (mines), औद्योगिक संस्थानों, तैल (petrol) के क्षेत्रों आदि काम करने वाले कमचारियों के स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव रोकने के लिए नियम बनाना।

(ix) प्रदेशों के स्वास्थ्य मन्त्रालयों से तालमेल कायम रखना।

केन्द्रीय एवं प्रदेशीय स्वास्थ्य मन्त्रालयों द्वारा संचालित कार्य

(१) संचारी (communicable) रोगों की रोकथाम करना, उनको फैलने से रोकना। (२) खाद्य पदार्थों की मिलावट को रोकना। (३) औषधि तथा विषों के निर्माण एवं बिक्री पर नियन्त्रण रखना। (४) स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यक आँकड़ों का संग्रह करना। (५) औद्योगिक संस्थानों के कर्मचारियों के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रबन्ध पर दृष्टि रखना। (६) स्वास्थ्य विषयक सामाजिक एवं आर्थिक योजनायें बनाना।

केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय को स्वास्थ्य सम्बन्धी परामर्श देने के लिए एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं को कार्यरूप देने के लिए केन्द्रिय स्वास्थ्म संगठन है। इस संगठन का संचालक डायरेक्टर जनरल होता है। इसके आधीन अतिरिक्त निदेशक (एडीशनल डायरेक्टर), डिपुटी डायरेक्टर आदि होते हैं।

स्वास्थ्य निदेशक के मुख्य कार्य—

(१) स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी, योजना आदि का अन्य राष्ट्रों से आदान प्रदान करना तथा आपस में एक दूसरे की सहायता करना।

(२) बन्दरगाहों तथा अन्तर्राष्ट्रीय हवाई जहाज के अड्डों यथा बम्बई के सान्ताक्रूज, कलकत्ते के दमदम, दिल्ली के पालम, मद्रास के मीनाम्बकम् हवाई अड्डों पर आने जाने वाले यात्रियों के स्वास्थ्य पर निगरानी रखना। संचारी रोग ग्रस्त क्षेत्रों से आने वाले यात्रियों का संगरोध (quarantine) करना।

(३) देश के लिए आवश्यक औषधियों का संग्रह रखना।

(४) चिकित्सा के विभिन्न विषयों पर स्नातकोत्तर चिकित्सा शिक्षा पर नियन्त्रण रखना।

(५) चिकित्सा विज्ञान में अनुसन्धानों (researches) की योजनायें बना उन्हें कार्यान्वित करना।

(६) केन्द्रीय आयुर्विज्ञान संस्थाओं का प्रबन्ध करना।

(७) राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजनाओं को सफल बनाने का प्रयत्न करना।

(८) स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों में जन जागृति करके जनता की रुचि प्राप्त करना।

(९) स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रत्येक प्रकार के आँकड़े (statistics) एकत्रित करना, तथा उन पर विचार कर जन स्वास्थ्य उन्नति का प्रयत्न करना।

(१०) राष्ट्रीय चिकित्सा पुस्तकालय का संचालन करना।

अधिकांश स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्यायें केन्द्र एवं प्रदेश दोनों के परस्पर सहयोग से पूर्ण हो सकती हैं। अतः इस तालमेल को बनाये रखने के लिये और कार्य में उन्नति के लिए एक **केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद्** (Central council of health) गठित है। केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री इस परिषद् के अध्यक्ष होते हैं तथा प्रत्येक प्रदेश के स्वास्थ्य मन्त्री इसके सदस्य होते हैं। इस परिषद् के मुख्य कार्य हैं—

(१) देश वासियों के स्वास्थ्य की उन्नति के लिए, तथा रोगों की रोकथाम के लिए नीति-निर्धारित करना।

(२) विधान सभाओं की स्वीकृति के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनायें प्रस्तावित करना।

(३) केन्द्र से प्रदेशों की स्वास्थ्य योजनाओं के लिये आर्थिक सहायता की सिफारिश करना।

(४) केन्द्र और प्रदेशों में सहयोग रखना जिससे स्वास्थ्य योजनाएँ सुचारू रूप से क्रियान्वित हो सकें।

(५) स्वास्थ्य सम्बन्धी संगठनों का गठन करना।

प्रदेशीय स्वास्थ्य संगठन

केन्द्र के समान प्रत्येक प्रदेश में स्वास्थ्य मन्त्रालय एक वशिष्ठ मन्त्री के आधीन कार्य करता है और उसकी सहायता के लिए आवश्यकतानुसार कनिष्ठ मन्त्री आदि होते हैं। एक वरिष्ठ अधिकारी मन्त्रालय का सचिव होता है।

प्रदेश की स्वास्थ्य की समस्याओं के सम्बन्ध में मन्त्रालय को परामर्श देने के लिए, स्वास्थ्य विषयक योजनाओं एवं नियमों को क्रियान्वित करने के लिये एवं स्वास्थ्य सेवाओं के प्रवन्ध के लिए निदेशक के अधीन एक निदेशालय होता है। अनेक प्रदेशों में एलौपैथी, आयुर्वेद आदि विभिन्न प्रणालियों के लिए पृथक निदेशालय कार्य कर रहे हैं। एक दो प्रदेशों में विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के लिए पृथक मन्त्रालय कार्य कर रहे हैं। निदेशक की सहायता के लिए सहनिदेशक, उपनिदेशक आदि आवश्यकतानुसार होते हैं।

जिला (जनपद) स्तर पर चिकित्सा सम्बन्धी कार्यों के प्रशासन के लिए एक चिकित्साधिकारी होता है तथा जिले की स्वास्थ्य सेवाओं के लिए एक स्वास्थ्याधिकारी होता है। अनेक प्रदेशों में ये दोनों अधिकारी एक मुख्य चिकित्साधिकारी के आधीन कार्य करते हैं।

जिले के विकास कार्यों के लिए एवं स्वास्थ्य सेवाओं के लिए जिला अनेक ब्लाकों में बँटा होता है। लगभग 80,000 की जनसंख्या पर उसके गाँवों के समूह का एक पृथक् से संगठन होता है। इसे ब्लॉक या क्षेत्र कहते हैं। प्रत्येक ब्लॉक में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य के कार्यों के लिए चिकित्साधिकारी गण, स्वास्थ्य अधिकारी, स्त्री चिकित्साधिकारी, सफाई (sanitary) इन्सपेक्टर एवं प्रशिक्षित दाइयाँ (midwives) होती हैं। सामाजिक स्वास्थ्य के बारे में जन जागृति उत्पन्न करने के लिये, उन्हें स्वास्थ्य के नियमों के पालन में प्रोत्साहित करने के लिए तथा आवश्यकतानुसार तुरन्त ही सहायता प्रदान करने के लिए अनेक स्वास्थ्य चर (health visitors) होते हैं। इन सबके साथ परिवार कल्याण के कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक स्थानों पर पृथक् से ब्लॉक स्तर पर कार्य कर्त्ता होते हैं।

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की ओर से निम्नलिखित कार्य समस्त देश में चल रहे हैं।

(१) राष्ट्रीय संचारी रोग संस्थान (National Institute of Communicable Diseases)—संचारी रोगों के उन्मूलन के लिए चल रहे विभिन्न कार्यक्रमों में समन्वय आदि के लिए सन् 1973 में दिल्ली में राष्ट्रीय संचारी रोग संस्थान की स्थापना की गई। इस संस्थान के मुख्य कार्य हैं।

(i) संचारी रोगों के विषय में पूरी जानकारी रखने तथा सरकार को परामर्श देना। संचारी रोगों के नियन्त्रण, उन्मूलन के लिए चलाये जा रहे कार्यक्रमों का मूल्यांकन कर सहायता देना।

(ii) संचारी रोगों का अनुसन्धान करने के लिए अन्वेषण परियोजनाएँ प्रारम्भ करना।

(iii) भारत के संचारी रोगों की व्याप्ति के आधारभूत सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने के लिए रोग व्याप्ति स्तर के मानचित्र बनाना और महामारी विज्ञान का अध्ययन करना।

(iv) देश में बनाये जाने वाले विभिन्न जैविक (bio) पदार्थों का यथा रोमान्तिक वेक्सीन, पोलियो वेक्सीन, बीसीजी वेक्सीन आदि के गुणों पर नियन्त्रण रखना।

(v) रोग वाहक सीटों के नियन्त्रण के लिए विभिन्न उपकरणों तथा कीटनाशक औषधियों की प्रभावोत्पादकता का प्रयोगशालाओं तथा वाह्य क्षेत्र में परीक्षण करना।

(vi) विचारगोष्ठियों, कर्मशालाओं एवं परीक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करना।

राष्ट्रीय संचारी रोग संस्थान के तत्वाधान में संचारी रोग उन्मूलन के लिये राष्ट्रीय स्तर पर निम्न वर्णित कार्यक्रम चल रहे हैं। इन सबका उद्देश्य व्यक्ति के स्वास्थ्य में उन्नति करना है।

१. राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम (National Malaria Eradication)—मलेरिया उन्मूलन हेतु मच्छर नष्ट करने का यह कार्यक्रम सन् 1953 से चल रहा है।

२. राष्ट्रीय फाइलेरिया नियन्त्रण कार्यक्रम (National Filaria Control Programme)—भारत में कुछ क्षेत्रों में फाइलेरिया रोग का अति आक्रमण होता है। ये क्षेत्र हैं केरल, आन्ध्र, तमिलनाडू (मद्रास), उड़ीसा, आसाम, त्रिपुरा तथा बिहार, उत्तर प्रदेश एवं मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्र। भारत में लगभग 15 करोड़ व्यक्ति फाइलेरिया आक्रांत क्षेत्रों में रहते हैं। इस रोग को राष्ट्रीय स्तर पर नष्ट करने के लिए सन् 1955 से यह कार्यक्रम चल रहा है।

३. राष्ट्रीय क्षय नियन्त्रण कार्यक्रम (N. Tuberculosis Programme)—

क्षय रोग से छुटकारा पाने के लिए बी०सी०जी० के टीके का अभियान इस कार्य-क्रम के अन्तर्गत चलाया जा रहा है। प्रत्येक जिले के मुख्य चिकित्सालय में क्षय रोगियों के लिये पृथक् शय्यायें रखी जाती हैं। इस रोग का विस्तार इसी से लग सकता है कि लगभग आधी जनसंख्या इस रोग से ग्रसित है। इसका कारण आर्थिक अधिक है। रोगियों में लगभग 80 प्रतिशत निजी चिकित्सकों से ही चिकित्सा करा लेते हैं। जब रोग बढ़ जाता है उस समय ही वे राजकीय चिकित्सालयों में जाते हैं। इस रोग से मुक्ति के लिए पर्याप्त औषधियाँ खोज ली गई हैं। अतः अब क्षय रोग प्राणघातक कम रह गया है। असाध्यता उस समय आती है जबकि प्रारम्भ में चिकित्सा की अवहेलना की जाती है। सन् 1951 से क्षय निवारक प्रोग्राम भारत में राष्ट्रीय स्तर पर चल रहा है।

४. राष्ट्रीय कुष्ठ नियन्त्रण कार्यक्रम (N. Leprosy Control Pro.)—संसार भर के कुष्ठ रोगियों में 25 प्रतिशत भारत में रहते हैं। यह अच्छा है कि असंक्रामक कुष्ठ रोग ग्रसित व्यक्ति सक्रामक (infectious) कुष्ठ रोग ग्रसित व्यक्तियों से अधिक हैं। यह रोग लगभग समस्त भारत में फैला हुआ है। सन् 1955 से इसको नियन्त्रित करने का कार्यक्रम चल रहा है।

५. राष्ट्रीय रतिज रोग नियन्त्रण (National Veneral Diseases Control Prog.)—रजित रोगों को नियन्त्रित करने का कार्यक्रम भी सन् 1955 से चल रहा है।

६. राष्ट्रीय हैजा (विसूचिका) नियन्त्रण कार्यक्रम (N. Cholera Control **Prog.**)—संसार में हैजा रोग का भारत, एक बड़ा क्षेत्र माना जाता रहा है। अब इस रोग पर हैजा निरोधक टीके द्वारा काफी काबू पा लिया गया है। रोगग्रस्त होने पर चिकित्सा की समुचित चिकित्सा व्यवस्था भी इस कार्यक्रम का एक लक्ष्य है।

७. राष्ट्रीय ट्रेकोमा (रोहे) नियन्त्रण कार्यक्रम (N. Trachoma Control **Prog.**)—भारत में रोहों से अन्धे होने वाले बालकों की संख्या काफी अधिक है। अतः इस रोग के निवारण के लिये राष्ट्रीय स्तर पर सन् 1956 से कार्यक्रम चल रहा है।

८. राष्ट्रीय गोयटर (घेंघा) नियन्त्रण कार्यक्रम (N. Goitre Control **Prog.**)—कश्मीर से लेकर आसाम तक हिमालय की तराई में पीने के जल में आयोडीन की कमी है, जिस कारण वहाँ के निवासियों को घेंघा रोग हो जाता है, विशेष रूप से, बिहार के तराई वाले क्षेत्र में। इसके लिए शासन देश में आयोडीन युक्त नमक का वितरण करता है। घेंघा रोगग्रस्त व्यक्तियों को चिकित्सा सुविधायें प्रदान करना भी इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आता है।

९. राष्ट्रीय पेय जल एवं सुरक्षा अभियान—देश के ग्रामीण क्षेत्र का अधिकांश

भाग अब भी ऐसा है, जहाँ पीने के पानी की कठिन समस्या है। अनेक स्थानों पर स्थानीय निवासियों को पीने तथा भोजन आदि के लिए जल 5-6 किलोमीटर दूर से लाना पड़ता है। पीने के जल को सुलभ बनाने के लिए सन् 1954 से केन्द्रीय स्वास्थ्य सेवा निदेशक के अधीन केन्द्रीय जन स्वास्थ्य इन्जीनियरिंग संगठन कार्य कर रहा है। इसका कार्य सफाई (sanitation) इन्जीनियरिंग एवं पेयजल उपलब्धि के लिए योजना तैयार कर क्रियान्वित करना तथा प्रदेश की सरकारों को आवश्यक सहायता एवं उचित परामर्श देना है।

१०. परिवार कल्याण कार्यक्रम—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की जनसंख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई है। यह देश के लिए चिन्ता का विषय नहीं होता यदि अर्थव्यवस्था भी उसी अनुपात से बढ़ती, परन्तु ऐसा नहीं है। अतः जनसंख्या वृद्धि देश का दरिद्रता वृद्धि का कारण है। यदि जनसंख्या वृद्धि नहीं रोकी जाती है तो देशवासियों का हर क्षेत्र में जीवनयापन स्तर गिर जायेगा। अतः परिवार कल्याण कार्यक्रम शासन द्वारा चलाया जा रहा है।

११. राष्ट्रीय पोषण संस्थान (National Nutrition Institute)—यह संस्थान सन् 1928 से कार्य कर रहा है। इसके मुख्य कार्य हैं—(१) प्रत्येक खाद्य पदार्थ के पोषण मूल्यों को ज्ञात करना और उनका विश्लेषण करना तथा (२) कुपोषण के कारण खोजना और उसे दूर करने की चेष्टा करना। इसकें अन्तर्गत इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक कार्यक्रम चल रहे हैं।

पोषक आहार कार्यक्रम (Applied Nutrition Programme)—

यूनीसेफ (UNICEF), एफएओ (FAO) तथा डब्ल्यू एच ओ (WHO) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के सहयोग से पौष्टिक आहार की दिशा में शासन अनुसंधान के कार्य कर रहा है। पाठशालाओं, औद्योगिक संस्थाओं में पौष्टिक आहार वितरण की व्यवस्था अनेक स्थानों पर की जाती है। पौष्टिक आहार के सम्बन्ध में जनसामान्य को जानकारी उपलब्ध कराई जाती है जिससे वह अपने आहार को अधिक पौष्टिक एवं उपयोगी बना सके।

भारतीय स्वयं सेवी संस्थायें

१. भारतीय रैडक्रॉस सोसायटी (Indian Red Cross Society) :

सन् 1920 में भारतीय-रैडक्रॉस सोसाइटी की एक कानून के द्वारा स्थापना हुई। इसके तीन उद्देश्य हैं (१) जनस्वास्थ्य में सुधार का प्रयत्न करना, (२) रोगों की रोकथाम का प्रयत्न करना तथा (३) व्यक्तियों के कष्टों के निवारण का प्रयत्न करना।

रैडक्रॉस शान्तिकाल में सैनिक चिकित्सालयों को समाचार पत्र, पत्रिकायें, वाद्य यन्त्र तथा अन्य अनेक मनोरंजन के सामान प्रदान करती है। अपंग पूर्व सैनिकों को दूध, औषधि, कृत्रिम अंग आदि भी प्रदान करती है। बंगलौर में 'रैडक्रास होम' के नाम से सुसज्जित चिकित्सालय का संचालन रैडक्रॉस द्वारा होता है।

'जूनियर रेडक्रास' के नाम से यह स्कूल, कालेजों के छात्रों को प्राथमिक सहायता (First Aid) तथा जनपादिक (epidemic) रोगों के समय बचाव कार्यों की शिक्षा प्रदान करती है। यह शाखा छात्र और छात्राओं की अन्तर्राष्ट्रीय विरादरी में भ्रातृत्व की भावना के प्रोत्साहन में सहायक होती है।

संक्षेप में रेडक्रास के सामान्य कार्य हैं—

(१) **सहायतार्थ कार्य (Relief work)**—जहाँ कहीं भी प्राकृतिक प्रकोप होना है यथा बाढ़, भूकम्प, सूखा, जनपादिक रोग आदि रेडक्रास सोसाइटी अपनी सम्पूर्ण शक्ति पीड़ित व्यक्तियों की सहायता में लगा देती है।

(२) **दूध तथा औषध आदि का वितरण**—देश के अनेक चिकित्सालयों में निर्धन परिवार के रोगी व्यक्तियों को दूध एवं चिकित्सा में सहायता प्रदान करती है। मातृ एवं शिशु केन्द्रों पर माताओं एवं शिशुओं को, अनाथालय में अनाथ शिशुओं को तथा पिछड़ी जाति की बस्तियों में स्कूल के छात्रों को दूध, विटेमिन तथा आवश्यक औषधियाँ वितरित करती है।

(३) **सैनिकों में**—घायल एवं बीमार सैनिकों की सेवा सुश्रूषा, उनके परिवार वालों की सहायता कार्य, इसके कार्यकर्त्ता अत्यन्त लगन के साथ करते हैं।

(४) **रक्त बैंक एवं प्राथमिक सहायता**—इसकी अनेक प्रदेश शाखाओं में 'रक्त बैंक' (Blood Bank) स्थापित हैं जहाँ से आवश्यकता पड़ने पर रोगियों को निःशुल्क रक्त प्रदान किया जाता है। सेन्टजान्स एम्बूलेन्स एसोशियेशन (St. John Ambulance Association), जो रेडक्रास सोसाइटी की एक शाखा है, ने देश में करोड़ों व्यक्तियों को प्राथमिक चिकित्सा का प्रशिक्षण देकर घर-घर जाकर रोगी की सेवा शुश्रूषा आदि के कार्यों द्वारा जन सेवा करने को प्रोत्साहित किया है तथा आवश्यकता पड़ने पर देश की सेवा के लिए उनको तैयार करती है।

२. हिन्दु कुष्ठ निवारण संघ

इस संघ की दिल्ली में सन् 1950 में स्थापना हुई थी। इसका मुख्य कार्य देश के कुष्ठ रोगियों के घरों को आर्थिक सहायता करना, कुष्ठ रोगियों को चिकित्सा सुविधा प्रदान करना, समाज को कुष्ठ राग एवं उसकी चिकित्सा आदि में शिक्षित करना, तथा कुष्ठ रोगियों को सरकार से सुविधायें दिलाना आदि हैं।

३. भारतीय बाल कल्याण परिषद (Indian council for child welfare)

सन् 1952 में इस संगठन ने कार्य प्रारम्भ किया। यह अन्तर्राष्ट्रीय बाल कल्याण संघ से सम्बद्ध है। देश में बालकों के शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के लिए यह कार्य करता है, जिससे राष्ट्र के भावी कर्णधार स्वस्थ शरीर एवं मन से अपने तथा देश के भविष्य को उन्नत बनाने के पथ पर अग्रसित होते रहें।

४. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड (Central Social Welfare Board)

यह अर्द्ध शासकीय संस्था सन् 1953 में स्थापित की गई थी। यह संस्था

देश में समाज कल्याण बोर्डों की स्थापना को प्रोत्साहन देती है। कुशलतापूर्वक कार्य करने वाली संस्थाओं को अनुदान देती है। अपनी एक शाखा, "परिवार एवं बाल कल्याण सेवा' (Family & Child Welfare Services) के द्वारा बालकों को अनेक प्रकार के व्यवसायों मे प्रशिक्षण की सुविधा प्रदान करती है। परिवार की स्त्रियों को औद्योगिक क्षेत्रों में उनके योग्य कार्य दिलाती है। बालवाड़ियों के द्वारा खेलों में रुचि को प्रोत्साहित करती है।

५. कस्तूरबा स्मृति कोष

सन् 1944 में कस्तूरबा गाँधी जी की मृत्यु के पश्चात् यह कोष स्थापित किया गया था। इसका मुख्य कार्य गाँवों में ग्राम सेविकाओं द्वारा स्त्रियों की दशा में सुधार करना है। यह उन्हें स्वस्थ जीवन बिताने का मार्ग दर्शन भी कराती है।

राष्ट्रसंघ (United Nations) से सम्बद्ध संस्थायें

१. विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO—World Health Organisation)

यह राष्ट्र संघ का स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रमुख संगठन है। प्रत्येक देश इसका सदस्य बन सकता है। इसका केन्द्रीय कार्यालय जेनेवा (स्विटजरलैण्ड) में है और एक डायरेक्टर जनरल के आधीन कार्य करता है। कार्य की विशालता के कारण इसके शाखा कार्यालय भी संसार में फैले हुए हैं। दक्षिण पूर्व एशिया का कार्यालय नई दिल्ली (भारत) में स्थित है। अन्य कार्यालय हैं—उत्तर और दक्षिण अमेरिका का कार्यालय वाशिंगटन (यू०एस०ए०) में, यूरोप से सम्बन्धित कार्यालय कोपेनहेगेन (डेनमार्क) में, अफ्रीका से सम्बन्धित कार्यालय वेजाविल (कांगो) में तथा पश्चिम पेसिफिक से सम्बन्धित कार्यालय मनीला (फिलीपाइन) में स्थित है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के प्रमुख कार्य हैं।

(१) स्वास्थ्य के सम्बन्ध में संसार के देशों में परस्पर समन्वय स्थापित करता है तथा उनका निर्देशन करता है।

(२) प्रत्येक देश को अपने यहाँ की स्वास्थ्य सेवाओं की उन्नति के लिए प्रत्येक प्रकार की सहायता प्रदान करता है।

(३) प्रत्येक देश को उसकी आवश्यकतानुसार स्वास्थ्य विशेषज्ञों की सेवा प्रदान करता है।

(४) जनपादिक (epidemic) रोगों की पूर्व सूचना सम्बन्धित देशों को प्रदान करता है तथा उनके प्रसरण को सीमित रखने के प्रत्येक प्रयास में सहायता प्रदान करता है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य को नियमित करता है यथा अन्तर्राष्ट्रीय यात्रा में मुख्य संचारी रोगों यथा विसूचिका (cholera), पीत ज्वर (yellow fever) तथा प्लेग (plague) के बचाव का टीका पहिले से लगे हुए होने का प्रमाण पत्र विदेशी यात्री पर होना अनिवार्य है। भारत से विदेशों को जाने वाले यात्री को हैजा का

अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाण-पत्र लेना आवश्यक होता है अन्यथा वह विदेश यात्रा नहीं कर सकता है।

(६) स्वास्थ्य विषयक संसार भर के देशों से आंकड़े संकलन कर उनका यथोचित प्रयोग करता है।

(७) स्वास्थ्य विषय पर पुस्तकें, लेख आदि का प्रकाशन करता है।

२. राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात कोष (यूनीसेफ UNICEF—United Nations International Children's Emergency Fund)—

यह संगठन विश्व स्वास्थ्य संगठन के सहयोग से कार्य करता है। भारत में इसके मुख्य कार्य हैं—

(१) बाल शिक्षा (२) बाल स्वास्थ्य (३) पोषक आहार (४) ग्रामों में पेय जल (५) सामाजिक उत्थान आदि के कार्यों में आवश्यक विशेषज्ञ परामर्श एवं सहायता प्रदान करना।

३. अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (आई०एल०ओ०; I.L.O. International Labour Organisation)

इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का मुख्य कार्य उद्योगों मे लगे हुए व्यक्तियों के जीवन को सुखमय बनाना है। इसके लिये यह (१) उनके साथ सामाजिक न्याय हो, इसके लिए आर्थिक सहायता देता है। (२) उद्योगों में लगे व्यक्तियों के स्वास्थ्य, कल्याण तथा जीवन के स्तर को ऊँचा करने के लिए इस संगटन ने अन्तर्राष्ट्रीय नियम बनाये हैं जिन्हें उद्योगों के स्वामियों को अपने यहाँ लागू करने होते हैं। इस प्रकार यह इन व्यक्तियों को सहायता पहुँचाता है।

विदेशी स्वयं सेवी संस्थाएँ

(१) रॉकफेलर फाउन्डेशन (Rockeffaller Foundation)—अमेरिकन तैल (पैट्रोल) व्यापारी श्री जॉन डी रॉकफेलर ने सन् 1913 में एक ट्रस्ट स्थापित किया जो समस्त संसार में जन स्वास्थ्य की उन्नति के लिए कार्य कर रहा है। कलकत्ते की ऑल इण्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ हाईजीन एण्ड पब्लिक हैल्थ (All India Institute of hygiene & public health) के स्थापित करने में इसने एक बहुत बड़ी धनराशि प्रदान की थी। यह ट्रस्ट्र योग्य छात्रों को उच्च शिक्षा हेतु छात्र वृत्तियाँ प्रदान करता है। आयुर्विज्ञान शिक्षण संस्थानों को अनुसंधान कार्य हेतु एवं पुस्तकालयों के विस्तार हेतु आर्थिक सहायता प्रदान करता है। आजकल भारत में परिवार कल्याण कार्य में भी आर्थिक सहायता प्रदान कर रहा है।

(२) फोर्ड फाउन्डेशन (Ford Foundation)— इसे अमेरिका के मोटर व्यापारी फोर्ड ने स्थापित किया है। जहाँ रॉकफेलर फाउन्डेशन उच्च आयुर्विज्ञान एवं वैज्ञानिक शिक्षण एवं अनुसंधान कार्यों को प्रोत्साहित करता है तो फोर्ड फाउन्डेशन

ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाओं एवं परिवार कल्याण योजनाओं को आर्थिक अनुदान प्रदान करता है।

(३) केयर (CARE–Co-operative for American Relief Everywhere)— यह संगठन बाल कल्याण संगठनों तथा छात्रों के पोषक आहार पर बल देता है। उन्हें पौष्टिक आहार के पदार्थ, एवं आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त आयुर्विज्ञान शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, कृषि आदि की उन्नति के कार्यों को भी सहायता प्रदान करता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास (International Red Cross)—इस विश्व संगठन से भारतीय रेडक्रास संगठन सम्बद्ध है तथा उसके सहयोग से कार्य करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भारतीय संगठन के कार्यों में धन एवं वस्तुओं से सहायता प्रदान करता रहता है।

———

१७

मातृ एवं शिशु कल्याण

मातृ कल्याण

माता के स्वास्थ्य को गर्भावस्था, प्रसव काल तथा प्रसूत (प्रसवोत्तर) काल में उचित बनाए रखना मातृ कल्याण का उद्देश्य है, भारत में अब भी प्रसव काल तथा प्रसूत काल में होने वाली माताओं की मृत्युदर विकसित देशों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इन मृत्युओं के पीछे परिवार की सामाजिक दशा तो होती ही है, कभी-कभी अपर्याप्त अथवा अनुचित चिकित्सा के कारण भी मृत्यु हो जाती हैं। प्रमुख कारण हैं—

सामाजिक कारण (Social causes)

(१) माता की प्रसव के समय की आयु, (२) अवैध गर्भ (illegimacy), (३) कमजोर आर्थिक दशा, (४) अज्ञानता, (५) सामाजिक रिवाज, (६) प्रसवोत्तर काल में आवश्यक देखभाल न होना तथा प्रसव स्थान अथवा प्रसवोत्तर स्थान पर स्वच्छता का अभाव होना।

चिकित्सा सम्बन्धी कारण (medical causes)

(१) प्रसव काल में विषरक्तता (toxaemia), (२) अरक्तता (anaemia), (३) अधिक रक्तस्राव (haemorrhage), (४) संक्रमण (infection), (५) स्तब्धता (shock) एवं दुर्घटना (accident), (६) घनास्र (thromboembolic) रोग तथा (७) संज्ञाहरण (anaesthesia)।

सामान्यत: 95 प्रतिशत प्रसव सामान्य होते हैं। उन्हें कुशल दाइयाँ करा सकती हैं। और यदि घरों पर स्थान आदि की सुविधा उपलब्ध है तो घरों पर ही कराये जा सकते हैं। निवास स्थान पर प्रसव कराने के अनेक लाभ हैं यथा (१) चिकित्सालयों पर भार कम हो जाता है। (२) माता को परिचित वातावरण मिलता रहता है। (३) चिकित्सालयों में जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को संक्रमण पहुँचने का भय रहता है वह नहीं होता है। (४) माता अपने घर के कार्यों के सम्बन्ध में सरलता से निर्देशन दे सकती है। निवास स्थान पर प्रसव कराने में कुछ हानियाँ भी होती हैं। यथा (१) चिकित्सालयों की अपेक्षा कम चिकित्सा सुविधा उपलब्ध होती हैं। (२) माता को कम आराम मिलता है। (3) उसके भोजन की व्यवस्था भी उनकी सुचारुपूर्ण नहीं होती है।

कुछ इस प्रकार के प्रसव होते हैं जिन्हें चिकित्सालय में ही कराने चाहिए। यथा (१) प्रथम गर्भा (primigravida)। (२) चौथे प्रसव से अधिक बार का प्रसव। (३) वर्तमान प्रसव तथा पूर्व प्रसव के मध्य दस वर्ष या अधिक का अन्तर। (४) एक से अधिक सगर्भता (multiple pregnancy)। (५) पूर्व का असामान्य प्रसूति इतिवृत्त। (६) माता के रक्त का रीसस ऋणात्मक (Rh-) होना। (७) गर्भवती माता का दुर्बल होना तथा (८) घर में प्रसव सुविधा का अभाव होना।

मातृ एवं शिशु कल्याण केन्द्रों पर माता को प्रसवपूर्व (prenatal) तथा प्रसव पश्चात् स्वास्थ्य सम्बन्धी उचित परामर्श एवं सहायता प्राप्त होती है। उसका लाभ उठाना उचित है।

प्रसवपूर्व अवेक्षण (prenatal surveillance)—केन्द्र में गर्भवती स्त्री के प्रथम बार आने पर उसका पूर्ण स्वास्थ्य परीक्षण किया जाता है, यथा (१) बचपन से लेकर गर्भ स्थापना तक चिकित्सा सम्बन्धी इतिवृत्त लिया जाता है। (२) हृदय, फुफ्फुस तथा अन्य तन्त्रों (systems) का पूर्ण परीक्षण किया जाता है। (३) श्रोणि मिति (pelvimetry) सहित प्रसूति परीक्षण, (४) भार, रक्तदाब, मूत्र परीक्षण, हीमोग्लोबिन की मात्रा का ज्ञान, लोहित कोशिकाओं (RBC) की गणना, रीसस (rehsus) तथा रक्त वर्ग एवं आवश्यकता की दशा में फिरंग आदि रोगों के लिए सीरमीय (serological) परीक्षण आदि किए जाते हैं।

गर्भावस्था के प्रथम सात मास तक गर्भवती स्त्री को प्रत्येक मास मातृकेन्द्र पर जाकर अपना स्वास्थ्य परीक्षण कराते रहना चाहिये। सात मास के पश्चात् प्रत्येक पक्ष में परीक्षण कराना चाहिए। इन परीक्षणों में भार, रक्तदाब, हीमोग्लोबिन की स्थिति आदि का परीक्षण कर उसका लेखा रखना चाहिये।

गर्भवती का इतिवृत्त तथा उपरोक्त परीक्षणों को दृष्टि में रखते हुए केन्द्र का चिकित्सक उस स्त्री को उचित परामर्श देता है। फिर भी कुछ सामान्य बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। यथा—

(१) **आहार**—गर्भवती स्त्री को आहार से पर्याप्त कैलोरी मिलनी चाहिए। भोजन में लौह, कैल्शियम तथा विटेमिन सामान्य से अधिक होने चाहियें तथा प्रोटीन कम से कम 55 ग्राम प्रतिदिन लेते रहना चाहिए। भारतीय नारी को गर्भ काल में लोहे की विशेष आवश्यकता रहती है। इन बातों पर ध्यान रखते हुए सन्तुलित आहार लेते रहना चाहिये।

(२) **व्यक्तिगत स्वच्छता**—ऐसी स्त्री को अपने वस्त्र तथा केश आदि साफ रखने चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो प्रतिदिन स्नान करते रहना चाहिये।

(३) **निद्रा तथा विश्राम**—कम से कम ८ घण्टे की निद्रा तथा भोजन के पश्चात् २ घण्टे का विश्राम प्रतिदिन गर्भवती के लिए आवश्यक है।

(४) **कोष्ठ**—गर्भवती स्त्री में कोष्ठबद्धता नहीं होनी चाहिये। इसके निवारण के लिये हरे पत्तों वाली सब्जियों, फल तथा सरल द्रव पर्याप्त मात्रा में लेते

रहना चाहिए। कब्ज दूर करने के लिए अरण्ड के तेल (caster oil) जैसे विरेचक द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(५) **व्यायाम**—गर्भवती को गृहस्थ के हल्के कार्यों को करते रहना चाहिये। अधिक परिश्रम के कार्य यथा बोझ उठाना आदि, नहीं करना चाहिए।

(६) **धूम्रपान**—तम्बाकू, सिगरेट, बीड़ी, हुक्का पीने वाली स्त्रियों को गर्भ काल में धूम्रपान बन्द कर देना चाहिए। यदि यह सम्भव नहीं है तो न्यूनतम कर देना चाहिये। गर्भकाल में धूम्रपान करने से कालपूर्व (premature) प्रसव की सम्भावना बढ़ जाती है।

(७) **रोग क्षमीकरण (immunization)**—अस्थायी निष्क्रिय रोग क्षमीकरण हेतु गर्भवती स्त्री को टिटेनस टॉक्साइड (tetanus toxiod) के दो इन्जेक्शन कम से कम एक महीने के अन्तराल पर लेने चाहिए। अन्तिम मात्रा प्रसव के लगभग समय के दो सप्ताह पूर्व लेनी चाहिए। यदि पहिले इन्जेक्शन नहीं लिये हैं तो 16 से 36 गर्भ सप्ताहों के मध्य एक अनुवर्धक मात्रा लेनी चाहिए।

(८) **हानिकर प्रभाव वाली औषधियाँ**—कुछ ऐसी औषधियाँ हैं जिनका गर्भ पर हानिकर प्रभाव पड़ता है। ऐसी औषधियों को गर्भावस्था में स्त्री को सेवन नहीं करना चाहिए। यथा एक औषधि थालीडोमाइड (thalidomide) है। इसे स्त्रियाँ निद्राकारी (hypotic) औषधि के रूप में निद्रा लाने के लिए व्यवहार में लाती हैं। यह औषधि गर्भ के लिए एक प्रबल अपरूपजन (teratogenic) सिद्ध हुई है। गर्भ स्थापना से केवल 4 से 8 सप्ताह तक ही इस औषधि के सेवन से 20 प्रतिशत गर्भ शिशुओं की शाखाओं (limbs), कान, नेत्र, वृक्क तथा आहारनाल (alimentary canal) में विरूपतायें (deformities) उत्पन्न हो जाती देखी गई हैं।

ऐसी ही एक अन्य औषधि एल०एस०डी० (L.S.D.—Lysergic Acid Diethylamide) से भी गर्भ की कुरचना की सम्भावना रहती है। सामान्यतः कफ निस्सारक तथा कफ शामक के रूप में कुछ औषधियों में आयोडीन होता है। आयोडीन युक्त औषधियों के व्यवहार से जन्मजात गलगण्ड (goitre) तथा अवटुअल्पक्रियता (hypothroidism) की सम्भावना रहती है। स्ट्रेप्टोमायसीन (streptomycin) के अधिक व्यवहार से गर्भ शिशु की अष्टम मस्तिष्क तन्त्रिका (VIII cranial nerve-श्रवण तन्त्रिका auditory nerve) की हानि हो जाती है जिसके कारण शिशु बधिर (deaf) उत्पन्न होता है।

(९) **आवश्यक परामर्श**—गर्भवती स्त्री को स्वास्थ्य सम्बन्धी किसी प्रकार की असामान्यता अनुभव होने पर तुरन्त उसकी सूचना केन्द्र के चिकित्सक को देकर उससे परामर्श लेना चाहिए तथा तदनुसार कार्य करना चाहिए।

प्रसव पूर्व अवेक्षण यहीं समाप्त नहीं हो जाता है। प्रसव के समय माता और शिशु की पूरी देखभाल की जिम्मेदारी केन्द्र के चिकित्सक आदि की होती है। प्रसव के पश्चात् के प्रथम दस दिन प्रसवकालीन (intranatal) काल कहलाता है। यदि प्रसव निवास स्थान पर हुआ है तो दाई के पहिले तीन दिन प्रतिदिन दो बार आकर देखना चाहिए और उसके पश्चात् जब तक शिशु का नाभिनाल (umbilial

cord) पृथक नहीं हो जाता है, दिन में एक बार आकर अवश्य देखना चाहिए। स्वास्थ्य निरीक्षक चिकित्सक को प्रसव के पहिले 24 घण्टों के अन्दर तथा फिर चौथे और दसवें दिन आकर निरीक्षण करना आवश्यक होता है।

प्रसवोत्तर अवेक्षण (post natal surveillance)—प्रसवोत्तर काल की कुछ सामान्य समस्याओं का वर्णन किया जाता है। इन पर ध्यान देना अति आवश्यक होता है।

१. अरक्तता (anaemia)—प्रसवोत्तर काल में रक्त में हीमोग्लोबिन की मात्रा का परीक्षण कराते रहना चाहिए। यदि अरक्तता ज्ञात होती है तो उसका तुरन्त उपचार करना चाहिए।

२. स्तनपान (breast feeding)—विश्व स्वास्थ्य संगठन ने विश्वभर में परीक्षण के उपरान्त घोषित किया है कि स्तनपान ही बच्चे के लिए सर्वश्रेष्ठ आहार है। दुग्ध चूर्ण (powdered milk) का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक परिस्थितियों में ही करना चाहिये। अधिकांश स्त्रियाँ शिशुओं को स्तनपान का सही ढंग नहीं जानती हैं। उनको इसका उचित तरीका केन्द्र द्वारा सिखाना चाहिए।

यदि माता स्वस्थ है तो प्रथम 6 मास की आयु तक के शिशु के लिए माता के स्तनपान से आवश्यक मात्रा में दूध मिल जाता है। 6 मास तक माता के दूध की मात्रा बढ़ती है उसके उपरान्त माता का दूध कम होता चला जाता है जबकि शिशु की आवश्यकता बढ़ती जाती है। इसलिए शिशु के पोषण के लिए ऊपर से दूध की आवश्यकता पड़ जाती है। इसके लिए बकरी, गाय अथवा भैंस का ताजा दूध देना उचित होता है।

३. पोषण—जब तक माता शिशु को स्तनपान कराती है उसके आहार में आवश्यक पोषक पदार्थ पूर्णमात्रा में होने चाहिए। यदि परिवार की आर्थिक दशा अधिक अच्छी नहीं है तो भी सन्तुलित आहार की व्यवस्था की जा सकती है। मँहगे फलों के स्थान पर सस्ते मौसम के फलों को लिया जा सकता है। दूध के स्थान पर क्रीम निकाला हुआ दूध लिया जा सकता है।

४. स्वरूप (figure)—माता घरेलू सरल काम करती हुई अपने स्वास्थ्य को तथा अपने स्वरूप को बनाये रख सकती है। अच्छा स्वास्थ्य, अच्छे स्वरूप को बनाये रखता है।

५. प्रसवोत्तर परीक्षण—प्रसव के 7 सप्ताह पश्चात् माता को चिकित्सक से अपना परीक्षण करा लेना चाहिए क्योंकि उस समय तक गर्भाशय का प्रत्यावर्तन (involution), सामान्यतः पूर्ण हो जाता है। कभी-कभी गर्भाशय का आंशिक व्युत्क्रमण (subinversion), पश्चनति (retroversion), भ्रंश (prolapse) अथवा ग्रीवाशोथ (cervicitis) हो जाता है। यदि ऐसी सम्भावना है तो माता को प्रसवोपरान्त प्रथम 7 मास तक प्रतिमास तथा उसके उपरान्त प्रत्येक 3-3 मास के पश्चात् चिकित्सक द्वारा परीक्षण कराते रहना उचित रहता है। ऐसा उसे एक वर्ष तक करना चाहिये।

शिशु कल्याण

जन्म के समय कम भार वाले शिशु—जन्म के समय जो शिशु सामान्य भार से कम होते हैं अथवा समय से पूर्व उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें कालपूर्व (premature) शिशु कहते हैं। ऐसे शिशुओं की अधिक देखभाल की आवश्यकता होती है क्योंकि इनमें मृत्युदर अधिक पाई जाती है। ऐसे शिशुओं की, नवजात अवस्था में, यदि भली-भाँति देखभाल नहीं की जाती है तो ये शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से भी सामान्य से कम रहते हैं। इनमें बुद्धि एवं शरीर सम्बन्धी विकास की गति धीमी रहती है। कालपूर्व जन्म के अनेक कारण हो सकते हैं। यथा—

१. **मातृजन्य कारण**—फिरंग रोग, अरक्तता, हृद्रोग, गर्भावस्था में विषरक्तता (toxemia), मधुमेह (diabetes), किसी दुर्घटना के कारण क्षति, गर्भाशय की कुरचना, डिम्बग्रन्थि का अर्बुद (tumour), गर्भाशय ग्रीवा (cervix) की अक्षमता आदि मातृजन्य कारण हो सकते हैं।

२. **गर्भाशयजन्य कारण**—एक से अधिक गर्भ का एक साथ होना, अति उल्वोदकता (hydramnios) आदि गर्भाशय सम्बन्धी कारण हो सकते हैं।

३. **अपराजन्य कारण** (placental causes)—अपरा का समय से पूर्व पृथक हो जाना, अपरा अपर्याप्तता, शीर्षश्रोणि विषमानुपात (cephalopelvic disproportion) के कारण भी कालपूर्व जन्म हो सकता है।

४. **सामाजिक कारण**—कालपूर्व जन्म के कुछ सामाजिक कारण भी होते हैं, यथा—

(i) **शारीरिक परिश्रम**—जो स्त्रियाँ प्रसवपूर्व तक परिश्रम का कार्य करती रहती हैं उनमें प्रायः कालपूर्व प्रसव की सम्भावना रहती है।

(ii) **पोषण**—जिन स्त्रियों के आहार में पर्याप्त पोषण का अभाव रहता है उनकी सन्तान कम भार वाली जन्म लेती है।

(iii) **धूम्रपान**—जैसा हम पहिले बता चुके हैं कि जो स्त्रियाँ धूम्रपान करती हैं उनकी सन्तान के कालपूर्व उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

अन्य कारण—अपर्याप्त निवास व्यवस्था, निम्न आर्थिक स्थिति, बार-बार सन्तानोत्पत्ति भी कालपूर्व जन्म के कारण होते हैं।

कमजोर आर्थिक स्थिति में पोषणाभाव के कारण प्रसव के समय शिशु का भार लगभग 2·5 किलोग्राम होता है। उचित पोषण प्राप्त माताओं को सन्तानों में यह भार लगभग 3·0 किलोग्राम होता है।

प्रायः शिशु कल्याण केन्द्रों में निरोधक (preventive) बाल चिकित्सा को दो विभागों में बाँटते हैं।

(i) प्रसव पूर्व बाल चिकित्सा तथा (ii) प्रसवोत्तर बाल चिकित्सा।

(i) **प्रसव पूर्व बाल चिकित्सा**—इसके अन्तर्गत यह देखना चाहिये कि (१) गर्भवती स्त्री को आवश्यक पोषक तत्व आहार में मिल रहे हैं। (२) माता का संचारी रोगों से बचाव ठीक प्रकार से हो गया है। कुछ संचारी रोग ऐसे हैं कि उनका प्रभाव गर्भ में शिशु पर पड़ता है यथा सिफलिस। शिशु का जन्मजात हृद्

रोग, खण्ड तालु (cleft palate) आदि माता के संचारी रोगों से संक्रमित होने के कारण हो सकते हैं। (३) माता को प्रसवकालीन तथा स्तन्यपान सम्बन्धी आवश्यक परामर्श दिया जा चुका है।

(ii) **प्रसवोत्तर बाल चिकित्सा**—इसके लिए केन्द्रों पर (१) समय-समय पर शिशु के स्वास्थ्य का परीक्षण किया जाता है। (२) माता के पोषक तत्वों के लिए आहार का निरीक्षण किया जाता है। (३) शिशु के रोगक्षमीकरण (immunization) का प्रबन्ध किया जाता है तथा (४) माता और शिशु के सम्बन्ध मधुर बनाये रखने के लिये माता को उचित परामर्श दिया जाता है।

शिशु का भार एवं ऊँचाई

भार–भारतीय शिशु जन्म के समय सामान्यत: 2·8 किलोग्राम (6·16 पौण्ड) भार का होता है। पहिले तीन मास तक उसका भार 25-30 ग्राम प्रतिदिन के हिसाब से बढ़ता है। उसके पश्चात् लगभग 15 ग्राम प्रतिदिन के अनुसार बढ़ कर छठे मास के पश्चात् अपने जन्म भार के दुगुना तथा एक वर्ष के पश्चात् तिगुना हो जाता है।

लम्बाई (ऊँचाई height)—जन्म के समय सिर बड़ा, धड़ लम्बा और टाँगें छोटी होती हैं। शरीर का मध्य भाग नाभि से $\frac{3}{4}$ इन्च ऊपर होता है। फिर धड़ की अपेक्षा टाँगें अधिक तेजी से बढ़ती हैं। दो वर्ष के बालक की ऊँचाई का मध्य नाभि से कुछ नीचे पहुँच जाता है। 16 वर्ष की आयु में मध्य भाग श्रोणि (pelvis) के निकट होता है। भारतीय बालक और बालिका का सामान्य भार एवं ऊँचाई की तालिका दी जा रही है।

आयु वर्षों में	लम्बाई सेन्टीमीटरों में		शरीर भार किलोग्राम में	
	बालक	बालिका	बालक	बालिका
5	113·1	112·0	19·3	18·6
6	118·9	117·3	22·1	21·4
6	123·3	122 7	24·5	23·8
8	127·9	126·8	26·4	26·1
9	133·6	132·3	30·0	29·7
10	138·5	138·5	32·4	33·5
11	143·4	144·1	35·3	36·5
12	148·9	150·3	38·8	42·2
13	154·9	153·0	42·9	44·4
14	161·7	155·1	48·3	46·7
15	165·3	155·3	52·2	48·2
16	168·4	155·4	55·5	49·8
17	168·9	156·4	59·0	49·9

शिशु का मानसिक एवं शारीरिक विकास

जन्म के समय—शिशु दूध चूसता है और निगलता है। गति अर्थहीन होती है। भूख लगने पर चिल्लाता है। किसी को भी नहीं पहिचानता है। यदि समय पर दूध मिलता रहे तो वह सन्तुष्ट है।

पहिले मास में—उठाने पर सिर नीचे लटक जाता है। गतिशील प्रकाश की ओर दृष्टि घुमाता है।

दूसरे मास में—अपने आप हँसता है। अर्थ हीन शब्द बोलता है। श्रोणि (pelvis) भाग सपाट होता है।

तीसरे मास में—सिर का सन्तुलन हो जाता है। अपनी माता को पहिचानने लगता है। माता के आने पर रोना बन्द कर देता है।

चौथे मास में—सिर का सन्तुलन और अच्छा हो जाता है। वस्तुओं को पकड़ लेता है। हँसता है।

पाचवें मास में—पेट तथा पीठ के बल पलट जाता है। सहारे से बैठ जाता है।

छठवें मास में—बैठने लगता है। अपने आप उठकर बैठने की चेष्टा करता है। उत्तेजित होने पर रोता है या शोर करता है यथा उसके हाथ से खिलौना छीन लेने पर वह ऐसा व्यवहार करने लगता है।

सातवें मास में—अपने पैर के अँगूठे को मुख में देता है।

आठवें मास में—अँगूठे तथा तर्जनी से वस्तु उठाने की चेष्टा करता है।

नौवें मास में—खड़े होने की चेष्टा करता है परन्तु गिर जाता है। हाथों को मोड़कर बाँह एक दूसरे पर रखता है।

दसवें मास में—घुटने के बल सरकता है और मामा-बाबा शब्द बोलता है।

ग्यारहवें मास में—कुछ देर के लिए खड़े रहने की चेष्टा करता है।

बारहवें मास में—सहारे को पकड़ कर चलता है। सामान्य खेल को पसन्द करता है।

१४ से १६वें मास में—अधिकांश बच्चे चलने लगते हैं। यदि 20-24 मास में भी बच्चा नहीं चलता है तो चिकित्सक को दिखाना चाहिये।

१६ से १८वें मास में—सीढ़ियाँ चढ़ लेता है। नकल करना सीख जाता है। खिलौनों से खेलना पसन्द करता है और कुछ शब्दों को बोलने लगता है।

दूसरे वर्ष में—आँख, नाक, मुख को बता देता है। स्वयं खाने में रुचि लेता है। कुछ शब्द बोलने लगता है।

तीसरे वर्ष में—स्वयं खाने लगता है। बिस्तर में पेशाब नहीं करता है। दूसरे बच्चों के पास रहना और खेलना पसन्द करता है। अपने खिलौनों को ठीक से रख लेता है। स्वयं कपड़ों को पहिनने की चेष्टा करता है।

चौथे वर्ष में—एक दो तीन आदि की गणना करने लगता है।

पाँचवें वर्ष में—वाक्यों को बोलने लगता है। अपने घर को पसन्द करता है। अंधेरे से डरता है। जिम्मेदारी उठानी चाहने लगता है।

छठे वर्ष में—समस्त दिन व्यस्त रहता है। अपनी पसन्द तथा नापसन्द कहने लगता है।

७-८वें मास में—अनुशासन पसन्द नहीं करता है। खेल आदि के लिए ग्रुप बना लेता है।

शिशु मृत्यु

नवजात (neonatal) मृत्यु के कारण—

(१) काल पूर्व प्रसव अथवा अल्प भार होना।

(२) प्रसव काल में क्षति (injury) अथवा श्वासावरोध (asphyxia) होना।

(३) जन्मजात (congenital) आसामान्य का होना।

(४) रक्तस्रावी (haemorrhagic) रोग से ग्रस्त होना।

(५) नवजात संक्रमण (neonatal infections) का होना।

नवजातोन्तर (post neonatal) (1 से 12 मास) मृत्यु के कारण—

(१) जठरान्त्रशोथ (gastroenteritis) तथा अतिसार (diarrhoea) से ग्रसित होना।

(२) श्वसन सम्बन्धी संक्रमण होना।

(३) संचारी रोग यथा मसूरिका (चेचक), काली खाँसी (whooping cough) आदि रोगों के कारण।

(४) कुपोषण के कारण।

(५) विकासात्मक दोष, दुर्घटना के आदि कारण।

भारत में शिशु मृत्यु दर—

भारत में शिशुओं की मृत्यु दर काफी ऊँची है। यद्यपि पिछले 50-60 वर्षों में स्थिति में पर्याप्त सुधार हो गया है फिर भी संसार के विकासशील देशों की अपेक्षा हमारे यहाँ मृत्यु दर अब भी काफी अधिक है।

देश	प्रति 1000 जन्म पर मृत्यु	आँकड़ों का सन्
इंग्लैण्ड	18·0	1969
न्यूजीलैण्ड	18·0	1967
स्विटजरलैण्ड	17·5	,,
फ्रांस	20·6	,,
भारत	113·0	1970

भारत में कुल मृत्युओं की 22 प्रतिशत तथा बाल मृत्युओं की 45–85 प्रतिशत मृत्युएँ एक वर्ष से कम आयु के बालकों की होती हैं। 13 से 15 प्रतिशत मृत्युएँ एक वर्ष से अधिक परन्तु पाँच वर्ष से कम आयु के बालकों की होती हैं। इतनी अधिक बाल मृत्यु के कारण हैं—(१) वाइरस संक्रमण यथा मसूरिका, रोमान्तिका, रोहिणी (diphtheria) आदि (२) बेक्टीरिया संक्रमण यथा अतिसार (diarrhoea), काली खाँसी (whooping cough), टिटेनस (tetanus), आन्त्र ज्वर (मन्थर ज्वर enteric fever) यक्ष्मा आदि (३) कुपोषण (४) दुर्घटनाएँ, विष आदि।

———

१८

परिवार कल्याण

प्रकृति अपना सन्तुलन बनाए रखने की सदैव चेष्टा करती रहती है। इसके लिये प्रत्येक प्राणी वर्ग अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए संघर्षरत् रहता है। इस स्पर्धा में जो विजयी होते हैं वे जीवित रहते हैं। सभी जानते हैं कि प्रत्येक अण्डे से जीव नहीं निकलता है, प्रत्येक अंकुर से वृक्ष उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार जब मनुष्य प्रकृति के निकट रहता था उसकी संख्या सीमित रहती रही। बाद में महामारियों के कारण तथा परस्पर युद्ध में रत रहने के कारण एवं अत्यधिक बाल मृत्युओं के कारण वह ऐसी सीमा में रहती थी कि प्रकृति प्रदत्त अन्न, मांस, मछली आदि का जीवन यापन के लिए अभाव अनुभव नहीं होता था। परन्तु पिछले 50-60 वर्षों से सब कुछ बदल गया। चिकित्सा विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान आदि में होने वाली उन्नति के कारण अब बाल मृत्यु दर कम हो गयी है जीवन आयु-माध्य अधिक हो गया है। इन सबका परिणाम हुआ कि मनुष्य जाति की संख्या अति वेग से बढ़ती जा रही है। पहिले डेढ़ हजार वर्ष से भी अधिक समय में जनसंख्या दुगुनी होती थी, अब वह अति कम समय में ही दुगुनी हो जाती है।

सन् 1810 में विश्व की जनसंख्या लगभग एक अरब थी। वह सन् 1930 में ही दो अरब हो गयी और फिर सन् 1960 में, केवल 30 वर्ष के अन्तर में ही, 3 अरब हो गई। इसी प्रकार यदि संख्या वृद्धि का वेग चलता रहा तो निश्चय ही सन् 2000 तक विश्व जनसंख्या 7 अरब के लगभग हो जायेगी। यदि जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ जीवन यापन के साधन भी विकसित होते जाते तो कोई बात नहीं थी परन्तु ऐसा नहीं होता है। कुछ देशों में एक प्रतिशत से अधिक की दर से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है और तदनुसार आय में वृद्धि नहीं हो रही है। उदाहरण के लिए भारत को ही ले लें, सन् 1951 से सन् 1966 तक जनसंख्या में जहाँ 14 करोड़ के लगभग वृद्धि हो गई है वहाँ अन्न का प्रतिव्यक्ति अंश 12·8 आउन्स से घटकर 12·4 आउन्स रह गया है। इस प्रकार केवल जनसंख्या की वृद्धि गरीबी की ओर ले जाने वाली सिद्ध होती है। इससे प्रत्यक्ष हो जाता है कि जिन देशों में जन्म दर अधिक है वे अविकसित और गरीब हैं।

अधिक जन्मदर वाले देशों में ऐसे व्यक्तियों का प्रतिशत अधिक होता है जो देश की आय वृद्धि में हाथ नहीं बढ़ा सकते हैं यथा शिशु, बच्चे तथा अवयस्क बालक

बालिकाएँ आदि। भारत में जन्मदर अधिक होने के कारण 40 प्रतिशत भाग 15 वर्ष के नागरिकों का है। इन व्यक्तियों के कारण देश की आर्थिक स्थिति पर बोझ पड़ता है। इनका प्रतिशत जितना कम होगा यह भार उतना ही कम होगा। साथ ही साथ इन व्यक्तियों की शिक्षा एवं चिकित्सा आदि पर भी एक अच्छा खासा आय का अंश व्यय करना होता है फिर उनके वयस्क होने पर इनके लिए जीविका के साधन, किसी रोग की योजना भी बनानी पड़ती है। इस तरह जन्मदर की वृद्धि किसी भी राष्ट्र को प्रत्येक प्रकार से बोझल बना देती हैं।
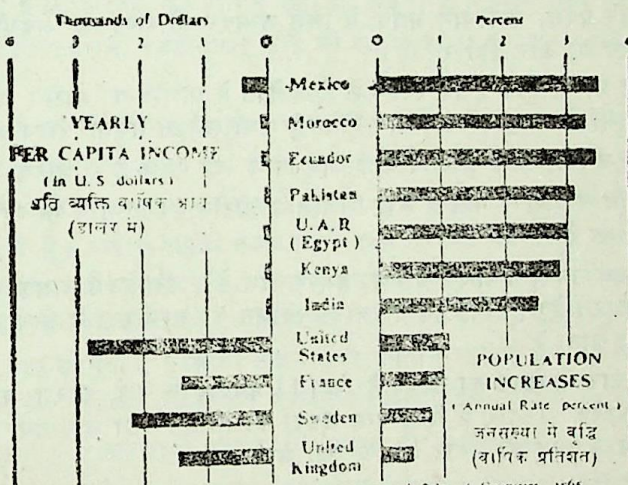
Per Capita Income and Population Increase of Selected Countries, 1965
(From The Indian Journal of Medical Education Feb—March 1970 Vol. 9. P. 76)

चित्र 18·1 तालिका से स्पष्ट है कि यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन) स्वीडन, फ्रांस, यूनाइटेड स्टेट्स अमेरिका में जन्मदर एक प्रतिशत से भी कम है तथा प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय काफी अधिक है इसके विपरीत भारत, केनिया, मिस्र, पाकिस्तान, इक्वेडोर, मोरक्को व मेक्सिको में जन्म दर तीन प्रतिशत के लगभग है तथा आय प्रति व्यक्ति सौ डालर से भी कम है।

विशेषज्ञों का मत है कि जनसंख्या में दो प्रतिशत की वृद्धि होने पर आर्थिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय आय में 6 प्र० श० की वृद्धि आवश्यक है। विकसित देश भी चार प्र० श० से अधिक राष्ट्रीय आय बढ़ा पाने में अपने को अशक्त अनुभव करते हैं। जिसका अर्थ है कि ये देश अपनी जन्मदर एक प्रतिशत से अधिक नहीं चाहते हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन आदि की जन्मदर एक प्रतिशत से भी कम है। अतः ये देश विश्वभर के देशों से सम्पन्न हैं।

भारतवर्ष का क्षेत्रफल संसार के पृथ्वी तल के क्षेत्रफल का 12·44 प्रतिशत है जबकि जनसंख्या विश्व की जनसंख्या का 15 प्रतिशत है। सन् 1921 में हमारी जनसंख्या 25 करोड़ थी जो 1981 में बढ़कर 68·50 करोड़ से अधिक हो गई अर्थात् केवल 60 वर्ष में ही हमारी जनसंख्या तीन गुनी के लगभग हो गयी है अर्थात्

3·20 प्रतिशत की दर से प्रतिवर्ष होने वाली वृद्धि के साथ ही साथ मृत्युदर कम होती जा रही है। इसीलिए इतनी प्राचीन उच्च सभ्यता के विरासत में मिलने के बाद भी तथा अति प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की उपस्थिति के पश्चात् भी आज हमारी गणना गरीबतम देशों में होती है।

भारत एक ग्रीष्म प्रधान देश है यहाँ 12–13 वर्ष की आयु में ही कन्या ऋतुमति होने लगती है। कम आयु की कन्या का विवाह करने की परिपाटी अनेक वर्गों में प्रचलित है। इस कारण भारतीय महिलाएँ औसतन 5–6 बच्चों की माँ बन जाती हैं। अतः हमारे देश के वे प्रदेश जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं यथा बंगाल, उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि, ये शिशु जन्मदर की दृष्टि से अग्रणी होकर इस पिछड़ेपन को और बढ़ा रहे हैं।

यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि विश्व के जिन देशों में प्राणीजन्य प्रोटीन का अन्य आहार वस्तुओं के साथ अधिक प्रयोग होता है यथा स्वीडन संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि वहाँ शिशु जन्म दर कम है। भारत में जहाँ व्यक्ति को दूध तक प्राप्त नहीं है और प्राणीजन्य प्रोटीन का उपभोग भी न्यूनतम है, जन्मदर अधिक है।

ये सब उपरोक्त वर्णित कारण हमारे देश की उन्नति में बाधक हैं। इस स्थिति से उभरने हेतु हमारे लिए परिवार नियोजन पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक हो जाता है।

परिवार नियोजन का उद्देश्य है कि (1) अनावश्यक गर्भ धारण को रोका जाय, (2) प्रत्येक परिवार में शिशु जन्म संख्या को सीमित रखा जाय तथा (३) दो शिशुओं के मध्य आयु का अन्तर अधिक रखा जाय।

अनावश्यक गर्भ की स्थापना हो जाने पर उसे पात कराया जा सकता है। इसके लिए भारत सरकार ने सन् 1971 में एक कानून बना दिया है (the medical termination of pregnancy act 1971)। इस कानून के द्वारा स्थापित गर्भ को समाप्त कराया जा सकता है यदि (१) गर्भ माता के मानसिक अथवा शारीरिक स्वास्थ्य को क्षति पहुँचाने का कारण है। (२) गर्भ द्वारा ऐसे शिशु के जन्म की सम्भावना है जो मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से सदैव असुविधाजनक स्थिति में रहेगा। (३) यदि गर्भ बलात्कार (rape) द्वारा स्थापित है अथवा (४) अन्य नियोजन के उपाय करने के पश्चात् भी गर्भ की स्थापना हो गई है, तो उसे माता के लिए मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की क्षति मान लिया जाता है।

यदि गर्भ 10 से 12 सप्ताह से कम का है तो किसी एक अधिकृत चिकित्साधिकारी की गर्भपात के लिए सहमति आवश्यक है और यदि गर्भ 12 सप्ताह से अधिक तथा 20 सप्ताह तक का है तो दो अधिकृत चिकित्साधिकारियों की सहमति लेनी आवश्यक है क्योंकि 12 सप्ताह के बाद गर्भपात कराना स्त्री के लिए खतरनाक है। यदि माता की मानसिक स्थिति विकृत है अथवा उसकी आयु 18 वर्ष से कम है तो गर्भपात के लिए उसके अभिभावकों की लिखित अनुमति की आवश्यकता होती है। किसी स्त्री के लिए बार-बार गर्भपात कराना अति हानिकर है।

गर्भपात राजकीय चिकित्सालयों में अथवा शासन द्वारा स्वीकृत एवं अधिकृत स्थानों पर कराया जा सकता है और वहीं कराना चाहिए।

परिवार नियोजन के उपाय—

सामान्यतः परिवार नियोजन से यह अर्थ लिया जाने लगा है कि उचित समय पर अपनी इच्छानुसार सन्तान उत्पत्ति करना परिवार नियोजन है। यदि माता पिता सन्तान नहीं चाहें तो बच्चों के जन्म पर रोक लगाई जा सकती है। इस प्रकार अपने परिवार को सीमित रखा जा सकता है। इसके लिये अनेक उपाय हैं। माता पिता अपनी इच्छानुसार कोई भी उपाय अपना कर उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं।

गर्भ स्थापना रोकने के कुछ उपाय अस्थायी हैं। उनमें भी प्राकृतिक एवं कृत्रिम दोनों प्रकार के उपाय हैं। स्थायी उपाय कृत्रिम ही हैं। इनमें से कुछ उपाय केवल स्त्रियाँ ही व्यवहार में ला सकती हैं और कुछ उपाय केवल पुरुषों के ही व्यवहार में लिये हैं। दम्पत्ति अपनी इच्छानुसार इनमें से कोई सा उपाय चुनकर आवश्यकता पड़ने पर अपना सकते हैं। अस्थायी उपाय सन्तानों के जन्म के मध्य उचित अन्तर रखने के लिये सामान्यतः व्यवहार में लाये जाते हैं। ये परिवार को सीमित रखने के लिए उपयुक्त हैं। स्थायी उपाय तभी अपनाने चाहिए जब यह निश्चय कर लिया जाये कि भविष्य में अब और सन्तान की आवश्यकता नहीं है।

अस्थायी उपाय (Temporary methods)

(1) प्राकृतिक—ये उपाय (1) संयम (abstinence), (2) बाह्य स्खलन या संभोग अवरोध (coitus interrupts), (3) सुरक्षित काल (safe period) में संभोग हैं।

(2) कृत्रिम उपाय—

(अ) रासायनिक—शुक्राणु नाशक (i) झाग वटी (foam tablet फोम टेबलेट) का अथवा (ii) जैली (Jallies), पेस्ट (paste) या क्रीम (cream) का व्यवहार।

(ब) तान्त्रिक—(i) निरोधक (condom), (ii) डायफ्राम आदि (diaphragms and cervical caps) अथवा (iii) लूप (loop) अथवा कॉपर टी का व्यवहार।

(स) गर्भ निरोधक (contraceptive)—मुख से खाने की गोलियों का व्यवहार।

(द) गर्भपात (abortion)।

स्थायी उपाय (Permanent Methods)

(1) पुरुष नसबन्दी (vasectomy, वासेक्टॉमी, शुक्रवाहिकोच्छेदन)

(2) स्त्री नसबन्दी (Tubectomy, ट्यूबेकटॉमी, डिम्ब वाहिकोच्छेदन)

प्राकृतिक अस्थायी उपाय

(१) **संयम** (abstinence)—संयम का अर्थ है अपने ऊपर नियन्त्रण रखकर अनावश्यक संभोग से बचे रहना। इसके लिये पुरुष और स्त्री दोनों में प्रबल आत्म नियन्त्रण शक्ति होनी चाहिए। अधिकतर दम्पत्तियों के लिए संयम रख पाना सम्भव नहीं होता है, अन्यथा यह उपाय सर्वोत्तम है।

(२) **वाह्य स्खलन अथवा संभोग अवरोध** (coitus interrupts)—इस उपाय में संभोग काल में जब वीर्यपात होने का समय आता है वीर्य को योनिमुख से बाहर स्खलन करना होता है। इस उपाय में वीर्य योनि में प्रवेश नहीं करता है। शुक्राणुओं के अभाव में गर्भ की स्थिति नहीं होती है। परन्तु कुछ व्यक्ति शारीरिक अथवा संवेदनात्मक कारणों से ऐसा नहीं कर सकते हैं। इस उपाय को काम में लाने पर भी 75 प्रतिशत तक असफलता मिलती है क्योंकि (i) वीर्यपात से पूर्व जो तरल (precoital secretion) शिश्न से निकलता है उसमें सामान्यत: शुक्राणु उपस्थित रहते हैं और उनका डिम्ब से संयोग हो सकता है। (ii) वीर्य को योनि से बाहर पात करने में जरा भी विलम्ब होने पर वीर्य का कुछ अंश योनि में रह सकता है, जो गर्भ स्थापना का कारण हो सकता है।

(३) **सुरक्षित काल** (safe period, rhythm method)—इस उपाय का आधार है कि केवल सुरक्षित काल में संभोग करने से गर्भ स्थापना की सम्भावना नहीं होती है। इस काल के अतिरिक्त असुरक्षित काल का तात्पर्य उन दिनों से है जब डिम्बग्रन्थि (ovary) से डिम्ब (ovum) निकल कर डिम्ब वाहिनी (fallopian tube) या गर्भाशय में प्रवेश किये होता है और उसका शुक्राणुओं (spermatozoa) से संयोग होकर गर्भ स्थापित हो सकता है। सामान्यत: मासिक धर्म (menstrual cycle) के प्रारम्भ होने से चौदहवें दिन (13वें दिन से 16वें दिन तक) डिम्ब गर्भाशय में प्रवेश करता है और दो दिन तक जीवित रहता है। अत: गर्भ स्थापना इन्हीं दो दिन में हो सकती है। शुक्राणु योनि मे अधिक से अधिक तीन दिन जीवित रह सकते हैं। अत: डिम्ब के गर्भाशय में प्रवेश के 2-3 दिन पूर्व के वीर्य में उपस्थित शुक्राणु भी गर्भ स्थापना कर सकते हैं। अत: यदि इन दिनों को बचाकर संभोग किया जाय तो गर्भ स्थापना की सम्भावना नहीं रहती है। उदाहरण के तौर पर समझिये कि मासिक धर्म इस महीने की 28वीं तारीख को होगा तो इसके 11 दिन पूर्व 17 तारीख होगी। अब 17 तारीख से 5 दिन और पीछे की गिनती कर (16, 15, 14, 13, और 12 तारीख) अंकित कर लें। इन पाँच दिनों में किसी दिन भी स्त्री के गर्भाशय में डिम्ब प्रवेश कर सकता है। सुरक्षा के लिए इन पाँच दिनों में तीन दिन और जोड़ लें (11, 10 और 9 तारीख) क्योंकि शुक्राणु तीन दिन तक जीवित रह सकते हैं। इस प्रकार ता० 9 से ता० 16 तक के काल में संभोग करने से गर्भ स्थापना की सम्भावना रहती है। यह 'असुरक्षित काल'

है। इसके पहिले अर्थात् पहिली तारीख से आठ तारीख तक तथा इसके पश्चात् 17 तारीख से 27 तारीख तक का काल 'सुरक्षित काल' होगा। इस काल में संभोग करने से गर्भ स्थापना का भय नहीं रहता है क्योंकि एक से आठ तारीख तक गर्भाशय में डिम्ब होगा ही नहीं और 17 तारीख से 27 तारीख तक वह मृत अवस्था में होगा।

इस उपाय को काम में लाने से संभोग काल कम हो जाता है। उन स्त्रियों में इसकी पहिले से ही गणना करना सरल है जिनमें मासिक धर्म नियमित होता है परन्तु जिन स्त्रियों में मासिक धर्म अनियमित होता है उनमें पहले से सुरक्षित काल की गणना करना कठिन होता है। ऋतु स्राव के प्रारम्भ को प्रथम दिन मानकर आगे के लिए भी गणना की जा सकती है।

कृत्रिम गणना—

रासायनिक उपाय—ये उपाय केवल स्त्रियों के प्रयोग के लिए हैं—

(१) **झागवटी** (foam tablets)—झागवटी को अनेक औषधि निर्माता बनाते हैं और विभिन्न नामों से बाजार में विक्रय करते हैं यथा कोनटेब (contab), प्लेनीटेब (planitab), वोलपार (volpar), गायनोमिन (gynomin), सेम्पून (sampoon), टिबटेब (tibtab) आदि। इनके प्रयोग के लिये एक अथवा दो वटी लेकर और स्वच्छ जल से गीला कर अंगुली की सहायता से योनि में प्रवेश कराई जाती है। योनि के तरल के सम्पर्क में आकर इनसे गाढ़ा झाग उत्पन्न होता है जो समस्त योनि में फैल जाता है और शुक्राणुओं की गति रोक देता है। इन बटियों में शुक्राणुनाशी (spermicidal) पदार्थ फेनिल मरक्यूरिक एसीटेट (phenyl mercuric acetate) भी होता है, जिससे शुक्राणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार इन झाग वाली टिकियों के झाग में शुक्राणु निष्क्रिय हो जाते हैं जिस कारण वे गर्भाशय ग्रीवा (cervix) को पार नहीं करते हैं एवं शुक्राणुनाशी द्वारा भी वे नष्ट हो जाते हैं।

लाभ—(i) टिकियायें सस्ती और हानिरहित होती हैं। (ii) सरलता से व्यवहार में लाई जा सकती हैं। (iii) लगातार व्यवहार में लाते रहने से 40% सफलता मिल जाती है। (iv) इस टिकियाओं को डायफ्राम के प्रयोग के साथ व्यवहार में लाने पर 90% तक सफलता मिल जाती है।

दोष (हानि)—(i) योनि में टिकियायें घुलने में काफी समय लेती हैं। अतः संभोग से काफी समय पूर्व इनको व्यवहार में लाना पड़ता है। (ii) गर्भाशयग्रीवा-शोथ (cervicitis) अथवा योनिशोथ (vaginitis) की दशा में इनके द्वारा जलन तथा क्षोम (irritation) उत्पन्न हो जाता है। (iii) खुले में रखने पर ये टिकियायें शीघ्र ही प्रभावहीन हो जाती हैं।

(२) **जेली, पेस्ट तथा क्रीम आदि**—इनमें से किसी का प्रयोग करें। उसे एप्लीकेटर (applicator-एक तरह की पिचकारी) की सहायता से योनि में प्रविष्ट कराया जाता है। योनि के तापमान पर ये पिघल जाती हैं और योनि की भित्ति

पर फैल जाती हैं। ये शुक्राणुनाशी होती हैं अतः शुक्राणु निष्क्रिय होकर नष्ट हो जाते हैं। अन्य साधनों के स्थान पर इन रासायनिक द्रव्यों का प्रयोग सरल है। डायफ्राम के साथ यदि इनका प्रयोग किया जाय तो सफलता अच्छी मिलती है। इनमें एक ही दोष है कि योनि में तरलता तथा चिपचिपाहट पैदा करते हैं। ये औषधियाँ अनेक नामों से बाजार में मिलती हैं तथा प्रिसिपटिन (preciptin), वोलपार (volpar) पेस्ट, कूपर्जक्रीम (cooper's cream), ओरथोगाइनोल (orthogynol) आदि।

यांत्रिक उपाय—निरोधक (condom) के अतिरिक्त शेष उपाय स्त्रियों के प्रयोग के हैं।

निरोधक (condom)—ये कृत्रिम रबर (synthetic rubber) अथवा लेटेक्स (latex) द्वारा निर्मित एक थैली होती है जिसे संभोग के समय पुरुष अपने शिश्न पर चढ़ा लेता है। भारत में निर्मित निरोधक 'निरोध' के नाम से बहुत कम मूल्य पर मिलते हैं। अन्य निरोधक गोल्ड क्वॉइन (cold coin), ड्यूरोपैक (duro-pack), थ्री नाइट्स (three knights), रेक्स (rex) आदि नामों से बाजार में मिलते हैं। 'निरोध' गर्भ स्थापना को रोकने का एक विश्वस्तरीय साधन है क्योंकि यह शुक्राणुओं को गर्भाशय में पहुचने नहीं देता है। इसका प्रयोग करना भी सरल है। चाहें तो व्यवहार में लाने के बाद इसे साबुन और जल से साफ कर चॉक अथवा टेलकम पाउडर लगाकर पुनः इस्तेमाल के लिए रखा जा सकता है। संभोग के समय यदि यह फट जाता है अथवा ऊपरी सिरे से वीर्य निकल जाता है तो गर्भ स्थापना की सम्भावना हो सकती है। इसके इस्तेमाल से एक अन्य लाभ है कि यदि स्त्री योनि ट्राइकोमोनीयता (viginal trichomoniasis) अथवा रतिज (veneral) रोगों से त्रस्त है तो पुरुष उससे बचा रहता है।

स्त्रियों में यान्त्रिक उपाय—स्त्रियों में अन्तर्गर्भाशय प्रयोग के लिए डायफ्राम (diaphragm, pessary पेसरी), लुप (loop) अथवा कॉपर टी (copper T) को व्यवहार में लाते हैं। इनको गर्भाशय ग्रीवा (cervix) पर पश्च तोरणिका (posterior fornix) से जघन संघानक (symphysis pubis) के पीछे तक लगा दिया जाता है। इससे वीर्य गर्भाशय में नहीं पहुँच पाता है।

डायफ्राम—ये आकार एवं नाप में विभिन्न प्रकार के होते हैं। आकार में सामान्यतः रबर अथवा प्लास्टिक की मुलायम कटोरी के समान होते हैं। इनका किनारा नम्य (flexible) स्प्रिंग या धातु का होता है। यह जानने के लिये कि स्त्री विशेष को किस नाप का डायफ्राम चाहिये, दो अँगुलियाँ योनि में पश्च-तोरणिका तक डालते हैं फिर उन्हें जघन संघानक के पीछे तक ले जाते हैं। इन दोनों के बीच के फासले के नाम के डायफ्राम की आवश्यकता होती है। डायफ्राम को इस्तेमाल करने से पूर्व जैली, पेस्ट, क्रीम आदि लगा लेनी चाहिये तथा कुछ

उसकी कटोरी में भी भर देना चाहिए। झाग वटी भी इस्तेमाल कर सकते हैं। इससे शुक्राणु क्रियाहीन हो जाते हैं।

चित्र 18·2 विभिन्न आकार के डायफ्राम (पेसरी)

संभोग से पूर्व डायफ्राम लगा लेना चाहिए तथा संभोग के पश्चात् कम से कम 6 घंटे लगा रखना चाहिए। संभोग के पश्चात् 24 घन्टों तक इसे रखा जा सकता है। इसके प्रयोग से 12% सफलता मिलती है क्योंकि चाहे कितने ही सही ढंग से इसे व्यवहार में लाया गया हो गर्भाशय ग्रीवा की पेशियों के दृढ़ नहीं होने के कारण संभोग के समय यह अपने स्थान से हट सकता है।

लूप (loop पाश)—लूप प्लास्टिक अथवा पोलीथीन का दुहरे एस (double s) के आकार का होता है। इसके एक सिरे पर नाइलोन का धागा लगा रहता है जो इसके लगाने के पश्चात् योनि से बाहर की ओर निकला रहता है। इससे यह मालूम रहता है कि लूप अपने स्थान पर है। लूप तीन नापों में मिलता है भारत में सामान्यत: 25 मि०मी० वाली लूप अधिक व्यवहार में लाई जाती है। इसके निर्माण में थोड़ी मात्रा
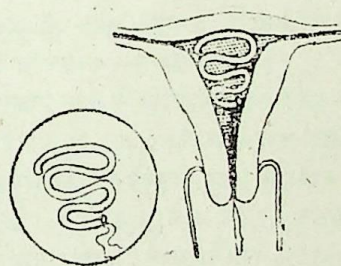
चित्र 18·3 लूप

में बैरियम सल्फेट रहता है जिस कारण इसे एक्सरे (x' ray) द्वारा भी देखा जा सकता है। इसे गर्भाशय में प्रवेश कराकर छोड़ दिया जाता है और वर्षों पड़ा रहने दिया जा सकता है। लूप को किसी समय भी लगाया जा सकता है परन्तु ऋतु स्राव की समाप्ति पर लगाना सरल है। गर्भ पात अथवा प्रसव के तुरन्त बाद भी इसे लगाया जा सकता है। लगाने से पूर्व लूप को उबालना नहीं चाहिए। सेवलॉन आदि में अथवा दो प्रतिशत शक्ति के टिंचर आयोडीन का बीस मि०ली० लेकर एक लीटर स्वच्छ जल में मिलाकर उसमें इसे बीस मिनट तक रखने से इसका निर्जीवीकरण हो जाता है। इसको लगाने से पूर्व गर्भाशय ग्रीवा को किसी विसंक्रामक के फाहे (swab) से निर्जीवीकरण कर लेना चाहिए।

सिद्धान्त है कि 'यदि कोई विजातीय तत्व गर्भाशय (uterus) में होगा तो गर्भ स्थापना नहीं होगी। इस सिद्धान्त पर लूप आदि का प्रयोग किया जाता है।

लूप से लाभ—(१) इसे व्यवहार में लाना सरल है। (२) गर्भाशय में प्रवेश

कराने के लिए कुछ मिनट की ही आवश्यकता होती है। (३) इसका मूल्य अल्प होता है। (४) वर्षों तक गर्भाशय में छोड़ा जा सकता है।

लूप का निषेध (contraindication)—निम्न अवस्थाओं में लूप नहीं लगाना चाहिए।

(१) गर्भावस्था अथवा गर्भ स्थापना की आशंका पर। (२) श्रोणि (pelvis) में तीव्र अथवा अनुतीव्र (sub acute) उपसर्ग (infection) होने पर। (३) संक्रमित गर्भपात का इतिवृत्त अथवा गत 6 सप्ताह के अन्दर प्रसवोत्तर गर्भाशयकला शोथ (endometritis) होने पर। (४) पेश्यर्बुद (myoma) के कारण गर्भाशय का विरूपण (distortion) हो जाने पर। (५) गर्भाशय द्वारा असामान्य रूप से रक्त स्राव का निकट बीते समय का इतिवृत होने पर। (६) गर्भाशय केन्सर अथवा दुर्दमता (malignancy) की आशंका होने पर। (७) गर्भाशय से विना कारण रक्त स्राव (metrorrhagia) होने पर। (८) तीव्र गर्भाशयग्रीवा शोथ (cervicitis) होने पर, तथा (९) अप्रसवा (nullipara) में।

लूप का अनुषंगी प्रभाव (side effects)

(१) **रक्त स्रवण**—अधिकांश स्त्रियों में लूप स्थापन के पश्चात् कुछ दिवस तक अल्प मात्रा में योनि से रक्त निकला करता है। कुछ स्त्रियों में यह रक्त स्राव मासिक धर्म के पश्चात् बन्द हो जाता है। फिर भी कुछ स्त्रियों में रक्त बाद में भी आता है। इन स्त्रियों को कैल्शियम ग्लूकोनेट अथवा केल्शियम लेक्टेट और विटेमिन सी देने से लाभ होता है। इन स्त्रियों को साथ ही साथ लौह वटी (iron tablets), पूनर्नवा मण्डूर अथवा लोहासव भी देना चाहिए जिससे रक्त स्रवण के कारण होने वाली अरक्तता (anaemia) से बचाया जा सके। यदि रक्त स्रवण इन उपचारों के पश्चात् भी बन्द नहीं होता है तो लूप को निकाल देना चाहिये।

(२) **वेदना**—सामान्यत: लूप लगाने के पश्चात् स्त्रियों में उदर के पीछे के भाग में ऐंठन (cramps), पीठ के नीचे की ओर वेदना, जो जंघा तक पहुँच जाती है, होती है। कुछ दिनों के पश्चात् ये लक्षण स्वयं समाप्त हो जाते हैं। वेदना अप्रसवा स्त्रियों में तथा उन स्त्रियों में, जिनके काफी समय से बच्चे उत्पन्न नहीं हुए हैं, अधिक होती है। वेदनाहर (analgesics) औषधियाँ देने से इन लक्षणों में लाभ होता है।

(३) **योनि से अस्राव** (discharge)—कुछ स्त्रियों में श्वेत प्रदर (leucorrhoea) के समान शिकायत देखने में आती है। इसका कारण लूप नहीं होता है। योनि में कैंडिडा उपसर्ग, गोनोरियल, उपसर्ग, ट्राइकोमोनास (trichomonas) उपसर्ग अथवा अन्य कोई उपसर्ग इसका कारण हो सकता है। कारण के अनुसार उपचार करने से लाभ होता है।

(४) **श्रोणी संक्रमण** (pelvic infection)—सामान्यत: गर्भाशय निर्जीवाणुक (sterile) होता है और गर्भाशय ग्रीवा (cervix) 80 प्रतिशत स्त्रियों में संक्रमित

होती है। अतः यह सम्भव है कि लूप को लगाते समय गर्भाशय ग्रीवा से संक्रमण गर्भाशय में प्रवेश कर जाय। ऐसी दशा में यदि संक्रमण गम्भीर स्थिति में नहीं पहुँचा है तो लूप को निकाल कर प्रतिजीवी (antibiotics) चिकित्सा करनी चाहिए परन्तु गम्भीर स्थिति में पहिले प्रतिजीवी चिकित्सा प्रारम्भ कर बाद में लूप को निकालना चाहिए।

कॉपर टी (Copper T)

यह ताम्र की अंग्रेजी अक्षर टी की बनावट का होता है। आजकल लूप के स्थान पर इसे गर्भाशय में लगा देते हैं तथा यह तरीका अब काफी प्रचलित है। लूप के सम्बन्ध में जो कुछ ऊपर लिखा गया है उसे कॉपर टी के सम्बन्ध में भी समझ लिया जाय।
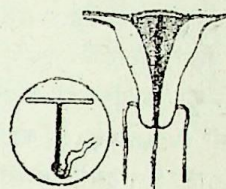
चित्र 18·4 कॉपर टी

गर्भ निरोधक (Cotraceptive)—मुख द्वारा औषधि सेवन द्वारा गर्भ का निरोध।

संयुक्त वटी (combined pills, oral pills)—इन गोलियों में 0·5 से 0·3 मिली ग्राम प्रोजेस्टोजन (progestogen) तथा अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में इस्ट्रोजन (oestrogen) होता है। ऋतु स्राव के 5वें दिन से लगातार 21 या 22 दिन तक औषधि लेनी होती है। अन्तिम मात्रा के दो चार दिन पश्चात् ऋतु स्राव प्रारम्भ हो जाता है। जिस दिन मासिक स्राव प्रारम्भ होता है उसे आगामी चक्र का प्रथम दिन मानते हुए 5 वें दिन से पुनः औषधि लेने का चक्र प्रारम्भ कर दिया जाता है। यदि पूरे कोर्स के तीन चार दिन पश्चात् भी ऋतु स्राव प्रारम्भ नहीं होता है तो सात दिन के लिए औषधि सेवन बन्द कर पुनः कोर्स को प्रारम्भ किया जाता है।

इस औषधि से पीयूष ग्रन्थि (pituitary gland) द्वारा गोनेडोट्रोफिन (gonadotrophin) हार्मोनों का स्रवण रुक जाता है, जिस कारण डिम्ब ग्रन्थि (ovary) से डिम्ब का क्षरण भी रुक जाता है।

ये गोलियाँ 21 या 28 गोलियों के पेक में मिलती हैं। 21 के बाद 28 दिवस तक गोलियों में औषधि की मात्रा नहीं होती है। ये इसलिए होती हैं कि यदि दूसरा कोर्स प्रारम्भ करना पड़े तो 21 वें दिन के पश्चात् भी इन गोलियों को स्त्री लेती रहे।

कुछ स्त्रियों में इन गोलियों को लेने के पश्चात् कुछ लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं—यथा थकावट, सिर में पीड़ा, जी मिचलाना, अस्वस्थता का अनुभव होना, मासिक धर्म का बन्द हो जाना, वमन, स्तनों का ढीला हो जाना, तथा दो मासिक धर्मों के मध्य में भी रक्त स्राव होते रहना। कुछ स्त्रियों में मोटापा बढ़ जाता है।

इसका कारण शरीर में जल का रुक जाना है। इसके लिए उन्हें भोजन में नमक कम कर देना चाहिए और मूत्रल औषधियां लेनी चाहिए।

उपरोक्त लक्षणों में गोलियों का सेवन सामान्यत: बन्द नहीं किया जाता है, परन्तु चिकित्सक से सम्मति ले लेना आवश्यक है।

गर्भपात (abortion)—इसके सम्बन्ध में पहिले ही लिख आये हैं।

स्थायी उपाय (Permanent methods)

नसबन्दी (बन्ध्यीकरण sterilization)–स्थायी उपाय उन दम्पत्तियों के लिए आवश्यक है जिनके २-३ बच्चे हो चुके हैं तथा और अधिक की आवश्यकता नहीं है। पुरुषों में शुक्र वाहिका को काट देते हैं। इस शल्य कर्म को शुक्रवाहिकोच्छेदन या वासेक्टॉमी (vasectomy) कहते हैं। स्त्रियों में यह कर्म ट्यूबेक्टॉमी (tubectomy) कहलाता है। इसमें डिम्बवाहिनियों को बाँध या काट देते हैं। अधिकांश देशों में ट्यूबेक्टॉमी कर्म को पसन्द किया जाता है परन्तु हमारे यहाँ वासेक्टॉमी को अधिकांश पुरुष कराते हैं।

पुरुष नसबन्दी (वासेक्टॉमी (vasectomy)—इस कर्म में शुक्र वाहिकाओं (vas deferens) को काटकर दोनों सिरों को बन्धन कर उलट देते हैं जिससे दोनों कटे हुए भागों के मध्म लगभग 6 सेन्टीमीटर का अन्तर रखा जाता है। यह एक सरल शल्य-कर्म है। शल्य कर्म में पूर्ण बिसंक्रमण का ध्यान रखना आवश्यक है अथवा संक्रमण होने की सम्भावना रहती है।

चित्र 18·5 वासेक्टॉमी शल्यकर्म

कभी-कभी व्यक्ति में रक्त गुल्म (haematoma) हो जाता है। इसके निवारण के लिए उपयुक्त रक्त स्तम्भक (haemotasis) तथा प्रतिजीवी (antibiotic) औषधियाँ देना आवश्यक है।

इस शल्य कर्म के 10-14 दिन के पश्चात् शुक्रवाहिनी में शुक्राणु कणों के रूप में एकत्रित हो जाते हैं जिससे वाहिनी के सिरे फूल जाते हैं और वेदना होती है। यह शोथ धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। रति कर्म में इस शल्य कर्म से किसी प्रकार की कमी नहीं आती है। कुछ व्यक्ति केवल भावनात्मक कारण से ऐसा अनुभव करते हैं।

पुरुष नसबन्दी के व्यक्ति को सलाह दे दी जानी चाहिए कि वह (१) 15 दिनों तक साइकिल आदि न चलावे और न भारी बोझ उठावे। (२) शल्य कर्म के तुरन्त बाद ही वह वन्ध्य (sterile) नहीं हो जाता है। लगभग 30 प्रतिशत व्यक्तियों में जीवित शुक्राणु लगभग 8 सप्ताह तक रहते हैं। (३) इसके लिए प्रत्येक मास उस व्यक्ति को अपने शुक्र का परीक्षण करा लेना चाहिए तथा संभोग कर्म में अन्य गर्भ निरोधक उपाय काम में लाते रहना चाहिए। यदि दो बार के

शुक्र परीक्षण में शुक्राणु प्राप्त नहीं होते हैं तो फिर अन्य निरोधक उपायों की उसे आवश्यकता नहीं रहती है।

यदि किसी कारण से उस व्यक्ति को पुनः सन्तान की आवश्यकता होती है तो शुक्र वाहिनी के दोनों उल्टे हुए सिरों को परस्पर जोड़कर सीवन कर्म कर दिया जाता है। अधिकांश में यह कार्य सफल रहता है।

स्त्री नसबन्दी (tubectomy ट्यूबेक्टॉमी)– इस शल्य कर्म को किसी भी समय किया जा सकता है परन्तु प्रसव के 3-4 दिन पश्चात् करना सुविधाजनक रहता है। उस समय गर्भाशय उठा हुआ होता है अतः डिम्ब वाहिनियों को ज्ञात करना सरल रहता है। गर्भावस्था में यह कर्म नहीं कराना चाहिए। यह भी देख लेना चाहिए कि मासिक धर्म का दूसरा पक्ष (पखवाड़ा) तो नहीं है। ऐसी स्थिति में डिम्ब गर्भाशय में प्रवेश कर चुका होता है।

चित्र 18·6 ट्यूबेक्टॉमी शल्यकर्म

इस शल्य कर्म में डिम्ब वाहिनी (fallopian tube) को काट कर कटे हुए सिरों पर बन्धन लगा देते हैं। अनेक शल्यकर्त्ता इन सिरों को बन्धन से पूर्व आचुर (क्यूरेट curette) कर देते हैं।
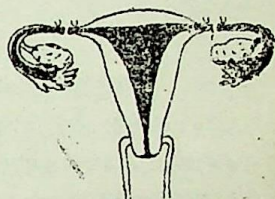
१६

स्वास्थ्य सांख्यिकी

व्यक्ति कितना ही कुशाग्र बुद्धि क्यों नहीं हो, सभी बातों को स्मृति में रखना अति दुष्कर है और विभिन्न आँकड़ों को याद रखना तो और भी कठिन है। अतः इस दुष्कर कार्य को सरल बनाने के लिए जिन उपायों को व्यवहार में लाया जाता है वे सांख्यिकी विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। तथ्यों का संकलन कर उनका वर्गीकरण करना, फिर सारणी के रूप में प्रस्तुत करना जिससे उनकी व्याख्या, विवेचना (analysis) तथा समता (comparison) के द्वारा निष्कर्ष निकाला जा सके सांख्यिकी (Statistics) विज्ञान कहलाता है।

तथ्यों का संग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है। (i) अन्वेषक स्वयं कार्य क्षेत्र में जाकर जन सम्पर्क के द्वारा सूचना प्राप्त कर आँकड़े तैयार करें अथवा (ii) किसी अन्य व्यक्ति के कार्य से संकलन कर व्यौरा तैयार करें।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सांख्यिकी अत्यन्त आवश्यक होती है। प्रत्येक राष्ट्र अपने देशवासियों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में उत्सुक रहता है। इसके द्वारा मुख्य रूप से तीन प्रकार की जानकारी मिलती है। (i) जन्म एवं मृत्यु दर के आँकड़ों से जन स्वास्थ्य की दशा (ii) स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारण, यथा आहार, निवास, सामाजिक, आर्थिक एवं पर्यावरण आदि को प्रभावित करने वाले तथ्य तथा (iii) स्वास्थ्य सेवा सम्बन्धी सुविधाएँ, यथा रोगों के रोकथाम के उपाय तथा रोगियों के उपचार आदि की सुविधाओं से सम्बन्धित तथ्य।

उपरोक्त तथ्यों की जानकारी से शासन एवं जनसामान्य को ज्ञात हो जाता है कि क्षेत्र विशेष में (i) जन स्वास्थ्य की क्या अवस्था है। इस सम्बन्ध से क्या समस्यायें हैं और उनका कितना विस्तार है। (ii) अन्य राष्ट्रों की समता में उक्त राष्ट्रों के निवासियों के स्वास्थ्य की क्या स्थिति है। उसमें किस प्रकार के सुधारों की आवश्यकता है और इनके लिए किन उपायों का अवलम्बन आवश्यक है। (iii) भविष्य के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं का निर्माण करना तथा स्वास्थ्य सेवाओं के संगठन एवं नियन्त्रण को उपयोगी बनाने की दिशा में कार्य करना तथा (iv) स्वास्थ्य सम्बन्धी अनुसन्धान कार्यों को प्रोत्साहित करना।

(१) **जनगणना** (the census)—हमारे देश में पहिली जनगणना सौ वर्ष पूर्व सन 1881 में हुई थी। उसके उपरान्त प्रत्येक दस वर्ष के पश्चात् जन गणना

की जाती है। इस समय की अन्तिम जनगणना मार्च सन् 1981 में हुई है। जनगणना से न केवल जनसंख्या ज्ञात होती है वरन् व्यक्तियों की आयु, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति आदि की जानकारी भी प्राप्त होती है।

(२) **जन्म एवं मृत्यु का पंजीकरण**—केन्द्रीय सरकार ने सन् 1964 में एक कानून लागू किया जिसे जन्म एवं मृत्यु पंजीकरण अधिनियम १९६९ (Births & Deaths Registration Act, 1969) कहते हैं। इसके द्वारा 1 अप्रैल सन् 1970 से प्रत्येक परिवार का यह दायित्व है कि वह अपने परिवार में होने वाले जन्म एवं मृत्यु के सम्बन्ध में सरकार द्वारा निर्धारित कार्यालय में सूचना पंजीकृत करावे। यह हमारा दुर्भाग्य है कि अधिकांश व्यक्ति इसके प्रति उदासीन रहते हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में सही जानकारी प्राप्त नहीं होती है। नगरों में नगरपालिकाओं का स्वास्थ्य विभाग इन आँकड़ों को रखता है तथा देहात में स्वास्थ्य निरीक्षक (Sanitary Inspectors) आँकड़ों का संकलन कर जनपद के स्वास्थ्य विभाग में अंकित कराते हैं।

भारत की स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति काल 15 वर्ष से 45 वर्ष के मध्य सामान्यतः रहता है। यदि युवती का विवाह 18 वर्ष की आयु में होता है और 45 वर्ष की आयु तक वह सधवा रहती है तो उसे 27 वर्ष का समय सन्तानोत्पत्ति के लिए मिलता है। इस काल में सामान्यतः वह 6 से 8 बार गर्भ धारण करती है। यदि कन्या का विवाह अधिक आयु में होता है तो सन्तानोत्पत्ति काल कम हो जाता है और सन्तानें कम उत्पन्न होती हैं। इन आवश्यक जानकारियों के लिए शिशु जन्म पंजीकरण के समय माता की आयु एवं सन्तान क्रम भी दर्शाया जाना आवश्यक है।

इसी प्रकार मृत्यु के कारणों को भली-भाँति नहीं दर्शाया जाता है। इसके अनेक कारण हैं जिनमें मुख्य हैं (i) मृतक के रोग का ठीक प्रकार से निदान न होना तथा (ii) पंजीकरण कराने वाले की अज्ञानता। मृत्यु का कारण ज्वर मात्र लिखा देने से तो स्वास्थ्य विषयक पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं होती है। यह ज्ञात होना आवश्यक है कि कौन सा ज्वर था। इसी प्रकार सामान्यतः मृत्यु के कारण में हृदयगति रुक जाने (heart failure) से अथवा दुर्बलता, अवसन्नता (asthenia) आदि कह देने से भी आवश्यक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। ये रोगों के नाम नहीं हैं वरन् मृत्यु आने के प्रकार (modes) हैं।

जन्म और मृत्यु सम्बन्धी आँकड़े किसी भी राष्ट्र के स्वास्थ्य को जानने के लिए अति आवश्यक होते हैं। समाज को इस दिशा में अपना दायित्व निभाना चाहिए।

(३) **चिकित्सालयों एवं स्वास्थ्य केन्द्रों के अभिलेख (records)**—चिकित्सालयों तथा स्वास्थ्य केन्द्रों के रोगियों के विषय में अभिलेख आवश्यक जानकारी प्रदान करते हैं। इनसे यह ज्ञात हो जाता है कि किस क्षेत्र में किस रोग विशेष का अधिक

प्रकोप होता है। ऋतुओं का रोगों से क्या सम्बन्ध है तथा किस आयु विशेष को कौन सी व्याधि अधिक आक्रान्त करती है। प्रत्येक चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य केन्द्र पर चिकित्सा हेतु निर्भर रहने वाली जनसंख्या के आँकड़े भविष्य की स्थानीय स्वास्थ्य योजनाओं के बनाने में बहुत सहायक होते हैं।

स्वयं अपने प्रयास से जन स्वास्थ्य सम्बन्धी तथ्यों को एकत्रित करने वाले अन्वेषक सामान्यतः अधोलिखित जानकारी एकत्रित करते हैं। इनका विश्लेषण कर वे स्वास्थ्य सम्बन्धी आँकड़े प्रस्तुत करते हैं।

१. समाज से सम्बन्धित तथ्य

(i) **जनसंख्या**—कुल संख्या, आयु वर्ग के अनुसार संख्या, लिंग वर्ग के अनुसार संख्या, जनसंख्या का भौगोलिक वितरण, घनत्व (density) आदि।

(ii) **परिवार सम्बन्धी तथ्य**—प्रत्येक परिवार के सदस्यों की संख्या, परस्पर सम्बन्ध (relationship), सन्तानों की संख्या, एक ही माता पिता की सन्तानों में आयु का अन्तर, व्यसन, रीति रिवाज, आदतें एवं धार्मिक विश्वास, विवाह, मरण आदि।

(iii) **शिक्षा के सम्बन्ध में तथ्य**—स्त्रियों में तथा पुरुषों में शिक्षा, बच्चों की शिक्षा व्यवस्था, शिक्षा सामग्री यथा पुस्तकों आदि की व्यवस्था।

(iv) **आवागमन के साधन**—मोटर, स्कूटर, साइकिल, अन्य साधन जो परिवार के पास हैं।

(v) **सामूहिक माध्यम** (mass media)—रेडियो, टेलीविजन, समाचार पत्र आदि।

२. अर्थ (धन) सम्बन्धी तथ्य

(i) **व्यवसाय**—प्रमुख व्यवसाय, अन्य व्यवसाय, अव्यवसाय (unemployed) आदि।

(ii) **आय**—परिवार की संयुक्त आय, आय प्रति व्यक्ति, ऋण, अन्य व्यक्त (tangible) धन आदि।

(iii) **व्यय**—भोजन, वस्त्र, किराया, ईंधन, शिक्षा, चिकित्सा, यात्रा, मनोरंजन, दान, सेवकों के वेतन आदि पर व्यय।

३. आवास सम्बन्धी तथ्य

(i) **गृह**—निजी अथवा किराये पर, निवास गृह की जमीन की अवस्था। नीची है, ऊँची है, रेतीली है अथवा अन्य; मकान पक्का है अथवा कच्चा है; कमरों की संख्या, प्रति कमरा व्यक्तियों की संख्या; फर्श, दीवारें, छत आदि की अवस्था, प्रकाश एवं संवातन की व्यवस्था; जल प्राप्ति एवं निकास की व्यवस्था।

(ii) पाक गृह (रसोई) में धुवाँ निकलने की व्यवस्था, कूड़े की व्यवस्था,

भोजन सामग्री रखने की व्यवस्था, जल की व्यवस्था, जल निकास की व्यवस्था, आदि।

(iii) शौचालय की व्यवस्था, मल निस्सारण की व्यवस्था।

(iv) मच्छर, मक्खी, चूहे आदि के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी।

४. आहार सम्बन्धी तथ्य—

(i) आहार का कैलोरी मूल्य, प्रति व्यक्ति कितनी कैलोरी प्राप्त होती है।

(ii) आहार में प्रोटीन, स्नेह (fat) का अंश। दूध, मांस, मछली, अण्डा, फल आदि की मात्रा।

५. स्वास्थ्य सेवा सम्बन्धी तथ्य—

(i) सामान्य-क्षेत्र में चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य केन्द्रों की संख्या, प्रति हजार जनसंख्या पर चिकित्सालय में शय्यायों की संख्या।

(ii) चिकित्सालय में रोगियों की दैनिक संख्या, रोगों के नाम, निदान व्यवस्था।

(iii) चिकित्सक, सेवा परिचारिकायें, प्रविधिज्ञ (technicians) एवं अन्य कर्मचारियों की संख्या।

(iv) औषधियों एवं अन्य उपकरणों की व्यवस्था।

(v) प्रतिरोधक (preventive) सेवाओं की व्यवस्था। मसूरिका (small-pox), कण्ठ रोहिणी (diphtheria), पोलियो माईलाइटिस, आदि संचारी (communicable) रोगों के प्रतिरोधक उपाय। माताओं की प्रसव पूर्व सहायता की व्यवस्था, बच्चों की देखभाल की व्यवस्था, गर्भ निरोधक उपायों का समाज द्वारा पालन आदि।

(उपरोक्त तथ्यों को चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थी को स्वयं क्षेत्र में जाकर एकत्रित कर सांख्यिकी तैयार करनी चाहिए)।

उपरोक्त तथ्यों का संकलन कर वर्गीकरण करना चाहिए। विभिन्न वर्गों के आंकड़ों को सारिणी के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। सारिणी बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि (i) प्रत्येक सारणी का स्पष्ट शीर्षक होना चाहिए। (ii) प्रत्येक सारिणी को क्रमांक देना चाहिए। (iii) सारिणी के प्रत्येक खाने (column) का पृथक से उपयुक्त शीर्षक होना चाहिए। (iv) आंकड़ों को उनकी उपयोगिता के अनुसार क्रम देना चाहिए। (v) सारिणी बहुत लम्बी नहीं होनी चाहिए। (vi) चौड़ाई के रूख भी अधिक चौड़ी नहीं होनी चाहिए। दाहिने से बायें देखने की अपेक्षा ऊपर से नीचे सरलता से देखा जा सकता है। इस प्रकार सारिणियों को व्यवस्थित कर उनकी समता (comparision) कर निष्कर्ष निकालना चाहिये।

सारिणी से भी अधिक सुविधाजनक एवं तुलनात्मक दृष्टि से अधिक उप-

युक्त आँकड़ों को आरेख (diagramme-chart) के रूप में प्रस्तुत करना है। आपने अवश्य देखा होगा कि चिकित्सालय मे रोगियों के तापमान (temperature), श्वसन (respiration) तथा नाड़ी (pulse) के ग्राफ आरेख (charts) इसी प्रकार रखे जाते हैं। अन्य कुछ तरीके नीचे दिए जा रहे हैं।

सरल दण्ड आरेख (simple bar chart)—यदि एक ही तथ्य के विभिन्न आंकड़े आरेख रूप में प्रस्तुत करने होते हैं तो उन्हें सरल आरेख के रूप में प्रस्तुत
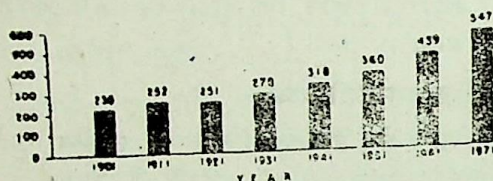
भारत की जनसंख्या
(दस लाख के अंकों में)

चित्र 19·1 सरल दण्ड आरेख

किया जा सकता है यथा ऊपर दिया हुआ आरेख सन् 1901 से लेकर सन् 1971 तक की विभिन्न जन गणनाओं में भारत की जनसंख्या को प्रदर्शित करता है।

बहु दण्ड आरेख (multiple bar chart)—दो या दो से अधिक सम्बन्धित आंकड़ों को एक आरेख द्वारा प्रदर्शित करने के लिए सरल आरेख उपयुक्त नहीं होता
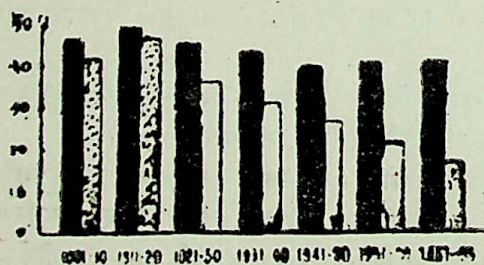
चित्र 19·2 बहुदण्ड आरेख

है। इसके लिए दो या अधिक दण्डों (bars) को एक दूसरे से सटाकर विभिन्न रंगों अथवा विभिन्न चिन्हों द्वारा दिखाते हैं जिससे तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। ऊपर दिया हुआ आरेख सन् 1901 से सन् 1961 तक जनगणना द्वारा प्राप्त जन्म एवं मृत्यु के आंकड़े इस प्रकार प्रस्तुत कर रहा है कि हमें दोनों का तुलनात्मक अध्ययन हो जाता है।

प्रविभाजित दण्ड आरेख (Subdivided or component bar chart)—यदि एक से अधिक आंकड़े हैं और प्रत्येक को अनेक भागों में विभाजित प्रदर्शित करना है तो उसे प्रविभाजित दण्ड आरेख द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार आंकड़ों का तुलनात्मक अध्ययन हो जाता है साथ ही साथ प्रतिशत में अनुपात भी ज्ञात हो जाता है। प्रत्येक दण्ड को पूर्ण सौ मानकर प्रतिशतों के अनुसार अन्तः
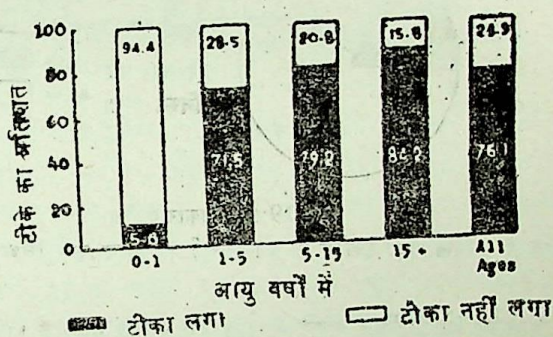
चित्र 19·3 प्रविभाजित दण्ड आरेख

विभाजन किया जाता है। यथा ऊपर का आरेख एक स्थान के निवासियों के बारे में आयु वर्ग के अनुसार यह बताता है कि किस आयु वर्ग के कितने प्रतिशत व्यक्तियों को चेचक का टीका लगा हुआ है।

आंकड़ों को वर्गाकार, वृत्ताकार अथवा अन्य अनेक प्रकार के चिन्हों से प्रदर्शित किया जा सकता है। यथा नीचे दिया गया चित्र विभिन्न देशों में प्रति एक
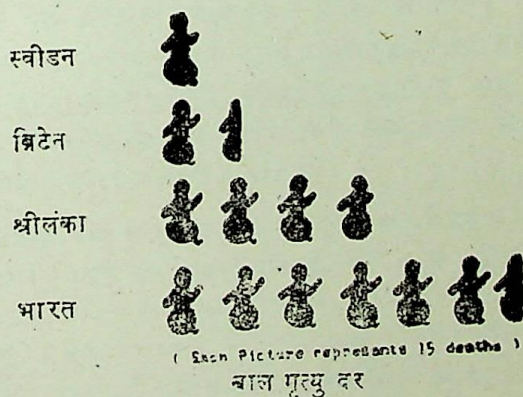
चित्र 19·4 बालक चिन्ह आरेख

हजारों जन्मों पर कितनी संख्या में बाल मृत्यु होती है, यह प्रदर्शित कर रहा है। चित्र में 'बालक' के चिन्ह से यह बताया जा रहा है।

प्रविभाजित वृत्ताकार आरेख (pie chart)—इस आरेख की सबसे बड़ी

उपयोगिता आँकड़ों के विभाजन सुविधा के कारण होती है। वृत्त के केन्द्र पर 360° का कोण होता है। सम्पूर्ण आंकड़ों का योगफल 360° मानकर प्रत्येक आँकड़े को उसके अनुपात के अंशों (degree) में व्यक्त करते हैं। नीचे दिया हुआ इसी प्रकार
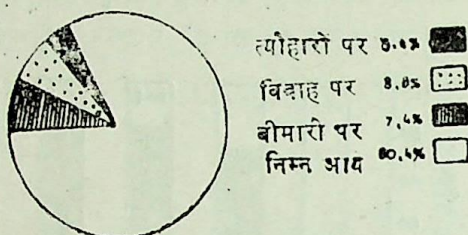
चित्र 19·5 वृत्ताकार आरेख

का वृत्ताकार आरेख एक उद्योग के कार्यकर्त्ता की आय का विभाजन प्रदर्शित कर रहा है।

आँकड़ों को प्रदर्शित करने के कुछ ढंग बताये गए हैं। अन्य अनेक दूसरे तरीकों से भी तथ्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

२०

योग प्रयोजनादि एवं चित्तवृत्तियाँ

प्रयोजन—संसार में प्राणियों की असंख्य योनियां हैं। इन योनियों में किसी भी प्राणी को आत्म ज्ञान नहीं है। उनको कतई ज्ञान नहीं है कि वे कौन हैं, कहाँ से आये हैं, किस प्रकार उनका जन्म हुआ है, कौन उनका नियन्ता है जिसके नियमों में बँधे हुए दुःख-सुख भोगते हैं एवं न इन प्राणियों को दुःख दूर करने के उपायों का ही ज्ञान है। ये प्राणी सार्थक शब्दों का उच्चारण नहीं कर सकते हैं और न सुनकर अर्थ ज्ञान कर सकते हैं। इस कारण असंख्य प्राणी वंश विकास की प्रक्रियाओं में अनुकूलता प्राप्त करने की असमर्थता के कारण प्रकृति में विलीन हो गये। केवल मनुष्य जाति ही अपने मस्तिष्क को अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक विकसित कर श्रेष्ठता को प्राप्त करता हुआ चला आ रहा है। आज से हजारों वर्ष पूर्व उसे यह ज्ञान हो गया था कि इस जगत की उत्पत्ति का कारण अपरा (जड़-अष्टधा प्रकृति-पंचभूत, मन, बुद्धि, अहंकार) एवं परा (चेतन-जीवात्मा) का संयोग है। उसको यह भी ज्ञान हो गया था कि पंचभूतात्मक शरीर से आत्मा का संयोग होते ही मन पर त्रिगुणों (सत्व, रज, तम) का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो जाता है और दुःख, सुख, इच्छा, द्वेष, संकल्प, विकल्प आदि से मनुष्य प्रभावित होने लगता है तथा यह कि आत्मा विकाररहित, सूक्ष्म, अजन्मा, नित्य, शाश्वत एवं पुरातन है तथा भौतिक शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है (**अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ गीता २/२०**)।

प्रागवैदिक काल से वैदिक काल में पहुँचते-पहुँचते मनुष्य का ज्ञान परिपक्व होता चला गया। यद्यपि वेद एवं उपनिषदों की अनेक श्रुतियों में आत्मा एवं परमात्मा के सम्बन्धों का उत्तम प्रकार से वर्णन किया गया है एवं परमात्मा की महिमा, शक्ति, स्वरूप, ज्ञान, बल, क्रिया आदि का भी भली भाँति वर्णन किया गया है परन्तु साक्षात् ज्ञान प्राप्ति के साधनों का क्रमानुसार स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझा गया कि

न चक्षुषागृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तुतं पश्यते निष्फलं ध्यायमानम् ॥ मुण्ड ३/१/८

अर्थात् परमात्मा न चक्षु से ग्रहण होता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से,

न तप से, न कर्म से वरन् मात्र ज्ञान प्रसाद से एवं शुद्ध अन्तःकरण से वह कलारहित ब्रह्म देखा जा सकता है।

यह ज्ञान-प्रसाद अर्थात् आत्मा एवं परम तत्व परमात्मा के मिलन का ज्ञान केवल योग दर्शन से प्राप्त होता है क्योंकि (**तत्साधन सिद्धो योगः कैवल्याख्यं फलमुत्पादयाति। भोज**)। केवल साधन सिद्ध योग कैवल्य (मोक्ष) नाम वाले फल को उत्पन्न करता है।

योग शब्द की व्युत्पत्ति

जिस प्रकार शरीर एवं मन को स्वस्थ रखने के उपाय आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित हैं उसी प्रकार आत्मा एवं परमात्मा के मिलने के उपाय योगशास्त्र में वर्णित हैं। दोनों ही भारतीय संस्कृति की अमोल निधि हैं। हजारों वर्ष से भारतीय दृष्टाओं ने अनुसन्धान एवं साधना द्वारा योग को विकसित किया है और समाज आज भी इसके अपूर्व लाभ से लाभान्वित है।

योग शब्द की उत्पत्ति—योग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की धातु 'युज्' से हुई है। इसका अर्थ है संयोग, मिलन, एकीकरण।

इसी अर्थ में इस शब्द का व्यवहार रसायनशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि शास्त्रों में होता है।

'युज्' धातु से योग शब्द की उत्पत्ति दो तरह से मानी जाती है। जब इसे भाव व्युत्पन्न मानते हैं तो '**योजनं योगः**' यह विग्रह किया जाता है। जिसका अर्थ है कि एकीकरण को योग कहते हैं (**योगोयुक्तिसाधनम्**)।

जब इसे करण व्युत्पन्न मानते हैं तो '**चित्त अनेन इति योगः**' यह विग्रह किया जाता है। इसका अर्थ है कि जिसके द्वारा चित्त का एकीकरण हो उसे योग कहते हैं।

योग की परिभाषा—योगशास्त्र को समझने के लिए सबसे उत्तम ग्रन्थ महर्षि पतञ्जलि कृत 'योग दर्शन' है। यहाँ हमने इसी ग्रन्थ का प्रमुख उपयोग किया है। योग की परिभाषा करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं कि

योगश्चितवृतिनिरोधः ।। यो०द० १/२

अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध (रोकने) को योग कहते हैं। इसी प्रकार के भाव कठोपनिषध में कहे गये हैं कि

तां योगमिति मन्वन्ते स्थिराभिन्द्रियधारणम् ।। कठो० २/३/११

इसका भाव है कि इन्द्रियों पर स्थिर नियन्त्रण का नाम योग है। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में इसी को दूसरे शब्दों में कहा है कि—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।। गीता ६/२३

अर्थात् जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है उस योग को जानना चाहिये।

महर्षि पतंजलि ने इन्द्रियों पर नियन्त्रण तथा गीता में दुःखरूप संसार से

वियोग को चित्तवृत्ति निरोध कहा है। दोनों का एक ही भाव है अर्थात् चित्त को प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखने का नाम चित्तवृत्ति निरोध है। योग दर्शन में चित्त शब्द का प्रयोग अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) के लिए किया गया है। चित्त अत्यन्त चंचल होता है उस पर लगाम कसना अत्यन्त दुरुह है। चित्त पर त्रिगुणों (सत्व, रज, तम) एवं त्रिभावों (राग, द्वेष, तृष्णा-उपधा) का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है। नियन्त्रण के लिए उपधा रहित सद्प्रयास करते रहना होता है (**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः** ।। यो०द० १/१२) क्योंकि अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा ही चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।

चित्त निरोध में सफल होने पर सत्यज्ञान (विवेक ज्ञान अर्थात् आत्मा एवं पाञ्चभौतिक शरीर की पृथकता के ज्ञान) की स्वयमेव प्राप्ति हो जाती है। '**तत्स्वयं योगसंसिद्धिः कालेनात्ममनिविन्दति** ।।' चित्त निरोध की पूर्ण सिद्धि होने पर व्यक्ति की अन्तरात्मा में सत्यज्ञान की स्वयमेव प्राप्ति हो जाती है। यह साधना की अन्तिम स्थिति होती है इसे समाधि स्थिति कहते हैं। इसी कारण योग को '**समाधि**' भी कहते हैं (योगः समाधिः)। योग एवं समाधि शब्दों का प्रयोग समानार्थक भाव से होता है। वैसे भी '**युज्**' धातु का '**युज् समाधौ**' अर्थ होने से '**समाधियते चित्तमनेन इति समाधि**' जिसके द्वारा चित्त एकाग्र होता है उसे समाधि कहते हैं, यह निष्कर्ष निकलता है।

सांख्य दर्शन एवं योग दर्शन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। देखा जाय तो सांख्य के सिद्धान्तों का जीवन में व्यावहारिक प्रयोग योग है। ज्ञान के विषय में सांख्य के जो विचार हैं उसे योग भी मानता है। सांख्य के बताये हुए त्रिविध प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम) योग भी मानता है। सांख्य के पच्चीस तत्वों को योग स्वीकार करते हुए उसमें 'ईश्वर' तत्व और जोड़ देता है। सांख्य के अनुसार विवेक ज्ञान (सत्यज्ञान, तत्वज्ञान) ही मुक्ति का साधन है। योग इस बात को स्वीकार करता हुआ कहता है कि योगाभ्यास ही विवेक ज्ञान का मार्ग है अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के लिए योग सर्वोत्तम साधन है।

चित्त वृत्तियाँ

हम पिछले पृष्ठों में कह आये हैं कि चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग अथवा समाधि है। परन्तु चित्त की कुछ अवस्थायें ऐसी होती हैं जिनमें चित्त-वृत्ति निरोध असम्भव होता है। अतः चित्त की वृत्तियों को जानने से पूर्व उन अवस्थाओं को जानना उपयोगी होता है।

चित्त की अवस्थायें (चित्त भूमि) पाँच प्रकार की होती हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र तथा (५) निरुद्ध।

(१) **क्षिप्त अवस्था**—इस अवस्था में चित्त पर रजोगुण की प्रबलता के कारण यह अति चंचल रहता है। सदैव एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता

है जिस कारण मन और इन्द्रियों पर संयम नहीं होता है। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है।

(२) **मूढ़ अवस्था**—इस अवस्था में तमोगुण की प्रधानता रहती है। चित्त कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य को भूल जाता है इसलिए बुरे कर्मों की ओर प्रबल प्रवृत्ति रहती है। निद्रा, आलस्य आदि का प्रभाव बढ़ जाता है। निद्रावस्था में यद्यपि चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के लिए लोप हो आता है परन्तु इसे योगावस्था (समाधि) नहीं कहा जा सकता है। निद्रावस्था तब होती है जब चित्त तमोगुण से आच्छन्न रहता है। योगावस्था के लिए इसके विपरीत सत्त्वगुण की प्रबलता से चित्त की शुद्धि होना आवश्यक है। मूढ़ अवस्था में चित्त की वृत्तियों का, अन्तःनिरोध नहीं हो सकता है।

(३) **विक्षिप्तावस्था**—इस अवस्था में चित्त कुछ समय के लिए एक विषय पर लगा रहता है परन्तु बाद में अन्य विषय की ओर चला जाता है तथा पहिला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है। इसे योगा-वस्था नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस अवस्था में भी चित्त की वृत्तियों का निरोध सम्भव नहीं है।

(४) **एकाग्रावस्था**—इस अवस्था में चित्त देर तक एक विषय पर एकाग्र रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण (एकाग्र रहने) या ध्यान की अवस्था है। चित्त किसी एक विषय पर ध्यान करता रहता है। यद्यपि इस अवस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध नहीं होता है तो भी यह योग की सम्पूर्णता की ओर अग्रसर होने का साधन है।

(५) **निरुद्धावस्था**—यह चित्त की वह अवस्था है जब उसकी समस्त वृत्तियों का, यहाँ तक कि ध्येय विषय का भी, लोप हो जाता है। चित्त अपनी स्वाभाविक, स्थिर एवं शान्त अवस्था में पहुँच जाता है।

चित्त की एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्थायें (भूमि) योग के अनुकूल हैं। इन अवस्थाओं में सत्त्वगुण का अधिकाधिक प्रभाव रहता है।

चित्त की जब समस्त वृत्तियों का लोप नहीं होता है किन्तु चित्त एकाग्र अवस्था में ध्येय विषय का स्पष्ट ज्ञान रखते हुए उसमें लीन हो जाता है। ऐसी अवस्था को **सम्प्रज्ञात योग** अथवा **सम्प्रज्ञात समाधि** कहते हैं।

निरुद्धावस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का लोप होकर चित्त की चंचलता समाप्त हो जाती है। वह शान्त एवं स्थिर हो जाता है। इस अवस्था को **असम्प्रज्ञात योग** अथवा **असम्प्रज्ञात समाधि** कहते हैं।

योग की परिभाषा में चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है। चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध होना आवश्यक है ऐसा नहीं कहा गया है। अतः सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग ये दोनों अवस्थायें योग की ही अवस्थायें हैं।

जब तक चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं होता है तब तक मनुष्य का ज्ञान चित्तवृत्ति के अनुसार सुखद अथवा दुःखद होता है। योग दर्शन में कहा है कि '**वृत्तिसारूप्यमितरत्र** ।। १/४' इसका आशय है कि यदि चित्त की वृत्तियों पर नियन्त्रण नहीं है तो चित्त की वृत्ति दुःख, सुख, मोह, तृष्णा आदि द्वारा प्रभावित होती रहती है परिणामस्वरूप उसका व्यवहार भी उसी के समान होता रहता है।

चित्त वृत्तियाँ

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।। यो०द० १/५

क्लेश (दुःख) सहित एवं क्लेश रहित दोनों रूपों वाली चित्त वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। अर्थात् क्लेश वाली चित्तवृत्तियाँ भी पाँच प्रकार की होती हैं तथा क्लेश रहित चित्तवृत्तियाँ भी पाँच प्रकार की होती हैं।

चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से क्लेश के कारणों के सम्बन्ध में आचार्य चरक कहते हैं कि—

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशाः संप्राप्तिः कालकर्मणाम् ।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ।। च०शा० १।९८

(१) धी (निश्चयात्मक बुद्धि, धृति (धारणात्मक बुद्धि), स्मृति (स्मरणात्मक बुद्धि) (इन तीनों संयुक्त रूप से प्रज्ञा कहते हैं) का भ्रंश हो जाना अर्थात् उचित प्रकार से कार्य नहीं करना। (२) काल की सम्प्राप्ति अर्थात् ऋतु का विपरीत होना यथा गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि ऋतुओं का अतियोग, आयोग अथवा मिथ्या योग होना। (३) कर्मों का अतियोग, आयोग अथवा मिथ्यायोग होना। (४) इन्द्रियों के विषयों का अतियोग, आयोग अथवा मिथ्यायोग होना। ये सब दुःख (क्लेश) के कारण होते हैं।

योगशास्त्र की दृष्टि से क्लेश के कारण—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ।। यो०द० २।३

(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष एवं (५) अभिनिवेश, ये पाँच क्लेश हैं।

(१) अविद्या क्लेश—अविद्या का क्लेश सबसे प्रमुख है। इसे क्लेशों की भूमि कहा है (यो० द० २।४)। अविद्या अज्ञान की जननी है। इसके कारण ही अन्य क्लेश होते हैं।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्याशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।। यो०द० २।५

अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना, अपवित्र को पवित्र जानना, मिथ्या सुख को वास्तविक सुख समझना, अनात्म (जड़ पदार्थ) को आत्मा (चेतन) समझना अविद्या है अर्थात् यथार्थ को न जानना अविद्या है।

(२) अस्मिता क्लेश— दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।। यो०द० २।६

दृष्टा (आत्मा) एवं दर्शन शक्ति (बुद्धि) इन दोनों को एक रूप जानना अस्मिता क्लेश है । आत्मा को भ्रमवश अन्तःकरण समझना, दोनों में अन्तर नहीं मानना अस्मिता क्लेश का कारण है । इसी भ्रम के कारण व्यक्ति अपने को कर्त्ता एवं भोक्ता दोनों मानने लगता है और दुःख उठाता है ।

(३) राग क्लेश— सुखानुशयी रागः ।। यो०द० २।७

सुख भोगने के पश्चात् उसे पुनः भोगने की इच्छा राग क्लेश का कारण बनता है । सुख के अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् भोक्ता के चित्त में सुख भोगते रहने की इच्छा रूप तृष्णा या लोभ रागक्लेश है ।

(४) द्वेष क्लेश— दुःखानुशयी द्वेष ।। यो०द० २।८

दुःख उठाने के पश्चात् उसके विरुद्ध उसे नष्ट करने की इच्छा चित्त में आती है, वह द्वेष रूपी क्लेश है । दुःख चित्त को कभी भी अच्छा नहीं लगता उसको नष्ट करने की इच्छा द्वेष है ।

(५) अभिनिवेश कष्ट—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेश ।। यो०द० २।९

प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह विद्वान है अथवा नहीं है, मृत्यु का भय स्वभाव से ही आरूढ़ रहता है, इसे अभिनिवेश क्लेश कहते हैं । समस्त प्राणियों में अपने लिये जीने की इच्छा स्वभाव से ही होती है और मृत्यु से भय होता है । इस भय से चित्त को जो क्लेश होता है वह अभिनिवेश कष्ट कहलाता है ।

पाँचों प्रकार के इन क्लेशों में यदि किसी एक से भी चित्त आक्रान्त रहता है तो चित्तवृत्तियों का निरोध असम्भव है । चित्त की वृत्तियों पर नियन्त्रण तो उसी दशा में हो सकता है जब उसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं हो ।

चित्त की पाँच वृत्तियाँ

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।। यो०द० १।६

चित्त की पाँचों वृत्तियों के नाम हैं—(१) प्रमाण, (२) विपर्य्य, (३) विकल्प, (४) निद्रा तथा (५) स्मृति ।

(१) प्रमाण वृत्ति— प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।। यो०द० १।७

प्रमाण वृत्तियाँ तीन प्रकार की कहलाती हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान तथा (३) आगम ।

प्रत्यक्ष—किसी विषय का इन्द्रिय के साथ संयोग होने पर जो साक्षात ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है । जो सत् है, उपस्थित है, वह पदार्थ ही प्रत्यक्ष का विषय होता है ।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ।। च०सू० ११।२०

आत्मा, इन्द्रिय, मन एवं अर्थ (विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन चारों का संयोग होने पर जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

अनुमान (inference)—अनु एवं मान के योग से अनुमान बना है। अनु का अर्थ है पश्चात् तथा मान का अर्थ है ज्ञान, इस प्रकार अनुमान का भाव है पश्चात् ज्ञान। '**अनु पश्चात्मीयते ज्ञायते इति अनुमानम्**' अर्थात् पूर्व ज्ञान के कारण भविष्य में उसके अनुसार जिसका ज्ञान हो उसे अनुमान कहते हैं। यथा हमें पूर्व-ज्ञान है कि बीज से वृक्ष तथा फल प्राप्त होते हैं अतः भविष्य में बीज को देखकर फल का अनुमान हो जाता है।

(१) **आगम**—निष्पक्ष धर्मात्मा पुरुष जिसको वस्तु का साक्षात् ज्ञान हो तथा सत्य वक्ता हो, आप्त पुरुष कहलाता है। उसके वचनों को प्रमाण माना जाता है। जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं हो सकता है उसका ज्ञान आप्तवचन द्वारा हो जाता है। ज्ञानदायक ये वचन आगम प्रमाण कहे जाते हैं।

वेद वाक्य उन समस्त दोषों एवं त्रुटियों से मुक्त हैं जो अन्य लौकिक वाक्यों में हो सकती हैं। अतः वेदवाक्य अभ्रान्त एवं स्वतः प्रमाण हैं।

(२) विपर्यय वृत्ति—मिथ्या ज्ञान को विपर्यय (भ्रम) कहते हैं। संशय भी इसी के अन्तर्गत आता है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।। यो०द० १।८

वह मिथ्याज्ञान जो यथार्थ स्वरूप में प्रतिष्ठित न किया जा सके विपर्यय कहलाता है।

किसी पदार्थ का स्वरूप अथवा ज्ञान जैसा प्रतीत होता है वास्तव में वैसा न हो तो वह अवास्तविक ज्ञान विपर्यय कहलाता है। यथा सीपी देखकर चाँदी का भान होता है, रस्सी को देखकर सर्प का भान हो जाता है।

(३) विकल्प वृत्ति— **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** ।। यो०द० १।९

जिस वृत्ति में ज्ञेय वस्तु कुछ नहीं हो केवल शब्दों के उच्चारण से ही कही जाय विकल्प वृत्ति कहलाती है। यथा शून्य, आकाश कुसुम शब्दों से केवल अर्थ बोध ही होता है। वास्तव में इन बोधों के अनुरूप कोई वस्तु नहीं होती है।

(४) निद्रा वृत्ति— **अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा** ।। यो०द० १।१०

जो वृत्ति ज्ञान के अभाव पर आश्रित हो निद्रावृत्ति कहलाती है। निद्रावृत्ति में तमोगुण का प्राधान्य होता है। इसके कारण जागृत एवं स्वप्न अवस्थाओं के अनुभव विलीन हो जाते हैं। इस अवस्था को सुषुप्ति भी कहते हैं। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि सुपुप्तावस्था में कोई भी मानसिक क्रिया नहीं होती है, चैतन्य का लोप हो जाता है। यह विचार उचित प्रतीत नहीं होता है। निद्रा भंग होते

पर हम कह सकते हैं कि 'खूब सोये' या 'ऐसे सोये कि कुछ भी होश नहीं रहा' यह सिद्ध करता है कि निद्रावस्था का अनुभव हमें अवश्य हुआ तभी तो हमें यह अनुभव स्मरण रहा। अतः निद्रावस्था में भी मन अपना कार्य करता रहता है केवल विषय का अभाव रहता है। इसी कारण निद्रा को **'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति'** कहते हैं।

(५) स्मृति वृत्ति—अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ।। यो०द० १।११

भूतकाल में अनुभव किए हुए विषयों का चित्त से न खोया जाना, न भूलना, स्मृति कहलाती है अर्थात् अतीत के अनुभवों की यथावत् मानसिक प्रतीति 'स्मृति' (याददाश्त) है **'अनुभवजन्यं ज्ञानस्मृतिः'**।

उपरोक्त वर्णित पाँचों वृत्तियों के अन्तर्गत चित्त के समस्त कार्य आ जाते हैं।

२१

योग के प्रमुख मार्ग एवं अष्टाङ्ग साधन

ब्रह्माण्ड की स्थिति का कारण दो सतायें हैं एक चेतन (आत्मा) तथा दूसरी अचेतन (प्रकृति-विषयभूत जड़ पदार्थ)। इनमें प्रथम आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। वह देश, काल एवं कारण के बन्धन से रहित है। वह नित्य है अर्थात् न उसकी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश होता है। यह बुद्धि, मन, अहंकार, इन्द्रिय, इन्द्रिय विषय, शरीर आदि समस्त सांसारिक विषयों से परे केवल द्रष्टा मात्र है।

जितनी भी शारीरिक एवं मानसिक क्रियायें या परिवर्तन होते हैं, जितने भी भाव एवं विचार उत्पन्न होते हैं अथवा दुःख, सुख होते हैं वे सब मनोयुक्त शरीर में होते हैं। आत्मा इस मनोयुक्त शरीर से बिल्कुल पृथक है। यह बुद्धि का अविवेक है कि वह आत्मा की पृथकता नहीं मानकर उसे अपना ही अंग समझता है। इसलिए मन अथवा बुद्धि में सुख अथवा दुःख का आविर्भाव होने पर आत्मा को यह हो रहा है ऐसा मान लिया जाता है। समस्त कष्टों की जड़ यही अविवेक है। जब तक मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होगा कि आत्मा एवं भौतिक शरीर पृथक हैं निवृति अथवा मोक्ष सम्भव नहीं हैं। इस सत्यता की साक्षात् अनुभूति होनी चाहिए। यह अनुभूति ही सत्याबुद्धि है।

सत्याबुद्धि--चरक संहिता में इसके विषय में कहा गया है कि—

> सर्वकारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेव च।
> ना चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता॥
> यावन्नोत्पद्यते सत्याबुद्धिर्नैतदहं यथा।
> नैतन्ममेति विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते॥ च० शा० १।१५२-५३

भावार्थ है कि इन्द्रियों के होने वाले समस्त कर्म दुःख के हेतु हैं। वे आत्मा से सम्बन्धित कर्म नहीं हैं अतः अनित्य हैं। आत्मा के द्वारा नहीं किए जाने के कारण इन कर्मों में कर्त्तापन की स्वता उत्पन्न हो जाती है कि 'यह मेरा है' 'यह मैंने किया है।' इस प्रकार जब तक अहं का यह भ्रमात्मक ज्ञान बना रहता है सत्याबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। परन्तु जब यह ज्ञान हो जाता है कि मैं बुद्धि एवं अहंकार से उत्पन्न नहीं हूँ एवं यह सब प्रकृति का प्रपञ्च मात्र है यह सत्याबुद्धि है। विवेक-ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्य अपनी जीवनचर्या को एक दिशा प्रदान करता है। चरक संहिता में इसके लिए जो निर्देश किया है (च०शा० १।१४३-४६) वह आगे दिया जा रहा है।

मोक्ष की दिशा में अग्रसर होने के साधन हैं—आत्म शुद्धि के लिए व्रत एवं उपवास आदि रखना। नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वास्थ्य एवं ईश्वर प्राणिधान) का पालन करना। काम, क्रोध, अहंकार का त्याग कर धर्मशास्त्रों के अनुसार आचरण करना, विज्ञान (प्रमा) का ज्ञान प्राप्त करना, मोक्ष प्रकान करने वाले कार्यों में रत रहना, उत्तम धृति रखना आदि तथा विषय तत्वों को परीक्षण के पश्चात् ग्रहण करना। सज्जनों का आदर एवं सेवा करना एवं असज्जनों से कोई सम्बन्ध न रखना। शरीर एवं आत्मा के संयोग को अनित्य मानते हुए विवेक ज्ञान के मार्ग पर प्रवृत होना।

योग के प्रमुख मार्ग

योग के तीन प्रमुख मार्ग हैं यद्यपि इनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं ये हैं—
(१) ज्ञानयोग, (२) कर्मयोग एवं (३) भक्ति योग

(१) **ज्ञानयोग**—प्रकृति में सत्त्व, रज, तम की असाम्यावस्था ही माया है। इससे राग, द्वेष, तृष्णा एवं काम, क्रोध, लोभ की उत्पत्ति होती है। माया से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बर्तते हैं ऐसा समझ कर तथा मन, इन्द्रिय एवं शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्त्तापन के अहं भाव से रहित होकर परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहने का नाम **'ज्ञानयोग'** है। इसी को **'सन्यास योग'**, **'सांख्य योग'** आदि नामों से कहा जाता है। वास्तव में ज्ञान योग विरक्त के लिए है। पुत्र, धन और लोक की समस्त तृष्णाओं का त्याग करने वाला विरक्त ही **स्थित प्रज्ञ है** और इस मार्ग द्वारा मोक्ष का अधिकारी होता है।

(२) **कर्मयोग**—कर्म करते हुए उसके परिणाम के प्रति अलिप्त रहना एवं सत्य के मनन द्वारा मन की स्थिरता प्राप्त करना **'कर्मयोग'** है। इसको **'समत्व रोग'**, **'बुद्धि योग'**, **'तदर्थ कर्म'** अथवा **'मत्कर्म'** आदि नामों से भी कहते हैं। भगवान श्री कृष्ण गीता द्वारा उपदेश देते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय॥
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ गी० २।४७-४८

भाव है-व्यक्ति का कर्त्तव्य केवल कर्म करना है। उसके फल की इच्छा कदापि नहीं होनी चाहिए। इसलिए कर्म का फल व्यक्ति का हेतु (ध्येय) नहीं होना चाहिए। ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि व्यक्ति कर्म ही न करे उसे कर्म करते रहना चाहिए। इस प्रकार योगस्थ होकर, आसक्ति त्याग कर कर्म करना एवं सफलता तथा असफलता के प्रति सम्भाव रखना ही **समत्व योग** है।

(३) **भक्ति योग**—श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक परमात्मा की उपासना में रत रहना भक्ति योग है। इस मार्ग द्वारा भी मोक्ष की प्राप्ति होती है भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं (गी० ७/२१, २२) कि व्यक्ति जिस देव स्वरूप की श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है उस

देव स्वरूप में उसकी श्रद्धा को परमात्मा करते दृढ़ हैं। श्रद्धापूर्वक उस स्वरूप की आराधना द्वारा वह व्यक्ति इच्छित भोगों को प्राप्त करता हुआ मुक्ति मार्ग पर अग्रसर होता है।

योग के अष्टाङ्ग साधन

पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है कि जब तक मनुष्य के चित्त में विकार (राग, द्वेष, तृष्णा) रहता है और इसके कारण बुद्धि दूषित रहती है तब तक वह आत्मज्ञान (विवेक ज्ञान, तत्व ज्ञान) प्राप्त नहीं कर सकता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति तो उसी समय हो सकती है जबकि अन्तःकरण निर्विकार, शुद्ध एवं शान्त हो। चित्त निरोध के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए योगाचार्यों ने आठ साधन बताये हैं। इन पर क्रम से सिद्धि (परिपक्वता) प्राप्त करते हुए आगे बढ़ते जाना है। ये साधन जिन्हें योग के अंग कहते हैं, क्रमशः हैं (१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान तथा (८) समाधि। इनमें प्रथम पाँच यम से प्रत्याहार पर्यन्त बहिरंग साधन कहलाते हैं। इनके विषय में आगे के अध्यायों में कुछ विस्तार से कहा जायगा। शेष तीन धारणा, ध्यान एवं समाधि अन्तरंग साधन हैं। इनका वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है।

धारणा— **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।। यो० द० ३।१**

चित्त का देश विशेष में बाँधना (रोकना) धारणा कहलाता है। अर्थात् चित्त को किसी अभीष्ठ विषय पर जमाना धारणा है। ध्येय विषय बाह्य पदार्थ भी हो सकता है यथा किसी देव या देवी विशेष की प्रतिमा अथवा अपने स्वयं के शरीर का कोई अंग, यथा नासिका, भ्रूमध्य, नाभि आदि हो सकता है। किसी ध्येय विषय पर चित्त को दृढ़ता पूर्वक एकाग्र करने की शक्ति ही योग की वास्तविक कुंजी है।

उचित आसन पर बैठकर शरीर, ग्रीवा एवं सिर को सीधा अचल रखते हुए दृढ़ होकर अपने नासिका के अग्र भाग की ओर देखता हुआ भय रहित शान्त अन्तःकरण से चित्त को अभिष्ट विषय पर जमाना चाहिए अथवा इसी प्रकार किसी बाह्य वस्तु पर चित्त की वृत्ति को रोकना धारणा क्रिया है।

ध्यान— **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।। यो० द० ३।२**

जिस विषय पर धारणा की गई है उसी ध्येय विषय पर ज्ञान की एकतानता (लगातार चिन्तन) ध्यान कहलाता है।

धारणा की सिद्धि के पश्चात् अगली सीढ़ी ध्यान है। ध्यान का भाव है कि धारणा में जो ध्येय विषय था उस पर निरन्तर अनवच्छिन्न भाव से मनन करते रहना। इससे विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहिले भिन्न-भिन्न अंगों या स्वरूपों का बोध होता है तदन्तर अविराम ध्यान से सम्पूर्ण चित्र स्पष्ट होकर उस वस्तु के वास्तविक रूप का दर्शन हो जाता है। योगी के चित्त में, इस प्रकार, ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

समाधि— **तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।। यो० द० ३।३**

जिस स्थिति में ध्यान ही अर्थमात्र भाषित हो तथा योगी अपने स्वरूप से शून्य सा अनुभव करे, योगी को अपने शरीर का भी अनुभव न हो वह स्थिति समाधि कहलाती है।

योग साधन की अन्तिम स्थिति समाधि है। इस अवस्था में चित्त ध्येय विषय में इतना लीन (तन्मय) हो जाता है कि उसे अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। ध्यान की अवस्था में योगी को ध्येय विषय और ध्यान की क्रिया दोनों की पृथक् प्रतीति रहती है परन्तु समाधि में ध्यान की क्रिया का पृथक् अनुभव नहीं होता है। ध्यान की क्रिया ध्येय में विलीन हो जाती है। योगी के सामने ध्येय के अतिरिक्त अन्य सब का लोप हो जाता है। यहाँ तक कि उसे अपने अस्तित्व का भी बोध नहीं रहता है।

धारणा, ध्यान एवं समाधि, ये तीनों योग के अन्तरंग साधन हैं। इन तीनों स्थितियों में विषय एक ही होना चाहिए अर्थात् एक ही विषय लेकर पहिले चित्त में धारणा फिर ध्यान और अन्त में समाधि स्थिति होनी चाहिए। इन तीनों की संज्ञा **'संयम'** है (**त्रयमेकत्र संयमः** ।। यो० द० ३।४)।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि समाधि दो प्रकार की होती है—

(१) सम्प्रज्ञात समाधि एवं (२) असम्प्रज्ञात समाधि।

सम्प्रज्ञात समाधि—इस समाधि अवस्था में चित्त की वृत्तियों का इस अंश तक निरोध हो जाता है कि केवल ध्येय विषय का ज्ञान बना रहता है और चित्त उसी में एकाग्र हो जाता है। ध्येय विषयों के भेदानुसार इस स्थिति की चार कोटियाँ होती हैं।

वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः ।। यो० द० १।१७

(१) वितर्कानुगत, (२) विचारानुगत, (३) आनन्दानुगत तथा (४) अस्मितानुगत। इन भेदों के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि की चार कोटियाँ (stages) होती हैं।

(१) वितर्कानुगत—जब किसी स्थूल भौतिक पदार्थ यथा देव प्रतिमा आदि पर चित्त एकाग्र किया जाता है तब वह समाधि 'वितर्कानुगत' या **'सावितर्क'** कहलाती है। इस समय ध्येय की कल्पना, कि अमुक शब्द है, अमुक अर्थ है, अमुक रूप है, अमुक परिणाम वाला है, अमुक प्रकार से जीवात्मा से सम्बन्ध रखने वाला, अमुक स्थूल भूत अथवा इन्द्रिय है का ज्ञान रहता है। इस प्रकार ध्येय के स्वरूप के विषय में उठने वाले विचारों सहित यह समाधि है। इन सब वितर्कों के उठने के कारण इस समाधि को वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

(२) **विचारानुगत**—वितर्कानुगत समाधि के पश्चात् योगी विचारानुगत कोटि (stage) में पहुँचता है। ध्येय विषय का तर्क वितर्क के पश्चात् ज्ञान हो जाने पर योगी उससे सूक्ष्मतर विषय यथा किसी तन्मात्र पर चित्त को स्थिर करता है। इसे **'विचारानुगत'** अथवा **'सविचार'** सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

(३) **आनन्दानुगत**—अब योगी को उससे भी सूक्ष्मतर विषय यथा इन्द्रिय में चित्त जमाना होता है। इसे '**आनन्दानुगत**' अथवा '**सानन्द**' सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

(४) **अस्मितानुगत**—सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम कोटि 'अस्मितानुगत' अथवा 'सास्मित' समाधि होती है क्यों इस अवस्था में ध्यान का विषय केवल अस्मिता या अहंकार मात्र रहता है। इस समाधि की सिद्धि पर योगी का आत्मा से साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् आत्मा यथार्थतः शरीर, मन, अहंकार इन सबों से भिन्न है ऐसा अनुभव हो जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि भी कहते हैं (**ता एव सबीजः समाधिः ॥ यो०द० १। १६**)। सम्प्रज्ञात समाधि की उपरोक्त वर्णित चारों स्थितियों में सांसारिक विषयों का बीज सूक्ष्मतर रूप में रहता है।

असम्प्रज्ञात समाधि—विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ यो.द. १।१८

समस्त चित्त वृत्तियों के निरोध के कारण सांसारिक विषयों के प्रति परम वैराग्य के अभ्यास से शेष रूप संस्कार का चित्त में ठहराव हो जाता है। इसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं अर्थात् योग की इस स्थिति में पूर्ण नियंत्रित चित्त की समस्त वृत्तियों का लय हो जाने पर केवल संस्कार शेष रह जाता है और चित्त परम शान्ति अवस्था में स्थिर हो जाता है वह स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध के कारण असम्प्रज्ञात स्थिति को 'निर्बीज समाधि' कहते हैं (**तस्यापि निरोधे सर्व निरोधान्निर्बीजः समाधिः ।। यो० द० १।५१**)।

योग स्थिति—चरक संहिता में समाधि की इस स्थिति के सम्बन्ध में कहा है कि—

आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
सुखदुःख मनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥
नि वर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते ।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ॥ च० शा० १।१३८–३९

आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ (इन्द्रिय विषय) के सन्निकर्ष से सुख और दुःख दोनों होते हैं। जब आत्मा में मन स्थिर हो जाता है तब किसी कार्य के होने से न सुख होता है और न दुःख अर्थात् सुख एवं दुःख दोनों निवृत्त हो जाते हैं एवं शरीर के साथ आत्मा वशी हो जाता है। इस स्थिति को योग जानने वाले विद्वान **योग स्थिति** कहते हैं।

एक के बाद दूसरे बाह्य एवं आन्तरिक विषयों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर और फिर उसे छोड़ते हुए चित्त का सम्बन्ध सभी विषयों से छूट जाता है। योग की यही अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि या परम योग अवस्था है। इस स्थिति में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है एवं योगी संसार के समस्त विषयों से मुक्त हो जाता है। इस स्थिति को अनेक ग्रन्थों में '**धर्ममेघ**' कहा है। '**ततः क्लेशकर्म निवृतिः ।**' क्लेश एवं कर्म दोनों से सर्वथा निवृत्त स्थिति धर्ममेघ स्थिति है क्योंकि

यह स्थिति योगी के ऊपर कैवल्य या मुक्ति की वर्षा करती है। इस अवस्था को प्राप्त कर योगी के लिए कोई बन्धन नहीं रहता है। इसी अवस्था को गीता में 'स्थित प्रज्ञ' कहा है। योग सिद्ध योगी को समस्त सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है। चरक संहिता में आठ प्रकार की सिद्धियों का वर्णन आया है। इन्हें 'अष्टैश्वर्य' भी कहते हैं। योग ग्रन्थों में तेइस सिद्धियों का वर्णन मिलता है। चरक में इन सिद्धियों को ब्रह्मप्रधान सिद्धि कहा है। ये सिद्धियाँ हैं—

अष्टसिद्धियाँ—आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्ट तश्चाप्यदर्शनम्॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत् योगिनां बलमैश्वरम्॥ च० शा० १।१ ४०-४१

जब योग द्वारा सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब इन लक्षणों से इसका पता लग जाता है—(१) **आवेश**—अर्थात् दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकना, (२) **चेयसो ज्ञानम्**—दूसरे के मन की बात को जान लेना, (३) **अर्थानां छन्दतः क्रिया**—इन्द्रिय विषयों को अपनी इच्छा से प्रवृत्त करना अर्थात् इन्द्रियों के जिस विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहे प्राप्त कर लेना, (४) **दृष्टि**—जहाँ का भी दृष्टि ज्ञान चाहे प्राप्त कर लेना, अतीन्द्रिय वस्तुओं को भी देख लेना, (५) **श्रोत्र**—इच्छित शब्दों को अपने कानों से सुन सकना चाहे वे कहीं से हों, (६) **स्मृति**—स्मरण शक्ति का बलशाली हो जाना, जिस घटना को स्मरण करना चाहे उसका स्मरण हो जाना, (७) **कान्ति**—शरीर का देवताओं के समान कान्तिवान हो जाना तथा (८) **दर्शन**—इच्छानुसार शरीर को छुपा लेना या प्रकट करना। इन आठों सिद्धियों की प्राप्ति तभी होती है जब रज एवं तम का पूर्ण अभाव होकर शुद्ध सत्त्व मन का आत्मा से **सम्बन्ध** होता है।

आठ सिद्धियाँ, अन्यत्र, इस प्रकार भी कही गई हैं। (१) **अणिमा**—योगी चाहे तो अणु के समान सूक्ष्म या अदृश्य हो सकता है। (२) **लघिमा**—योगी अत्यन्त हल्का होकर उड़ सकता है। (३) **महिमा**—योगी अति विशाल रूप धारण कर सकता है। (४) **प्राप्ति**—योगी इच्छानुसार कहीं से भी इच्छित वस्तु मँगा सकता है। (५) **प्राकाम्य**—योगी की इच्छा शक्ति बाधा रहित हो जाती है। (६) **वशित्व**—योगी प्राणियों को वशीभूत करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। (७) **ईशित्व**—योगी चाहने पर सब भौतिक पदार्थों पर अधिकार जमा सकता है। (८) **यत्रकामावसायित्व**—योगी का जो संकल्प होता है उसकी सिद्धि हो जाती है।

परन्तु योग दर्शन का कठोर आदेश है कि साधक को इन ऐश्वर्यों के लोभ से योग साधना में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। योग साधना का केवल एक ही लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः योगी को इन अलौकिक ऐश्वर्य की चकाचौंध में नहीं पड़ना चाहिए अन्यथा वह अपने लक्ष से भ्रष्ट हो सकता है। उसका लक्ष सदैव मोक्ष प्राप्ति होना चाहिए।

मोक्ष—मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्म संक्षयाद् ।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ।। च० शा० १।१४२

अर्थात् चित्त से जब रज एवं तम का अभाव हो जाता है एवं बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है तब कर्म संयोग (कर्मजन्य बन्धन) से वियोग हो जाता है इस स्थिति को अपुनर्भव (पुनः जन्म न होना अर्थात् मोक्ष) कहते हैं ।

उपरोक्त वर्णन का तात्पर्य है कि चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि में सिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी पुनः जन्म का न होना उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि पूर्वजन्म के तथा वर्तमान जन्म के कर्मों के फलों का निस्तारण नहीं हो जाता है । इन कर्मों के फलों का परिणाम भुगत लेने के पश्चात् ही पुनः जन्म के बन्धन से छुटकारा मिलता है । अन्यथा इसके लिए पुनः-पुनः संसार में जन्म लेकर जग सिद्धि प्रवृत्ति प्राप्त करता हुआ एवं नवीन कल्याणकारी स्वरूप बनाता हुआ मोक्ष प्राप्ति के लक्ष की ओर बढ़ता जाता है और जब कर्मफल भोगने शेष नहीं रहते हैं योगी की भूतात्मा का परमात्मा में एकीकरण हो जाता है। यही मोक्ष स्थिति है । इस स्थिति का चरक संहिता में इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते ।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिन्हं यस्य न विद्यते ।।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति ।। च०शा० १।१५५

अर्थात् भूतात्मा परमात्मा में विलीन हो ब्रह्मस्वरूप हो जाता है फिर उसका ज्ञान किसी भी प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम) द्वारा प्राप्त नहीं होता है । वह (भूतात्मा) सभी भावों (बुद्धि, अहंकार आदि अष्ट प्रकृति एवं सोलह विकार) से रहित हो जाता है ।

ब्रह्म को जानने वाले विद्वान ज्ञानी को ही ब्रह्म के विषय में ज्ञान होता है । जो अज्ञानी हैं वे ब्रह्म तत्व को जानने में समर्थ नहीं होते हैं ।

मुक्तात्मा के लक्षण—

तस्मिश्चरमसन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः ।
ससंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ।। च० शा० १।१५४

अपुनर्भव स्थिति से ठीक पूर्व की स्थिति मुक्तात्मा स्थिति है । भूतात्मा सांसारिक बन्धन (रज एवं तम) से मुक्त हो जाता है । उस स्थिति का वर्णन चरक संहिता में इस प्रकार किया है—

भूतात्मा सभी वस्तुओं का अतिक्रमण कर लेता है और वह उस सन्यास अवस्था (सर्वत्यागावस्था) में संज्ञा (निर्विकल्पक ज्ञान), ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान), विज्ञान (शास्त्र ज्ञान) से शून्य हो जाता है एवं मूल (अधर्म) के साथ सभी प्रकार की वेदनायें अशेष रूप (सम्पूर्ण रूप) से नष्ट हो जाती हैं । यह मुक्तात्मा स्थिति है ।

२२

हठ योग एवं राज योग

हठ योग

प्राचीन योग दर्शन के ग्रन्थों में हठयोग अथवा राजयोग नाम से किसी भी योगमार्ग का उल्लेख नहीं मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग की चर्चा है। पातञ्जल योग दर्शन में भी हठयोग अथवा राजयोग नाम से योग का वर्णन नहीं है। बाद में सर्वप्रथम नाथ सम्प्रदाय के योगी महापुरुषों ने हठयोग तथा राजयोग संज्ञाओं का व्यवहार किया।

योगदर्शन में योग के आठ अंगों का वर्णन किया गया है। जैसा कि हम पिछले अध्याय में कह आये हैं। इन आठों अंगों के नामों को पुनः दे रहे हैं। ये हैं यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान एवं समाधि। हम यह भी कह आये हैं कि इनमें यम से लेकर प्रत्याहार तक योग के बहिरंग साधन माने जाते हैं तथा शेष तीनों अन्तरंग साधन हैं। महर्षि पतञ्जलि इनके विषय में कहते हैं कि

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्याते ॥ यो०द० २।२८

अर्थात् योग के अंगों का अनुष्ठान करने से क्लेश के नाश होने पर विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है। इसका तात्पर्य है कि योग के आठों अंगों पर सिद्धि प्राप्त करते हुए योगी के चित्त से पाँचों प्रकार की अशुद्धि (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) का क्षय होता जाता है एवं उनके नाश के साथ ही साथ विवेक रूपी ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है।

मोटे तौर पर बहिरंग योग साधना की सिद्धि, हठयोग एवं अन्तरंग योग साधना की सिद्धि राजयोग है। इसीलिए कहा गया है कि

हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः ।
न सिद्ध्यति ततो युग्मभानिष्पते समभ्यसेत् ॥ गोरक्षपद्धति

अर्थात् हठयोग बिना राजयोग एवं राजयोग बिना हठयोग के सिद्ध नहीं होता है। अतः सिद्धि प्राप्ति हेतु दोनों का अभ्यास करना चाहिये।

समझने की सरलता के लिए कहा जा सकता है कि **'शरीर साधनाप्रधान'** योग हठयोग है तथा **'चित्त साधना प्रधान'** योग राजयोग है।

हठाचार्यों ने शरीर की प्रवृत्ति को समझकर आसनादि के साधन को विकसित किया अन्यथा योग दर्शन में आसन के विषय में केवल इतना कहा है कि **'स्थिर-सुखामासनम् ॥ यो०द० २।४६' अर्थात् जिससे शरीर स्थिर रहे एवं सुख मिले वही**

आसन है। परन्तु हठाचार्यों ने जीव-जन्तुओं के शरीर वैशिष्ट के अनुसार आसनों का निदर्शन किया एवं प्राणायाम को प्रमुखता प्रदान की।

प्राचीन योगी जिसे 'हंसयोग' नाम से सम्मानित करते थे उसे ही कालक्रम के गुण-परिवर्तन के आधार पर 'हठयोग' कहा जाने लगा। हंसविद्या' का सामान्यतः श्वास प्रश्वास आधार था। शरीर से 'हम्' ध्वनि के साथ श्वास बहिर्गमन करता है एवं पुनः 'सः' ध्वनि के साथ अन्दर प्रवेश करता है। इसका योगशिखोपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया गया है।

हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेति मंत्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ॥ (१३०-३१)

अर्थात् प्राण 'हं' ध्वनि से बाहर जाता है फिर 'सः' ध्वनि के साथ अन्दर प्रवेश करता है। इस प्रकार जीव 'हस' 'हंस' मन्त्र को जपते रहते हैं।

हंस के अन्तिम दन्तस्थानीय अक्षर 'स' को हठयोगियों ने 'ठ' के रूप में परिवर्तित किया। यह उनकी साधनादृष्टि की विशेषता है न कि नवीनीकरण की, क्योंकि योग क्रिया में श्वास को उदान गति के साथ मूर्धा की ओर ले जाना अपेक्षित है और मूर्धन्य ध्वनि करने की सहज स्थिति में 'ठः' वायु घर्षण की ध्वनि है। साथ ही साथ अनुनासिक 'हं' की अपेक्षा अननुनासिक 'ह' मायारूप आवरण 'म्' से रहित स्वीकार करना विशुद्ध साधना का मत प्रकट करता है।

इस तरह प्राणायाम प्रधान हठयोग रोगादि निवृत्ति के साथ ही प्रसुप्त मस्तिष्क के केन्द्रों को जाग्रत करता है।

ऐसा भी माना जाता है कि हठ शब्द दो अक्षरों के संयोग से बना है। 'ह' का अर्थ है चन्द्रमा (इड़ा) और 'ठ' का अर्थ हैं सूर्य (पिंगला) जो नासिका के दोनों छिद्रों से चलने वाले श्वास के द्योतक हैं। हठ योग सूर्य, चन्द्र अर्थात् प्राण, अपान वायुओं का प्राणायाम द्वारा एकीकरण करने का साधना-मार्ग है। अतः प्राणायाम प्रधान साधना, योगहठ योग है।

साहाय्यात् स्थूलदेहस्य चित्तवृत्तिनिरोधनम्।
यत्र सांसाध्यते धीरैर्हठयोगः स ईय्यते ॥

धीर व्यक्तियों द्वारा तथा स्थूल व्यक्तियों द्वारा भी, प्राणायाम, आसनादि की सहायता से चित्तवृत्ति निरोध जिसके किया जाये उसे हठयोग कहते हैं।

राजयोग

नित्यानित्यस्वरूपाणां पदार्थानां विवेकतः।
त्रिगुणां विभावानामपि नित्यं विमर्शतः ॥
शक्तिमाध्यात्मिकीं यत्र योगिनां व्रजतां स्वतः।
चित्तवृत्तिनिरोधः स्याद्राजयोगोऽयमुच्यते ॥

नित्य (आत्मा) एवं अनित्य (शरीर) पदार्थों से विवेक करते रहने से तथा

सर्वदा त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) एवं त्रिभावों (उपधा— राग, द्वेष, तृष्णा) द्वारा उत्पन्न क्लेशों पर आध्यात्मिक शक्ति की उच्चता द्वारा विजय प्राप्त करते हुए योगियों की चित्तवृत्तियों का स्वयं निरोध हो जाता है। इस साधना मार्ग को राजयोग कहते हैं।

पातञ्जल योग दर्शन ग्रन्थ योग पर अधिकृत ग्रन्थ है। इसमें राजयोग को प्रतिपादित किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने ज्ञानयोग, कर्मयोग, समत्व योग, बुद्धि योग, सांख्य योग आदि नामों से राजयोग का ही उपदेश दिया है।

आचार्य चरक ने जो योगसिद्धि के लक्षण कहे हैं, जिनका पिछले पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है, राजयोग की सिद्धि के लक्षण हैं। राजयोग सिद्धि की दशा में इस जीवन में ही व्यक्ति-शरीर रहते हुए भी माया से शून्य हो जाता है। देह रहते हुए भी विदेह हो जाता है। जनक शासक रहते हुए भी कर्म बन्धन में अलिप्त थे अतः देह रहते हुए भी विदेह नाम से जाने जाते थे।

अति प्राचीन काल में, जिनको हम अब योग के बहिरंग अंग के नाम से जानते हैं। (यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार) सामान्य जन-जीवन के अंग थे। बाद में जीवनयापन की विषमता के साथ-साथ उनके पालन की अनिवार्यता भी प्रायः समाप्त होती गई। इसलिए 'हठयोग' के प्रचार पर पुनः योगी महापुरुषों ने ध्यान दिलाना उचित समझा। क्योंकि वे महापुरुष जानते थे कि हठयोग की पुष्ट नींव पर ही राजयोग की सिद्धि निहित है।

२३

यम एवं नियम

जिस प्रकार शारीरिक व्याधियों में चिकित्सा से पूर्व शरीर का शोधन पञ्च-कर्मों द्वारा किया जाता है उसी प्रकार चित्तवृत्ति निरोध के प्रयास से पूर्व शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि आवश्यक है। इस हेतु यम एवं नियमों को योग के आठ अंगों में सम्मिलित किया गया है।

यम

यम के विभागों के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं यथा श्रीमद्भागवत (३३।२०।२३) में यम के १२ विभाग किये गये हैं। ये हैं—अहिंसा, सत्य, आस्तेय, असङ्गता, लज्जा, संग्रह न करना, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन रहना, स्थिरता, क्षमा एवं अभय। पाराशर संहिता में अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, सरलता, आहार एवं पवित्रता। इन दसों को यमों के अन्तर्गत रखा है। परन्तु चित्त-वृत्ति निरोध के लिए उपरोक्त यमों में आवश्यक जो विभाग आते हैं उन्हें महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में रखा है। उन्होंने यम के पाँच विभाग बताये हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।। यो० द० २।३०

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये यम कहलाते हैं।

अहिंसा— **'तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ।'**

महर्षि व्यासदेव ने भाष्य में कहा है कि सब तरह से हमेशा समस्त प्राणियों के प्रति चित्त में विद्वेष का भाव न लाना अहिंसा है। याज्ञवल्क्य संहिता में इसे इस प्रकार कहा है कि

मनसा वाचा कर्मणा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ।।

सदा सर्वदा शरीर-वाणी-कर्म से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देना अहिंसा है। योग मार्ग में चलने वाले व्यक्ति को अहिंसा व्रत इसी रूप में लेना होता है।

अहिंसा के पालन का मनसा-वाचा-कर्मणा व्रत धारण करने से समस्त प्राणियों के प्रति आत्मभाव उत्पन्न हो जाता है (आत्मवत् सर्वभूतेषु)। अहिंसा की

पूर्ण स्थिति होने पर उस व्यक्ति के आस-पास के रहने वाले प्राणियों में भी बैर-भाव का त्याग हो जाता है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।। यो० द० २।३५

यदि योगी महाव्रत रूप अहिंसा-धर्म को धारण करता है और उसकी इस पर पूर्ण दृढ़ता हो जाती है तब उसके समीपवर्ती प्राणियों का भी परस्पर बैर उसके प्रभाव से दूर हो जाता है यथा शेर और हरिण या साँप और नेवले में स्वाभाविक बैर है वह भी उसके प्रभाव से हट जाता है।

अहिंसा व्रत लिये हुए व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य संसारी व्यक्ति जो शासन में है, व्यापार करता है अथवा जीविका के लिए अन्य कोई कार्य करता है, उससे अहिंसा व्रत पालन करना कठिन है। उसी कठिनाई को, सम्भव है, ध्यान में रखते हुए, वेदों में कहा गया है कि शासक का अपनी प्रजा का पालन एवं रक्षा करना परम धर्म है, चाहे उसमें अहिंसा ही क्यों न करनी पड़े। स्मृति आदि शास्त्रों में भी ऐसा ही निर्देश है कि **'आयान्तं आततायिनं हन्यात्'**। इसी का भावार्थ प्रसिद्ध है कि 'हन्ते को हनिये, पाप दोष न गिनिये'। अन्यथा भगवान श्रीकृष्ण महाभारत युद्ध कदापि नहीं होने देते। अतः संसारी व्यक्ति को हानि-लाभ पर विचार कर, जिस कार्य से अधिकांश का लाभ हो, अधिकाँश की रक्षा हो वैसा ही करना चाहिये इसमें हिंसा नहीं है। हमें प्राणीमात्र के प्रति ऐसा कार्य कदापि नहीं करना चाहिए जिससे उसे व्यर्थ कष्ट पहुँचे। हमें प्राणीमात्र के प्रति दया-भाव नहीं छोड़ना चाहिए।

सत्य—जैसा नेत्रों ने देखा, कानों से सुना अथवा अनुमान द्वारा बुद्धि से निर्णय किया वैसा ही मन में धारण कर लिया, वाणी से कथन कर दिया तथा उसी के अनुसार कार्य किया अर्थात् मन, वचन एवं कर्म से समान रहने का नाम सत्य है। यदि हमारे सत्य कथन से प्राणियों की बिना कारण हानि होती है तो मौन रहना ही धर्म (कर्त्तव्य) है अन्यथा निरपराध प्राणि को हानि के दोष का दोषी होना पड़ता है। इसी तरह यदि दूसरे व्यक्ति को ज्ञान कराने के लिए कहे गये वचन दूसरे को भ्रम में डालने वाले हैं तो वह सत्य नहीं है यथा महाभारत में सत्य-निष्ठ युधिष्ठिर ने **'अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा'** कहा। ये शब्द यद्यपि उनकी जानकारी के अनुसार सत्य थे परन्तु आचार्य द्रोणाचार्य को भ्रम में डालने वाले थे अतः ये सत्य की श्रेणी में नहीं आते। महाभारत में कहा है कि धर्मपुत्र युधिष्ठिर के रथ के पहिये उनकी सत्यनिष्ठा के प्रभाव से पृथ्वी तल को नहीं छूते थे परन्तु उपरोक्त कथन के पश्चात् वे भी अन्य रथों के समान पृथ्वी तल को स्पर्श करते हुए चलने लगे।

मनुस्मृति में सत्य कथन पर एक अन्य बन्दिश लगाई गई है कि

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः ॥

अर्थात् सत्य बोलो परन्तु अच्छे लगने वाले (प्रिय लगने वाले) शब्दों में बोलो। तुम्हारे कहे हुए वचन अच्छे लगें इसके लिए असत्य भाषण मत करो। यही हमारा सनातन (प्रारम्भ से चला आ रहा) धर्म (कर्त्तव्य) है।

मन, वचन एवं कर्म से सत्य पर आचरण करने वाले का प्रभाव अपार होता हैं। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में कहा है कि

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ २।३६

अर्थात् सत्य पर दृढ़ स्थिति होने पर व्यक्ति की वाणी द्वारा जो कहा जाता है वह अवश्य फलीभूत होता है। सत्य के अभ्यास करने वाले व्यक्ति को स्वर्गादि फल स्वमेव प्राप्त हो जाते हैं।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम के आचरण के सम्बन्ध में महर्षि बाल्मीकि कहते हैं कि **'रामोद्विर्नभाषते'** अर्थात् राम कभी असत्य भाषण नहीं करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

अर्थात् सत्य की सदा जय होती है असत्य की नहीं। सत्य से ही दिव्यता का मार्ग पुष्ट होता है। तृष्णाओं से मुक्त हुए ऋषिगण सत्य के परम निधान को प्राप्त करने के लिए इसी (सत्य) मार्ग पर चलते हैं।

परन्तु अहिंसा के समान प्रत्येक परिस्थिति में केवल सत्य का कथन करने का व्रत केवल वे ही महान् पुरुष ले सकते हैं जिनकी समदृष्टि है एवं तृष्णाओं से मुक्त हैं। गृहस्थी व्यक्ति एवं शासन को सम्भालते हुए व्यक्ति द्वारा ऐसे व्रत का पालन सदैव सम्भव नहीं है। परन्तु यथा सम्भव सत्य पर चलने का व्रत तो सभी ले सकते हैं।

अस्तेय— **मनसा वाचा कर्मणा परद्रव्येषु निस्पृहः।**
अस्तेयमिति सम्प्रोक्तं ऋषिभिस्तत्वदर्शिभिः॥ याज्ञवल्क्य सं०

मन, वचन एवं कर्म से दूसरे के द्रव्य की इच्छा न करना अस्तेय है। दूसरों की किसी भी प्रकार की वस्तु को लेने की इच्छा न रखना, उस पर ध्यान नहीं देना, मन में विचार भी न लाना एवं दृष्टि न रखना अस्तेय है। जिसको पुरुषार्थ से उपार्जित नहीं किया है उसको लेने का स्वप्न में भी विचार न करना अस्तेय है। चोरी न करना अस्तेय है।

दूसरों की वस्तु को लेने की भावना (स्तेय) से व्यक्ति अन्यायी, अत्याचारी, असत्यभाषी हो जाता है। यह बुराई व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ यो० द० २।३७

अस्तेय (चोरी) के त्याग में स्थिर हुए व्यक्ति को सर्वरत्नों की प्राप्ति होती

है अर्थात् उस व्यक्ति को आवश्यकतानुसार ईश्वर कृपा से सर्व वस्तुयें प्राप्त हो जाती हैं। उसकी आवश्यकता रुकती नहीं है।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में प्रथम अध्याय में लिखा जा चुका है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ संक्षेप में कहते हैं कि '**गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः**। अर्थात् उपस्थ इन्द्रिय को रोकना ब्रह्मचर्य है। संयम आठ प्रकार से रखना होता है—(१) दर्शन, (२) स्पर्शन, (३) स्मरण, (४) क्रीड़न, (५) कीर्तन, (६) एकान्तवास, (७) गुह्य भाषण तथा क्रियानिवृत्ति।

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ यो०द० २।३८

ब्रह्मचर्य की सिद्धि होने पर बल का लाभ होता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमपाघ्नत। अथर्व ११।४।१९

अर्थात् ब्रह्मचर्य की महान शक्ति द्वारा देवों ने मृत्यु को नष्ट कर दिया यानी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्य में वह शक्ति है कि व्यक्ति मृत्यु को अपनी इच्छा के आधीन कर सकता है।

अपरिग्रह— विषयाणामर्जनरक्षण क्षयसंगहिंसा दोषदर्शनादस्वीकरमपरिग्रहः ॥

इन्द्रियों के विषयों को भोगते रहना, इन भोगों को भोगने की दृष्टि से इन्द्रियों की रक्षा करना तथा उनको विषयों की भोगने की इच्छा के कारण स्थिर रखने की चेष्टा करते रहना और उनके क्षीण हो जाने के कारण कष्ट उठाने पर अत्यन्त दुःखी होना परिग्रह कहलाता है। शरीर के इस प्रकार भोग साधन के राग में बँधे हुए होने से यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये इन्द्रियों के विषयों से विरक्तता आवश्यक है और यह अपरिग्रह है।

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ मनु० २।९३

इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से व्यक्ति निःसन्देह दोषी बनता है परन्तु इन्द्रियों को वश में रखने से विषयों के भोग से वह पूर्ण विरक्त हो जाता है। ऐसे आचरण से अपरिग्रह की सिद्धि होती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ यो० द० २।३९

अपरिग्रह में दृढ़ स्थिति होने पर हमारा जन्म किस प्रकार का है यह बोध हो जाता है।

अपरिग्रह सिद्ध होने पर योगी को भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों में वह क्या था, क्या होगा और वर्तमान सम्बन्धी जिज्ञासा शान्त हो जाती है।

नियम

यम के समान नियम के विभागों के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। याज्ञवल्क्य संहिता के अनुसार नियम दस हैं यथा तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर, प्रणिधान, सिद्धान्त, वाक्यों का श्रवण, लज्जा, मति, जप एवं यज्ञ। श्रीमद्भागवत

के अनुसार नियम ग्यारह हैं—शौच, तप, जप, यज्ञ, श्रद्धा, अतिथि सत्कार, ईश्वर प्रणिधान, तीर्थाटन, परकल्याण भावना, सन्तोष तथा गुरू सेवा। योगदर्शन में पाँच नियम बताये गये हैं **'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।** (यो०द० २।३२)'। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। यहाँ इन्हीं का वर्णन किया जा रहा है।

शौच (शुद्धि)—शुद्धि दो प्रकार से होती है—(१) वाह्य शुद्धि एवं (२) आभ्यान्तरिक शुद्धि। स्नान, उबटन आदि से वाह्य शारीरिक शुद्धि होती है एवं विरेचन, वस्ति, नेति, धौति आदि से आभ्यान्तरिक शारीरिक शुद्धि होती है तथा सत्य पर आचरण करने से मानसिक शुद्धि होती है।

शरीर और मन की शुद्धि से मन की एकाग्रता में वृद्धि होने लगती है तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति में भी प्रगति होने लगती है। व्यक्ति सौम्य एवं शान्त बन जाता है।

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।। यो० द० २।४०

शौच के सिद्ध होने से अपने अंगों की निन्दा एवं दूसरों से असंसर्ग होता है।

योगी व्यक्ति इस पञ्चभूतात्मक शरीर को जब मलयुक्त पाता है तो उसकी शरीर के प्रति ममता मिट जाती है। दूसरों के शरीर भी अपने शरीर के समान मलयुक्त हैं यह ज्ञान होते ही वह दूसरों के शरीर को भी अपने शरीर के समान असंसर्ग करता है। शौच का दूसरा फल है—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।। यो० द० २।४१

अर्थात् शरीर की आभ्यान्तरिक शुद्धि से बुद्धि की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर जय और आत्मदर्शन की योग्यता होती है।

शौच का अभ्यास करने वाले योगी की बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है। बुद्धि के शुद्ध होने पर मन की प्रसन्नता होती है। मन की प्रसन्नता से एकाग्रता बढ़ती है। एकाग्रता से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। इन्द्रिय जय से आत्मदर्शन की योग्यता होती है।

सन्तोष— **सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ।।** यो०द० २।४२

सन्तोष से अनुत्तम सुख का लाभ होता है। सन्तोष से योगी को ऐसा आन्तरिक सुख प्राप्त होता है कि वाह्य सुख जिसके एक अंश के समान भी नहीं ठहरता है।

सन्तोष का मुख्य लक्षण है अपने पुरुषार्थ से उपार्जित धन-धान्य पर ही सन्तोष करना, अधिक की लालसा न करना तथा दूसरों के धन एवं सम्पत्ति को देख कर ईर्ष्या न करना।

संतोषस्त्रिषुकर्त्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषुन नैव कर्त्तव्यो दाने तपसि पाठने ।।

मनुष्य को अपनी पत्नी एवं पुरुषार्थ से प्राप्त भोजन एवं धन पर सदा सन्तोष रखना चाहिये परन्तु दान देने, तप करने तथा पठन-पाठन के प्रति सन्तोष नहीं करना चाहिये।

तप—भूख-प्यास, शीत-उष्ण, स्थान, आसन आदि के कष्ट को सहन करना। मन एवं बुद्धि की शान्ति एवं पवित्रता बनाये रखना, व्यवहार में सदा सात्विक विचार रखना, जिन वस्तुओं के प्रति आसक्ति के भाव उत्पन्न हो जाय उससे मन को हटा लेना, तृष्णा, क्रोध, लोभ आदि को त्याग देना, सदैव मधुर भाषण करना, दूसरों के आवेश के प्रति शान्त रहना, ये सब भाव तप के अन्तर्गत आते हैं।

मूकः पर अपवादे परदार निरीक्षणेऽप्यन्धः।
पंगु परधनहरणे स जयति लोकत्रये पुरुषः॥

जो व्यक्ति परअपवाद (दूसरों की निन्दा अथवा स्तुति) में चुप रहता है, दूसरे की स्त्री के प्रति अन्धा रहता है; दूसरे के धन को लेने के प्रति लंगड़ा रहता है, उस पुरुष ने तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर ली अर्थात् उससे बड़ा और कोई तप नहीं है।

श्रीमद्भगवतगीता (१७।१४-१९) में तीन प्रकार के तपों का वर्णन है।

(१) **शारीरिक तप**—पूज्यजनों का, देवताओं का तथा विद्वानों का यथा-योग्य सत्कार करना, वाह्य एवं आभ्यान्तरिक शुद्धि रखना, व्यवहार में सरलता रखना, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा का पालन करना शारीरिक तप कहलाता है।

(२) **वाचिक तप**—मन में क्षोभ, क्रोध, द्वेष, प्रतिकार आदि उद्वेगों को उत्पन्न न होने देना, मधुर एवं यथार्थ वचन बोलना तथा स्वाध्याय का अभ्यास करते रहना वाचिक तप है।

(३) **मानसिक तप**—मन में प्रसन्नता एवं शान्त भाव बनाये रखना, मन का निग्रह एवं अन्तःकरण की पवित्रता रखना, शान्त भाव से भगवत चिन्तन में लगे रहना मानस सम्बन्धी तप है।

ऊपर बताये हुए तीनों प्रकार के तपों को फल की कामना से न करते हुए समहित चित्त से छल, कपट एवं दम्भ रहित होकर श्रद्धापूर्वक करना **सात्विक तप है।**

मान-सम्मान, सत्कार, पूजा कराने की दृष्टि से पाखण्डपूर्वक ऊपर बताये हुए तीनों तपों को करना **राजस तप है।** इसका फल अनिश्चित एवं क्षणिक होता है।

मूढ़तापूर्वक हठ से, मन-वाणी एवं शरीर को कष्ट देकर अथवा दूसरे का अनिष्ट विचार कर किया गया तप **तामस तप है।**

'नातपस्विनो योगः सिध्यति' (महर्षि व्यास) अर्थात् तप रहित व्यक्ति को योग सिद्ध नहीं होता है। कर्म, क्लेश एवं वासनायें बुद्धि को विषयों के जाल में फंसाने वाली हैं, ये बिना तप के नाश को प्राप्त नहीं होती हैं। इस कारण तप का पालन करना चाहिए। तप मन को प्रसन्न करने वाला एवं सदैव सेवन करने योग्य है ऐसा योगी मानते हैं।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयान्तपसः॥ यो० द० २।४३

तप के पूर्ण होने पर अशुद्धि का नाश होने से शारीर इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

स्वाध्याय—**स्वाध्याय: प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ।।**
यो० द० २।१ पर व्यास भाष्य

प्रणव (ओइम्) एवं अन्य पवित्र करने वाले मंत्रों का जप करना, मोक्ष दायक शास्त्रों का अध्ययन करना, नित्य पठन पाठन से ज्ञानवर्धन करना स्वाध्याय कहलाता है। **स्वाध्यायादिष्टदेवतासं प्रयोग:** ।। यो० द० २।४४

स्वाध्याय के सिद्ध होने से इष्ट देव (परमात्मा) के साथ योग होता है। अर्थात् इष्ट मंत्र के जपरूप स्वाध्याय के पूर्ण होने पर योगी को इष्ट देव का प्रत्यक्ष होता है और रोगी के कार्य में प्रवृत्त होता है।

ईश्वर प्रणिधान—**'ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।'**
यो० द० २।१ परव्यास भाष्य

समस्त क्रियाओं को फल की इच्छा त्यागते हुए परमगुरु (परमात्मा) में अर्पण करना 'ईश्वर प्राणिधानं' कहलाता है।

भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवतगीता में कहते हैं कि

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सगं त्यक्त्वा करोति य: ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिन: कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।
युक्त: कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकम् । ५।१०-१२

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके एवं आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष जल में कमल के पत्ते की तरह पाप से लिपायमान नहीं होता है। इसलिए निष्काम कर्मयोगी ममत्वबुद्धि रहित केवल इन्द्रिय-मन-बुद्धि-शरीर के द्वारा आसक्ति त्याग कर अन्त:करण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं और कर्मों के फल को ईश्वर को अर्पण करके भगवत् प्राप्तिरूप शान्ति को प्राप्त होते हैं।

तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष: ।।
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय: । गी० ३।१९-२०

इसका भावार्थ है कि पुरुष को अपने कर्त्तव्य कर्म निरन्तर अच्छी तरह से अनासक्त (आसक्ति रहित) भाव से करना चाहिए क्योंकि अनासक्त भाव से कर्म करता हुआ पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है यथा जनक आदि ज्ञानीजन आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। तथा

समाधि सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।। यो० द० २।४५

ईश्वर प्रणिधान के पूर्ण होने पर समाधि की सिद्धि हो जाती है अर्थात् जिस योगी ने अपने समस्त भाव ईश्वर के अर्पण कर दिये हैं उसको समाधि की सिद्धि हो जाती है।

२४

आसन, मुद्रा एवं बन्ध

स्थिर सुखमासनम् ।। यो० द० २।४६

जिसमें शरीर स्थिर रहे तथा बैठने में सुख मिले वही आसन है। स्थिर रहने का तात्पर्य है कि आसन पर बैठने से शरीर में कम्पन आदि न हो तथा सुख मिले का तात्पर्य है कि बैठकर ध्यान आदि में किसी प्रकार का विघ्न न हो।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।। यो० द० २।४७

अर्थात् प्रयत्न की शिथिलता एवं अनन्त समापत्तियों द्वारा आसन स्थिर तथा सुखदायक होता है। देह में कम्पादि न होना प्रयत्न में शिथिलता न होना है तथा अनन्तविध आसनों के स्वरूप को विचार कर यथा अवसर लाभकारी आसन को स्वीकार करना अनन्त समापत्ति का अभिप्राय है। जब आसन पर बैठकर ध्यान केन्द्रित किया जाता है और ध्यान विषय के अतिरिक्त अन्य ज्ञान कोई बीच में न आवे तब अहंकार का अभाव हो जाने से आसन दुःखदायी नहीं रहता है और आसन सिद्ध होता है।

ततो द्वंद्वानभिघातः ।। यो० द० २।४८

आसन सिद्धि से योगी को द्वन्द्व यथा भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि नहीं सताते हैं।

योग दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में आसन का अर्थ केवल ध्यान आसन ही लिया जाता था परन्तु हठयोगियों द्वारा पशु पक्षियों के शरीर वैशिष्ट के अनुसार आसनों के स्वरूप का निदर्शन किया गया। इस प्रकार दो प्रकार के आसन कहे जा सकते हैं। एक है ध्यानादि हेतु आसन। इन आसनों से मन की एकाग्रता को बल मिलता है। इस कार्य के लिए पद्मासन, सिद्धासन, स्वास्तिकासन, वीरासन, सुखासन, पवन मुक्तासन, वज्रासन, कूर्मासन एवं भद्रासन प्रमुख हैं इन आसनों में जो सुविधाजनक एवं अनुकूल लगे उसी पर अभ्यास करना चाहिए। आरम्भ में यदि बैठे-बैठे टाँगें दुखने लगें तो उन्हें फैलाकर चार-पाँच मिनट मलना चाहिए। अभ्यास हो जाने पर फिर दर्द नहीं होगा। आसन पर बैठकर नेत्र बन्द रखें अथवा नासिका के अग्र भाग पर ध्यान केन्द्रित रखें। बैठने पर मेरुदण्ड को सीधा रखना चाहिए जिससे सिर,

गर्दन और धड़ एक सीध में रहें। दूसरे प्रकार के आसनों के अभ्यास से शरीर में दृढ़ता, लचीलापन आता है और शरीर स्वस्थ्य रहता है।

इन आसनों का जो वर्णन किया जा रहा है उसमें शरीर के अंगों के नाम सामान्य बोलचाल की प्रचलित शब्दावली में दिए गए हैं यथा शरीर रचना (anatomy) में गुल्फ (टखने) और जानु (घुटने) के मध्य की टाँग के भाग को 'जंघा' कहते हैं तथा जानु (घुटने) और कटि के मध्य के भाग को 'उरु' कहते हैं। बोलचाल की शब्दावली के अनुसार आसनों के वर्णन में 'उरु' को जंघा कहा गया है, पाठक इसका ध्यान रखें।

पद्मासन

आसन पर बैठकर टाँगों को सामने की ओर फैलायें। फिर दाहिनी टाँग को मोड़कर पैर दाहिनी जंघा पर इस प्रकार रखें कि पादतल (तलवे) ऊपर की तरफ रहें और दोनों ओर की एड़ियाँ एक-दूसरे के समीप रहें। हाथ एड़ियों का सहारा लेते हुए एक दूसरे के ऊपर बांयी हथेली को दाहिनी हथेली पर रखकर आसनवद्ध एड़ियों पर रखें। इसको ब्रह्माञ्जलि कहते हैं। (देखें चित्र सिद्धासन) अथवा और घुटनों के बीच हाथ पर रखें। ध्यान लगाने के लिये यह प्रमुख आसन है।

पद्मासन
चित्र 24·1

वीरासन

यह आसन पद्मासन का प्रकार ही कहलाता है। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार इस आसन के लिये आराम से बैठकर बाँया पैर दाहिनी जंघा के नीचे रखें तथा दाहिनी पैर बांयी जंघा के ऊपर रखें। पैरों का क्रम बदला जा सकता है। हाथ पद्मासन के समान रखें। इस आसन से आलस्य, प्रमाद आदि नहीं आता है तथा काफी देर तक बैठा जा सकता है।

श्री गौरांग महाप्रभु एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती इसी आसन पर ध्यान लगाया करते थे। कुछ पुस्तकों में वीरासन को खड़ी मुद्रा में दिखाया गया है वह प्रमाणिक नहीं है।

सिद्धासन

प्राचीन काल में सिद्ध पुरुष इसी आसन का प्रयोग ध्यान के समय किया करते थे। अतः इसका नाम सिद्धासन पड़ गया।

इस आसन में एक पैर की एड़ी को गुदा स्थान पर रखें तथा दूसरे पैर की एड़ी को लिंगमूल (जघन प्रदेश) पर रखें। हाथों को पद्मासन के समान रखें।

इस आसन को **स्थिरासन** अथवा **मुक्तासन** भी कहते हैं।
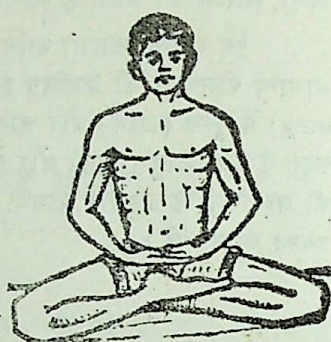
सिद्धासन

चित्र 24·2

स्वस्तिकासन

आसन पर बैठकर टाँगें सामने फैला दें। अब बांयी टाँग मोड़कर उस पैर को दाहिनी जंघा के समीप रखें और इसी प्रकार दाहिनी टाँग को मोड़कर पैर को बांयी जंघा के समीप रखें। इस प्रकार दोनों पैर जंघाओं और पिण्डलियों के मध्य रहते हैं। हाथ पद्मासन के समान रखे जा सकते हैं।
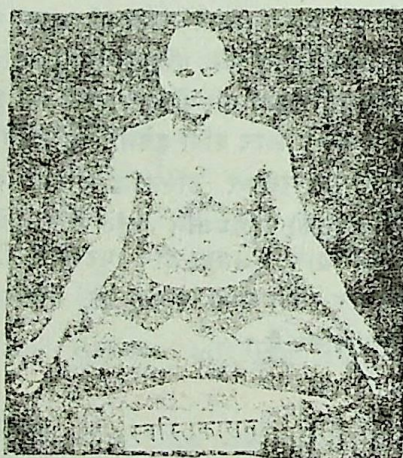
चित्र 24·3

सुखासन

सुविधापूर्वक किसी भी आसन से बैठकर अभ्यास कर सकते हैं। सुखपूर्वक बैठने के इस ढंग को सुखासन कहते हैं सामान्यतः सभाओं, सत्संगों तथा बैठकर भोजन के समय सुखासन से बैठते हैं। पर इतना ध्यान रखना पड़ेगा कि मेरुदण्ड सीधा रहे जिससे सिर, गर्दन व धड़ एक सीध में रहें। कन्धे तने हुए रहें। शरीर न अधिक तना हुआ हो और न अधिक शिथिल रहे। श्वास प्रश्वास की गति सम रखें। इस आसन से काफी समय ध्यान पर बैठा जा सकता है। शरीर और मन की, इस आसन से, थकावट न्यूनतम होती है।

पवन मुक्तासन

इस आसन में एड़ियों को एक दूसरे से मिलाकर बैठ जायें और फिर घुटनों को छाती तक उठाकर बाँहों में जकड़ लें। इस प्रकार बैठने का नाम पवन मुक्तासन है।

वज्रासन

वज्रासन
चित्र 24·4

जो व्यक्ति इस आसन से बैठते हैं उनकी बैठक बहुत दृढ़ होती है। वे आसन से सरलता से हटाये नहीं जा सकते हैं। इसलिये इस आसन को वज्रासन कहते हैं। इससे मेरुदण्ड दृढ़ हो जाता है। मुसलमान भाई इसी आसन को नमाज पढ़ते समय काम में लाते हैं। यह सबसे साधारण आसन है। इस पर बहुत देर तक आराम से बैठा जा सकता है। अनेक योगी प्रायः इसी आसन पर बैठ ध्यान साधते हैं। कुण्डलिनी के उत्थापन में वज्रासन सबसे महत्वपूर्ण आसन है।
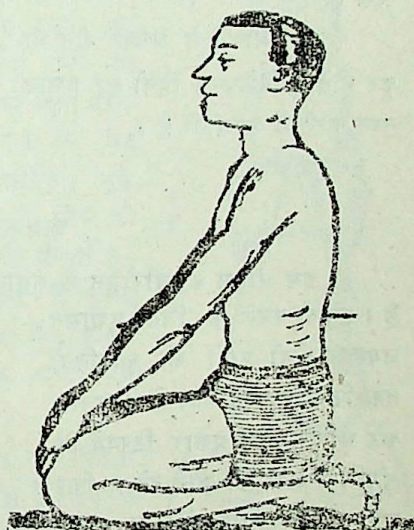
पैरों के तलवों को गुदा के दोनों ओर रखें। इस प्रकार जाँघें टाँगों पर और नितम्ब तलवों पर रखे रहते हैं। पिण्डलियाँ जाँघ को स्पर्श करती रहती हैं। पैरों को लेकर घुटने तक का भाग जमीन को छूता रहता है। शरीर का सारा बोझ घुटनों और टखनों पर रहता है। हाथों को घुटनों पर जमाकर रखें। प्रारम्भ में घुटनों और टखनों में दर्द होने लगता है जो अभ्यास से दूर हो जाता है।

कूर्मासन

इस आसन में वज्रासन के समान बैठकर नितम्बों को तलवों से मजबूती से दबायें। सिर, गर्दन और धड़ सीधा रखें। हाथों को कमर पर अथवा घुटनों पर रखें। इस आसन को वज्रासन का ही एक भेद मानते हैं।

भद्रासन

आराम से जमीन पर बैठकर शरीर को सीधा रखते हुए दोनों पैरों की एड़ियों को गुदा और जननेन्द्रिय के मध्य की सीवन रेखा के मध्य में रखकर दृढ़ता से दबायें। एड़ियों को गुदा की बगल में भी रखा जा सकता है। दृष्टि नासिका के आगे की ओर रखें।

इस आसन से अनेक रोग भी दूर होते हैं विशेषकर विषों का प्रभाव नष्ट करने में उपयोगी है।
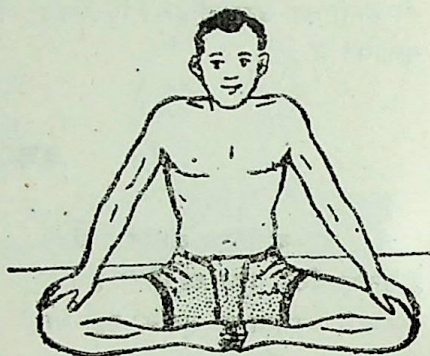
चित्र 24·5

कुक्कुटासन

इस आसन को वीरासन के समान पद्मासन का ही एक भेद माना जाता है। इसको करने के लिये पद्मासन लगाकर दोनों बाहों को कोहनियों तक पिण्डलियों के मध्य से निकालकर भूमि पर इस प्रकार टिकायें कि अंगुलियाँ आगे की ओर रहें। फिर शरीर को हथेलियों के ऊपर टिकाकर ऊपर की ओर उठाते हुए पैरों के बन्ध को कोहनियों तक लावें।

पद्मासन के लाभ इस आसन द्वारा भी प्राप्त होते हैं। साथ ही हाथ बाँह, ग्रीवा की पेशियाँ दृढ़ हो जाती हैं। वक्ष दृढ़ एवं चौड़ा हो जाता है। अभ्यास करते रहने से बाँहें लम्बी हो जाती हैं।
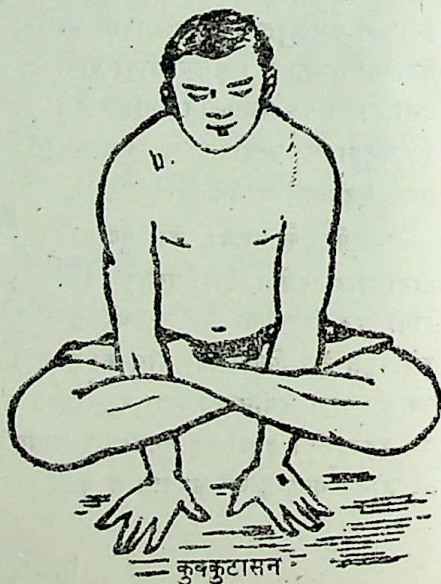
चित्र 24·6

अब आगे जिन आसनों का वर्णन किया जा रहा है। वे मुख्य रूप से शरीर के गठन और स्वास्थ्य को बनाये रखने के उद्देश्य से किये जाते हैं।

शीर्षासन

यह आसन **कपाली आसन, वृक्षासन** आदि नामों से भी जाना जाता है। प्रतिदिन करने के लिये अतिश्रेष्ठ साधन है।

एक चौकोर कम्बल बिछाकर उस पर दोनों घुटनों के बल बैठ जायें। अब दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर फँसाकर दोनों हाथ जमीन पर घुटनों के सामने रखें। अपना सिर दोनों फँसे हुए हाथों के बीच में रखें और धीरे-धीरे टाँगों को ऊपर उठाकर सीधा करें। प्रारम्भ में 5–10 सेकण्ड तक इस दशा में रहें और धीरे-धीरे समय बढ़ाते हुए आध घण्टे तक खड़े रहने का अभ्यास करें। टाँगों को बहुत धीरे-धीरे नीचे लाएँ। इस आसन को बहुत धीरे-धीरे बिना झटके के करना चाहिए। सिर के बल खड़े होने पर नाक से धीरे-धीरे श्वास लेनी चाहिये। मुख से श्वास कभी नहीं लें। आरम्भ में किसी मित्र की सहायता अथवा दीवार का सहारा लिया-जा सकता है। प्रारम्भ में कुछ सनसनी सी मालूम पड़ती है परन्तु अभ्यास के पश्चात् यह सब कुछ नहीं होता है। आसन की समाप्ति के पाँच मिनट पश्चात् एक प्याला दूध आदि अवश्य लेना चाहिये।
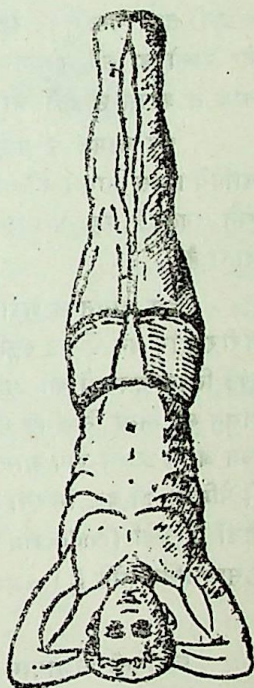
चित्र 24·5 शीर्षासन

इस आसन से मस्तिष्क को पर्याप्त रक्त मिलता है। शरीर में ताजगी, स्फूर्ति एवं बल आता है। स्मरण शक्ति में वृद्धि होती है। अभ्यास करते रहने से श्वास प्रश्वास धीरे-धीरे महीन होता जाता है और उत्साह बढ़ने लगता है। शरीर के लगभग समस्त रोग इससे नष्ट हो जाते हैं। आध्यात्मिक विचारों में उन्नति होती है। कुण्डलिनी शक्ति की जागृति में सहायता मिलती है।

सर्वाङ्गासन

इस आसन को सर्वाङ्गासन इसलिए कहते हैं कि इस आसन को करते समय शरीर के सभी अंगों का व्यायाम हो जाता है।

जमीन पर कम्बल अथवा अन्य कोई वस्त्र बिछाकर इस आसन का अभ्यास करना चाहिये। पीठ के सहारे चित्त लेट जाएं। अब धीरे-धीरे टाँगों को ऊपर उठावें। टाँगों के साथ ही साथ धड़ और कमर को भी ऊपर की ओर उठावें यहाँ तक कि सब एक सीध में हो जावें अब दोनों बाहों को कोहिनी तक जमीन पर टिका कर दोनों हाथों से कमर को पीछे से सहारा देकर रोक लें। ठोढी को छाती पर

टिका दें। (जालन्धर बन्ध) पीठ का कुछ भाग, कन्धे और गर्दन जमीन को छूते रहें। शरीर को सीधा रखें, हिलने-डुलने न दें। निर्धारित समय के पश्चात् टाँगों को धीरे-धीरे नीचे अपनी पहिली स्थिति में लायें। इस आसन में शरीर का भार कोहनी तथा कन्धों पर रहता है। श्वास जितनी देर रोकी जा सके रोकनी चाहिये फिर धीरे-धीरे नाक से श्वास छोड़नी चाहिये।

इस आसन के पश्चात् मत्स्यासन करना चाहिये। इस आसन को करने से गर्दन के पीछे दर्द होने लगता है वह मत्स्यासन करने से दूर हो जाता है।

इस आसन से शरीर सदा स्वस्थ रहता है। शरीर और मन में नई स्फूर्ति पैदा होती है। मेरुदण्ड स्थित अवयवों को पुष्टि मिलती है। इस आसन को नित्य नियमित रूप से करने पर कुपच, कब्ज आदि आन्त्र रोग शान्त हो जाते हैं। शरीर की पेशियों को बल मिलता है, शरीर की अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ (endocrine glands), विशेष रूप से सुप्रभावित होते हैं।
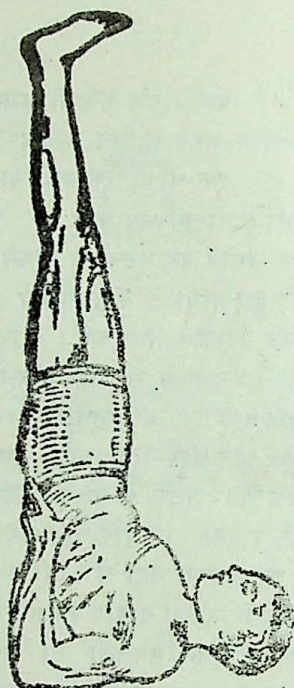
सर्वाङ्गासन

चित्र 24·8

मत्स्यासन

प्लाविनी प्राणायाम करते हुए इस आसन को लगाकर व्यक्ति जल पर तैरता रह सकता है, इसलिए इस आसन का नाम मत्स्यासन पड़ा है।

कम्बल अथवा अन्य कोई वस्त्र बिछाकर पद्मासन लगाकर उस पर बैठ जायें। फिर पद्मासन लगी हुई स्थिति में ही लेट जाएँ। बाहों को परस्पर जकड़कर उस पर सिर रख दें। यह आसन का पहिला प्रकार हुआ (मत्स्यासन–१)।
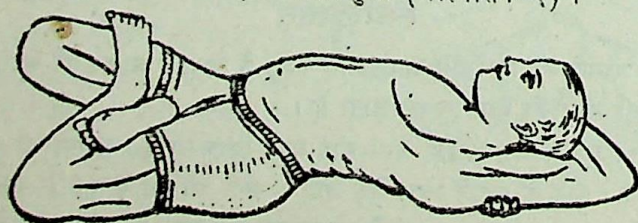
मत्स्यासन (१)

चित्र 24·9

फिर सिर को इतना पीछे ले जाएँ कि सिर मजबूती से जमीन पर ठहर जाय। दूसरी ओर नितम्ब भाग जमीन पर ही रहे। सिर के इस स्थिति में रहने से
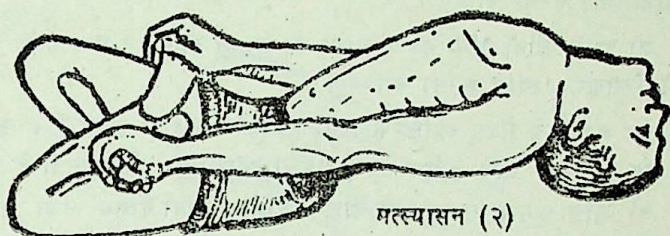
चित्र 24·10

सिर और नितम्बों के मध्य एक पुल जैसा बन जाता है। अब हाथों को या तो जाँघों पर रहने दें या फिर दोनों हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़ लें। यह मत्स्यासन का दूसरा प्रकार हुआ (मत्स्यासन-२)। आसन कर चुकने पर हाथों के सहारे सिर को धीरे-धीरे ढीला करके बैठ जाएँ और पद्मासन खोल दें।

यह आसन सर्वाङ्गासन का सहायक आसन है। इसमें फुफ्फुसों में वायु प्रवेश बढ़ जाता है। गहरी श्वास आने लगती है। फुफ्फुस रोगों में लाभ मिलता है।

पश्चिमोत्तान आसन

आसन पर बैठकर अपनी टाँगों को सीधा फैलाकर उन्हें सख्त कर लें उसके
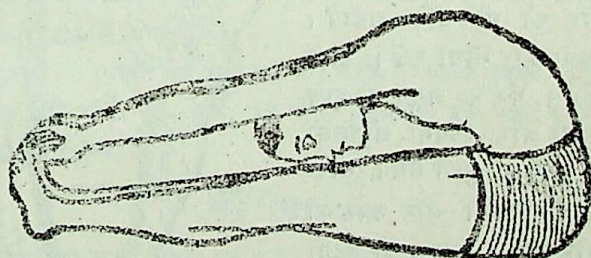
चित्र 24·11

पश्चात् टाँगों को बिना मोड़े हाथों से पैरों के अंगूठों को पकड़ें। ऐसा करने के लिए धड़ को आगे की ओर झुकाना पड़ेगा। इसके लिये पहिले श्वास बाहर निकाल दें (निःश्वसन) फिर बिना झटका दिये धीरे-धीरे धड़ को इतना झुकायें कि माथा घुटनों को छू जाये। अभ्यास करते-करते चेहरा दोनों घुटनों के मध्य चला जाने लगेगा। जब धड़ को झुकावें तो उदर को भीतर की ओर खींचें ऐसा निःश्वसन करने से होगा। इस आसन को ठीक से करने में कुछ दिनों के अभ्यास से सफलता मिलेगी।

अतः निराश नहीं होना चाहिए। निःश्वसन के पश्चात् श्वास को रोके रखना चाहिए। जब सिर को पुनः अपनी पहली स्थिति में लायें उस समय ही प्रश्वसन (inspiration) करना चाहिए।

जो व्यक्ति दोनों टाँगों को फैलाकर यह आसन नहीं कर सकें उन्हें एक-एक टाँग को फैलाकर अभ्यास करना चाहिए।

इस आसन से मेदस् व्यक्ति का बढ़ा हुआ मेद कम हो जाता है। उदर के समस्त अंग स्वस्थ हो जाते हैं एवं उनकी क्रिया स्वाभाविक होने लगती है।

जो व्यक्ति कम आसन करना चाहें शीर्षासन, सर्वांगासन तथा पश्चिमोत्तानासन करना श्रेयस्कर रहता है। इससे उन्हें आसनों का पूर्ण लाभ प्राप्त हो जाता है।

पादहस्तासन

इस आसन को खड़े होकर किया गया पश्चिमोत्तान आसन कहा जा सकता है क्योंकि आसन विधि वही है अन्तर केवल यह है कि यह खड़े होकर किया जाता है।

सीधे खड़े होकर बाँहों को बगल में लटकाएँ। पैरों की एड़ियों को सटी हुई रखें। अंगूठों को एक दूसरे से दूर रखें। शरीर को धीरे-धीरे झुकायें। घुटनों को कड़ा और सीधा रखें। टाँगों को झुकने न दें। पैर के अंगूठे को हाथ के अंगूठे, तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों में धीरे-धीरे पकड़ें। झुकते समय धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालें और उदर को भीतर की ओर खींचें। ललाट को घुटनों के बीच में ले जायें। मुंह घटनों के मध्य से छिद्रों से लग जाय या दोनों जांघों के बीच तक ले जायें। इस आसन को 10–15 सेकेण्ड तक एक बार में करना चाहिए। मेदस् व्यक्ति को प्रारम्भ में इसे करने में कठिनाई होती है।

पादहस्तासन
चित्र 24·12

इस आसन से बढ़ी हुई मेद छट जाती है, अपान वायु की अधोगति को बल मिलता है। सुषुम्ना तन्त्रिका सबल होती है। जो लाभ पश्चिमोत्तान आसन से होते हैं वही इससे भी होते हैं।
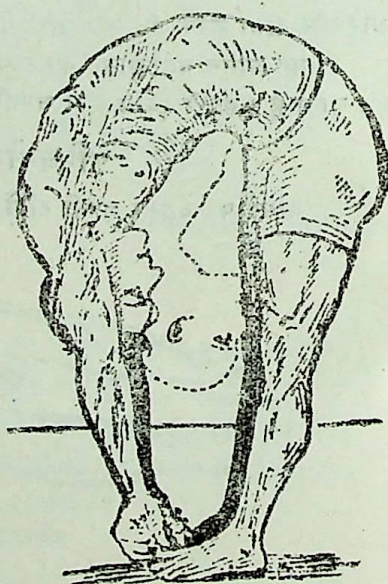
हलासन

इस आसन में शरीर की आकृति हल के समान होती है इसलिए इसको हलासन कहते हैं।
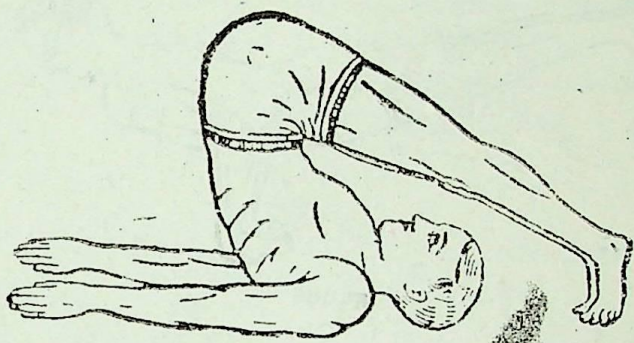
चित्र 24·13 हलासन

जमीन पर कम्बल आदि बिछाकर पीठ के सहारे चित लेट जायें। दोनों हाथों को सीधे बगल में इस तरह रखें कि हथेलियाँ जमीन को छूती रहें। अब धीरे-धीरे टाँगों को उठावें। पैर मुड़ने न पावें। हाथ अपने स्थान पर रहें। धीरे-धीरे पैरों को सिर के ऊपर से ले जाकर दूसरी ओर इतना ले जायें कि अंगूठे जमीन से लग जायें। टाँगें सीधी रखें तथा घुटने एक दूसरे को छूते रहें। ठोढ़ी वक्ष से लगी रहे। नाक से धीरे-धीरे श्वास लेते रहें। इसमें ऐसा भी करते हैं कि हाथों को भी सिर के दूसरी ओर ले जाते हैं।

इस आसन से मेरुदण्ड एवं सुषुम्ना तथा अन्य तंत्रिकायें स्वस्थ रहती हैं। मांस पेशियाँ दृढ़ बनी रहती हैं। गुल्म, मन्दाग्नि, मलबद्धता एवं यकृत तथा प्लीहा के रोग नष्ट हो जाते हैं।

मयूरासन

इस आसन को करते समय शरीर की स्थिति मोर की तरह हो जाती है अतः इसे मयूरासन कहते हैं। यह आसन सर्वांगासन तथा मत्स्यासन से कठिन है।

जमीन पर झुक जायें तथा चित्र के अनुसार टाँगों को पीछे की ओर फैलाकर पैरों को जोड़कर पैरों के अंगूठे के सहारे टाँगों को रखें। दोनों बाँहों को आगे जोड़ कर हाथों के सहारे से सीधी खड़ी रखे। हाथों की अंगुलियों को पीछे की तरफ रखें। दोनों बाँहों को बड़ी दृढ़ता के साथ जमीन पर टिकी रखें क्योंकि सारे शरीर का बोझ आगे चलकर दोनों बाँहों पर ही पड़ता है। अब धीरे-धीरे उदर को कुहनियों के पास ले आवें। सारा शरीर कुहनियों पर टिका रहे। कुहनियाँ नाभि के पास शरीर को सहारा दिए हुए रहें। इतना करने के बाद टाँगों को फैलाकर

परों को कड़ा करते हुए ऊँचा उठाकर सिर की सीध में ले आवें। ऐसा 15-20 सेकेण्ड तक करना चाहिए परन्तु यदि शरीर बलिष्ठ है तो 2-3 मिनट तक यह आसन किया जा सकता है।
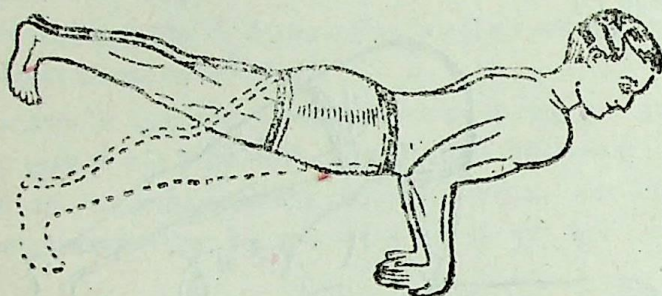
मयूरासन
चित्र 24·14

अभ्यास करते समय शरीर को संभाल न पाने के कारण कभी-कभी सामने नीचे की ओर मुँह के बल गिर जाते हैं इसलिए अभ्यास पूरा न हो जाये तब तक सामने एक गद्दी रख लेना चाहिए। पूरा आसन उसी समय होता है जबकि सिर, धड़, नितम्ब, जांघें, टाँगें और पैर सब अंग जमीन के समानान्तर सीध में फैल जाते हैं। पहिले वह आसन मेज के सहारे किया जा सकता है। शरीर को उठाते समय श्वास को रोके रखना चाहिए और आसन की समाप्ति पर धीरे-धीरे निःश्वसन कर श्वास बाहर निकाल देना चाहिए।

इस आसन से पाचन शक्ति तीव्र होती है। मन्दाग्नि नष्ट होती है, गुल्म आदि उदर विकार समाप्त होते हैं। बाँहों और टाँगों की माँस पेशियाँ सुदृढ़ होती हैं।

धनुरासन

इस आसन के करने पर शरीर का आकार धनुष के समान हो जाता है। फैली हुई बाँहें धनुष की प्रत्यंचा का काम करती हैं।
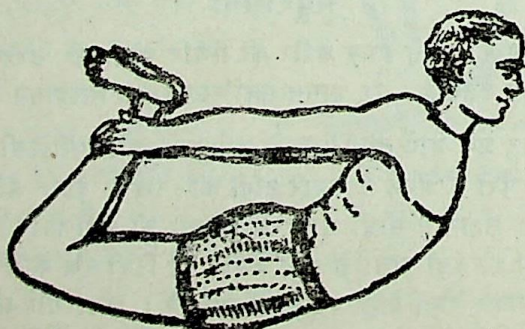
धनुरासन
चित्र 25·15

मुँह नीचे की ओर कर वक्ष के बल लेट जायें। सब पेशियों को ढीला छोड़ दें। बाँहों को बगल में कर लें। पैरों को पीछे की ओर धीरे-धीरे मोड़ें और हाथों को पीछे की ओर फैलाकर पैर के टखनों को हाथों से पकड़ें। वक्ष को फैलायें, बाँह और हाथों को खूब सीधा और कड़ा रखें। इस समय एक अच्छा उन्नतोदार धनुष बन जाता है। यदि पैरों को फैलायेंगे तो वक्ष ऊपर उठ जायेगी। श्वास को थोड़ा रोक कर फिर नि:श्वसन करें। घुटनों को एक दूसरे के निकट रखें।

यह आसन मलावरोध, मन्दाग्नि तथा यकृत दौर्बल्य में लाभप्रद होता है। पैरों और घुटनों की संधियों के कार्य में शक्ति आती है और रीढ़ की अस्थियों को लचीला बनाता है।

गोमुखासन

जब यह आसन किया जाता है तो इसका आकार गाय के मुख के समान मालूम पड़ता है, इसलिए इस आसन को गोमुखासन कहते हैं।

गोमुखासन

चित्र 24·16

बाँए पैर की एड़ी को बाँयें नितम्ब के नीचे रखें। दाहिनी पैर को इस तरह लायें कि दाहिना घुटना बाँयें घुटने पर और दाहिना तलुवा बाई जाँघ के बगल में लग जाये। धीरे-धीरे अभ्यास से दाहिनी एडी को दाहिने नितम्ब से सटाना चाहिए। इससे जांघों का बन्ध बन जाता है। बिल्कुल सीधे बैठें। अब हाथों को पीछे ले जाकर सावधानी से दोनों हाथों के पंजों का बन्ध बांधें। इस बन्ध को दो मिनिट तक रखें। धीरे-धीरे श्वास लें। अंगुलियों के बन्ध बनाते समय शरीर को नहीं मोड़ें तथा एड़ी और वक्ष को भी न मुड़ने दें। इसी क्रिया को दूसरे भाग से भी करें अर्थात् अब दाहिने पैर की एड़ी को दाहिने नितम्ब के नीचे रखकर अन्य क्रियायें करें।

इस आसन के अभ्यास से अन्य सब आसनों के समान अपच एवं मन्दाग्नि दूर होती है। पैर और कमर की लचक बढ़ जाती है। हाथों के बन्ध को बांधे

बिना काफी समय तक बैठा जा सकता है तथा उस स्थिति में ध्यान लगाया जा सकता है।

अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन

इस आसन को प्रारम्भ करने वाले योगी मत्स्येन्द्र के नाम पर यह आसन जाना जाता है। पश्चिमोत्तान आसन में रीढ़ आगे की ओर मुड़ती है, धनुरासन में रीढ़ को पीछे की ओर मोड़ते हैं। जबकि इस आसन में रीढ़ को अगल-बगल में मोड़ते हैं। इन तीनों आसनों से मेरुदण्ड में लचक पैदा हो जाती है।

बांयें पैर की ऐड़ी को गुदा और जननेन्द्रिय के मध्य सीवन पर दृढ़ता से रखें। दाहिने टाँग की पिंडली को बाँयें पैर की जाँघ पर इस तरह रखें कि दाहिना पैर कमर के पास जमीन को छूता रहे। दाहिने पैर के खड़े घुटने पर बाँये बाँह की कुहनी सीधी रखें। अब घुटने को पीठ की ओर थोड़ा सा घुमावें जिससे यह कुक्ष के पिछले भाग को स्पर्श करें। बाँयें घुटने को बाँये हाथ से पकड़ें फिर बाँये कन्धे की सन्धि स्थल पर दबाव डालकर मेरुदण्ड को धीरे-धीरे दाहिनी ओर घुमाएँ। अपना मुँह भी दाहिनी ओर जहाँ तक घुमा सकें घुमावें और उसे दाहिने कन्धे की सीध में लायें। दाहिने हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर उससे बाँयी जाँघ को पकड़ें। इस अवस्था में 5-10 सेकण्ड तक रहें। मेरुदण्ड को सीधा रखें झुके नहीं। इसी प्रकार शरीर के दूसरी ओर, दाहिनी ओर, रीढ़ को घुमा सकते हैं।
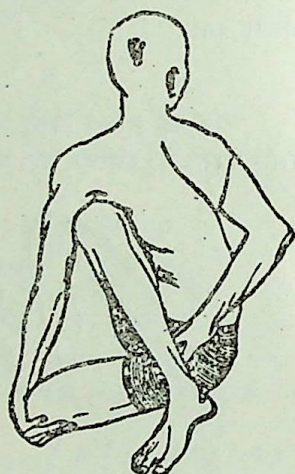
अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन
चित्र 24·17

इस आसन से जठराग्नि बढ़ती है। मेरुदण्ड लचीला हो जाता है। पीठ एवं वंश की तन्त्रिकायें सबल हो जाती हैं।

मत्स्येन्द्रासन

अर्द्ध मत्स्येन्द्रासन के अभ्यास के पश्चात् इस आसन को करना सरल हो जाता है।

टाँगों को फैलाकर सीधे बैठें। बायें पैर को दाहिनी जाँघ के जोड़ पर अपने दोनों हाथों की सहायता से रखें। पैर की ऐड़ी जननेन्द्रिय के ऊपर रखें। दाहिने पैर को बायें घुटने की बगल में जमीन पर रखें। बायें हाथ को दाहिने जांघ के बाहर रखकर घुटने को बांयीं ओर दबायें। दाहिने पैर के अंगूठे को बायें हाथ से पकड़ें। दाहिना पैर दृढ़ एवं स्थिर रखें। दाहिने हाथ को पीठ की तरफ घुमाकर

चित्र 24·18 मत्स्येन्द्रासन

बायीं ऐड़ी को पकड़ें, इससे मुँह और शरीर दाहिनी तरफ पीठ की ओर घूम जाते हैं। मेरुदण्ड को मरोड़ें। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर रहे। श्वास धीरे-धीरे लें। इस आसन को 20 सेकेण्ड तक कर सकते हैं। अभ्यास हो जाने पर दो मिनट तक किया जा सकता है। बारी-बारी से यह आसन दाहिने और बायें दोनों ओर से करना चाहिये।
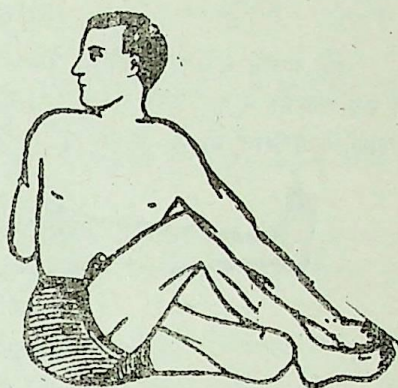
इस आसन से पाचन संस्था को तो बल मिलता ही है, शरीर की पेशियाँ और अस्थि सन्धिस्थल लचीले एवं स्वस्थ हो जाते हैं। पीठ की सभी तन्त्रिकाएँ पुष्ट हो जाती हैं। मस्तिष्क को शक्ति प्राप्त होती है।

उत्तान कूर्मासन

टाँगें मोड़कर इस प्रकार बैठें कि पैरों के टखने एक-दूसरे के ऊपर बिल्कुल सटे हुए रहें। फिर बाहों को जाँघों और पिण्डलियों के मध्य से निकालकर ऊपर को उठाते हुए सिर के पीछे ले जायें और सिर को नीचे की ओर दबायें।

इस आसन से गर्दन और पीठ के दर्द को लाभ होता है।

सिंहासन

दोनों ऐड़ियों को जननेन्द्रिय और गुदा के मध्य सीवनी के नीचे रखें। बाँयी ऐड़ी को दाहिनी ओर और दाहिनी ऐड़ी को बाँयी ओर रखें। हाथों को घुटने पर रखें। अंगुलियों को फैली हुई रखें। मुँह खुला रखें।

इस आसन पर बैठकर बन्ध सुगमता से लग जाते हैं। सामान्यत: योगी इस आसन पर बैठते हैं। अनेक रोग इससे नष्ट हो जाते हैं।

सिंहासन

चित्र 24·19
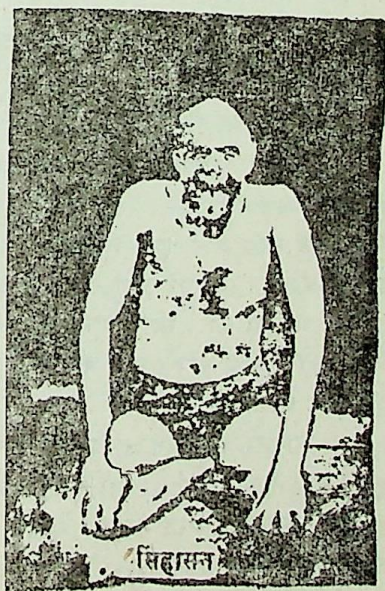
शवासन

यह आसन शरीर की समस्त पेशियों को विश्राम देने के लिए किया जाता है। सब आसनों के कर चुकने के पश्चात् इसको करना चाहिये। शारीरिक परिश्रम के कार्यों के पश्चात् भी यह किया जा सकता है।

शवासन

चित्र 24·20

जमीन पर कम्बल आदि बिछायें और पीठ के बल लेट जायें। बाँहों को जमीन पर बगल में रखें। टाँगों को बिल्कुल सीधा फैलायें। ऐड़ियों को एक दूसरे के करीब रखें। नेत्र बन्द कर धीरे-धीरे श्वास लें। सभी पेशियों को ढीला छोड़ देना चाहिये। ढीला करने की क्रिया पैर की अंगुलियों से प्रारम्भ कर पिण्डली, जाँघ, पीठ, वक्ष, बाँह, गर्दन और सिर इस क्रम में ढीला छोड़ते जाएँ। अन्दर के अवयव हृदय, फुपफुस आदि भी ढीले ही रखें उनसे कोई असामान्य कार्य न लें। इस प्रकार समस्त शरीर को ढीला रखते हुए 15 मिनट तक पड़े रहें। शारीरिक कोई क्रिया न करें।

इस आसन में शरीर एवं मस्तिष्क को पूर्ण विश्राम मिलता है। अन्य आसनों के करते समय शरीर को परिश्रम करना पड़ता है, ऊर्जा का व्यय होता है, रक्त में ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है। इससे इन सबकी पूर्ति हो जाती है।

आसनों के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें

१. आसनों के करने का स्थान स्वच्छ, हवादार होना चाहिये। कमरे में करना है तो खिड़कियाँ खुली रखें, जिससे शुद्ध वायु का आदान-प्रदान होता रहे। कमरे का फर्श साफ और टूटा-फूटा न हो। मकान से बाहर खुले पार्क, नदी तट, समुद्र तट, आदि स्थान भी उपयुक्त हैं।

२. आसनों का अभ्यास प्रात: शौच आदि से निवृत्त हो मुख आदि साफ कर करना चाहिये। यदि अन्य समय करना है तो भोजन के कम से कम तीन घण्टे पश्चात् किये जा सकते हैं।

३. आसनों को करते समय पेट साफ रहना चाहिये। कब्ज नहीं होनी चाहिये। यदि कब्ज है तो आसनों पूर्व उसका उपचार करना चाहिए।

४. जमीन पर मोटा कम्बल अथवा अन्य मोटा वस्त्र दरी, कालीन आदि बिछाकर आसनों को करना चाहिये। घर से बाहर करने पर नीचे की जमीन कठोर नहीं होनी चाहिये।

५. जिस क्रम से आसन प्रारम्भ करें उसी क्रम से नित्य करते रहना चाहिये। क्रम नहीं बदलना चाहिये और नियमित रूप से प्रतिदिन करते रहना चाहिए तभी लाभ होता है।

६. आसन करते समय कम से कम वस्त्र शरीर पर होने चाहिये। लंगोट अथवा कच्छा तथा बनियान पहने रहना चाहिये।

७. प्रारम्भ में कुछ आसन सरलता से नहीं होते हैं परन्तु अभ्यास करते रहने पर सरलता से होने लगते हैं।

८. स्त्रियों को भी आसन करना चाहिये। उनका स्वयं का स्वास्थ्य उत्तम रहेगा। घर के कार्यों में सरलता रहेगी। स्वस्थ एवं शक्तिशाली सन्तान उत्पन्न होगी।

९. प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव, शक्ति, सुविधा, अवकाश तथा आवश्यकता के अनुसार कुछ आसनों को चुन लेना चाहिये तथा उनको एक ही क्रम से करते रहना चाहिये।

१०. शीर्षासन, सर्वाङ्गासन, पश्चिमोत्तान आसन, धनुरासन तथा मयूरासन का अच्छा योग है। यदि और कम को छाँटना है तो शीर्ष, सर्वाङ्ग तथा पश्चिमोत्तान आसनों का मेल उचित है। समयाभाव होने पर ये तीन ही किये जा सकते हैं।

११. आसन के अभ्यास के समय साधारण कुम्भक से आसनों का प्रभाव बढ़ता है।

१२. शीर्षासन के समय लघु आहार अथवा दूध लेना चाहिये।

१३. सभी प्रकार के अम्ल, तीव्र एवं तीक्ष्ण भोजन का परित्याग करके दूध, दही, दाल, साग, रोटी आदि सात्विक भोजन लेना चाहिये। मिताहारी रहना चाहिए। बिना मिताहारी के योग का अभ्यास सफल नहीं होता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता (६।१६) में कथन किया है कि 'योग न अधिक खाने वाले को और न बिल्कुल न खाने वाले को सिद्ध होता है।' अतः योग सिद्धि हेतु उचित मात्रा में सात्विक आहार ग्रहण करना चाहिए।

१४. जप और ध्यान के लिए पाँच आसन मुख्य हैं—पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन तथा सुखासन। इसमें से किसी एक का अभ्यास कर लेना चाहिये। अधिकांश लोगों के लिये पद्मासन अथवा सिद्धासन उत्तम रहता है। अन्य ध्यान आसनों पर भी अभ्यास किया जा सकता है।

१५. आसनों का आधार आध्यात्मिक है। इनके अभ्यास से मन, बुद्धि और शरीर तीनों पर नियन्त्रण रहता है तथा शरीर दृढ़ रहता है।

मुद्रा

ध्यानात्मक आसानों से पूर्ण लाभ प्राप्ति के लिए उनके साथ ही साथ मुद्रा एवं बन्ध के अभ्यास से बहुत लाभ होता है। आसनों से शरीर में जो दृढ़ता आती है मुद्राओं के अभ्यास से वह स्थिर रहती है। मुद्रा अनेक प्रकार की हैं यथा महामुद्रा,

महावेध मुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, योनि मुद्रा (व्रजोली मुद्रा), शक्ति चालन मुद्रा, योग मुद्रा आदि। इन सब का वर्णन देने की आवश्यकता नहीं है परन्तु चार प्रमुख मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है। इनके नियमित अभ्यास से कास, श्वास, प्लीहा वृद्धि, यकृत, वृद्धि, क्षय, मन्दाग्नि, कामोद्दीपन तथा जननेन्द्रिय रोग दूर हो जाते हैं। मुद्राओं के विषय में कहा गया है कि **'नास्ति मुद्रा समं किञ्चित् सिद्ध' क्षिति मण्डले'** अर्थात् इस भूमण्डल पर सिद्धि प्रदान करने के लिए मुद्रा के समान अन्य कोई नहीं है।

महामुद्रा

बैठ कर बाँयी एड़ी से गुदा को सावधानी से दबायें तथा दाहिने पैर को फैलाकर उसके अंगूठे को दोनों हाथ से पकड़ें। ठोड़ी से वक्ष को दृढ़ता से दबायें (जालन्धर बन्ध)। दृष्टि को भ्रूमध्य रखें। श्वास (पूरक) को रोकें (कुम्भक)। इस स्थिति में जितने समय तक रह सकें रहें।। पहिले बाँयें पैर से अभ्यास करें फिर दाहिने पैर से करें।
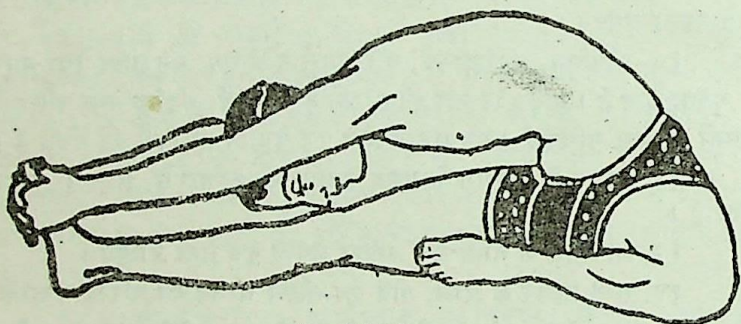
चित्र 24·21 महामुद्रा

इस मुद्रा से क्षय, प्लीहा वृद्धि, अपच, गुल्म, मलावरोध आदि नष्ट हो जाते हैं।

योनिमुद्रा

बाँयें पैर की एड़ी को गुदा एवं दाहिने पैर को जननेन्द्रिय पर रखने को योनिमुद्रा नामक उत्तम ध्यान आसन होता है।

योगमुद्रा

पद्मासन पर बैठकर हथेलियों को एड़ी पर रखें। धीरे-धीरे श्वास बाहर निकालें (रेचक) सिर को आगे को झुकाकर ललाट को जमीन से स्पर्श करायें। हाथों को एड़ियों पर रखें या पीछे ले जाकर बाँयी कलाई को दाहिने हाथ से पकड़ें।
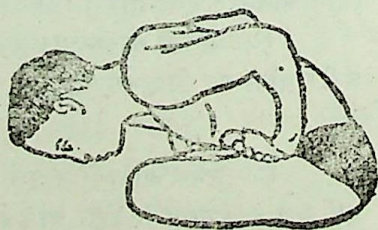
इस मुद्रा से उदर के समस्त रोग नष्ट होते हैं।

चित्र 24·22 योगमुद्रा

विपरीतकरणी मुद्रा

जमीन पर लेट कर पैरों को सीधे ऊपर उठायें। नितम्बों को हाथ से सँभाले। कोहनियों को जमीन पर रखें। शरीर को दृढ़ रखें। सूर्य का निवास योगी नाभि मूल में मानते हैं। एवं चन्द्रमा का निवास ऊपर तालूमूल में मानते हैं। इस मुद्रा से सूर्य ऊपर की ओर और चन्द्रमा नीचे की ओर खिच जाता है इसलिए इसे विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं। पहिले अभ्यास एक मिनट तक करें फिर अभ्यास को बढ़ाते हुए तीन घंटे तक ले जाया जा सकता है।

इस मुद्रा के अध्ययन से 6 माह में चेहरे की झुर्रियाँ नष्ट हो जाती हैं तथा श्वेत बाल काले हो जाते हैं। अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। अभ्यास की समाप्ति पर हलका भोजन यथा दूध आदि ले लेना उचित है।
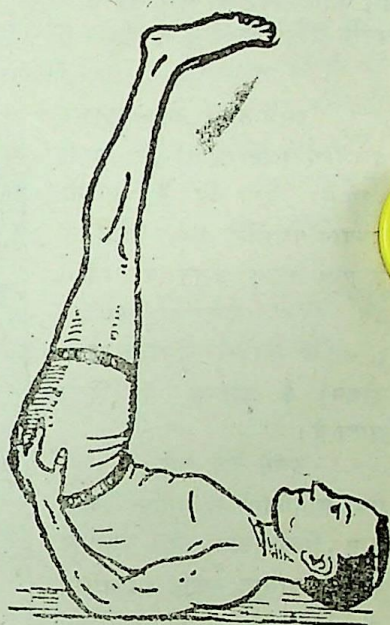
चित्र 24·23 विपरीतकरणी मुद्रा

बन्ध

ध्यानात्मक आसनों से पूर्ण लाभ उठाने के लिये उनके साथ-साथ बन्ध साधने की व्यवस्था योगियों ने की है। ये प्राणायाम के लिये भी बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। वैसे ये स्वतन्त्र रूप से भी साधे जा सकते हैं परन्तु ध्यानात्मक आसनों एवं प्राणायाम के साथ करने में पूर्ण लाभ की प्राप्ति होती है। बन्ध तीन हैं—(१) मूल बन्ध, (२) जालन्धर बन्ध तथा (३) उड्डीयान बन्ध।

त्रिबन्ध

चित्र 24·24

मूल बन्ध

इस बन्ध में गुदा का संकोचन किया जाता है। इसके अभ्यास के लिए सिद्धासन पर बैठना चाहिए क्योंकि इस आसन में एड़ी कसकर गुदा के नीचे जमी रहती है जिस कारण गुदा की पेशियों के संकोचन में सुविधा रहती है। संकोचन के साथ ही साथ अपान वायु को ऊपर की तरफ खींचना चाहिए।

मूल बन्ध के अभ्यास से ब्रह्मचर्य की रक्षा, वीर्य की पुष्टि तथा कोष्ठ बद्धता नष्ट होती है। अपान वायु की अधोगति स्वाभाविक है परन्तु इस बन्ध में उसे बल पूर्वक ऊपर की ओर खींचना होता है। यह क्रिया अति आवश्यक है क्योंकि अपान और प्राण वायु का संयोग कुण्डलिनी जाग्रति के लिए आवश्यक होता है।

जालन्धर बन्ध

इसमें ठोड़ी को झुकाकर वक्षास्थि (sternum) के ऊपरी भाग पर टिका देते हैं। इसका अभ्यास पद्मासन अथवा सिद्धासन के साथ करना उत्तम रहता है। इसे पूरक (प्रश्वसन, inspiration) के अन्त और कुम्भक (श्वास रोकने) के आरम्भ में किया जाता है।

इससे नेत्र, कर्ण, नासिका तथा ज्ञानेन्द्रियों को पर्याप्त व्यायाम मिल जाता है। मन में शान्ति, उत्साह, स्फूर्ति का संचार होता है। प्राण की गति अपने मार्ग से होती है जिससे नीचे से आती हुई अपान से उसका संयोग हो जाता है।
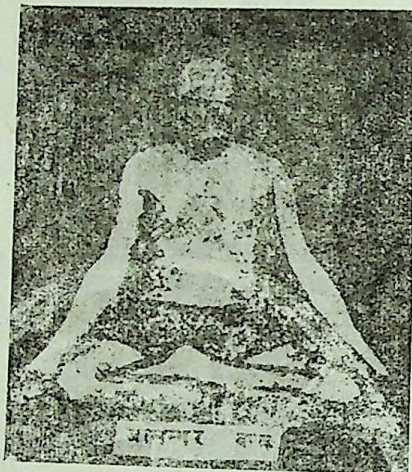
चित्र 24·25

उड्डीयान बन्ध

संस्कृत में 'उड्डीयान' का अर्थ होता है 'उड़ना' तथा 'बन्ध' का अर्थ है बाँधना। इस प्रकार किसी उड़ती वस्तु को बाँधना या नियन्त्रण में करना उड्डीयान बन्ध है। मनुष्य की चित्तवृत्तियों को अधोमुख से ऊर्ध्वमुख करने के लिये उड्डीयान बन्ध एक श्रेष्ठ क्रिया है साथ ही साथ इससे स्वास्थ्य में लाभ होता है।

उड्डीयान बन्ध खड़े होकर अथवा बैठकर किया जा सकता है। बैठ कर पद्मासन लगाकर किया जाता है। खड़ी अवस्था में करते समय दोनों हाथ घुटनों पर या घुटनों से ऊपर जंघा पर रखने चाहिए और पैरों के मध्य फासला रखकर खड़े होना चाहिए।

गहरे निश्वसन (expiration) द्वारा जहाँ तक सम्भव हो सके वायु बाहर निकालें। इस प्रकार वायु बाहर ... की खाली
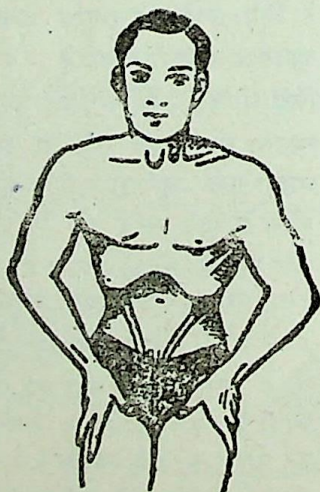
उड्डीयान बन्ध

चित्र 24·26

करें। अब आन्त्र और नाभि को भी सिकोड़ें और पीछे की ओर खींचें जिससे आमाशय आदि ऊपर को उठकर पीठ से सट जायें। वायु बाहर निकालते समय गर्दन और कन्धों की पेशियाँ दृढ़ता से स्थिर रहें और वक्ष संकुचित हो जाय परन्तु वायु भीतर प्रवेश न कर सके। इसके पश्चात् पसलियों को ऊँचे उठाकर श्वास खींचने की चेष्टा करें। इससे वायु का फुफ्फुसों में धीरे-धीरे प्रवेश होगा तथा उदर की तनी हुई पेशियाँ शिथिल हो जायेंगी। इस प्रकार उड्डीयान बन्ध का एक चक्र पूरा होगा।

उड्डयान बन्ध से उदर (abdomin) के आभ्यान्तरिक अंग शिथिल हो जाते हैं। कोष्ठबद्धता, अपच एवं क्षुधा की कमी दूर होती है। आध्यात्मिक दृष्टि से कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है।

उच्च रक्त चाप (High blood pressure) के रोगी, हृद रोगी एवं यक्ष्मा से पीड़ित व्यक्ति का बिना चिकित्सक की सलाह के बन्ध नहीं करने चाहिए।

———

२५

प्राणायाम एवं प्रत्याहार

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम ।। यो० द० २।४६

श्वास-प्रश्वास गति विच्छेद का नाम प्राणायाम है अर्थात् आसन की स्थिरता को रखते हुए श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति का नियमन करना प्राणायाम है।

प्राणायाम के भेद

वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।।

यो० द० २।५०

देश, काल, संख्या के आधार पर श्वास-प्रश्वासों की स्वाभाविक गतियों का दीर्घ अथवा सूक्ष्म गति से **वाह्यवृत्ति** (रेचक, निःश्वसन expiration), **आभ्यान्तर-वृत्ति** (पूरक प्रश्वसन, inspiration) तथा **स्तम्भवृत्ति** (कुम्भक, धारण retention) में नियमन करना प्राणायाम के तीन भेद हैं।

वाह्यभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।। यो० द० २।५१

वाह्य (रेचक) एवं आभ्यान्तर (पूरक) करने के पश्चात् वायु को रोकना चौथा भेद कहलाता है।

वाह्यवृत्ति (रेचक) प्राणायाम—वाह्यवृत्तिः श्वासोरेचकः ।। फुफ्फुसों से निकलने वाली निःश्वसित वायु साधारणतया अनेक खण्डों में विभाजित निकलती है। वह एक गति से नहीं निकलती है। प्राणायाम करते समय शनैः-शनैः यह अभ्यास करते रहना होता है कि निःश्वसित वायु धीरे-धीरे बिना टूटे, एक गति से निकलती रहे। यह रेचक क्रिया है जिसे वाह्यवृत्ति कहते हैं। सामान्यतः मनुष्य एक मिनिट में आठ बार निःश्वसन (expiration) तथा आठ बार प्रश्वसन (inspiration) करता है। इस संख्या को घटाकर आठ के स्थान पर चार बार ले आना और फिर घटाते-घटाते एक बार में नियमन कर लेना प्राणायाम का उद्देश्य होता है। यह क्रम वाह्यवृत्ति एवं आभ्यान्तर वृत्ति दोनों प्राणायामों पर लागू होता है। सूक्ष्म गति का अर्थ है कि निःश्वसन इतनी मन्द गति से होता रहे कि पास के व्यक्ति को भी आभास नहीं हो और दीर्घ गति से तात्पर्य है कि लम्बा और जोर से निःश्वसन किया जाये।

आभ्यान्तर वृत्ति (पूरक) प्राणायाम—अन्तर्वृत्तिः प्रश्वासः पूरकः ।। फुफ्फुसों में

श्वसन द्वारा अन्दर वायु का प्रवेश (प्रश्वसन, inspiration) **पूरक** या आभ्यन्तर-वृत्ति कहलाता है। बाह्यवृत्ति के समान आभ्यन्तर वृत्ति में भी श्वासों के खण्डों को मिलाकर एक श्वास में नियमन करना चाहिये। एक गहरा प्रश्वसन आभ्यन्तर वृत्ति का उद्देश्य है।

स्तम्भवृत्ति (सहित कुम्भक) प्राणायाम—**अन्तस्तम्भवृत्तिः कुम्भकः ॥** स्वाभाविक रूप से हो रहे निःश्वसन (रेचक) एवं प्रश्वसन (पूरक) को रोक देना जिससे वायु फुफ्फुसों में रुक जाये स्तम्भवृत्ति (कुम्भक) कहलाता है। कुम्भक में जल से भरे घड़े के समान निश्चलता से प्राण ठहराये जाते हैं। इस कारण यह कुम्भक कहलाता है। इसका वर्णन आगे **सहित कुम्भक** के नाम से किया गया है।

स्तम्भवृत्ति (केवल कुम्भक) प्राणायाम—**गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम ॥** श्वास (निःश्वसन-रेचक) एवं प्रश्वास (प्रश्वसन-पूरक) दोनों करके जो गति का अभाव किया जाता है अर्थात् श्वास-प्रश्वास दोनों का निरोध किया जाता है केवल कुम्भक नामक चौथा भेद है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ यो० द० २।५२

इस चतुर्विध प्राणायाम से ज्ञान के ऊपर जो अज्ञान का आवरण होता है वह नष्ट हो जाता है और विवेक-ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इसलिये कहा गया है कि

तपो न परं प्राणायामान्ततोविशुद्धर्मलानां दीपश्च ज्ञानस्य ॥

प्राणायाम से अधिक कोई तप नहीं है। प्राणायाम से मलों के अभाव हो जाने से शुद्धि एवं ज्ञान का प्रकाश होता है।

सामान्यतः पूरक (inspiration), कुम्भक (retention) तथा रेचक (expiration) में 1 : 4 : 2 का अनुपात रहता है अर्थात् यदि पूरक एक सेकेण्ड में किया जाय तो कुम्भक चार सेकेण्ड तक होना चाहिये और रेचक में दो सेकेण्ड लगने चाहिये। लगने वाले समय की दृष्टि से प्राणायाम को तीन प्रकार का मानते हैं—(१) **अवर**, (२) **मध्यम** तथा (३) **प्रवर**। समय जानने के लिये सेकेण्ड की सुई वाली घड़ी रख सकते हैं अथवा अनुपात जानने के लिए अन्य साधन काम में ला सकते हैं।

अवर प्राणायाम—जिस प्राणायाम में पूरक आठ सेकेण्ड, कुम्भक बत्तीस सेकेण्ड तथा रेचक सोलह सेकेण्ड का रखा जाये, उसे अवर प्राणायाम कहते हैं।

मध्यम प्राणायाम—पूरक 16 सेकेण्ड, कुम्भक 64 सेकेण्ड तथा रेचक 32 सेकेण्ड का होने पर प्राणायाम मध्यम कहलाता है।

प्रवर प्राणायाम—पूरक में 32 सेकेण्ड लगें, कुम्भक में 128 सेकेण्ड लगें तथा रेचक में 64 सेकेण्ड लगें, ऐसे प्राणायाम को प्रवर प्राणायाम कहते हैं।

प्राणायाम करने के लिये शुद्ध स्थान एवं अभ्यस्त आसन पर बैठ जायें।

सिर, गर्दन तथा मेरुदण्ड को सीधा रखें। दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिना नासारन्ध्र बन्द कर वाम नासारन्ध्र से श्वास अन्दर खींचकर पूरक करें। फिर अनामिका एवं मध्यमा अंगुलियों से वाम नासारन्ध्र को भी बन्द कर कुम्भक करें। कुम्भक के पश्चात् दाहिने नासारन्ध्र से अंगूठा हटाकर रेचक करें। इसी प्रकार दूसरे नासारन्ध्र से पूरक एवं रेचक करें।

सहित कुम्भक—जब सामान्य रूप से पूरक, कुम्भक एवं रेचक क्रिया की जाती है तो इस क्रिया में कुम्भक को **सहित कुम्भक** कहते हैं, क्योंकि पूरक एवं रेचक के साथ कुम्भक किया जाता है। रेचक के पश्चात् कुम्भक करें तो उसे **बाह्य कुम्भक** कहते हैं तथा पूरक के पश्चात् कुम्भक को **आभ्यान्तर कुम्भक** कहते हैं।

केवल कुम्भक—इसे **केवली कुम्भक** या केवली **प्राणायाम** भी कहते हैं। अभ्यस्त आसन पर बैठकर पूरक एवं रेचक के बिना किये सहसा श्वसन वायु को फुफ्फुसों में रोक लें इसे केवल कुम्भक कहते हैं। स्तम्भवृत्ति प्राणायाम केवल कुम्भक प्राणायाम का ही दूसरा नाम है। प्राणायाम में सबसे आवश्यक भाग कुम्भक होता है। केवल कुम्भक के सिद्ध हो जाने पर उन्नत योग क्रियाओं के सम्पादन में सरलता प्राप्त हो जाती है। ध्यान में दृढ़ता मिलती है। श्वास प्रश्वास की गति को सम अथवा न्यून करके वायु बढ़ाई जा सकती है।

अग्नि प्रसारण प्राणायाम—ध्यान आसन पर बैठकर सिर, गर्दन, मेरुदण्ड को सीधा रखें। दोनों हथेलियों को घुटनों पर रखकर दोनों नासारन्ध्रों से उदर की वायु को नाभि से धक्का देकर, पेट को पिचकाते ये शीघ्रता से रेचक करें। इसी प्रकार तुरन्त पूरक करें। बार-बार शीघ्रता से पेट को फुलाते और पिचकाते हुये दोनों नासारन्ध्रों का प्रयोग करते हुए पूरक-रेचन करें। इस प्रकार कम से कम 50–60 बार करें।

इस प्राणायाम से पाचन शक्ति में वृद्धि हो जाती है। मन्दाग्नि दूर हो जाती है। मलों का शोधन हो जाता है। उदर की बढी हुई मेद कम हो जाती है।

कुम्भक के भेद—हठयोग प्रदीपिका में आठ प्रकार के कुम्भकों का वर्णन किया है।

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लावनीत्यष्ट कुम्भकाः॥

(१) सूर्य भेदी, (२) उज्जायी, (३) सीत्कारी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्च्छा तथा (८) प्लावनी, ये आठ प्रकार की कुम्भक क्रियायें होती हैं।

सूर्यभेदी—पद्मासन, सिद्धासन अथवा अपने अभ्यस्त आसन पर बैठकर, नेत्र बन्द कर, बायें नासारन्ध्र को बन्द कर दाहिने नासारन्ध्र से सुविधापूर्वक जितना गहरा प्रश्वसन किया जा सके पूरक करें। जालन्धर बन्ध लगायें और फिर यथाशक्ति कुम्भक करें। जब कुछ घबराहट सी मालूम पड़े बायें नासारन्ध्र से धीरे-धीरे

निःश्वसन द्वारा रेचक करें। इस प्राणायाम में दाहिने नासारन्ध्र से पूरक तथा बांये नासारन्ध्र से रेचक किया जाता है। पहिले तीन प्राणायाम इस प्रकार करें और फिर एक-एक दो-दो दिन के अन्तर से एक-एक प्राणायाम बढ़ाते जायें। इस प्रकार २१ या ३१ प्राणायाम तक, अपने बलाबल के अनुसार बढ़ाकर कर सकते हैं।

यह प्राणायाम वृद्धावस्था एवं मृत्यु को शीघ्र नहीं आने देता। वात और कफ को नष्ट करता है, पित्त की वृद्धि करता है। पाचन शक्ति के लिये लाभदायक है। शरीर से स्वेदन कर मलों को निष्कासित करता है।

उज्जायी—पद्मासन, सिद्धासन अथवा अभ्यस्त आसन पर बैठें। मुँह बन्द रखें और दोनों नासारन्ध्रों से शान्त एवं एक रस रूप से धीरे-धीरे सामान्य पूरक करें। जालन्धर बन्ध लगाकर यथा शक्ति कुम्भक करें फिर दाहिने नासारन्ध्र को बन्द कर बाँयें नासारन्ध्र से रेचक करें। प्रतिदिन ३ प्राणायाम से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ाते जायें।

इस प्राणायाम में कण्ठ से श्लेष्मा (mucous) आना तथा शरीर से आमवात, वीर्यदोष, प्लीहा रोग, श्वास एवं कास रोग दूर होते हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। सिर की गर्मी दूर होती है।

सीत्करी—जीभ को भीतर की ओर मोड़कर उसके अग्र भाग से ऊपरी तालु को स्पर्श करें और सिसकार का शब्द करते हुए श्वास खींचें फिर दम घुटने का अनुभव किये बिना जितनी देर हो सके कुम्भक करें फिर दोनों नासारन्ध्रों से धीरे-धीरे रेचक करें। इसे पुनः पुनः करें।

पित्त प्रकृति व्यक्ति इसे सदैव कर सकते हैं, विशेष रूप से ग्रीष्म ऋतु में लाभदायक है।

शीतली—अभ्यस्त आसन पर बैठकर जीभ को बाहर निकालकर बीच से मोड़कर नाली की आकृति बना लें। मुँह के इस मार्ग से धीरे-धीरे सिसकार शब्द करते हुए गहरा पूरक करें और यथाशक्ति कुम्भक करें तत्पश्चात् दोनों नासारन्ध्रों से निःश्वसन करते हुए रेचक करें। 15–30 मिनिट तक प्रतिदिन कर सकते हैं।

कफ प्रकृति व्यक्तियों के लिये यह प्राणायाम उचित नहीं है। यह प्यास एवं क्षुधा को शान्त करता है। रक्त शुद्ध करता है। ज्वर, क्षय, अपच, पित्तविकार, गुल्म, प्लीहा वृद्धि, कफ आदि रोगों मे लाभ करता है।

भस्त्रिका—पद्मासन, सिद्धासन अथवा अभ्यस्त आसन पर बैठकर, सिर, गर्दन और मेरुदण्ड सीधा रखें, हथेलियों को घुटनों पर या गोद में रखें। फिर मुँह बन्द कर दोनों नासारन्ध्रों से लुहार की धोंकनी के समान जल्दी-जल्दी पूरक तथा रेचक करें। लगभग बीस बार करने के पश्चात् गहरा पूरक कर, यथाशक्ति कुम्भक कर गहरा रेचक करें। यह एक चक्र हुआ। प्रत्येक चक्र के पूरा होने पर कुछ सामान्य श्वास प्रक्रिया करें और फिर दूसरा चक्र प्रारम्भ करें। इस प्रकार कम से कम तीन चक्र

अवश्य करें और धीरे-धीरे संख्या बढ़ाते जायें। कुछ योगी एक नासारन्ध्र से पूरक तथा रेचक क्रिया एवं कुम्भक कर फिर दूसरे नासारन्ध्र इसी प्रकार कर एक चक्र पूरा करते हैं ।

इस प्राणायाम के अभ्यासी को दूध, घी का सेवन करते रहना चाहिये । यह प्राणायाम कफ और मेद को कम करता है । मन्दाग्नि में लाभ पहुँचाता है । शरीर में उष्णता पहुँचाता है । सभी कुम्भकों में यह अति लाभदायक समझा जाता है । सुषुम्ना को उत्तेजित कर कुण्डलिनी के जाग्रत करने में सहायक होता है । थक जाने पर या अधिक पसीना आने पर इसका अभ्यास बन्द कर देना चाहिये । आराम करने के पश्चात् पुन: प्रारम्भ कर सकते हैं ।

भ्रामरी—पद्मासन, सिद्धासन, वीरासन, अथवा अभ्यस्त आसन पर बैठ दाहिने नासारन्ध्र को बन्ध कर बाँयें नासारन्ध्र से गहरा पूरक करें फिर कुछ देर कुम्भक कर दक्षिण नासारन्ध्र से रेचक करें । रेचक करते समय कण्ठ से भ्रमर (भौरों) के गुञ्जन के समान शब्द करते रहे । रेचक को यथाशक्ति लम्बा करें । इसी प्रकार दूसरे नासारन्ध्र से करें । कुछ अभ्यास योगी दोनों नासारन्ध्रों से एक साथ पूरक तथा रेचक करते हैं ।

इस प्राणायाम से मन को एकाग्रता में सफलता मिलती है । वाणी और स्वर में मधुरता आती है । श्वसन क्रिया गहरी और सूक्ष्म हो जाती है । साधना में सफलता मिलती है ।

मूर्च्छा—अभ्यस्त आसन पर बैठकर बायें नासारन्ध्र से पूरक कर जालन्धर बन्ध लगाते हुए यथाशक्ति कुम्भक करें । फिर दोनों नासारन्ध्रों से रेचक करें । इस प्रकार दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करें । इसका अभ्यास बढ़ाते जाना चाहियें । इससे मन शान्त होकर मूर्च्छित सा हो जाता है । इसलिये इस प्राणायाम को मूर्च्छा प्राणायाम कहते हैं ।

प्लावनी—इस प्राणायाम का पूर्ण अभ्यासी जल पर काफी समय तक तैरता रह सकता है । वायु पीकर जीवित रह सकता है ।

अभ्यस्त आसन पर बैठकर दोनों नासारन्ध्रों से पूरक कर इतनी वायु भर लें कि उदर मशक के समान फूल जाये । यथाशक्ति कुम्भक कर दोनों नासारन्ध्रों से रेचक करें तथा उड्डीयन बन्ध लगाकर उदर से वायु निकाल लें । इस प्राणायाम में धीरे-धीरे अभ्यास की आवश्यकता है ।

प्राणायाम से लाभ—(१) **'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।'** यो० द० २/५२ अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास से विवेक ज्ञान रूपी प्रकाश पर पड़ा आवरण दूर हो जाता है। (२) **'धारणासु च योग्यता मनस :।'** यो० द० २/५३-मन को इच्छानुसार स्थान विशेष पर रोकने की शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् मन की एकाग्रता प्राप्त हो जाती है । (३) **'इन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्रणस्य निग्रहात ।'** मनस्मृति-इन्द्रियों में आ गये दोष दूर हो जाते हैं और प्राणों पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है ।

प्राणायाम से शरीर शक्तिशाली, सबल और स्वस्थ बनता है। शरीर से अत्यधिक मेद छट जाती है और शरीर सुडौल हो जाता है। मुख पर ओज दिखाई पड़ने लगता है। नेत्रों में चमक आ जाती है। आवाज सुरीली एवं मधुर हो जाती है। धारणा एवं ध्यान में मन लगने लगता है। मन की एकाग्रता बढ़ जाती है तथा निरन्तर अभ्यास से आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है।

प्राणायाम के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें

१. प्राणायाम का अभ्यास खुले, हवादार, साफ कमरे में अथवा खुले में करें। अभ्यास एकान्त में करें जिससे विघ्न उपस्थित न हों।

२. धुवें, धूल, दुर्गन्ध, सीलन युक्त पर्यावरण में आसन और प्राणायाम के अभ्यास से लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना अधिक होती है। अतः ऐसे स्थान पर न करें।

३. पूरक (प्रश्वसन) तथा रेचक (निःश्वसन) धीरे-धीरे बिना शब्द किये करें।

४. कुम्भक के अभ्यास का क्रम धीरे-धीरे बढ़ाते जायें। पहिले सप्ताह चार सेकेण्ड तक दूसरे सप्ताह आठ सेकेण्ड इस क्रम से बढ़ाते-बढ़ाते 64 सेकेण्ड तक अभ्यास करें।

५. पूरक, कुम्भक तथा रेचक के समय में 1 : 4 : 2 का अनुपात रखें।

६. यदि पहिले स्नान नहीं किया है तो प्राणायाम के अभ्यास के कम से कम एक घण्टे पश्चात् स्नान करें।

७. भरे पेट पर प्राणायाम का अभ्यास न करें। भोजन के तीन-चार घण्टे पश्चात् किया जा सकता है।

८. आहार सात्विक करना चाहिये यथा दूध, घी, चावल, रोटी, साग, सब्जी, खिचड़ी, दलिया, फल, सूखे मेवे आदि। पेय, लेह्य तथा चोष्य पदार्थों को प्रधानता दें। प्याज, लहसुन, माँस, मछली, शराब, धूम्रपान का त्याग करें।

९. अपने अभ्यास को नियमित रखें। अभ्यास का त्याग नहीं करें।

१०. ज्वर पीड़ित व्यक्ति, गर्भवती स्त्री, भूख से पीड़ित व्यक्ति तथा भोजन की अजीर्णता में प्राणायाम नहीं करें। हृद रोगी एवं यक्ष्मा से पीड़ित को भी प्राणायाम नहीं करना चाहिए।

११. प्राणायाम अभ्यास के लिये पद्मासन, सिद्धासन, स्वास्तिकासन, सुखासन, वीरासन तथा वज्रासन उपयुक्त है। प्राणायाम के समय ग्रीवा, मेरुदण्ड, वक्ष, कटि सीधा रखना चाहिये।

१२. शीतकाल में सीत्कारी तथा शीतली प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहिये। परन्तु पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति कर सकते हैं।

१३. ग्रीष्म काल में उज्जयी तथा सूर्य भेद प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना

चाहिये। परन्तु ठण्डे स्थानों पर तथा कफ प्रकृति वाले व्यक्ति इन्हें ग्रीष्म काल में भी कर सकते हैं।

१४. वात प्रधान प्रकृति व्यक्तियों को सीत्कारी, शीतली, प्लावनी प्राणायाम नहीं करने चाहियें।

१५. दुर्बल व्यक्तियों को भस्त्रिका प्राणायाम नहीं करनी चाहिये।

१६. चंचल मन अथवा विक्षिप्त मन वालों को भ्रामरी प्राणायाम उपयोगी रहता है।

१७. प्रारम्भ में कुछ अशुद्धियाँ रह सकती हैं उनसे भयभीत न होकर अभ्यास का क्रम जारी रखना चाहिये।

प्रत्याहार

बहिरिन्द्रियाणां स्वविषयैर्मुखेन अवस्थानं प्रत्याहारः ॥

वाह्य इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) को उनके अपने विषयों से विमुख कर स्थिर करना प्रत्याहार है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ यो०द० २।५४

इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सम्पर्क तोड़कर मन के स्वरूप का अनुकरण करना प्रत्याहार है।

इन्द्रियाँ जब अपने विषयों से सम्पर्क करती हैं तो हमारा मन उनके विषयों के अनुरूप प्रतिक्रिया करता है यथा रसना की प्रवृत्ति रस लेने की है। वह मधुर रस से सम्पर्क करती है तो हमें प्रसन्नता होती है। यदि वह तिक्त रस से सम्पर्क करती है तो हमें अच्छा नहीं लगता है। इसलिए यदि इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क नहीं होता है तो वाह्य जगत के होने वाले प्रपञ्च हमारे मन को प्रभावित नहीं करते हैं। इन्द्रियाँ मन की ओर आकर्षित होकर मन की एकाग्रता में वृद्धि करती हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों को अन्तर्मुख करना प्रत्याहार है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर अन्तरंग योग (धारण, ध्यान, समाधि) सरल हो जाता है।

श्री गीता (२/५८) में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ गीता २।५८

जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है वैसे ही पुरुष जब सब ओर से इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है तब उसकी प्रज्ञा (धी-धृति-स्मृति) स्थिर हो जाती है। यह प्रत्याहार स्थिति है।

———

२६

षट् कर्म

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्नौलिको त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ।। घेरण्ड सं० १।१२

(१) धौति, (२) वस्ति, (३) नेति, (४) नौलि, (५) त्राटक तथा (६) कपाल भाति, ये षट्कर्म हैं। इन कर्मों के द्वारा शरीर का शोधन हो जाता है।

धौति कर्म---अति कोमल, महीन लगभग सात मीटर लम्बे कपड़े की दस सेन्टीमीटर चौड़ी पट्टी (धौति) लें और इसे दूध एवं चीनी मिले जल में भिगो लें। शीतकाल में जल को कुछ गर्म रखें। अब उकड़ूँ बैठकर पात्र में रखी धौति के एक सिरे को मुँह खोलकर कण्ठ में डालें और दाहिने हाथ की मध्यमा तथा अनामिका अंगुलियों की सहायता से उसे अन्दर की ओर ढकेलें। दूध मिले जल के एक-दो घूँट सहारे के लिए, लिये जा सकते हैं। इसको ग्रास के समान निगलने की चेष्टा करें। यदि वमन हो जाती है तो एक दो मिनट रुक कर जल के घूँट के सहारे फिर निगलने की चेष्टा करें। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद सफलता मिल जाती है। फिर धौति को धीरे-धीरे बाहर निकाल लें और गर्म जल में अच्छी तरह धोकर, लपेटकर दुबारा व्यवहार के लिये रख लें। इस क्रिया को प्रातः शौच क्रिया से निवृत्त होकर करना चाहिये। यदि धौति को मुख से निकालते समय कुछ रुकावट मिले तो बहुत हल्का गर्म घी पीकर निकालने का प्रयत्न करना चाहिये।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार धौति क्रिया द्वारा कास, श्वास, प्लीहा वृद्धि, कुष्ठ रोग एवं बीस प्रकार के कफ रोगों में लाभ मिलता है।

बस्ति कर्म---गुद द्वार से द्रव अन्दर आन्त्र में भरकर पुनः गुदद्वार द्वारा निकाल देने का नाम बस्ति कर्म है। किसी पात्र में जल भरकर उसमें उकड़ूँ बैठ जायें। फिर किसी धातु, प्लास्टिक, नरकुल अथवा किसी अन्य प्रकार की एक 12-14 सेन्टीमीटर लम्बी नलिका के सिरे को गुदा में प्रवेश करा दें। नौलि क्रिया द्वारा जल ऊपर गुदा की ओर खींचकर आन्त्र में पहुँचने दें। नौलि को दायें बायें घुमावें फिर आन्त्र का जल नीचे निकाल दें। आजकल एनीमा क्रिया द्वारा बस्ति कर्म किया जा सकता है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार बस्ति कर्म से गुल्म, जलोदर तथा बढ़े हुए वात, पित्त एवं कफ दोषों का क्षय होता है।

नेति कर्म—नेति कर्म दो प्रकार से किया जाता है—(१) सूत्र नेति तथा (२) जल नेति।

सूत्र नेति—इसके लिए आधा मीटर लम्बा और तीन-चार सेन्टीमीटर चौड़ा कपड़ा लेकर बत्ती के समान बट लें। फिर बटा हुआ भाग मधुमक्खी के मोम में डालकर हाथ से सम कर लें। अब मोम लगे सिरे को जिस नासारन्ध्र से श्वास आ जा रहा है उसमें धीरे-धीरे प्रवेश करायें। यदि छींकें आ जाती हैं तो नासारन्ध्र से नेति को निकाल कर पुन: प्रवेश करायें और मुख द्वारा निकालें। धीरे-धीरे अभ्यास करने पर ऐसा करने लगते हैं। ऐसा ही दूसरे नासारन्ध्र से करें। कच्चे धागे को 15-20 लपेट देकर भी नेति बनाई जा सकती है।

जल नेति—एक पात्र जिसका मुँह छोटा हो, लेकर जल भर लें। इस जल में बहुत सूक्ष्म सा नमक भी घोल लें। फिर जिस नासारन्ध्र से श्वास आ जा रहा है उस नासारन्ध्र के मुख पर पात्र का मुख लगाकर धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा जल खींचते हैं और मुख से निकालते हैं। अभ्यास से बढ़ाते-बढ़ाते आधा लीटर जल तक ले लेना चाहिये।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार नेति क्रिया कपाल (मस्तिष्क) को शुद्ध करती है, नेत्र की दृष्टि बढ़ाती हैं तथा ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों को नष्ट करती है।

नौलिकर्म—दोनों पैरों के मध्य लगभग आधे मीटर का फासला रखकर सीधे खड़े हो जायें। दोनों हाथ घुटनों पर या जंघा पर जमा कर गर्दन और कन्धों का पूरा भार उन पर डाल लें। अधिकतम निःश्वसन कर उड्डीयन बन्ध लगायें। फिर धड़ को सीधा करते हुए और उदर को भीतर की ओर धक्का देते हुए उदर के दोनों ओर की समोदरिका पेशियों (recti-abdominis muscles, एकवचन-rectus) को बाहर उभारें। उड्डीयन बन्ध के पश्चात् पेशियों को बाहर निकालें। यही नौलि का मुख्य कार्य है। जब इतना होने लगे तो फिर बारी-बारी से दाहिनी ओर की और बायीं ओर की पेशियों को उभारें। दाहिनी पेशी को उदर के दाहिने किनारे पर तथा बायीं पेशी को उदर के बायें किनारे पर उभारें। जब इस प्रकार पेशियों के
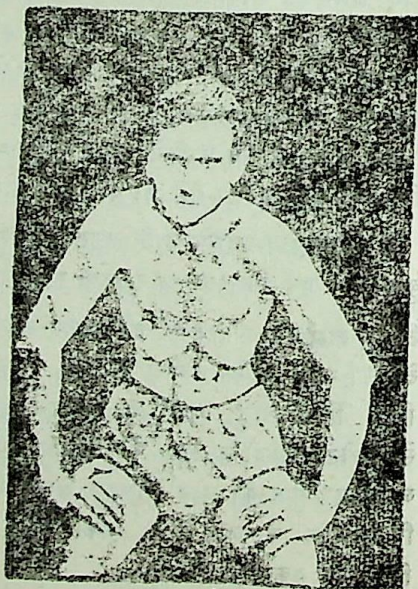
मध्यम नौली

चित्र 26·1

उभारने में अभ्यस्त हो जायें तो दाहिनी और बायीं ओर की पेशियों को शीघ्रता से बारी-बारी से उभारिये। उस समय ऐसा प्रतीत होगा कि पेशियाँ चक्राकार घूम रही हैं। प्रारम्भ में सात-आठ चक्र से अधिक नहीं करें। यह नौलि कर्म की पूर्णता है।

नौलि क्रिया खाली पेट करनी चाहिये। यह आन्त्र की सफाई का व्यायाम है। इससे पुराना अजीर्ण नष्ट होता है। यकृत, प्लीहा एवं वृक्क के रोग नष्ट हो जाते हैं। स्त्रियों में ऋतु धर्म की अनियमितता दूर हो जाती है। उदर का अनियमित भेद घट जाता है।

फुफ्फुस एवं आन्त्र क्षय के रोगियों को, उण्डुक-पुच्छ शोथ (appendicitis ऐपेन्डिसाइटिस) के रोगियों को तथा उच्च रक्त दाब से पीड़ित व्यक्तियों को यह क्रिया नहीं करनी चाहिये। चालीस वर्ष से ऊपर की आयु के व्यक्तियों को भी सामान्यतः यह क्रिया नहीं करनी चाहिये।

त्राटक कर्म—किसी एक निर्दिष्ट वस्तु पर दृष्टि एवं ध्यान केन्द्रित करने की क्रिया को त्राटक कहते हैं। किसी आसन पर सुखपूर्वक बैठकर घी के दीपक की लो पर, किसी कागज पर चिन्ह् बनाकर अथवा किसी चित्र, मोती आदि को एक मीटर दूर रखकर दृष्टि एवं ध्यान केन्द्रित किया जाता है। सूर्य की ओर अथवा तेज प्रकाश की ओर दृष्टि करने से हानि होती है। अतः इन पर त्राटक नहीं किया जाता है।

त्राटक से नेत्र रोग नष्ट होते हैं। तन्द्रा, निद्रा तथा आलस्य दूर होता है। दृष्टि तेज होती है।

कपालभाति—अभ्यस्त आसन पर बैठकर किसी एक नासारन्ध्र से प्रश्वसन (पूरक) करे तथा बिना कुम्भक किये दूसरी ओर से शीघ्रता से निःश्वसन (रेचक) करें। 'लोहार की धौकनी' के समान केवल रेचक-पूरक शीघ्रता से करने को कपाल भाति कहते हैं।

कपाल भाति तन्त्रिका तन्त्र को पुष्ट करता है, मेद घट जाता है, पाचन-शक्ति एवं शारीरिक शक्ति बढ़ जाती है तथा यह धारणा एवं ध्यान में सहायक होता है।

योग सिद्धि

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशय॥

घेरण्ड संहिता (१/१०, ११) में योगी घेरण्ड कहते हैं कि **षट्कर्मों द्वारा** शरीर का शोधन होता है। **आसनों** द्वारा शरीर में दृढ़ता आती है। **मुद्राओं से** शरीर में दृढ़ता स्थिर रहती है। **प्राणायाम** से शरीर में स्फूर्ति एवं लघुता प्राप्त होती है। **प्रत्याहार** से धीरता बढ़ती है। **ध्यान** आदि द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष

होता है तथा निर्विकल्प **समाधि** द्वारा निर्लेप होकर उपासक मुक्त हो जाता है।

यदि चित्त की वृत्तियों पर नियन्त्रण हमने सिद्ध कर लिया तो फिर ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो प्राप्त नहीं की जा सके।

कुण्डलिनी—प्राण वायु की अपनी गति उर्ध्व है परन्तु पूरक उसे अधोगति प्रदान करता है इसी प्रकार अपान वायु की अपनी स्वाभाविक अधोगति है परन्तु रेचक उसे उर्ध्व गति प्रदान करता है और कुम्भक प्राण और अपान को मिलाकर प्राणायाम का परायण करता है। जब कुम्भक सिद्ध हो जाता है तब मूलाधार में मन को लगाना सरल हो जाता है।

गुदा से दो अंगुल ऊपर तथा जननेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे मनुष्य का मध्य भाग है। इसे **मूलाधार** कहते हैं। इसको अग्नि का स्थान माना गया है तथा वर्ण में तपाये हुए स्वर्ण के समान एवं आकृति में त्रिकोण माना जाता है। मूलाधार से ही समस्त तन्त्रिकाओं की उत्पत्ति योग शास्त्र में मानी गई है। इन तन्त्रिकाओं, जिन्हें नाड़ी कहा जाता है, में **इडा** (चन्द्रात्मिका, गंगा), **पिंगला** (सूर्यात्मिका, यमुना), तथा **सुषुम्ना** (सरस्वती) मुख्य हैं। सुषुम्ना मेरुदण्ड के मध्य में रहती है और मस्तिष्क में **ब्रह्मरन्ध्र** तक पहुँचती है, जिसे **सहस्रार** भी कहा गया है। सुषुम्ना के वाम भाग में इडा तथा दक्षिण भाग में पिंगला रहती है। इडा सुषुम्ना एवं पिंगला मिलकर **त्रिवेणी** कहलाती है। इडा ऊपर वाम नासिका तक तथा पिंगला दक्षिण नासिका तक जाती है। इस प्रकार इडा तथा पिंगला प्रश्वसन एवं निःश्वसन द्वारा बाहर बहती है परन्तु सुषुम्ना गुप्त रहती है तथा भ्रूमध्य **आज्ञाचक्र** इन तीनों का संगम स्थल है।
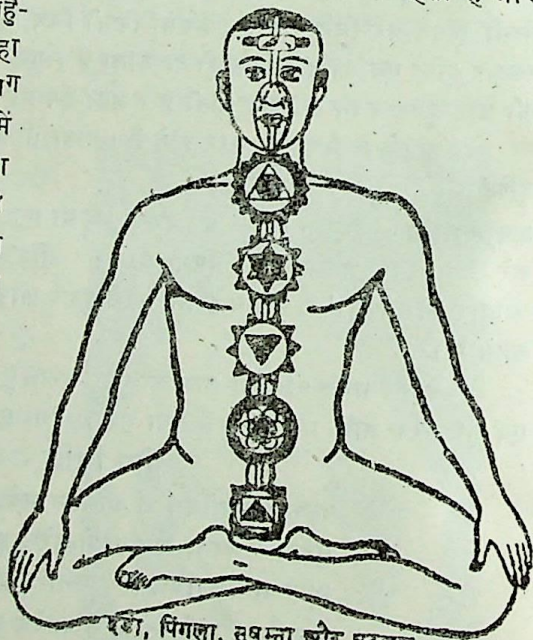
इडा, पिंगला, सुषुम्ना और षट्चक्र
चित्र 26·2

मूलाधार कुण्डलिनी का स्थान माना गया है। कुण्डलिनी अष्ट प्रकृति रूपा (पाँच महाभूत, मन, बुद्धि एवं अहंकार वाली) मानी गई है। यह $3\frac{1}{2}$ कुण्डलियों में अवस्थित रहती है। तीन कुण्डलियाँ प्रकृति के तीनों गुणों (सत्व, रज तथा तम) को व्यक्त करती है तथा आधी कुण्डली विकृति (प्रकृति के

रूपान्तरीकरण) को व्यक्त करती है। कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख को अ आवेष्टित रखती है ऐसा योगशास्त्र में माना जाता है।

प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास में कुम्भक द्वारा प्राणशक्ति बढ़ जाती है। प्राण अधोगति होकर तथा अपान उर्ध्व गति होकर जब परस्पर मिल जाते हैं कुण्डलिनी जागृत हो जाता है। कुण्डलिनी के जागृत हो जाने पर, मन, प्राण और शरीर संगठित हो जाता है। चित्तवृत्तियों का निरोध सरलता से हो जाता है। श्वास की उर्ध्वगति द्वारा सुषुम्ना के मार्ग में स्थित अन्य चक्र भी क्रियाशील हो जाते हैं। ये चक्र संख्या में 6 होते हैं। पहिला चक्र **मूलाधार** है दूसरा चक्र मूलाधार से ऊपर और नाभि के नीचे **स्वाधिष्ठान चक्र** है। तीसरा चक्र नाभि स्थान पर **मणिपुर चक्र** है, चौथा चक्र हृदय में **अनाहत चक्र** है, पाँचवा चक्र कण्ठ मे स्थित **विशुद्ध चक्र** है, तथा छठा चक्र भ्रूमध्य स्थित **आज्ञा चक्र** है एवं इसके ऊपर **सहस्रार** है। कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत हो जाने पर योग साधन के समय के अतिरिक्त अन्य कामकाज करते समय भी मन की एकाग्रता बनी रहती है। उस व्यक्ति को अपने शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ शरीर के द्वारा परम सुख एवं शान्ति की प्राप्ति हो जाती है।

———

२७

आयुर्वेद एवं नैष्ठिकी चिकित्सा

हमारा यह शरीर पञ्चमहाभूत इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग है। आत्मा का संयोग होने पर ही जीवन के लक्षण प्रकट होते हैं। (**शरीरेन्द्रियसत्त्वात्म संयोगो धारि जीवितम्** ॥ च० सू० १/४२)। शरीर और इन्द्रियाँ मिलकर यह भौतिक शरीर कहलाता है। इसके माध्यम से ही मन और आत्मा अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। इन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् की अनुभूति होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ अनुभूति कराती हैं एवं यदि किसी चेष्टा की प्रत्युत्तर में आवश्यकता होती है तो कर्मेन्द्रियाँ उसे करती हैं। इस प्रकार ज्ञान (perception) एवं चेष्टा (response) द्वारा हमारे सांसारिक कार्य होते रहते हैं।

दुःख एवं सुख के आश्रय केवल शरीर तथा मन ही है। आत्मा तो दुःख एवं सुख से रहित निर्विकार है (**शरीरं सत्वसंज्ञं च व्याधीयामाश्रयो मतः।** च० सू० १/५५, **निर्विकारः परस्त्वात्मा।** च० सू० १/५६)। रोग (दुःख) का आश्रय मन है अथवा शरीर, परन्तु उसकी अनुभूति मन को होती है। मन को अनुभूति उस समय होती है जब वह आत्मा से संयुक्त होता है। इसीलिए चरक के उपरोक्त कथन में '**सत्वसंज्ञश्च**' कहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जीवित व्यक्ति को ही दुःख एवं सुख की अनुभूति होती है शव को नहीं।

शरीर में होने वाली व्याधियाँ शरीर धातुओं की विषमता के कारण होती हैं। यह विषमता त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) के विषम होने से होती है एवं मानस व्याधियाँ त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) में रज एवं तम की विषमता के कारण होती हैं। सत्त्वगुण अविकारी है अतः उसके द्वारा विषमावस्था नहीं होती है। शरीर में विषमता (असाम्यावस्था) का कारण यदि त्रिदोष है तब रज एवं तम भी उससे प्रभावित हो मानस दुःख का कारण बनते हैं। इसी प्रकार यदि विषमता का कारण रज, तम है तो त्रिदोष भी उससे प्रभावित हो जाते हैं। ऋतुओं का एवं आयु का प्रभाव भी शारीर व्याधि को प्रभावित करते हैं।

असाम्यावस्था के तीन प्रधान कारण होते हैं—(१) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, (२) प्रज्ञापराध एवं (३) परिणाम। इनकी विभिन्न अवस्थाओं के फलस्वरूप व्याधियाँ भी असंख्य प्रकार की होती हैं।

व्याधि से मनुष्य की रक्षा के लिए चिकित्सा को तीन वर्गों में रखते हैं—

(१) देवव्यपाश्रय चिकित्सा, (२) युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा एवं (३) सत्त्वावजय चिकित्सा ।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) पूर्वजन्म में किये गये कर्मों को **'दैव'** कहते हैं एवं इस जन्म में किये गये कर्मों को **'पौरुष'** कहते हैं। दैव कर्मों के कारण दुःखों की चिकित्सा मन्त्र, औषधि, रत्न आदि के धारण से एवं यज्ञ आदि मंगल कर्मों द्वारा करते हैं। यह देवव्यपाश्रय चिकित्सा है।

असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग एवं परिणाम द्वारा उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा विधि से की जाती है। यह चिकित्सा औषधि-आहार एवं विहार पर आधारित होती है।

प्रज्ञापराध पीड़ित रोगी की चिकित्सा के लिए सत्त्वावजय चिकित्सा विधि अपनाते हैं। प्रज्ञा शब्द के अन्तर्गत धी (निश्चयात्मक बुद्धि), धृति (धारणात्मक बुद्धि) एवं स्मृति (स्मरणात्मक बुद्धि) का समावेश है। इनका अतियोग, मिथ्यायोग अथवा अयोग प्रज्ञापराध का कारण होता है। चरक संहिता में इस रोग की चिकित्सा के सम्बन्ध में कहा है कि रोगी को अभिलाषित वस्तु प्रदान करने से उसका विषाद दूर हो जाता है। यदि रोगी क्रोध, हर्ष, ईर्ष्या, लोभ, मोह के कारण उन्माद की स्थिति में है तो रोगी में विपरीत भावों को उत्पन्न करने से रोग शान्त हो जाता है। परन्तु इस चिकित्सा से व्यक्ति के भाव दोष (राग, द्वेष, तृष्णा) कुछ समय के लिए शान्त हो जायेंगे परन्तु सदैव के लिये मिटेंगे नहीं और जब तक ये भाव मन में उपस्थित रहेंगे मन पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता है यानि योग की स्थिति नहीं लाई जा सकती है। ये भाव दोष ही हैं जिनके कारण व्यक्ति संसार रूपी माया में फँसा रहता है और बार-बार जन्म लेता है।

आयुर्वेद चिकित्सा की सीमा यहाँ समाप्त हो जाती है। आयुर्वेद चिकित्सा के केवल दो प्रयोजन हैं—(१) स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना एवं (२) रोगी मनुष्य के रोग का निवारण करना। (**प्रयोजनं चास्य आयुर्वेदस्य-स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकार प्रशमनं च** ।। च०सू० ३०/२४)। मनुष्यों को अच्छा स्वास्थ्य प्रदान कर आगे की यात्रा के लिए तैयार करना आयुर्वेद का प्रयोजन है। अतः आयुर्वेद शास्त्र नींव है और योगशास्त्र उसके ऊपर बनी इमारत। भाव दोषों (राग, द्वेष, तृष्णा) को उपधा कहते हैं। मनुष्य की उपधा रहित चिकित्सा नैष्ठिकी चिकित्सा है अर्थात् जिस चिकित्सा से मनुष्य राग, द्वेष एवं तृष्णा (इच्छा) से मुक्त होकर अनन्त सुख प्राप्त करता है एवं योगस्थ अवस्था में पहुँच जाता है वह नैष्ठिकी चिकित्सा है। योगस्थ अवस्था से ही मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है (**योगो मोक्ष प्रवर्तकः** ।) अतः नैष्ठिकी चिकित्सा का अर्थ मोक्षदायिनी चिकित्सा है।

आयुर्वेद संहिता ग्रन्थों ने अपनी सीमा का अतिक्रमण नहीं किया है परन्तु मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य का मार्ग निर्देशन कर दिया है कि उपधा (राग, द्वेष, तृष्णा) को छोड़कर जो चिकित्सा होती है वह नैष्ठिकी कही जाती है (हन्तीयुक्तं

चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम् ।। च०शा० १/६४) । रज एवं तम का मन और आत्मा से सम्बन्ध के कारण ही राग, द्वेष, तृष्णा (उपधा) की उत्पत्ति होती है और जिसके कारण बार-बार जन्म लेते रहना पड़ता है । यदि रज एवं तम का मन से सम्बन्ध छूट जाता है तब सभी दुःख दूर होकर आत्यन्तिक सुख अर्थात मोक्ष मिलता है । (**उपधा हि परो हेतुदु :खदुःखाश्रयप्रदः । त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुः-खव्यपोहकः** ।। च०शा० १/६५) ।

उपधा से मुक्ति किस प्रकार मिल सकती है ? इसके उत्तर में कहा है कि मनुष्य के मन में यह भाव निष्ठापूर्वक उत्पन्न हो जाय कि जगत (लोक) के समस्त मूर्तिमान विशेष भाव उसमें भी विद्यमान हैं एवं वह (मनुष्य) और लोक सादृश्य हैं (**यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषाः तावन्तः पुरुषे, यावन्त: पुरुषे तावन्तो लोके । पुरुषोऽयं लोक सम्मितः** ।। च० शा० ५/२) । जब यह ज्ञान शुद्ध रूप से मनुष्य के मन में उत्पन्न हो जाता है तथा उसकी अपने और लोक में भेद करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है अर्थात् समता रूपी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब राग, द्वेष तथा तृष्णा की असारता स्पष्ट हो जाती है इसे ही सत्य बुद्धि का उदय कहा जाता है । यह ही नैष्ठिकी (मोक्षदायिनी) चिकित्सा का प्रारम्भ है ।

सत्याबुद्धि के उदय से मनुष्य का मन प्रवृत्ति मार्ग से हट जाता है । प्रवृत्ति मार्ग दुःख एवं निवृत्ति मार्ग सुख है तथा यही ज्ञान सत्य है ये भाव उत्पन्न हो जाते हैं) **प्रवृत्तिर्दुःख, निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् सत्यम्** ।। च०शा०५/८) समस्त जगत को अपने समान समझने के इस ज्ञान से रज एवं तम, जिनके कारण राग, द्वेष तथा तृष्णा उत्पन्न होते हैं, नष्ट हो जाते हैं एवं मन शुद्ध हो जाता है । आत्मा के ऊपर माया का आवरण लगा रहता है और मन भी माया से आक्रान्त रहता है । समस्त जगत में आत्मभाव के इस ज्ञान से मामा का आवरण नष्ट हो जाता है और मन अधिक प्रकाशमान हो जाता है ।

शुद्ध मन वाले पुरुष में सत्याबुद्धि उत्पन्न होती है जिससे योग में सिद्धि प्राप्त होती है । शास्त्र कहता है कि लोक में अपने को और अपने में लोक को व्याप्त देखते हुए ब्रह्म एवं महत आदि प्रकृति को समझने वाले तत्वदर्शी पुरुष की ज्ञानजन्य शान्ति कभी नष्ट नहीं होती है (**लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः । परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति** ।। च०शा० ५/२०) इस प्रकार कारण (शरीर, मन और इन्द्रियों) का अभाव होने से आत्मा का चिन्ह भी नहीं रहता है तब पुरुष समस्त करणों के त्याग के कारण मुक्त कहा जाता है ।

(**नात्मनः करणाभावल्लिङ्गमप्युपलभ्यते ।**
स सर्वकरणायोगान्मुक्त उत्यभिधीयते ।। च०शा० ५/५२)

यही नैष्ठिकी चिकित्सा का अन्तिम लक्ष्य है ।

यद्यपि आयुर्वेद चिकित्सा का नैष्ठिकी चिकित्सा क्षेत्र नहीं है तथापि आयुर्वेद ने नैष्ठिकी चिकित्सा के मार्ग का दिशा निर्देशन करा दिया है ।

२८

निसर्गोपचार

यह अटल सत्य है कि जितना हम प्रकृति के निकट रहते हैं उतने ही शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रहते हैं, और इसके विपरीत जितना हम प्रकृति से दूर हो जाते हैं उतने ही अस्वस्थ होते जाते हैं परन्तु इतना जानते हुए भी मनुष्य अपने बुद्धि चातुर्य से प्रकृति से दूर भौतिकवाद में फँसता जा रहा है, परिणाम-स्वरूप वह शारीरिक एवं मानसिक रूप से नाना प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त हो रहा है। प्राकृतिक (नैसर्गिक) चिकित्सा का उद्देश्य है कि रोग ग्रस्त मनुष्य को पुनः प्रकृति के निकट लाना जिससे कि वह व्याधि मुक्त हो सके।

प्राकृतिक चिकित्सक मानते हैं कि पाचन-शक्ति के बिगड़ने से शरीर में विजातीय तत्वों का संग्रह होता है तथा उसके शरीर में फैलने के कारण नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। ये विचार आयुर्वेद की मान्यता के अति निकट है। आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि **'सर्वेषां हि रोगाणाम् निदानं कुपिता मलाः।'**

रुग्णावस्था से अन्य औषध चिकित्सा के स्थान पर प्राकृतिक उपायों द्वारा चिकित्सा करने का आधुनिक काल में सर्वप्रथम श्रेय श्री प्रेसनीज (Vincenz Preissnitz) को है। इनका जन्म आस्ट्रिया के एक पहाड़ी प्रदेश में सन् 1752 में हुआ था। इनके पश्चात् श्री श्रोथ (Johnes Schrooth), जो चेकोस्लोवाकिया के निवासी थे, ने इस पद्धति का प्रचार एवं प्रसार किया। लुई कुहने (Louis Kuhne), जो जर्मनी में लिपजिग नगर के निवासी थे, ने सन् 1874 में प्राकृतिक चिकित्सा में स्नान (bath) के महत्व पर जोर देते हुए जल चिकित्सा को प्रचलित किया। बाद में जर्मनी के ही डॉ० हेनरिक लहमन (Henrik Lehman) ने 'वैज्ञानिक भोजन' के नाम से आहार के पथ्यापथ्य को चिकित्सा में सम्मिलित किया।

एलोपैथी पूर्ण रूप से औषध चिकित्सा शास्त्र है। होम्योपैथी भी इसी प्रकार है। परन्तु होम्योपैथी की मान्यता है कि पदार्थ के अधिक मात्रा में सेवन करने से शरीर में जो लक्षण प्रकट होते हैं। उन लक्षणों के उत्पन्न होने पर उनके शमन के लिए उसी पदार्थ की अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा औषधि है। इन दोनों पैथियों में पथ्यापथ्य पर कोई विचार नहीं किया जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा में सर्वप्रथम शरीर से विजातीय द्रव्यों को निकालते हैं उसके पश्चात् पथ्यापथ्य का विचार कर आहार द्रव्यों को, जहाँ तक हो उनके प्राकृतिक रूप में, सेवन कराकर चिकित्सा की जाती है। ये विचार आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान के अत्यन्त निकट है। आयुर्वेद भी सर्वप्रथम

पञ्चकर्म द्वारा शरीर का शोधन करने की सलाह देता है उसके उपरान्त औषधि चिकित्सा बताता है। पथ्यापथ्य का विचार आयुर्वेद में अत्यन्त आवश्यक है। निसर्गोपचार पद्धति एवं आयुर्वेद में यही अन्तर है कि यहाँ भोजन पदार्थों के पथ्यापथ्य से ही चिकित्सा कर्म समाप्त किया जाता है अन्य औषधि द्रव्यों को अनावश्यक समझा जाता है।

जल चिकित्सा

जल चिकित्सा रोगी की शक्ति तथा शारीर तापमान, इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर की जाती है। इस चिकित्सा के अन्तर्गत वाष्प स्नान, कटि स्नान, उष्ण एवं शीत स्नान, समस्त शरीर का उष्ण स्नान, मेहन स्नान, सूर्य स्नान आदि स्नान तथा मिट्टी का प्रयोग आता है।

स्नान—स्नान में ऊष्ण जल के प्रयोग से शरीर को उष्णता मिलती है जिससे रक्त का संचरण बढ़ जाता है और शरीर में चेतन्यता आ जाती है। इस चेतन्यता को स्थायी रखने के लिए तुरन्त ठण्डे जल का प्रयोग किया जाता है।

जब शरीर में उष्णता की वृद्धि हो जाती है तो शरीर के तापमान में भी वृद्धि हो जाया करती है। इस दशा को ज्वर आना कहते हैं। यदि ज्वर तेज है तो सबसे पहिले नाभि से नीचे तथा जघन प्रदेश से ऊपर उदर पर सामान्य तापमान के जल में भीगी हुई मिट्टी की पट्टी या केवल जल में भिगोकर कपड़े की पट्टी रखते हैं और गले के चारों ओर भी चार अंगुल चौड़े तथा एक फुट लम्बे कपड़े की गीली पट्टी लपेटकर उपर से ऊनी वस्त्र या टाट के टुकड़े को लपेट देते हैं और गर्दन से पैरों तक कम्बल ओढ़ा देते हैं। बीस मिनट के पश्चात् कटि स्नान कराते हैं। यदि जल का तापमान 65°F है तो पाँच मिनिट तक, 60°F तापमान के जल में चार मिनिट तक, 58° से 50°F तापमान वाले जल में तीन मिनिट तक तथा कुएँ के ताजा जल में दस मिनिट तक कटि स्नान कराते हैं। जब शारीर तापमान 2°F कम हो जाता है तो रोगी को चुपचाप पड़ा रहने देते हैं। यदि तापमान कम नहीं हुआ है तो गले से पैर तक भीगे कपड़े की पट्टी चढ़ाते हैं। इन क्रियाओं के समय कमरे में सीधी वायु नहीं आनी चाहिये। यदि दरवाजों और खिड़कियों से सीधी वायु आ रही है तो उन्हें बन्द कर देते हैं। यदि रोगी शक्तिशाली और बड़ी आयु का है तो तीव्र ज्वर की अवस्था में उसे वाष्प स्नान कराया जाता है।

पाद स्नान—किसी चौड़े पात्र में जल भरकर पैर के टखने तक पानी में रखकर एक दो मिनिट तक खड़े रहना चाहिये। फिर किसी खुरदरे तौलिये से पोंछकर पाँच मिनिट तक जल्दी-जल्दी टहलना चाहिये। इसी प्रकार दो तीन बार पैर स्नान कर टहलना चाहिये।

पिण्डली स्नान—ऊपर की विधि से पिण्डलियों तक जल में खड़े रहना और फिर उसी प्रकार टहलना पिण्डली स्नान कहलाता है। इस स्नान को भी दो तीन बार किया जाता है।

रीढ़ स्नान (spinal cord bath)–6 फिट लम्बे तथा 3 फिट चौड़े और 6 इन्च ऊँचे टब में जल भरकर रोगी को उसमें नंगा लिटा दिया जाता है। इस प्रकार 15 मिनिट तक उसे जल में लेटे रहना चाहिए। फिर जल से निकलकर बदन तौलिये से पोंछकर मामूली व्यायाम करनी चाहिये। इससे स्वस्थ शरीर को भी लाभ होता है। शरीर के किसी अंग विशेष को जल में डुबोकर भी स्नान करा सकते हैं। जल गर्म अथवा ठण्डा लिया जा सकता है। जल में डूबे हुए अंग को तौलिये से, हल्के हाथ से, रगड़ना चाहिये।

कटि स्नान (hip bath)—एक टब में सामान्य तापमान (70°F) का जल भरें। उसमें रोगी को इस प्रकार बैठायें कि उसकी नाभि तक भाग जल में डूबा रहे। पैर बाहर किसी चौकी आदि पर रहें। यदि रोगी अति दुर्बल है तो पैरों को सहन हो जाने योग्य गर्म जल में रखें। टब में बैठने के पश्चात् खद्दर के एक टुकड़े अथवा छोटे तौलिये से नाभि के नीचे के भाग को एक कुछ से दूसरी कुक्ष तक हल्के-हल्के रगड़ते हुए हाथ को इधर-उधर फेरते रहें। कभी-कभी हाथ को नाभि से नीचे जघन प्रदेश तक ले जाएँ। इस प्रकार प्रतिदिन पाँच मिनिट कटि स्नान करना चाहिये। यदि जल का तापमान कम है तो समय कम रखें यथा 60°F जल में चार मिनिट बैठें। एक सप्ताह के पश्चात् कटि स्नान के स्थान पर मेहन स्नान करना चाहिये।

कटि स्नान से शरीर के समस्त रोग, विशेष रूप से, पेट विकार दूर हो जाते हैं। कटि स्नान के लिए जल अधिक ठण्डा नहीं होना चाहिये। यदि जल अधिक ठण्डा है तो उसमें गर्म जल मिलाकर तापमान स्वाभाविक जल के समान लगभग 70°F कर लेना चाहिये। कमरे में सीधी वायु नहीं आनी चाहिये। यदि दरवाजों और खिड़कियों से सीधी वायु आती है तो उन्हें बन्द कर देना चाहिये। स्नान के पश्चात् बदन को तौलिये से पोंछकर तुरन्त कपड़े पहिन लेने चाहिये। फिर बिस्तर पर लेटकर कम्बल आदि ओढ़कर 15 मिनट तक गरमाहट लेनी चाहिये।

इस स्नान से कब्ज, मन्दाग्नि, मधुमेह, आन्त्रवृद्धि, आन्त्रक्षय आदि रोगों में लाभ होता है।

मेहन स्नान (sitz bath)—एक टब में ऊपर तक जल भरकर फिर उस पर एक तख्ता रखें। तख्ते पर नंगे बैठ जायें। दाहिने हाथ में एक खद्दर का रुमाल अथवा अन्य कोई वस्त्र लेकर उसे जल में भिगोकर धीरे-धीरे जननेन्द्रिय को कोमलता से रगड़ना चाहिये। स्त्रियों को योनि के बाहरी भाग को कोमलता के साथ हल्के-हल्के रगड़ना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि रगड़ कभी कठोर न हो। बैठने में यदि नितम्ब भीग जाते हैं तो कोई हानि नहीं है।

रोगी की आयु तथा शारीरिक दशा के अनुसार यह मेहन स्नान दस मिनिट से एक घण्टे तक किया जाता है। इस स्नान में [illegible] शीतल जल लिया जाता है

उतना ही अधिक लाभ होता है, परन्तु जल इतना अधिक शीतल नहीं होना चाहिये कि हाथ उसे सहन नहीं कर सकें। मेहन स्नान के अतिरिक्त नाभि के नीचे उदर पर मिट्टी की पट्टी रखने से अधिक लाभ होता है। इस स्नान से वीर्य स्खलन, स्नायु दौर्बल्य, अनिद्रा आदि रोगों में लाभ होता है। स्त्रियों में प्रदर को लाभ होता है एवं मासिक धर्म नियमित होता है।

मेहन स्नान का उद्देश्य जननेन्द्रिय स्थान को कोमलता से शीतल जल से मलना है। यह किसी प्रकार भी किया जा सकता है।

वाष्प स्नान (steam bath)—एक वर्तन में जल खौलाते हैं तथा एक बेंत की आराम कुर्सी अथवा दो कुर्सियाँ, जिनका मुँह एक दूसरे के सामने हैं, मिलाकर रखते हैं, अथवा चारपाई को, चारों ओर से कम्बल से ढक दिया जाता है, जिससे अन्दर से वाष्प बाहर नहीं निकले। अब रोगी को कुर्सी अथवा चारपाई पर नंगा बैठा या लिटा दिया जाता है। फिर वाष्प को एक किनारे से अन्दर भेजते हैं। इस बात का ध्यान रखते हैं कि बाष्प नंगे बदन पर सीधी नहीं लगनी चाहिये अन्यथा बदन के जलने का भय रहता है।

रोगी को उसकी शक्ति के अनुसार मामूली पसीना आने से लेकर खूब धारा प्रवाह पसीना आने तक, अर्थात् 5 मिनट से 15 मिनट तक, वाष्प देना चाहिये। वाष्प कम्बल के अन्दर लगातार जाती रहनी चाहिये। रोगी को पसीना आने के पश्चात् वहाँ से निकालकर स्वाभाविक तापमान वाले जल से स्नान करा बिस्तर पर लिटा कम्बल ढक देना चाहिये। इस क्रिया के समय रोगी को सीधी वायु से बचाना चाहिये।

वाष्प स्नान से शरीर शुद्ध हो जाता है। शरीर के किसी अंग की अकड़न दूर हो जाती है। गठिया, पक्षघात, शियाटिका (sciatica गृध्रसी) पीड़ा, मोटापा आदि में लाभ होता है। जीर्ण रोगों से मुक्ति पाने में सहायता मिलती है।

वाष्प स्नान अत्यन्त दुर्बल, हृदय रोग से पीड़ित, उन्माद, मृगी तथा क्षय के रोगी को नहीं करना चाहिये।

सूर्य स्नान (Sun bath)

सर्वाङ्ग सूर्य स्नान—सूर्य की किरणें अनेक रोगों को नष्ट करने की क्षमता रखती हैं। विशेषकर व्याधियों की प्रारम्भिक अवस्था में शरीर से रोगों को निकाल देती हैं। इसके लिए सूर्योदय के समय एक आसन या चटाई पर नंगे लेट जाना या बैठ जाना चाहिये। सिर तथा चेहरे को हरे पत्तों से या भीगे कपड़े से ढके रखना चाहिये। इस प्रकार आधे घण्टे से लेकर 1·5 घण्टे तक बैठा जा सकता है। यदि अधिक गर्मी हो या धूप तेज हो तो स्नान अधिक देर तक नहीं करना चाहिए। कुछ व्यक्तियों में सिर दर्द या व्याकुलता के लक्षण हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को सूर्य स्नान अधिक देर तक नहीं करना चाहिए तथा सूर्य स्नान के पश्चात् शीतोपचार के लिए कटि स्नान या मेहन स्नान करना चाहिये। सूर्य स्नान के पश्चात् ऋतु के अनुसार कपड़े पहिन लेने चाहिये जिससे शरीर की उष्णता बनी रहे।

आंशिक सूर्य स्नान—ऊपर बताई विधि के अनुसार किसी अंग विशेष को, जिसे स्नान कराना है, नंगा कर सूर्य किरणों में रखें। बाकी शरीर को ढके रखना चाहिए। व्रण, नाड़ी व्रण, रसौली अथवा शरीर के अन्दर कोई ग्रन्थि बढ़ रही हो अथवा किसी अंग में पीड़ा हो रही हो, इससे लाभ होता है।

पट्टियाँ

कभी-कभी रोगी को स्नान कराना सम्भव नहीं होता है। उस समय पट्टियों का उपयोग किया जाता है। पट्टियों के लिए खद्दर, फलालेन अथवा ऊनी वस्त्र काम में लाते हैं। सामान्यतः स्वाभाविक तापमान वाला जल पट्टियों को भिगोने के लिए काम में लाते हैं। पट्टियों को जल में भिगाकर निचोड़कर व्यवहार में लाते हैं। यदि पूरे शरीर का पट्टियों द्वारा स्नान करना है तो एक 18″ × 48″ (45 सेमी० × 120 सेमी० के लगभग) पट्टी को जल में भिगोकर निचोड़कर रोगी के गले से पैर तक ढक देना चाहिए तथा एक अन्य पट्टी 15″ × 18″ (38 सेमी० × 45 सेमी० के लगभग) को इसी प्रकार जल में भिगोकर तथा निचोड़कर तहकर वक्ष से लपेट देना चाहिए। रोगी को पट्टियाँ लगाने से पूर्व चादर पर लिटा दिया जाता है। रोगी के शरीर पर वायु सीधी नहीं पड़नी चाहिये। इसके लिए दरवाजे तथा खिड़कियाँ बन्द की जा सकती हैं। दो तीन मिनिट के पश्चात् पट्टियाँ हटा दी जाती हैं और रोगी के शरीर को साफ तौलिए से पोंछकर साफ और सूखे बिस्तर पर लिटाकर कम्बल या लिहाफ ओढ़ा देना चाहिये।

इसी प्रकार सिर पर, गले पर अथवा शरीर के अन्य अंगों पर पट्टियाँ रखी जाती हैं। यदि शरीर को उष्णता देने की आवश्यकता है तो पट्टियाँ गर्म जल में भिगोकर और निचोड़कर रखनी चाहिये।

उदर विकारों में, दर्द, शोथ तथा अकड़न आदि में गर्म और ठण्डी पट्टियों को बारी-बारी से रखने से लाभ होता है। यदि किसी अंग विशेष में पीड़ा हो रही है तो गर्म जल में थोड़ा नमक मिलाकर उस गर्म पट्टी द्वारा सिकाई करने से लाभ होता है।

मिट्टी

प्राकृतिक चिकित्सा में मिट्टी का अच्छा महत्व है। मिट्टी शरीर से हानिकर तत्वों को बाहर निकाल देने की अद्‌भुत शक्ति रखती है। मिट्टी साफ, बारीक, भुर-भुरी होनी चाहिए। उनमें किसी प्रकार के अपद्रव्य यथा लीद, गोबर, घास, काँटे, कंकड़, पत्थर आदि नहीं होने चाहिए। मिट्टी को बारीक और गीला कर साफ, सफेद, पतले कपड़े पर लेप कर दूसरे कपड़े या उसी कपड़े के एक भाग से ढककर जिस स्थान पर प्रयोग करना है वहाँ उसे रख देना चाहिए। सिर को छोड़ माथा, आँख, नाक, कान, गला, बाँह, हाथ, टाँग, पैर, वक्ष, उदर कहीं पर भी प्रयोग की जा सकती है।

पीली मिट्टी कब्ज, मन्दाग्नि, यकृत-प्लीहा वृद्धि, आंत्र वृद्धि, आन्त्र क्षय,

मधुमेह आदि में व्यवहार में आती है। इसके लिये मिट्टी को नाभि से नीचे रखते हैं। यकृत तथा प्लीहा वृद्धि पर यकृत तथा प्लीहा के स्थान पर रखते हैं।

सफेद मुलतानी मिट्टी मस्तिष्क तथा यकृत सम्बन्धी रोगों में विशेष लाभदायक होती है।

काली मिट्टी पागल कुत्ते के काटे पर, गीदड़, साँप, बिच्छू के विष को दूर करने, तथा फिरंग, उपदंश, पूयमेह (सूजाक), कुष्ठ, त्वक्‌रोग तथा एग्जीमा आदि पर प्रयोग की जाती है।

लाल मिट्टी उदरशूल, गठिया, पक्षाघात आदि पर लाभकर होती है।

नदियों की बालू मिश्रित मिट्टी प्रायः सभी सामान्य रोगों में लाभ करती है।

यदि निर्धारित मिट्टी उपलब्ध नहीं है, तो जो साफ मिट्टी मिले उसका ही प्रयोग करना चाहिये।

पक्षाघात, गठिया (वातरक्त) आदि रोगों में गर्म बालू से, रोग ग्रस्त अंग को, ढक देना चाहिये। यदि धूप है तो शेष अंग को छाते से ढके रखना चाहिए।

सर्प विष में गर्दन से नीचे का समस्त शरीर मिट्टी से ढक देने से लाभ होता है। जब तक व्यक्ति होश में नहीं आता, मिट्टी से ढके रखना उचित है।

वस्तिकर्म एनीमा

एनीमा लेना प्राकृतिक चिकित्सा का एक अभिन्न अंग है। अधिकांश रोग कब्ज से होते हैं। कब्ज से आन्त्र की क्रियाशीलता में शिथिलता एवं मन्दता आ जाती है। प्रायः अधिकांश व्याधियाँ आन्त्र से मल त्याग क्रिया के सम्यक् प्रकार से होने से नष्ट हो जाती है।

एनीमा लेने का सबसे अच्छा ढंग है कि एनीमा पॉट में कुनकुना जल, (शरीर तापमान के समान तापमान वाला जल) भरकर उसे ऊँचे स्थान पर रख देना अथवा टाँग देना चाहिए। नली के सिरे 'नोजल' पर तिल या अरण्ड का तैल लगा लें। अब जिस व्यक्ति को एनीमा लेना है वह दोनों घुटनों को जमीन पर टेककर कमर और नितम्ब को ऊपर उठावे और सिर एवं वक्ष को जमीन पर टिका दे। इस स्थिति में आने पर नोजल को गुदा मार्ग में धीरे से प्रवेश करा जल प्रवाह खोल देना चाहिए।

एनीमा लेने के कम से कम 15 मिनिट तक लेटे रहना चाहिये। इस विलम्ब काल में जल को कार्य करने के लिए समय मिल जाता है। कठोर मल, जो आंन्त्र भित्ति से चिपटा होता है तथा आन्त्र की सलवटों में रहता है, मुलायम हो जाता है।

लगातार कुनकुने जल अथवा ठण्डे जल का एनीमा नहीं लेते रहना चाहिए। इससे आन्त्र की अपनी स्वाभाविक संकोच एवं प्रसरण तन्त्रिका शक्ति को हानि होती है। अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति को भी एनीमा नहीं लेना चाहिए।

कुछ रोगों में औषधि-क्वाथ का एनीमा अत्यन्त लाभदायक होता है। ऐसा एनीमा लेने के पश्चात् क्वाथ जल को आन्त्र में अधिक से अधिक समय तक रोके रखना लाभदायक होता है। ऐसा एनीमा 24 घण्टों तक रोका जा सकता है।

क्वाथ एनीमा लेने से कुछ समय पूर्व जल का एनीमा लेना चाहिए। जल

का एनीमा लेकर शौच आदि से निवृत्त के पश्चात् क्वाथ का एनीमा लेना चाहिए।

आंत्र के संक्रमण को नष्ट करने के लिए नीम के क्वाथ को लेना चाहिए। 250 ग्राम नीम की पत्तियों को जल में उबाल कर हरी बोतल में धूप में रख दिया जाता है। दूसरे दिन इस क्वाथ का एनीमा लेते हैं।

हरी बोतल में भरकर मेंहदी के पत्तों के क्वाथ का एनीमा खूनी अर्श (haemorrhoids बवासीर) में भाभदायक होता है।

समान मात्रा में अशोक त्वक एवं पत्तों के क्वाथ को पीली बोतल में भरकर धूप में रखकर तैयार किये गये क्वाथ का एनीमा स्त्री रोगों (प्रदर आदि) में लाभदायक होता है।

हरी बोतल में भरकर करेले के पत्तों का क्वाथ का एनीमा पथरी रोग को नष्ट करता है।

अमर बेल (आकाश बेल) के हरी बोतल में तथा पीली बोतल में रखे क्वाथों का तीन भाग हरी बोतल से तथा एक भाग पीली बोतल से मिलाकर एनीमा लेने से आंत्र क्षय, प्लीहा के रोगों में लाभ होता है। पीली बोतल के अभाव में नारंगी रंग वाली बोतल ली जा सकती है।

उपवास

आयुर्वेद के समान प्राकृतिक चिकित्सा में भी उपवास की महत्ता पूर्णरूप से विकसित है। हमारे आहार में चीजों की इतनी बाढ़ आ गई है कि सुबह से शाम तक मुँह चलता रहता है। अनियमित अनाप शनाप खाने से पाचन तथा चयापचय क्रियाओं में विकृति आ जाती है। फलस्वरूप रक्त में अम्लता अथवा क्षारता की वृद्धि हो जाती है तथा अनेक रोगों से व्यक्ति पीड़ित हो जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा में इन सब विकृतियों की उपवास भी एक चिकित्सा है।

जिन व्यक्तियों में जीवन शक्ति (vitality) का ह्रास हो रहा है अथवा पूर्ण स्वस्थ हैं उन्हें उपवास की आवश्यकता नहीं मानी जाती है। शक्ति हीन, दुर्बल व्यक्ति उपवास को सहन नहीं कर सकता है। स्वस्थ व्यक्ति की जठराग्नि प्रदीप्त होती है, उपवास द्वारा यह और अधिक प्रदीप्त हो जाती है जिससे उसे हानि होती है।

उपवास के समय यदि शारीरिक शक्ति का अत्यधिक ह्रास होता अनुभव हो तो मुनक्का, अंजीर, किशमिश तथा नारियल आदि को प्रातः एवं सायं लेते रहना चाहिए। और अधिक दुर्बलता अनुभव करने वालों को दोपहर में कुछ सुपाच्य आहार द्रव्य लेकर अर्ध उपवास करना चाहिए।

उपवास एक बार में 15 दिन से अधिक का नहीं करना चाहिए। प्रारम्भ में नींबू का रस जल में लेते रहना चाहिए। एक सप्ताह के पश्चात् फलों का रस एक बार में लगभग 150--200 मि० ली० लेते रहना चाहिए। जैसे-जैसे उपवास के दिन बढ़ते जाँय फलों के रस की मात्रा बढ़ाते रहना चाहिए। जिन व्यक्तियों को फलों के रस से जलन प्रतीत हो उन्हें फलों के रस के पश्चात् कुछ मात्रा में उबाल

कर ठण्डा किया हुआ दूध लेना चाहिए। दूध की मात्रा कम से कम, रखी जाये। फलों में नींबू, सन्तरा, मौसम्मी, अंगूर, आम लेना चाहिए। फलों के रस के अभाव में लौकी, परवल, तोरई अथवा पालक आदि को बिना नमक डाले न्यूनतम जल की मात्रा में उबाल कर गला लेना चाहिए, फिर उसके यूष को थोड़े दूध में मिलाकर लेना चाहिए।

उपवास काल में एनीमा लेना आवश्यक है। इसके लिए प्रारम्भ में पहिले तीन दिन कुनकुने जल का एनीमा फिर प्रत्येक दूसरे तीसरे दिन सामान्य जल का एनीमा लेते रहना चाहिए।

जो अति अशक्त हैं उन्हें उपवास काल में सूखी (बिना तैल आदि के) मालिश कराते रहना चाहिए। इससे शरीर में रक्त संचरण को बल मिलता है और शारीरिक क्रियायें सम्यक् प्रकार से होती रहती हैं।

उपवास के प्रारम्भ में यदि शरीर का तापमान बढ़ जाता है तो घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। मुँह का सूख जाना, उत्क्लेश होना, वमन होना आदि लक्षण होने पर नींबू के रस को जल में मिलाकर बार-बार लेते रहना चाहिए। बड़ी इलायची भी मुँह में रखी जा सकती है।

उपवास के समय यदि शरीर का भार लगातार गिरता जाता है तो उपवास समाप्त कर देना चाहिए। उसके पश्चात् प्रातः सायं फल, दूध, दोपहर को दलिया, साग, शहद, सलाद तथा रोटी आदि लेना चाहिए।

उपवास की समाप्ति पर आहार में अति सावधानी बर्तनी चाहिए। रोटी साग आदि की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिए। दूध तथा फलों का रस बराबर लेते रहना चाहिए।

उपवास से अतिसार, मन्थर ज्वर, विषम ज्वर आदि में तथा नए रोगों में अत्यन्त लाभ होता है।

मर्दन (मालिश, massage)

प्राकृतिक चिकित्सा शरीर मर्दन पर भी जोर देती है। इससे शरीर की पेशियाँ सुडौल हो जाती हैं और शरीर की आन्तरिक क्रियायें सम्यक् प्रकार से होने लगती हैं। रक्त संचरण बढ़ जाता है, जिससे शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को रक्त की प्राप्ति हो जाती है।

मालिश का व्यवहार प्राचीन काल से होता आ रहा है। अखाड़ों में मल्ल युद्ध विशारद शरीर मर्दन के द्वारा अपने शरीर को सुडौल तथा कठोर बनाते थे। यह प्रथा आज भी चली आ रही है। मर्दन के अनेक प्रकार हैं यथा (१) रगड़ना, (२) गूंथना, (३) थपथपाना (tapping), (४) मुक्के मारना तथा (५) कम्पन उत्पन्न करना आदि। अखाड़ों में प्रायः रगड़ की मालिश होती है। शरीर को सुडौल बनाने के लिए यही केवल पर्याप्त नहीं है। थुलथुले शरीर में कड़ापन लाने के लिए यह उचित है। परन्तु शरीर के अनुचित कड़ेपन को दूर करने के लिए गूंथने की मालिश अपेक्षित है। अच्छी मालिश में सभी प्रकार की मालिश व्यवहार में प्रायः लाते हैं

मालिश के स्थान पर एक मोटा गद्दा तथा दो-तीन तकिये होने चाहियें। तैल भी विभिन्न रोगों के लिये पृथक् होना चाहिये। यथा बादाम का तैल, शतावर, आँवला, ब्राह्मी तैल आदि तैल उत्तम होते हैं। किसी अंग में पीड़ा, गठिया, पक्षाघात आदि के लिये महानारायण, मालकंगनी, शुष्कमूलक तैल आदि रखने चाहियें। पाश्चात्य देशों में जैतून का तेल (olive oil) को व्यवहार में लाते हैं। महानारायण आदि दूसरी श्रेणी के तैलों को प्राय: सिर में नहीं लगाना चाहिये।

मालिश के लिये स्थान एकान्त में होना चाहिए, जहाँ तेज धूप नहीं आती हो। ग्रीष्म ऋतु में सायेदार स्थान होना चाहिये। जब आकाश में बादल घिरे हुए हों, तेज ठण्डी हवा चल रही हो या वर्षा हो रही हो, ऐसे दिनों में मालिश बन्द रखनी चाहिये। और यदि इन दिनों भी मालिश करना आवश्यक हो तो सीधी ठण्डी हवा से बचाव रखना चाहिये। मालिश के पश्चात् स्नान कर, वस्त्र धारण कर 10-15 मिनिट कम्बल ओढ़कर लेट जाना चाहिये।

मालिश करने का ढंग

मालिश कराने वाले को गद्दे पर पहिले पेट के बल लिटा देना चाहिये। उसके दोनों हाथों को बगल में अथवा ऊपर की ओर सिर के दोनों ओर रखवाना चाहिये। गर्दन सीधी, मुँह एक तरफ को तथा तमाम बदन शिथिल रखना चाहिये।

पीठ की मालिश—(१) मर्दन कर्त्ता दाहिनी हथेली पर तैल लेकर नीचे जहाँ रीढ़ की हड्डी समाप्त हुई है उससे चार अंगुल ऊपर बायीं ओर से दाहिनी ओर को गोलाकार चक्कर देते हुए दाहिने हाथ की हथेली को कोमलता से चालाना चाहिये। फिर गुदा से दो अंगुल ऊपर रीढ़ की हड्डी पर हथेली से ऊपर की तरफ को मलना चाहिये। यहाँ हथेली से कहीं-कहीं गहरा दबाव भी देते रहना चाहिये। फिर हथेली से रीढ़ की हड्डी पर ऊपर की तरफ को मलते हुए जहाँ से पर्शुकाएँ शुरू हुई हैं, वहाँ तक आकर फिर गोलाकार मालिश करनी चाहिये। यहाँ पर भी हथेली का दाब कभी-कभी कुछ गहरा देना चाहिये। यदि दाब देने से रोगी को दर्द का अनुभव होता है तो दाब कुछ हल्का कर देना चाहिये। फिर रीढ़ की हड्डी पर नीचे से ऊपर की ओर दबाव देते हुए गर्दन तक मालिश करनी चाहिये। इस मालिश में लगभग दस मिनिट तक समय लगावे।

(२) हाथों के अंगूठे को रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर रखते हुए और उनसे हल्का दबाव देते हुए नीचे से ऊपर गर्दन तक लगभग ५ मिनिट तक मर्दन करना चाहिये।

(३) दोनों हथेलियों को पीठ पर बाँयें तथा दाहिने ओर रखते हुए और गोलाकार घुमाते हुए ५ मिनिट तक पूरी पीठ का मर्दन करना चाहिये।

(४) दोनों हाथों के अंगूठों से पसलियों के मध्य में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ५ मिनिट तक मालिश करनी चाहिये।

(५) दोनों हथेलियों से दोनों नितम्बों पर चक्राकार घुमाते हुए मर्दन करना चाहिये। हथेलियों को चक्राकार घुमाते हुए कन्धों तक लाना चाहिये। कन्धों पर

आकर फिर कुछ मिनिट वहाँ पर भी चक्राकार मर्दन करना चाहिये ।

(६) दोनों हाथों को खड़ा कर कनिष्ठा अंगुली वाली तरफ से समस्त पीठ पर थपकी (tapping) करना चाहिये । थपकी रीढ़ हड्डी पर भी दें ।

(७) समस्त पीठ पर नीचे की ओर से ऊपर की तरफ को दोनों हाथों से हल्की मुट्ठी मारना चाहिये ।

(८) ऊपर संख्या तीन पर जो विधि लिखी गई है उसका आठ दस बार पुनः व्यवहार में लाकर पीठ की मालिश समाप्त करनी चाहिये ।

उदर एवं वक्ष की मालिश—व्यक्ति को पीठ के बल लिटा दीजिये तथा दोनों टाँगें मोड़कर खड़ी रखिये ।

(१) दाहिने हाथ की हथेली पर तैल लेकर नाभि के चारों ओर बायीं ओर से दाहिनी ओर हथेली घुमाते हुए पाँच मिनिट तक चक्राकार मर्दन करिये । बीच-बीच में नाभि को मध्य से दबाकर छोड़ दें ऐसा आठ दस बार करिये । धीरे-धीरे हथेलियों के दाब को मध्य से पीठ की ओर ले जायें । दाब इतना दें जितना व्यक्ति सहन कर सके । यह व्यक्ति के मुख की मुद्रा देखकर ज्ञात हो सकता है ।

(२) नाभि चक्र पर मालिश समाप्त कर बृहदन्त्र के मार्ग पर दाहिनी ओर से बाँई ओर को धीरे-धीरे हथेलियों से दो मिनिट तक मालिश करिये बीच-बीच में कम्पन भी देते जायें ।

(३) दोनों हथेलियों से दोनों कुक्षों को भीतर की ओर से हल्के हाथ से मलते हुए नाभि के पास तक लाना चाहिये ।

(४) यकृत एवं प्लीहा के स्थान पर चक्राकार मर्दन करना चाहिये ।

(५) दोनों अंगूठों से पर्शुकाओं के मध्य के भाग को मालिश करते हुए पीठ की ओर ले जाना चाहिये । इस प्रकार प्रत्येक मध्य भाग को चार-पाँच बार मर्दन करिये ।

टाँगों की मालिश—टाँगों की मालिश के लिये बारी-बारी से एक-एक पैर उठाकर अपनी जांघ पर रखकर हाथों से घुमाव वाला (rolling) मर्दन पाँच मिनिट प्रत्येक टाँग का करना चाहिये । फिर घुटने से नीचे के भाग का तथा तलुओं का मर्दन करना चाहिये । माँसपेशियों पर उनकी बनावट के अनुसार दबाव देते हुए मालिश करनी चाहिये । इसके लिये दोनों हाथों के अंगूठों, तर्जनी तथा मध्यमा अंगुलियों से दबाव देना चाहिये ।

बाँहों की मालिश—व्यक्ति को बिठाकर एक-एक बाँह का बारी-बारी से मर्दन करना चाहिये । बायें हाथ से कलाई पकड़कर दाहिने हाथ से घुमाव वाला मर्दन ऊपर तक करना चाहिये । फिर दोनों हाथों से चुटकियाँ तथा कम्पन करते हुए मालिश करनी चाहिये । अंगुलियों की चुटकियों से मालिश करें ।

सिर की मालिश—हथेली पर तैल लेकर सिर पर जल्दी-जल्दी परन्तु कोमलता से मालिश करनी चाहिये । अंगुलियों के सिरों से तमाम सिर में तैल फैला देना चाहिये । दाहिना हाथ ललाट पर तथा बाँया हाथ सिर के पीछे रखकर कम्पन के

साथ मलते और दबाते हुए मर्दन करना चाहिये। सिर के पिछले भाग पर थपकी (tapping) लगाकर मालिश करनी चाहिए। थपकी जल्दी-जल्दी हल्के हाथ से करनी चाहिए।

मर्दन के पश्चात् व्यक्ति को स्नान करा कर ऋतु अनुसार वस्त्र धारण करा कर 10-15 मिनिट के लिए वस्त्र ओढ़ाकर आराम से लिटा देना चाहिए।

रोगी को कब्ज है तो मालिश से पूर्व कुनकुने जल का एनीमा देना चाहिए।

अंग विशेष में मर्दन की आवश्यकता होने पर उसी अंग का मर्दन करना चाहिये। मर्दन से समस्त अंग प्रत्यंग अपना कार्य सुचारू रूप से करने लगते हैं। रक्त संचरण बढ़ जाता है, फुप्फुसों की क्रिया को बल मिलता है। यकृत, प्लीहा तथा आन्त्र गति सम्यक् प्रकार से होने लगती है। माँस पेशियाँ सुदृढ़ हो जाती हैं।

सूर्य चिकित्सा

सूर्य की श्वेत प्रकाश किरणें सात वर्णों की प्रकाश किरणों का संयुक्त स्वरूप है। इन प्रकाश किरणों की स्थिति एवं वर्ण को याद रखने के लिए अंग्रेजी शब्द Vibgyor याद रखने में सरल है। V अक्षर violet (बैंगनी), I अक्षर indigo (गहरा नीला), B अक्षर blue (नीला), G अक्षर green (हरा), Y अक्षर yellow (पीला), O अक्षर orange (नारंगी) तथा R अक्षर red (लाल) के लिए है। ये सातों वर्ण की प्रकाश किरण इसी क्रम में स्थित रहती हैं। जिन व्यक्तियों ने इन्द्र धनुष को ध्यान से देखा है उन्हें इसका अनुभव हो गया होगा। ये सातों प्रकाश की किरणें वास्तव में तीन शुद्ध वर्ण की प्रकाश किरणों के कारण ही है। ये शुद्ध वर्ण हैं नीला, पीला तथा लाल, इन्हें मूल वर्ण कहते हैं। शेष वर्ण इनके परस्पर मिलने से बने हैं यथा बैंगनी वर्ण लाल (अधिक) और नीला (कम) के मिश्रण से; गहरा नीला वर्ण लाल (कम) और नीला (अधिक) के मिश्रण से; हरा वर्ण नीले और पीले के मिश्रण से तथा नारंगी वर्ण पीले और लाल मिश्रण से बनते हैं।

सूर्य चिकित्सा में यह मान लिया गया है कि इन विभिन्न वर्ण की प्रकाश की किरणों का शरीर पर विभिन्न प्रभाव पड़ता है। उनके पृथक्-पृथक् प्रभाव को शरीर में बढ़ाने के लिए हमें उस विशेष प्रकाश किरण का अधिक सेवन करना है। इसके लिए उस वर्ण की किरण का प्रभाव जल, आदि में प्राप्त कर प्रयोग किया जाता है।

विभिन्न वर्ण की कांच की बोतल लेकर खौलते जल में बोतल को डाट (cork) सहित कम से कम दस मिनिट उबाल लेना चाहिए। फिर ठण्डी होने पर उसमें 3/4 भाग शुद्ध जल लेकर धूप में एक पटरे आदि पर रख देना चाहिए। यदि धूप तेज है तो एक दिन ही रखना पर्याप्त होता है अन्यथा दो दिन पर्याप्त है। जल के स्थान पर चीनी या होम्योपैथी में प्रयो गआने वाली दुग्ध शर्करा से निर्मित गोलियों को व्यवहार में ला सकते हैं। तैल के प्रयोग के लिए तिल, सरसों अथवा गोले का तेल भर सकते हैं। यदि शर्करा भरी है तो कम से कम ३ मास धूप में रखना चाहिए उसे उलट-पलट करते रहना चाहिए। यदि तैल भरा गया है तो $1\frac{1}{2}$ मास पर्याप्त है।

तैयार जल की मात्रा—६ मास तक के शिशु के लिए एक बार में २ मिली लीटर दिन में तीन बार, एक वर्ष तक के शिशु को वही मात्रा दिन में ६ बार तथा वयस्क के लिए २५ मिली लीटर तक मात्रा दिन भर में ६ बार तक दी जा सकती है। यदि रोग तीव्र है तो अधिक बार देने की आवश्यकता होती है।

लाल रंग की शरीर में कमी से वह व्यक्ति आलसी हो जाता है। उसे नींद बहुत आती है। भूख कम लगती है। उसके नेत्र, नखों से नीली झलक आती है।

नीले रंग की शरीर में कमी से वह क्रोधी तथा अशान्त रहता है। उसका शरीर बहुधा गर्म हो जाता है। कभी-कभी अतिसार हो जाता है। नेत्र तथा नख आदि में लाल झलक रहती है।

पीले रंग की कमी से वात व्याधियों में ग्रसित रहता है। अन्य लक्षण लाल रंग की कमी के समान ही होते हैं।

लाल वर्ण की शीशी के जल अथवा चीनी आदि के गुण—जब शीत के कारण रोग होता है उसे लाल वर्ण की शीशी से जल आदि देना चाहिए। शरीर का तापमान सामान्य से कम हो जाना, शरीर में पीड़ा होना आदि में भी उपयोग किया जाता है।

पीत वर्ण की शीशी बहुधा नहीं मिलती है उसके स्थान पर नारंगी शीशी को व्यवहार में लाते हैं। जिस स्थान पर लाल वर्ण के जल की आवश्यकता होती है। वहाँ बच्चों को इस शीशी का जल देते हैं। बहुत अधिक दुर्बल व्यक्ति को भी इस शीशी का जल देते हैं। यह यकृत, प्लीहा, फुफ्फुस के विकारों में लाभदायक होता है।

नीले वर्ण की शीशी का जल ठण्डा, कब्ज करने वाला होता है। शरीर में ऊष्मा के बढ़ जाने या शरीर में किसी प्रकार के विष के प्रवेश कर जाने पर यह जल नष्ट करता है। ज्वर, विसूचिका, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, प्रमेह, पथरी, मूर्च्छा आदि में भी नीली शीशी का जल लाभकर होता है।

हरे वर्ण की शीशी का जल अत्यन्त बढ़ी हुई ऊष्मा को दूर करता है। रक्त विकार को नष्ट करता है। सभी प्रकार के चर्म रोगों में लाभ करता है। अर्श, मूत्र का रुक जाना, गर्भपात आदि में लाभ करता है।

बैंगनी वर्ण की शीशी का जल ज्वर के बाद की दुर्बलता दूर करता है। कण्ठमाला आदि रोगों पर लाभ करता है।

इन बोतलों में भरी शर्करा अथवा तैल भी उन्हीं उपरोक्त वर्णित लक्षणों को दूर करते हैं।

कमरे में धूप आने के मार्ग की खिड़कियों में यदि इन वर्णों के काँच लगे हुए हैं तो उनसे आने वाले प्रकाश को शरीर पर डालकर भी जल के समान लाभ प्राप्त किया जा सकता है। सूर्य की किरणों में यदि तेजी है तो इस प्रकार अधिक से अधिक आधे घण्टे बैठना चाहिए।

———

२६

आहार द्रव्य

आहार शब्द का सामान्य अर्थ है कि जो द्रव्य निगला जाय वह आहार कहलाता है (आहार्यते गलादधोनीयत इत्याहारः)। यद्यपि आजकल इस शब्द का प्रयोग उन्हीं द्रव्यों के लिये करते हैं जो शरीर के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिये अर्थात् जीवन के लिये आवश्यक हैं। विभिन्न प्रकार के भोजन द्रव्यों में निगलने की क्रिया समान होने के कारण इन सब का समावेश आहार शब्द में हो जाता है क्योंकि

आहारत्वमाहारस्यैकविधम् ॥ च०सू० २५/३५

सम्पूर्ण आहार द्रव्यों में आहारता एक ही प्रकार की होती है।

भोज्यावयव

आहार द्रव्यों के प्रकार—चरक संहिता में विभिन्न दृष्टिकोणों से आहार द्रव्यों के निम्न प्रकार से भेद किये गए हैं।

(अ) **अर्थभेदात्, स पुनर्द्धियोनिः, स्थावरजंगमात्मकत्वात् ॥ च०सू० २५/३५**

उत्पत्ति (योनि) भेद से आहार द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—

(१) स्थावर-वृक्ष, वनस्पति से प्राप्त तथा (२) जंगम-पशु आदि से प्राप्त।

(ब) द्विविधप्रभावः, हितहितादर्कविशेषात् ॥ च०सू० २५/३५

भोजन द्रव्यों का शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है उसके अनुसार आहार द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—

(i) हितकर प्रभाव वाले आहार द्रव्य तथा (ii) अहितकर प्रभाव वाले आहार द्रव्य।

(१) हितकर आहार स्वास्थ्य को बनाए रखने वाला होता है।

हिताहारोपयोग एक एवं पुरुषस्याभिवृद्धिकरो भवति ॥ सू० सू० २५/३

हितकर आहार लेने से शरीर की वृद्धि होती है।

आहारादेवाभिवृद्धिर्बलमारोग्यंवर्णेन्द्रियप्रसादश्च ॥ च० सू० ४६/३

हितकर आहार के सेवन से शरीर की वृद्धि, बल की प्राप्ति, आरोग्यता, वर्ण एवं इन्द्रियों की प्रसन्नता होती है।

(२) अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधीनां निमित्तमिति ॥ च० सू० २५/३०

अहितकर आहार का सेवन शरीर में रोगों की वृद्धि का कारण होता है।

ह्याहारवैषम्यादस्वाथ्यम् ।। सू० सू० ४६/३

आहार की विषमता (अहितकर आहार) से रोग उत्पन्न होते हैं ।

(स) **चतुर्विधोपयोगः पानाशन भक्ष्यलेह्योपयोगात् ।। च०सू० २५/३५**

उपभोग की विभिन्नता से आहार द्रव्य चार प्रकार के होते हैं ।

(१) पान (पीने योग्य), (२) अशन (कोमल, सामान्य रूप से चबाकर निगलने योग्य), (३) भक्ष्य (कठोर होने के कारण खूब चबाने के पश्चात् निगलने योग्य) तथा (४) लेह्य (चाटने योग्य) ।

सुश्रुतसंहिता में भी चार प्रकार के आहार द्रव्यों का वर्णन है । ये हैं—

भावप्रकाश ने ६ प्रकार के आहार द्रव्यों का वर्णन है । ये हैं—

(१) भक्ष्यं (२) भोज्यं (३) लेह्यं (४) पानं इत्याहार चतुष्टयम् ।।

भावप्रकाश ने ६ प्रकार के आहार द्रव्यों को कहा है ।

आहारषड्विधं (१) चूष्यं (२) पेयं (३) लेह्यं तथैव च ।

(४) भोज्यं (५) भक्ष्यं तथा (६) चर्व्यं गुरुः विद्याद् यथोत्तरम् ।।

(द) **षडास्वादः रसभेदतः षड्विधत्वात् ।** च० सू० २५/३५ । **षडेव रसा-मधुराम्ल लवणकटुतिक्तकषायाः** च० सू० २६/१६

रसनेन्द्रिय से ग्रहण होने वाले विषय को रस कहते हैं । अतः जिह्वा से प्राप्त स्वाद भेद से आहार द्रव्य छः प्रकार के होते हैं । (१) मधुर, (२) अम्ल, (३) लवण, (४) कटु, (५) तिक्त तथा (६) कषाय ।

(क) **विंशतिगुण— गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशद-पिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमनात् । च० सू० २५/३५**

द्रव्यों के गुणों के अनुसार आहार द्रव्यों में निम्न बीस गुणों में से एक अथवा अनेक गुण होते हैं । ये बीस गुण हैं—(१) गुरु अथवा (२) लघु, (३) शीत अथवा (४) उष्ण, (५) स्निग्ध अथवा (६) रुक्ष, (७) मन्द अथवा (८) तीक्ष्ण, (९) स्थिर अथवा (१०) सर, (११) मृदु अथवा (१२) कठोर, (१३) विशद अथवा (१४) पिच्छिल (चिपचिपा), (१५) श्लक्ष्ण (चिकना) अथवा (१६) खर (खुरदरा), (१७) सूक्ष्म अथवा (१८) स्थूल, (१९) सान्द्र (गाढ़ा) अथवा (२०) द्रव ।

(ख) **अपरिसंख्येय विकल्पः, द्रव्यसंयोगकरण बाहुल्यात् ।। च० सू० २५/३५**

आहार द्रव्यों के परस्पर संयोग के द्वारा तथा संस्कारों के कारण उनके असंख्य भेद (विकल्प) हो जाते हैं ।

संसार में जितने द्रव्य हैं वे सब पंचभूतात्मक होते हैं । (सर्व द्रव्यं पाञ्च-भौतिकम् । च० सू० २८) । अतः समस्त आहार द्रव्य भी पाञ्चभौतिक होते हैं । परन्तु जिस द्रव्य विशेष में जिस भूत का बाहुल्य होता है उस द्रव्य को उसी के अनुसार संज्ञा प्रदान की जाती है । इस प्रकार विभाजित द्रव्य पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य अथवा नाभस होते हैं ।

आहार द्रव्यों के पोषक तत्व

भोजन के लिये जाने वाले समस्त पदार्थों, यथा अनाज, दालें, तैल, सब्जी,

फल, दूध, माँस, मछली, अण्डे आदि में उपस्थित पोषक तत्व ६ प्रकार के होते हैं। (१) प्रोटीन, (२) कारबोहाइड्रेट, (३) स्नेह (fat), (४) विटेमिन, (५) खनिज लवण (mineral salts) तथा (६) जल। प्रोटीन, कारबोहाइड्रेट तथा स्नेह का शरीर में ऑक्सीकरण (oxidation) होता है। अतः इनसे शरीर के कार्यों के लिए ऊर्जा की प्राप्ति होती है। विटेमिन तथा खनिज लवणों का ऑक्सीकरण नहीं होता है अतः इनसे शरीर को ऊर्जा की प्राप्ति नहीं होती है। परन्तु शरीर में चयापचय (metabolic) कार्यों के भली भाँति सम्पन्न होने के लिए इनकी आवश्यकता अनिवार्य है। कुछ खनिज लवण तो शरीर के विभिन्न संगठनों में भाग लेते हैं। जल के माध्यम में ही समस्त क्रियायें होती हैं। अतः सन्तुलित आहार में ऊपर कहे गए समस्त पोषक तत्व उचित मात्रा में रहने आवश्यक हैं।

प्रोटीन (Protein)

शारीर कोशिकाओं (cells) के निर्माण में प्रोटीन मुख्य है। माँस पेशियों, ऊतक (tissues) तथा शरीर में उपस्थित तरल (fluid) यथा रक्त आदि के निर्माण में विभिन्न प्रकार की प्रोटीनें भाग लेती हैं। शरीर की कोशिकाओं के निर्माण, क्षय पूर्ति तथा वृद्धि के लिए भी प्रोटीन अति आवश्यक है। जिस आहार द्रव्य में प्रोटीन का प्रतिशत अधिक होता है उसे 'शरीर निर्माणकारी भोजन (body building food) कहते हैं। अनेक एन्जाइम (enzymes), जो पाचन में भाग लेते हैं, तथा प्रतिकाय (antibodies), जो शरीर की संक्रमणों से रक्षा करते हैं, संगठनों की दृष्टि से प्रोटीन हैं। प्रोटीनें शरीर में ऑक्सीकृत (oixdised) होकर उर्जा प्रदान करती हैं, परन्तु उनका मुख्य कार्य ऊतक निर्माण एवं क्षय पूर्ति है। शरीर में, इसीलिए, इनका संग्रह (storage) नहीं होता है। ऊर्जा के लिए मुख्य रूप से कारबोहाइड्रेट तथा स्नेह (fat) होते हैं, जो शरीर में संग्रहीत रहते हैं।

अनेक आहार द्रव्यों के संगठन में प्रोटीनें होती हैं। परन्तु इन संगठनों में उपस्थित प्रोटीनों के परस्पर प्रकार तथा मात्रा में अन्तर होता है। जान्तव्य द्रव्य यथा दूध, मांस, मछली और अण्डों में काफी मात्रा में प्रोटीन होती है। वनस्पति जन्य द्रव्यों-दालों और मेवाओं (बादाम, अखरोट, चिलगोजा, चिरौंजी, मूंगफली आदि) में भी अच्छी खासी मात्रा में प्रोटीनें होती हैं। सोयाबीन में तो जान्तव द्रव्यों से भी अधिक 40 प्रतिशत तक प्रोटीन रहती है। अनाजों (गेहूँ, चावल आदि) में अपेक्षाकृत प्रोटीन की मात्रा कम होती है। गेहूँ की अपेक्षा चावल में प्रोटीन की मात्रा कम होती है परन्तु वह गेहूँ की अपेक्षा अच्छे किस्म की होती है। अनाजों के बाहरी स्तर में, अन्दर के भाग की अपेक्षा, प्रोटीन अधिक होती है। इसलिए मैदा अथवा मिल के साफ किये चावल में प्रोटीन की मात्रा कम रह जाती है। हरी सब्जी तथा आलू, शकरकन्द, अरबी जैसे कन्द द्रव्यों में प्रोटीन नाममात्र को होती है।

तैलीय द्रव्यों (तिलहनों) की खल में प्रोटीन काफी होती है परन्तु

वह मुख्य रूप से पशुओं का आहार है, यद्यपि मूंगफली की खल को अनेक व्यक्ति अपने उपयोग में भी लाते हैं।

प्रोटीन का जैविक मूल्य (Biological value of Protein)—प्रत्येक प्रोटीन अनेक एमीनो अम्लों के संयोग से बनी होती है। जिस प्रकार ईंटों से दीवार का निर्माण होता है उसी प्रकार विभिन्न प्रकार की एमीनो अम्लों के संयोग से प्रोटीनों का निर्माण होता है। हमारे आहार द्रव्यों में उपस्थित प्रोटीनों के निर्माण में लगभग बीस प्रकार की एमीनो अम्ल भाग लेती है। इनके विभिन्न संयोगों से शरीरोपयोगी प्रोटीनें बनती हैं। इनमें भी लगभग दस एमीनो अम्ल यदि शरीर में कम पहुँचती है तो उनका निर्माण शरीर में अन्य एमीनो अम्लों से हो जाता है परन्तु शेष दस एमीनो अम्लों का निर्माण या तो शरीर में होता ही नहीं है अथवा शरीर की आवश्यकता से बहुत कम होता है। इन दसों एमीनो अम्लों को 'आवश्यक एमीनो अम्ल' (essential amino acids) कहते हैं। इनके नाम हैं–(१) फेनिल अलेनिन (phenyl alanine), (२) ट्रिप्टोफेन (tryptophane), (३) मिथियोनिन (methionine), (४) थ्रियोनीन (threonine), (५) वेलीन (valine), (६) आइसोल्यूसिन (isoleucine), (७) ल्यूसिन (leucine), (८) लाइसिन (lysine), (९) हिस्टिडीन (histidine) तथा (१०) आर्जिनिन (arginine)। इनमें भी लाइसिन तथा थ्रियोनीन तो परम आवश्यक हैं।

जिन आहार द्रव्यों में ये आवश्यक एमीनो अम्ल होती हैं प्रोटीन की दृष्टि से वे अच्छे भोजन द्रव्य माने जाते हैं। इस प्रकार दूध, दही, पनीर, मांस, मछली, अण्डे अच्छे भोजन द्रव्य हैं। बाजार, ज्वार, मक्का, चावल, गेहूँ, अंकुरित गेहूँ, चना, मटर, राजवाँ, मसूर, सोयाबीन, उर्द, मूंग, सेब, केला आदि में भी आवश्यक एमीनों अम्ल होती हैं, परन्तु बहुत ही कम मात्रा में। ये शरीर की आवश्यकता से कम तथा परस्पर के अनुपात में भी विभिन्नता लिए हुए होती हैं। यथा अनाजों में लाइसिन कम होती है जबकि दालों में पर्याप्त मात्रा में होती है। दालों में मिथियोनिन अनाजों की अपेक्षा कम होती है। शाकाहारी भोजन से भी आवश्यक एमीनो अम्लों के सम्बन्ध में, शरीर की आवश्यकता पूरी की जा सकती है। इसके लिए गेहूँ, चावल के साथ दाल का लेना आवश्यक होता है। इस प्रकार मिश्रित शाकाहारी भोजन में इन आवश्यक एमीनो अम्लों की कमी एक दूसरे भोजन के पदार्थों से पूरी हो जाती है।

दूसरी बात जो हमें प्रोटीनों के विषय में जाननी चाहिए वह उसका पाचन है। जान्तव वर्ग की प्रोटीनें सरलता से पच जाती हैं परन्तु वनस्पति वर्ग की प्रोटीनें बिना पकाये हुए उतनी सरलता से नहीं पचती हैं। पकाने के पश्चात् ही इन प्रोटीनों पर पाचक रसों की क्रिया भली-भाँति होती है।

भोजन में ली जाने वाली प्रोटीन शरी के लिए उपयोगी है अथवा नहीं यह दो प्रकार से जाना जाता है।

(१) प्रयोगशाला में जानवरों को प्रोटीन देते हैं और उसके भार में वृद्धि को देखते हैं। दी जाने वाली प्रोटीन की मात्रा और भार वृद्धि के अनुपात को ज्ञात कर लेते हैं। इस अनुपात के अनुसार ली जाने वाली प्रोटीन की जितनी अधिक मात्रा को शरीर काम में ले आयेगा उतनी ही अधिक भार में वृद्धि होगी। ली जाने वाली प्रोटीन की मात्रा और भार वृद्धि के इस अनुपात को प्रोटीन दक्षता अनुपात (protein efficiency ratio) कहते हैं।

(२) प्रोटीन शरीर को नाइट्रोजन प्रदान करती हैं। शरीर के उपयोग से बची हुई नाइट्रोजन मूत्र द्वारा यूरिया और अमोनियम लवणों के रूप में निष्कासित हो जाती है। प्रोटीन द्वारा शरीर को मिलने वाली नाइट्रोजन की मात्रा तथा मूत्र द्वारा निष्कासित नाइट्रोजन की मात्रा का अन्तर प्रोटीन का जैविक मूल्य (biological value) कहलाता है। जितना अधिक इन दोनों मात्राओं में अन्तर होगा प्रोटीन का जैविक मूल्य इतना ही अधिक होगा।

इन दोनों दृष्टियों से देखने पर प्राणी जन्य प्रोटीनों का जैविक मूल्य तथा दक्षता अनुपात वनस्पति जन्य प्रोटीनों की अपेक्षा अधिक होता है। परन्तु वनस्पति जन्य प्रोटीनों का जैविक मूल्य एवं दक्षता अनुपात भी अनाज तथा दालों का मिश्रित भोजन लेकर बढ़ाया जा सकता है। वर्तमान परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि मनुष्य अपने प्रति किलोग्राम शरीर भार के पीछे एक ग्राम प्रोटीन प्रतिदिन ले तो उसकी प्रोटीन सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं। वृद्धि को प्राप्त हो रहे बच्चों, गर्भवती स्त्रियों तथा स्तन्यपान कराती माताओं को मात्रा से अधिक की आवश्यकता होती है। वृद्धि को प्राप्त हो रहे बच्चों के लिए सबसे अच्छा प्रोटीन का साधन दूध है। क्रीम निकाला हुआ दूध (Skimmed milk), दही, तक्र भी, जहाँ तक प्रोटीन का प्रश्न है, एक समान लाभदायक हैं। शाकाहारी भोजन में प्रोटीन के लिए गेहूँ, चावल, दालें आवश्यक हैं। इन पर आगे के पृष्ठों में विस्तार से वर्णन किया गया है।

स्नेह (fat)

प्रोटीन के समान स्नेह भोजन का एक आवश्यक वर्ग है। इसकी आवश्यकता हमारे शरीर को अनेक प्रकार से होती है। जान्तवीय स्नेह यथा मक्खन, घी में विटामिन ए पर्याप्त मात्रा में होता है, परन्तु अधिक गर्म करने से वह नष्ट हो जाता है। वनस्पति जन्य स्नेहों में विटामिन ए का अभाव रहता है। हाइड्रोजिनेटेड तैल, जिसे सामान्य भाषा में, वनस्पति घी कहते हैं और समस्त भारत के रसोई घरों में व्यवहार में लाया जाता है घी नहीं वरन् वनस्पति तैल होता है। इसलिए उस में भी विटेमिन ए का अभाव रहता है परन्तु राजकीय आज्ञा से प्रति आउन्स (28·35 ग्राम) में 700 अन्तर्राष्ट्रीय एकांक (I. U.) विटेमिन ए वनस्पति घी के कारखानों में मिला दिया जाता है। कारखाने वाले विटेमिन डी को भी 50 अ० ए० (I.U.) प्रति आउन्स मिला देते हैं।

स्नेह शरीर को ऊर्जा प्रदान करने का एक साधन है। इनके द्वारा प्रति एकांक मात्रा द्वारा कारबोहाइड्रेट अथवा प्रोटीन से दुगुनी ऊर्जा उत्पन्न होती है। वनस्पति

तैलों से आवश्यक वसा अम्लें (essential fatty acids) यथा—(१) लीनोलिक अम्ल (linoleic acid), (२) लीनोलिनिक अम्ल (linolenic acid), (३) एरेक्-डोनिक अम्ल (arachidonic acid) शरीर को प्राप्त होती हैं । यदि ये अम्लें भोजन द्वारा शरीर को प्राप्त नहीं हो तो त्वक्रुक्षता (phrynadermatoad skin) रोग हो जाता है । इस रोग में त्वचा रुक्ष, मोटी हो जाती है तथा उस पर आलपिन के सिरों जैसे उभार हो जाते हैं । ये उभार उरु (thigh), नितम्ब (buttocks), बाहु (arms) तथा धड़ (trunk) पर विशेष रूप से हो जाते हैं । इन अंगों पर हाथ फेरने से इनका पता सरलता से लग जाता है । ये वसा अम्ल शरीर की प्रत्येक कोशिका (cell) में होती है तथा डिसोक्सीरिबोन्यूक्लिक अम्ल (DNA) की रक्षा भी करती हैं ।

सामान्यत: घी, मक्खन और तैल के रूप में हम स्नेह को व्यवहार में लाते हैं, परन्तु कुछ अन्य पदार्थ यथा तिल, सूखे मेवों (बादाम, अखरोट, चिलगोजा, चिरौंजी) आदि के लेने से भी शरीर को स्नेह की प्राप्ति होती है । अनाज, दाल तथा शाक आदि में चिकनाई का अंश अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में होता है ।

रक्त में कोलेस्टेरॉल (cholesterol) की मात्रा को भोजन द्वारा लिया गया स्नेह प्रभावित करता है । यदि रक्त में कोलेस्टेरॉल की मात्रा सामान्य से अधिक रहने लगती है तो वह रक्त वाहिकाओं की दीवारों पर जमा हो जाती है तथा और अधिक रहने पर रक्त वाहिका भित्ति की कोशिका में प्रवेश कर जाती है । इससे रक्त वाहिकाओं का मार्ग (व्यास) छोटा तथा कठोर हो जाता है । इस दशा को ऐथिरोस्केलरोसिस (atherosclerosis-ऐथिरोकाठिन्य) कहते हैं । इस प्रकार जब हृदय की रक्त वाहिकाएँ (कोरोनरी धमनियाँ) प्रभावित हो जाती हैं तब हृदय की पेशियों को अपने कार्य के लिए पर्याप्त रक्त मिलना कठिन हो जाता है और हृद् रोग हो जाता है । प्रयोगों द्वारा विदित हुआ है कि अधिक स्नेह उत्पादक द्रव्यों के खाने से कोलेस्टेरॉल की रक्त में मात्रा सामान्य से अधिक हो जाती है । अत: शरीर के लिए आवश्यक ऊर्जा में, जिसका मापन कैलोरी में किया जाता है, स्नेह द्वारा उत्पादित ऊर्जा का अंश 30 प्र० श० से अधिक नहीं होना चाहिये । सामान्यत: यह 15 से 20 प्र० श० तक पर्याप्त है । परन्तु एक अपवाद है कि यदि व्यक्ति अधिक शारीरिक परिश्रम करता है तो वह अधिक स्नेह मात्रा को भी सहन कर सकता है ।

असंतृप्त (unsaturated) वसा अम्ल, जो न जमने वाले तैलों में होती हैं, रक्त कोलेस्टेरॉल को अधिक प्रभावित नहीं करती हैं । इसके विपरीत घी, मक्खन, वनस्पति घी, गोले का तैल आदि जो सामान्य तापक्रम पर जमे हुए होते हैं तथा संतृप्त (saturated) वसा अम्लों के यौगिक होते हैं, के अधिक सेवन से रक्त में कोलेस्टेरॉल की उत्पत्ति बढ़ जाती है । जो व्यक्ति शारीरिक परिश्रम नहीं करते हैं उनमें इस अधिक कोलेस्टेरॉल का कुप्रभाव शरीर पर प्रकट हो जाता है । अत: यह

आवश्यक है कि संतृप्त वसा अम्लों के साथ असंतृप्त वसा अम्ल वाले स्नेह पदार्थ अनिवार्यतः लें। चौबीस घण्टों में 40 से 60 ग्राम स्नेह पर्याप्त होता है। इसमें कम से कम 15 ग्राम तिल, मूँगफली या सरसों का न जमने वाला तैल होना चाहिए। इससे शरीर को आवश्यक अनुपात में वसा अम्लों (essential fatty acids) की प्राप्ति हो जाती है। यदि हम भोजन में थोड़ी-थोड़ी मात्रा में स्नेह (fat) दिन में अनेक बार लें तो रक्त में कोलेस्टेरॉल की मात्रा अधिक प्रभावित नहीं होती है।

कारबोहाइड्रेट (Carbohydrate)

कारबोहाइड्रेट वर्ग में चीनी, गुड़, ग्लूकोज, स्टार्च आदि आते हैं। अनाजों (cereals) में अधिकांश स्टार्च होता है। चीनी और ग्लूकोज शुद्ध कारबोहाइड्रेट हैं। शरीर में ऊर्जा के मुख्य साधन कारबोहाइड्रेट ही होते हैं। सस्ते होने के कारण भोजन का अधिकांश भाग कारबोहाइड्रेटों का ही होता है। भोजन के ऊर्जा उत्पादक द्रव्यों में लगभग 70 प्रतिशत ऊर्जा उत्पादक द्रव्य कारबोहाइड्रेट के होने चाहिए। सेलूलोज (cellulose) तथा हेमीसेलूलोज (hemicellulose) भी कारबो-हाइड्रेट होते हैं। परन्तु इनका मनुष्य शरीर में पाचन नहीं होता है। पुरीष के साथ ये शरीर से निकल जाते हैं। अतः जहाँ तक आहार के उपयोग का प्रश्न है इनका कोई महत्व नहीं होता है। परन्तु इनकी अन्त्र में उपस्थिति उसकी यान्त्रिक क्रिया के लिए आवश्यक है। पाचन न होने के कारण इनका भार बना रहता है और उसका दबाव आन्त्र भित्ति पर पड़ता है, जिससे वह उत्तेजना प्राप्त करती है और पुरःसरण गति (peristaltic movement) को बल मिलता है। पत्ती वाली सब्जियों, फल आदि में सेलूलोज आदि का काफी अंश रहता है। आलू, शकरकन्द जैसी जड़ीय वनस्पतियों में सेलूलोज कम होता है।

प्रोटीन, स्नेह तथा कारबोहाइड्रेट के चयापचय से उत्पन्न ऊर्जा का मापन कैलोरी (celorie) में करते हैं। शरीर क्रिया विज्ञान में किलो कैलोरी (Kiloc-calorie) को एकांक मानते हैं। एक किलोग्राम जल का तापमान एक डिगरी सेन्टी-ग्रेड बढ़ाने में जितनी ऊष्मा (heat) की आवश्यकता होती है उसे एक किलो कैलोरी कहते हैं। भौतिक शास्त्र में कैलोरी की परिभाषा है कि एक ग्राम जल का तापमान एक डिगरी सेन्टीग्रेड बढ़ाने में जितनी ऊष्मा की आवश्यकता होती है उसे कैलोरी कहते हैं। इस प्रकार आयुर्विज्ञान में ऊर्जा का एकांक किलो कैलोरी (जिसे केवल 'कैलोरी' कहते हैं) भौतिक विज्ञान के ऊर्जा के एकांक 'कैलोरी' से एक हजार गुणा अधिक होता है। एक ग्राम प्रोटीन अथवा कारबोहाइड्रेट ऑक्सीकृत हो 4·5 कि० कै० ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। जबकि एक ग्राम स्नेह (fat) इससे दुगुनी ऊर्जा उत्पन्न करता है। सामान्यतः किलो कैलोरी न कहकर केवल कैलोरी ही कहते हैं क्योंकि सबको जानकारी है कि आयुर्विज्ञान में कैलोरी कौन सी है।

आधार चयापचय (Basal Metabolism)

शरीर में ऑक्सीकृत होकर ऊर्जा उत्पन्न करने वाले तीनों वर्गों की ऊपर दी गई आवश्यक जानकारी के पश्चात् प्रश्न उठता है कि हमको नित्य कितनी

ऊर्जा की आवश्यकता होती है। मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से जब शरीर पूर्ण विश्राम अवस्था में होती है उस समय भी श्वसन क्रिया, हृदय की क्रिया, रक्त संवहन क्रिया, पाचन क्रिया, शोषण एवं उत्सर्जन क्रियायें शरीर में निरन्तर होती रहती हैं और शरीर का तापमान बना रहता है। शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से विश्रामावस्था में शरीर में निरन्तर होने वाली इन क्रियाओं के संचालन हेतु आवश्यक ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए जो चयापचय क्रियायें शरीर में होती रहती हैं उसे आधार चयापचय (Basal metabolism) कहते हैं। आधार चयापचय के लिए ऊर्जा की मात्रा व्यक्ति की आयु, लिंग (स्त्री अथवा पुरुष) लम्बाई, भार तथा ऊर्जा उत्पन्न करने वाले पोषक पदार्थों की मात्रा पर निर्भर करती है। इसके बाद व्यक्ति जैसा कार्य करता है उसी के अनुसार अतिरिक्त ऊर्जा की शरीर को आवश्यकता होती है। व्यक्ति विशेष, जैसा शारीरिक परिश्रम करेगा—सरल (अल्प), मध्यम अथवा कठोर—उसी के अनुसार उस व्यक्ति को कम, मध्यम अथवा अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है।

यदि हम सरल कार्य करते हैं, जिसके करने में कोई विशेष शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ता है यथा घरेलू कार्य, लिखना पढ़ना आदि कार्य तो आधार चयापचय तथा इस अतिरिक्त कार्य के लिए 2400 कैलोरी ऊर्जा पर्याप्त होती है। यदि इस ऊर्जा की मात्रा को एकांक मान लें तो हमें निम्न सारिणी के अनुसार ऊर्जा की आवश्यकता होगी।

वयस्क पुरुष (सरल परिश्रम)—1·0 एकांक (2400 कैलोरी)
,, ,, (मध्यम ,,)—1·2 ,, (2800 ,,)
,, ,, (कठिन ,,)—1·6 ,, (3900 ,,)
वयस्क स्त्री (सरल परिश्रम)—0·8 ,, (1900 ,,)
,, ,, (मध्यम ,,)—0·9 ,, (2200 ,,)
,, ,, (कठिन ,,)—1·2 ,, (3000 ,,)
युवा (12 वर्ष से 21 वर्ष की आयु तक)—1·0 एकांक (2400 कैलोरी)
बाल 9 वर्ष से 12 वर्ष की आयु तक—0·8 ,,
,, 7 ,, ,, 9 ,, ,, ,, —0·7 ,,
,, 5 ,, ,, 7 ,, ,, ,, —0·6 ,,
,, 3 ,, ,, 5 ,, ,, ,, —0·5 ,,
,, 1 ,, ,, 3 ,, ,, ,, —0·4 ,,

गर्भवती स्त्री तथा स्तन्य पान कराने वाली माता को वयस्क पुरुष के समान ऊर्जा की आवश्यकता होती है।

उपरोक्त सारिणी से जहाँ हम व्यक्ति की ऊर्जा की आवश्यकता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं वहाँ किसी कुटुम्ब की संयुक्त आवश्यकता भी जान सकते हैं।

उदाहरण के लिए एक कटुम्ब में स्त्री, पुरुष तथा उनके तीन बच्चे 10, 8 तथा 6 वर्ष के हैं तो उपरोक्त सारणी के अनुसार उनकी ऊर्जा आवश्यकता (1·0+0·8+0·8+0·7+0·6)=3·9 एकांक होगी। कैलोरी में गणना के अनुसार यह 2400×3·9=9400 कैलोरी होती है। इसमें 200 कैलोरी नष्ट होने के लिए जोड़ दें तो उस परिवार की ऊर्जा आवश्यकता 9·600 कैलोरी दैनिक होती है। इसकी पूर्ति प्रोटीन तथा स्नेह के अंशों से 15–15 प्र० श० कैलोरी तथा शेष 70% कैलोरी अंश कारबोहाइड्रेट से पूरी करनी चाहिए। स्नेह अंश में संतृप्त तथा असंतृप्त दोनों प्रकार की वसा अम्ल होनी चाहिए तथा कम से कम चौथाई प्रोटीन मात्रा जान्तव प्रोटीन (दूध, दही, अण्डा आदि) से पूरी करनी चाहिए।

आहार द्रव्यों की पर्याप्त मात्रा एवं किस्म दोनों पर ध्यान देना चाहिए। परन्तु यदि आर्थिक अथवा अन्य किन्हीं कारणों से एक ही विकल्प को तय करना है तो पर्याप्त मात्रा का ग्रहण करना उचित है क्योंकि अपर्याप्त मात्रा चाहे कितने ही अच्छे किस्म के आहार द्रव्यों के संयोग से बनी हो भूख को शान्त नहीं कर सकती है। भाग्यवश अथवा अभाग्यवश मनुष्य अपनी परिस्थितियों में इस प्रकार समझौता कर लेता है कि अपर्याप्त एवं असन्तुलित भोजन पर भी वह रह जाता है और अनुभव नहीं करता कि वह कुपोषित है। आहार द्रव्यों को निर्धारित करते समय ध्यान रखना आवश्यक है कि भोजन का कार्य जीवन को बनाए रखना ही नहीं है वरन् स्वस्थ एवं कठोर कार्य करने की क्षमता प्रदान करना भी है।

विटेमिन (Vitamin)

रासायनिक दृष्टि से विटेमिन कार्बनिक (organic) पदार्थ हैं। खाद्य पदार्थों में ये अत्यन्त अल्प मात्रा में होते हैं। ये जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। सामान्यत: इनका नामकरण अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षरों पर किया गया है यथा विटेमिन ए, बी, सी, डी परन्तु कुछ विटेमिनों को उनके शरीर में कार्य के अनुसार भी संज्ञा प्रदान की गई हैं यथा एण्टीन्यूरेटिक (antineuretic-तन्त्रिकाशोथरोधी), एण्टी रिकेटिक (anti ricketic) आदि तथा अधिकांश को आजकल उनके रासायनिक संगठन के नाम से भी कहते हैं यथा थायमिन (thiamin), राइबोफ्लेविन (riboflavin) आदि।

घुलनशीलता की दृष्टि से विटेमिनों को दो वर्गों में बाँटते हैं (i) जल में घुलनशील विटेमिन, इस वर्ग में बी कम्प्लेक्स के विटेमिन तथा विटेमिन सी आते हैं। तथा (ii) स्नेह (fat) में घुलनशील विटेमिन, इस वर्ग में विटेमिन ए, डी, इ तथा के आते हैं। अब हम प्रत्येक विटेमिन के विषयों में संक्षेप में बताते हैं।

विटेमिन ए (Vitamin A)

शरीर के अनेक उपकला ऊतकों (epithelial tissues) को स्वस्थ एवं कार्यशील रखने में यह विटेमिन अति उपयोगी है। इसके अभाव में नेत्र के वाह्य स्तर, नेत्रश्लेष्मला (conjunctiva कंजंक्टाइवा), की नमी नष्ट होकर वह शुष्क

तथा द्युतिहीन हो जाती है। इस दशा को जीरोप्थलमिया (xerophthalmia शुष्काक्षिपाक) कहते हैं। इसमें नेत्र में लाली तथा शोथ (inflammation) होकर धीरे-धीरे दृष्टि नष्ट हो जाती है। कॉर्निया (cornea स्वच्छमण्डल) की पारदर्शता भी नष्ट हो जाती है तथा वह अपारदर्श (opaque) तथा कोमल (soft) हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति अन्धा हो जाता है।

नेत्र के तंत्रिका स्तर में मन्द प्रकाश से प्रभावित होने वाले शलाकाओं (rods) में उपस्थित रोडोस्पिन (rhodospin) के निर्माण में यह विटेमिन भाग लेता है। इस विटेमिन के अभाव में रोडोस्पिन के निर्माण में बाधा पड़ने के कारण मन्द प्रकाश में दिखाई नहीं देता है। इस दशा को रक्तान्धता (night blindness रतौंधी) कहते हैं।

विटेमिन ए जान्तव द्रव्यों में यथा मक्खन, घी, दूध, दही, प्रथम स्तन्य (colostrum-खीस), अन्डे की जर्दी, यकृत आदि में पर्याप्त मात्रा में होता है। कॉड, शार्क एवं हेलीबुट मछलियों के यकृत में बहुत अधिक मात्रा में मिलता है। वनस्पतियों में विटेमिन ए इस रूप में न मिलकर एक अन्य यौगिक बीटा-कैरोटिन (β-carotene) के रूप में मिलता है। यद्यपि बीटा कैरोटीन के एक अणु से विटेमिन ए का एक अणु प्राप्त होता है परन्तु कैरोटीन का आन्त्र में पूर्ण शोषण नहीं होता है। अतः यदि विटेमिन ए के लिये वनस्पतियों पर निर्भर रहना है तो अधिक मात्रा में लेना आवश्यक होता है। वनस्पतियों में पालक (spinach), चौलाई (amaranth), हरा धनिया (corriander leaves), शिग्रु पत्र (drumstick leaves), पोदीना (mint), मूली के पत्ते (radish leaves), पके हुए आम, पपीता, टमाटर, गाजर, आदि में बीटाकैरोटीन काफी होता है। सामान्यतः पत्ती या शाक जितना ज्यादा हरा होगा उतना ही अधिक उसमें कैरोटीन होगा। बन्दगोभी में सफेद पत्तों की अपेक्षा हरे पत्तों में कैरोटीन अधिक होता है।

वयस्क में इस विटेमिन की दैनिक आवश्यकता लगभग 750 μg (लगभग 2500 अन्तर्राष्ट्रीय एकांक International unit) होती है। गर्भावस्था में तथा स्तन्य पान कराने वाली स्त्रियों में अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। जान्तवों से प्राप्त विटेमिन ए वनस्पतियों से प्राप्त कैरोटीन की अपेक्षा अधिक महँगा होता है। केवल ५० ग्राम हरी सब्जी प्रतिदिन लेने से इस विटेमिन की शरीर में आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। बच्चे अथवा रोगी व्यक्ति जो हरी सब्जी नहीं ले सकते हैं उन्हें मक्खन, दूध, अण्डा अथवा यकृत देकर कमी पूरी की जा सकती है। कॉड लिवर ऑयल के रूप में भी यह विटेमिन लिया जाता है। आजकल नींबू घास (lemon grass) से भी यह विटेमिन कृत्रिम (synthetic) रूप से बनाया जाता है।

यदि पशु को हरा चारा मिल रहा है तो उसके दूध में विटेमिन की पर्याप्त मात्रा होगी और यदि पशु सूखा चारा खा रहा है तो दूध में मात्रा कम होगी। गाय के दूध में भैंस की अपेक्षा विटेमिन ए अधिक होता है। गाय के दूध में इस विटेमिन

का 1/3 भाग कैरोटीन के रूप में होता है इसीलिए गाय का दूध और घी भैंस के दूध और घी की अपेक्षा पीला होता है। गाय के प्रति ग्राम घी में 20–25 I. U. तथा भैंस के घी में 8-10 I. U. विटेमिन ए होता है। अधिक गर्म करने तथा अधिक वायु से सम्पर्क से यह विटेमिन नष्ट हो जाता है। इसलिए दूध को धूप में खुला रखने से भी इस विटेमिन की मात्रा कम हो जाती है।

इस विटेमिन का आवश्यकता से अधिक प्रयोग भी हानिकारक होता है। अधिक लेने से स्वभाव में चिड़चिड़ापन, सिरदर्द, जी मिचलाना तथा वमन आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं। विटेमिन की मात्रा को कम करने से ये लक्षण शान्त हो जाते हैं।

विटेमिन बी कम्पलेक्स (Vitamin B complex)

विटेमिन बी कम्प्लेक्स अनेक जलविलेय विटेमिनों के संयुक्त वर्ग का नाम है। इस समूह के कुछ विटेमिन मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं तथा अन्य पशु, पक्षियों आदि के लिये उपयोगी हैं। इनके कार्यों में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक का अभाव अन्य पर भी प्रभाव डालता है। अतः चिकित्सक इस वर्ग के समस्त विटेमिनों को एक साथ प्रयोग में लाते हैं। मनुष्य के लिए इस वर्ग के उपयोगी विटेमिनों के नाम हैं–थायमीन (thiamine) इसे विटेमिन बी$_1$ (B_1) भी कहते हैं, राइबोफ्लेविन (Riboflavin), निकोटिनिक अम्ल (Nicotinic acid), विटेमिन बी$_6$ (B_6), पेन्टोथेनिक अम्ल (Pentothenic acid), फॉलिक अम्ल (Folic acid) तथा विटेमिन बी$_{12}$ (B_{12})।

थायमिन (Thiamine), एण्टीबेरीबेरी (antiberiberi), एण्टी न्यूरेटिक- (antineuretic, aneurin)

इस विटेमिन की शरीर में अल्पता की दशा में बेरीबेरी रोग हो जाता है। यह रोग दो रूपों में प्रकट होता है—(i) शुष्क बेरीबेरी (dry beriberi)–इस रोग में भूख कम हो जाती है, हाथ पैरों में शून्यता और झनझनाहट होने लगती है, बैठ-कर उठने में दिक्कत होती है। (ii) आर्द्र बेरीबेरी (wet beriberi)–इस रोग में जरा से परिश्रम से हृदय गति (pelpitation) बढ़ जाती है, हृदय की पेशियाँ दुर्बल हो जाती हैं, अतः विस्फारण (cardiac dilatation) हो जाता है और हृदयपात (cardiac failure) के कारण मृत्यु की सम्भावना बढ़ जाती है। श्वास में कठिनाई (breathlessness) तथा ड्रॉप्सी (dropy जलशोफ) हो जाता है।

यीस्ट (yeast खमीर), चावल, गेहूँ तथा अन्य अनाजों के बाहरी स्तर में यह विटेमिन प्रचुरता से होता है। हाथ के कुटे धान, बिना छना गेहूँ का आटा, दाल, मूँगफली तथा अन्य मेवों में यह विटेमिन रहता है, परन्तु माँस, मछली, अण्डे, सब्जी, फल तथा दूध में अल्प मात्रा में होता है।

कार्बोहाइड्रेट के चयापचय में यह विटेमिन अत्यन्त उपयोगी है। हम भारतीयों के आहार में सबसे बड़ा अंश कार्बोहाइड्रेट का होता है। अतः हमें इस विटेमिन की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। सामान्यतः 1000 कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता के पीछे 0·5 मिलीग्राम थायमीन पर्याप्त होता है। इस तरह कम से कम एक मिलीग्राम थायमीन की प्रतिदिन आवश्यकता होती है। गर्भवती स्त्री स्तन्य पान कराती माता तथा कठोर परिश्रम करने वाले व्यक्ति को अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। जिन व्यक्तियों का चावल मुख्य आहार है उनको यदि हाथ का कुटा चावल नहीं मिलता है तो उन्हें सेला (उसना parboiled) चावल लाभदायक रहता है क्योंकि इस चावल को छिलके सहित हल्का उबालकर तैयार करते हैं। इस क्रिया के समय यह विटेमिन चावल के भीतर के भागों में पहुँच जाता है। बंगाल, आसाम में इसीलिये सेला चावल पसन्द किया जाता है।

राइबोफ्लेविन (Riboflavin, Vitamin, B_2, Lactoflavin)

यह विटेमिन कोशिकाओं (cells) के अन्दर होने वाली अनेक ऑक्सीकरण (oxidation) क्रियाओं में भाग लेता है। इसके अभाव में जिह्वाशोथ (glossitis), ओष्ठकोणों में विदरता (chailosis-कीलोसिन), नेत्रों में जलन एवं लाली (वाहिका वर्धन vascularisation), तथा त्वचा रुक्ष एवं शल्की (scaly) हो जाती है। अण्डकोषों में त्वक् रोग, आदि के लक्षण प्रकट होते हैं।

इस विटेमिन के सबसे उत्तम प्राप्ति के द्रव्य हैं—दूध, मक्खन निकाला दूध, पनीर, दही, मट्ठा, अण्डा, यकृत तथा हरी पत्तियों वाली सब्जियाँ। यह गेहूँ, ज्वार तथा दालों में अल्प मात्रा में मिलता है। चावल में तो अत्यन्त अल्प मात्रा में होता है।

इस विटेमिन की लगभग 1·5 मिली ग्राम मात्रा प्रतिदिन लेने से शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाती है। अधिकांश भारतीयों के आहार में दूध पर्याप्त मात्रा में नहीं होता है। अतः इस विटेमिन की कमी प्रायः हो जाती है।

निकोटिनिक अम्ल (Nicotinic acid, niacin, Pellagra Preventing Factor)

शरीर में होने वाली अनेक चयापचय क्रियाओं में इस विटेमिन की आवश्यकता पड़ती है। यदि इस विटेमिन की कमी होती है तो पेलाग्रा नामक रोग हो जाता है। इस रोग में त्वचा लाल हो जाती है तथा उस पर चकत्ते पड़ जाते हैं, मुख में जलन, अतिसार (diarrhoea) आदि लक्षण शरीर में प्रकट हो जाते हैं। पीछे के पृष्ठों में हम 'आवश्यक एमीनो अम्ल' के प्रकरण में ट्रिप्टोफेन (triptophane) के बारे में पढ़ आये हैं। यदि भोजन में ट्रिप्टोफेन आवश्यकता से अधिक होता है तो यह अधिक अंश निकोटिनिक अम्ल में परिवर्तित हो जाता है, और फिर

इस विटेमिन की आवश्यकता ट्रिप्टोफेन पूरी कर देता है। मक्का तथा ज्वार में ट्रिप्टोफेन अत्यन्त अल्प मात्रा में होता है अतः उसका उपयोग निकोटिनिक अम्ल के निर्माण में नहीं होता है। मक्का तथा ज्वार खाने वालों में, इस कारण, इस विटेमिन की कमी रहती है और वे पेलाग्रा रोग से पीड़ित हो जाते हैं।

गेहूँ, चावल आदि अनाजों में, दालों में तथा मूँगफली में यह विटेमिन पर्याप्त मात्रा में होता है। बादाम, अखरोट आदि कड़े छिलके वाली मेवाओं, जिन्हें नट (nut) कहते हैं, में भी यह विटेमिन काफी मात्रा में होता है। दूध में यद्यपि निकोटिनिक अम्ल नहीं होता है परन्तु ट्रिप्टोफेन होता है, जो इस विटेमिन में परिवर्तित होकर, इसकी कमी को पूरा कर देता है।

हम को प्रति १००० कैलौरी ऊर्जा की आवश्यकता के पीछे 1·6 मिली ग्राम के लगभग इस विटेमिन की आवश्यकता होती है अर्थात् लगभग 16 मिली ग्राम मात्रा की सामान्यतः प्रतिदिन आवश्यकता होती है।

विटेमिन बी$_6$ (Vitamin B_6)

यह विटेमिन तीन रूपों में मिलता है—(१) पिरीडोक्सिन (Pyridoxin), (२) पिरीडोक्समीन (Pyridoximine) तथा (३) पिरीडोक्सल (Pyridoxal)। परन्तु शरीर में पहुँचकर ये तीनों परस्पर एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं। इन तीनों की क्रियायें भी एक समान होती हैं।

इस विटेमिन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है कि यह आहार के ट्रिप्टोफेन को निकोटिनिक अम्ल में परिवर्तित होने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त आवश्यक एमीनो अम्लों (essential amino acids) के चयापचय में भी सहायक होता है।

इस विटेमिन की शरीर में कमी से ओष्ठों के कोण पर सृक्कपाक (angular stomatitis) हो जाता है। अरक्तता (anaemia) के लक्षण भी कुछ समय पश्चात् प्रकट हो जाते हैं। शिशुओं में इसकी कमी से आक्षेप (convulsions) होने लगते हैं।

यह विटेमिन अनाज, हरी सब्जियों, माँस एवं यकृत से प्राप्त होता है।

पेन्टोथेनिक अम्ल (Pentothenic acid)

इस विटेमिन के समस्त कार्यों के विषय में तो अभी पूर्ण जानकारी नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि चयापचय में प्रमुख भाग लेने वाले को-एन्जाइम (Co-enzyme) के निर्माण में यह विटेमिन भाग लेता है।

इस विटेमिन की कमी से मुख शोथ तथा पैरों में जलन के लक्षण होते हैं। यह विटेमिन लगभग समस्त खाद्य पदार्थों में होता है विशेष रूप से गेहूँ के चोकर, मटर, शकरकन्द, खमीर, दूध, यकृत अण्ड की जर्दी में अधिक होता है। इसकी

दैनिक आवश्यकता लगभग 10 मि०ग्रा० होती है जिसकी आहार पदार्थों में सामान्यत: पूर्ति हो जाती है।

फॉलिक अम्ल (Folic acid)

यह विटेमिन कोशिकाओं के विभाजन तथा उनकी (विशेष रूप से लोहित कोशिकाओं-R.B.C. की) परिपक्वता (maturation) पर कार्य करता है। इसकी अल्पता से अरक्तता होती है। यह विशेष रूप से गर्भवती स्त्रियों में तथा बच्चों में देखी जाती है। हरी सब्जी, दालें तथा यकृत इस विटेमिन की प्राप्ति के सुलभ साधन हैं। इसकी दैनिक आवश्यकता लगभग 100 मि०ग्रा० होती है।

विटेमिन बी$_{12}$ (Vitamin B$_{12}$, cyanocobalamine, सायनोकोबेलामिन)

फॉलिक अम्ल के समान यह विटेमिन कोशिकाओं की, तथा विशेष रूप से लोहित कोशिकाओं की, परिपक्वता में सहायक होता है। अत: इसकी शरीर में अल्पता के कारण अनेक प्रकार की अरक्तता हो जाती है। शरीर में आहार के भली-भाँति उपयोग के लिये तथा केन्द्रीय तन्त्रिका तन्त्र (central nervous system) के सम्यक् प्रकार से कार्य करते रहने के लिये इस विटेमिन की आवश्यकता होती है। वनस्पतियों में लोहित कोशिकायें (R.B.C.) नहीं होती हैं अत: उनमें यह विटेमिन नहीं होता है। यह केवल जान्तव द्रव्यों से ही प्राप्त होता है यथा दूध, माँस, यकृत आदि।

इस विटेमिन का आन्त्र में शोषण एक विशेष प्रकार से होता है। आमाशयिक ग्रन्थियों (gastric glands) से एक म्यूकोपॉलीपेपटाइड (mucopolypeptide) पदार्थ उत्पन्न होता है जिसे अन्त:स्थ घटक (intrinsic factor) कहते हैं। विटेमिन बी$_{12}$ इससे संयोग कर कैल्शियम आयनों की उपस्थिति में आन्त्र में अवशोषित हो रक्तवाहिकाओं में पहुँच जाता है। अन्त:स्थ घटक के अभाव में इस विटेमिन का आन्त्र में शोषण नहीं हो सकता है। इसी कारण इस विटेमिन को बहिरस्थ घटक (extrinsic factor) कहते हैं। अन्त:स्थ घटक के अभाव की दशा में इस विटेमिन को अन्त: शिरा (intravenous) इन्जेक्शन द्वारा शरीर में प्रवेश कराते हैं।

× × ×

विटेमिन बी कम्पलेक्स के अन्य विटेमिन नीचे दिये जा रहे हैं। ये मनुष्य के शरीर में उपयोगी होते हैं अथवा नहीं यह अभी तक विवादास्पद है।

बायोटिन (Biotin, Vitamin H)

यह विटेमिन कारबोहाइड्रेट तथा स्नेह के चयापचय में सहायक होता है। इसके अभाव में आलस्य (lassitude) विभ्रम (hallucination) तथा अरुचि (anorexia) से व्यक्ति ग्रसित हो जाता है। यह अनाज, अण्डे तथा खमीर से प्राप्त होता है। इसकी शरीर को लगभग 150 मि०ग्रा० की दैनिक आवश्यकता होती है।

इनोसिटोल (Inositol)

यह स्नेह के चयापचय में भाग लेता है। इसके अभाव से शरीर के बाल झड़ जाते हैं।

कोलीन (Choline)

इस विटेमिन के अभाव में यकृत में स्नेह का संग्रह बढ़ जाता है। यकृत तथा वृक्क का विपणन (degeneration) भी हो जाता है। शरीर को इसकी लगभग 2 ग्राम दैनिक आवश्यकता होती है। यह लगभग सभी पदार्थों में मिलता है।

विटेमिन सी (Vitamin C, Ascorbic acid)

शरीर में इसके अभाव में स्कर्वी (scurvy) रोग हो जाता है। यह विटेमिन ताजे फलों, सब्जियों में, विशेष रूप से हरी पत्ती वाली सब्जियों में होता है। समस्त विटेमिनों में यह विटेमिन ही ऐसा है जो वायु में भी आक्सीकृत (oxidised) हो जाता है। इस कारण बासी सब्जियों तथा फलों में यह विटेमिन नष्ट हो जाता है। ताजे माँस अथवा दूध में यह बहुत कम होता है। अनाजों तथा दालों में यह नहीं होता है परन्तु यदि उनको अंकुरित किया जाये तो यह विटेमिन उत्पन्न हो जाता है। अंकुरित करने के लिये साबुत दालों अथवा गेहूँ आदि को 24 घण्टे जल में भीगने दिया जाये फिर उनको गीली मिट्टी अथवा गीले कपड़े से ढक कर रख दिया जाये। 2 या 3 दिनों में अंकुर फूट आते हैं। इनको कच्चा या पकाकर खाने में लिया जाता है। अंकुरित दाने विटेमिन सी की पूर्ति के लिये सस्ते तथा अच्छे रहते हैं। अंकुरित उड़द में अंकुरित चनों की अपेक्षा तीन गुना अधिक विटेमिन सी होता है। सबसे सस्ता तथा उत्तम इस विटेमिन की प्राप्ति का साधन आँवला है। ताजे आँवले के रस में सन्तरे के रस से 20 गुणा अधिक विटेमिन सी होता है। एक आँवला दो सन्तरों के बराबर होता है तथा एक और विशेषता है कि गर्म करने अथवा सूखने पर भी इसका विटेमिन सी नष्ट नहीं होता है क्योंकि आँवले की अम्लता विटेमिन सी को आक्सीकृत होने से बचाती है।

दैनिक आवश्यकता लगभग 30-50 मि०ग्रा० होती है। दूध में इसके अभाव के कारण शिशुओं को दूध के साथ फलों का रस देना उपयोगी रहता है।

विटेमिन डी (Vitamin D)

बच्चों में रिकेट्स (rickets) तथा वयस्कों में अस्थि मृदुता (osteomalacia) को रोकने वाला विटेमिन डी सबसे अधिक मछली के यकृत में मिलता है। इसके अतिरिक्त यकृत, अण्डे की जर्दी, दूध, मक्खन तथा घी में होता है। वनस्पति तथा वनस्पति तैलों में इसका अभवा रहता है। प्राणियों की त्वचा के नीचे हाइड्रोकोलेस्टेरॉल (hydrocholesterol) नामक स्टेरॉल रहता है उस पर जब सूर्य प्रकाश की अल्ट्रावायलेट किरणें पड़ती हैं तो वह विटेमिन डी में परिवर्तित हो जाता है। अन्धेरे मकानों में रहने वालों में विटेमिन डी का इस प्रकार निर्माण नहीं होता है और वे आयु के अनुसार रिकेट्स अथवा अस्थिमृदुता से पीड़ित रहते हैं।

यह विटेमिन आन्त्र में कैल्शियम के अवशोषण में सहायक होता है तथा शरीर में कैल्शियम तथा फॉसफोरस के संयोग में भाग लेता है। अतः अस्थि, दन्त आदि के निर्माण के लिये महत्वपूर्ण है।

अस्थि मृदुता के प्रारम्भ में अस्थियों में पीड़ा होती है। स्त्रियों में यह सामान्यतः गर्भावस्था में प्रारम्भ होती है, क्योंकि उस समय स्त्री को गर्भ निर्माण के लिये अतिरिक्त कैल्शियम की आवश्यकता होती है। शिशु की उत्पत्ति के पश्चात्, कुछ समय के लिये, अस्थि पीड़ा कम हो जाती है परन्तु बाद की गर्भ धारण अवस्थाओं में यह लक्षण पुनः गम्भीर रूप धारण कर प्रकट होता है और अन्त में वह स्त्री सीधी भी खड़ी नहीं हो सकती है। गर्भावस्था में इस विटेमिन की अतिरिक्त मात्रा लाभदायक होती है।

बच्चों को दैनिक 200-400 i. u. की आवश्यकता होती है। वयस्क की आवश्यकता इससे कम होती है। इस विटेमिन का एक ग्राम 4 करोड़ अन्तर्राष्ट्रीय एकांको (i. u.) के बराबर होता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इसकी कितनी अल्पतम मात्रा ही पर्याप्त होती है।

विटेमिन ए की तरह इस विटेमिन की भी शरीर में अधिक उपस्थिति हानिकारक होती है। इससे शरीर का भार बढ़ने के स्थान पर कम होने लगता है। मूत्र में कैल्शियम तथा फॉसफेट की मात्रा कम हो जाती है। सिरदर्द, आलस्य आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह जानकारी भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि सामान्य धारण बनी हुई है कि अधिक विटेमिनों के सेवन से स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

विटेमिन ई (Vitamin E)

यह विटेमिन लगभग समस्त खाद्य पदार्थों में होता है। अंकुरित गेहूँ के दानों में सबसे अधिक होता है। हरी सब्जी, अनाज, वनस्पति तेल, माँस आदि में भी मिलता है।

आन्त्र में यह विटेमिन ए के आक्सीकरण को रोकता है। यह गर्भ के पूर्णकालीन विकास में सहायक होता है, तथा बन्ध्यता (Sterlity) को रोकता है शरीर की असंतृप्त (unsaturated) वसा अम्लों में परस्पर होने वाले ऑक्सीकरण क्रिया को रोकता है। इस कारण इस विटेमिन को ऑक्सीकरणरोधी (antioxidant) कहते हैं। इसकी दैनिक आवश्यकता 15-20 मि० ग्रा० है, जो सामान्य भोजन से प्राप्त हो जाती है।

विटेमिन के (Vitamin K)

हरी पत्ती वाली सब्जियाँ इस विटेमिन की प्राप्ति के प्रमुख साधन हैं। इसका कार्य रक्तस्कन्दन में सहायक होना है। सामान्यतः शरीर में इसका अभाव नहीं होता है। इसकी दैनिक 5 मि० ग्रा० मात्रा पर्याप्त होती है।

खनिज लवण (Mineral salts)

हमारे शरीर में काफी मात्रा में विभिन्न खनिज लवण होते हैं। दाँत तथा

अस्थियों में कैल्शियम, फॉसफोरस तथा मैगनेशियम; रक्त में लौह; थायराइड ग्रन्थि के हॉर्मोन थाइरोक्सिन के निर्माण में आयोडीन लवण भाग लेते हैं। यशद, मोलीबडेनम (Molybdenum) तथा मैनगनीज अनेक एन्जाइमों के निर्माण में अथवा उन्हें क्रियाशील बनाने में सहायक होते हैं। सोडियम वाह्यकोशिका तरल (extra cellular fluid) में तथा पोटेशियम अन्तःकोशिका तरल (intra cellular fluid) में रहते हैं। इनके आयन एवं कार्बोनेट, वाइकार्बोनेट तथा क्लोराइड के आयन शरीर में जल का सन्तुलन एवं क्षार और अम्ल के सन्तुलन को बनाये रखते हैं। इसलिए शरीर के लिये खनिज लवणों की विटेमिनों के समान ही आवश्यकता है। ये खनिज लवण उस आहार पदार्थों से प्राप्त होते रहते हैं जिन्हें हम भोजन में लेते हैं।

कैल्शियम (Calcium)

दाँत एवं अस्थियों में विशेष रूप से कैल्शियम लवण होते हैं। अतः अस्थियों और दाँतों की दृढ़ता के लिये कैल्शियम की हमें आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त भी कैल्शियम के अन्य अनेक आवश्यक कार्य हैं। कैल्शियम के बिना पेशियों में संकोच (Contraction) सम्यक् प्रकार से नहीं होता है और फिर शारीरिक गतियों में बाधा पड़ जाती है। हृद् संकोच भी सम्यक् प्रकार से नहीं होता है। रक्त के स्कन्दन के लिये भी कैल्शियम अति आवश्यक है। जीवन बनाए रखने के इन सब कार्यों में कैल्शियम का प्रमुख भाग होता है।

दूध, क्रीम निकला दूध (skimmed milk), दही, मट्ठा, पनीर तथा हरी सब्जियों में कैल्शियम काफी होता है। हरी पत्ती वाली सब्जियों में—चौलाई, शिग्रु पत्र, आदि में कैल्शियम अन्य हरी सब्जियों की अपेक्षा अधिक होता है। अनाजों में बाजरा, गेहूँ, ज्वार में इस क्रम से (अधिक से कम की तरफ) कैल्शियम होता है। चावल और मक्का में बहुत कम होता है। अतः चावल प्रधान भोजन वाले क्षेत्रों में कैल्शियम की कमी पाई जाती है। अनाजों की अपेक्षा दालों में कैल्शियम अधिक होता है।

वयस्कों की अपेक्षा बच्चों को कैल्शियम तथा अन्य खनिज लवणों की आवश्यकता अधिक होती है क्योंकि उनमें अस्थियों तथा अन्य ऊतकों के निर्माण का कार्य होता रहता है। इसी प्रकार गर्भवती स्त्रियों तथा स्तन्यपान कराती माताओं को भी कैल्शियम की आवश्यकता अन्य की अपेक्षा अधिक होती है। गर्भ का शिशु तथा स्तन्य पान करता बालक इसके लिये माता पर निर्भर होते हैं यदि माता के आहार में कैल्शियम की कमी होती है तो उसका प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। इसलिये इन अवस्थाओं में माता को अधिक हरी सब्जियाँ तथा दूध का सेवन करना बहुत आवश्यक होता है।

मनुष्य को सामान्यतः 0·4 से 0·5 ग्राम कैल्शियम रोजाना चाहिये, परन्तु बच्चों, गर्भवती स्त्री तथा स्तन्य पान कराती माता की आवश्यकता इससे अधिक होती है। उन्हें एक ग्राम कैल्शियम प्रतिदिन मिलना चाहिये। मुख द्वारा यदि कैल्शियम

लेना है तो आवश्यकता से अधिक मात्रा में लेने से ही शरीर में कैल्शियम की आवश्यकता पूरी होती है क्योंकि (१) अनाजों में फाइटिन (phytin) नामक पदार्थ होता है जो अन्न में मिलने वाले कैल्शियम के अवशोषण में बाधा डालता है, जिससे आहार में उपस्थित पूरे कैल्शियम का शरीर में अवशोषण नहीं होता है। (२) हरी सब्जियों में और तिल आदि तैल वीजों में अधिकाँश कैल्शियम ऑक्जेलेट के रूप में रहता है। यह यौगिक जल में अविलेय है और विना अवशोषित हुए पुरीष के द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। अतः जिन पदार्थों में कैल्शियम ऑक्जेलेट के रूप में अधिक रहता है यथा चौलाई, पालक, तिल आदि उनका अधिकाँश कैल्शियम आन्त्र में विना शोषित हुए शरीर से निकल जाता है। भारत में स्त्रियों एवं पुरुषों को पान खाने की आदत है इस कारण उन्हें पान में चूने के रूप में कुछ कैल्शियम मिल जाता है।

फॉस्फोरस (Phosphorus)

कैल्शियम के बाद फॉस्फोरस की शरीर को अत्यन्त आवश्यकता रहती है क्योंकि कैल्शियम दाँतों तथा अस्थियों में कैल्शियम फॉस्फेट के रूप में रहता है। फॉस्फेट शरीर से कार्वोहाइड्रेट तथा स्नेह (fat) के समीकरण (assimilation) में भी भाग लेता है।

अनाज, दालें, वनस्पतिजन्य तैल, बादाम, अखरोट आदि मेवे फॉस्फोरस में धनी होते हैं परन्तु इनमें अधिकाँश फास्फोरस फाइटिन फास्फेट के यौगिक के रूप में होता है और इस कारण आन्त्र द्वारा अवशोषित नहीं होता है। भारतवासियों के आहार में अनाज का अधिक अंश होने के कारण शरीर की आवश्यकता के योग्य फॉस्फोरस फिर भी मिल जाता है। फॉस्फोरस की एक ग्राम दैनिक मात्रा से आवश्यकता पूरी हो जाती है।

लौह (Iron)

सन्तुलित आहार में हमारी आवश्यकता के लिए पर्याप्त लौह होता है परन्तु कठिनाई आन्त्र में अवशोषण की होती है। हरी सब्जियों से प्राप्त लौह का अधिकाँश अंश फाइटिन फॉस्फेट से मिलकर आन्त्र में अवशोषित नहीं हो सकने वाला यौगिक बन जाता है और पुरीष में निकल जाता है। अतः यदि आहार द्रव्यों में आवश्यकता से अधिक लौह होता है तो शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाती है। पुरुष में 5 मि०ग्रा० तथा स्त्रियों में 10 मि०ग्रा० दैनिक आवश्यकता होती है इसलिये यदि आहार द्रव्यों में 20-30 मि०ग्रा० लौह होता है तभी यह आवश्यकता पूरी होती है।

हरी पत्ते वाली सब्जियों में लौह पर्याप्त होता है। लगभग 50 ग्राम हरी सब्जियों को रोजाना लेने से हमारी लौह की आवश्यकता पूरी हो जाती है। बाजरा, गेहूँ आदि अनाजों में भी लौह होता है। दूध में लौह नहीं होता है स्तन्य-पान करने वाले शिशु को ऊपर से लौह वाले आहार द्रव्यों का रस देते रहना चाहिये। लौह की कढ़ाई में दूध गर्म करने से लौह का पर्याप्त अंश दूध में आ जाता है।

अरक्तता में लौह लवण देना लाभदायक है। उस समय केवल भोजन से

प्राप्त लौह पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए। गर्भवती स्त्री को भी अधिक लौह की आवश्यकता होती है। आर्तव के साथ शरीर का रक्त निकल जाने के कारण स्त्रियों को पुरुष की अपेक्षा सामान्यत: अधिक लौह की आवश्यकता रहती है।

मैगनेशियम (Magnesium)

शरीर की प्रत्येक कोशिका में अत्यन्त अल्प मात्रा में मेगनेशियम रहता है। अस्थियों में कैल्शियम के साथ भी यह होता है। शरीर की अनेक निर्माण क्रियाओं में यह भाग लेता है। वनस्पतियों के क्लोरोफिल (chlorophyl) में मैगनेशियम अवश्य होता है। अत: प्रत्येक हरी सब्जी से शरीर को मैगनेशियम की प्राप्ति हो जाती है। इसकी दैनिक आवश्यकता भी अत्यन्त अल्प होती है।

ताम्र (Copper)

ताम्र की शरीर को बहुत अल्प मात्रा में आवश्यकता होती है, लगभग 2 मि०ग्रा० प्रतिदिन। हीमोग्लोबिन की उत्पत्ति में लौह के सम्यक् प्रकार से उपयोग में ताम्र सहायक होता है। प्रत्येक अनाज में सूक्ष्म मात्रा में ताम्र होता है और इस प्रकार इसकी कमी शरीर में साधारणतया नहीं होती है। वैसे मुनक्का, किशमिश में यह अधिक रहता है।

यशद (Zinc)

शरीर के अनेक एन्जाइमों के निर्माण में यशद भाग लेता है। इसके अभाव का प्रभाव शरीर की वृद्धि पर अधिक पड़ता है और व्यक्ति बौना (dwarf) रह जाता है। पुरुषों में लैंगिक लक्षण (sex characteristics) ठीक प्रकार से नहीं उभरते हैं। शरीर की दैनिक आवश्यकता के विषय में निश्चित नहीं कहा जा सकता फिर भी लगभग 12 मि०ग्रा० पर्याप्त होता है। भोजन के द्रव्यों से ही शरीर की आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है।

आयोडीन (Iodine)

थाइरोइड ग्लेण्ड (Thyroid gland अवटु ग्रन्थि) के हार्मोन थाइरोक्सिन के निर्माण के लिये आयोडीन अनिवार्य है। इस कार्य के लिए लगभग 100-150 मिलीग्राम प्रतिदिन आवश्यक होता है। समुद्र की मछलियों तथा समुद्र के किनारे की वनस्पतियों में आयोडीन प्रचुरता से होता है। जल में भी अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में होता है और शरीर की आवश्यकता की पूर्ति कर देता है परन्तु हिमालय की तराई वाले भागों के जल में इसका अभाव रहता है। अत: उन भागों में गलगण्ड (goitre घेंघा) रोग अधिकाँशत: देखा जाता है। इन क्षेत्रों में पोटेशियम आयोडाइड अथवा पोटेशियम आयोडेट की सूक्ष्म मात्रा नमक में मिलाकर इस्तेमाल को दिया जाता है।

सोडियम (Sodium) तथा पोटेशियम (Potassium)

वाह्य कोशिका तरल (extra cellular fluid) में सोडियम तथा अन्त:-कोशिका तरल (intra cellular fluid) में पोटेशियम होता है। कोशिका के आकार को बनाये रखने के लिये ये दोनों आवश्यक हैं।

सोडियम क्लोराइड के रूप में स्वेद तथा मूत्र द्वारा सोडियम का शरीर से निष्कासन होता रहता है और उसकी पूर्ति वनस्पतियों में उपस्थित सोडियम से होती रहती है परन्तु हम भोजन में नमक के रूप में सोडियम क्लोराइड और लेते रहते हैं। इस प्रकार 10-15 ग्राम सोडियम क्लोराइड हम प्रतिदिन ले लेते हैं। गर्मी में अथवा भट्टियों के पास काम करने से व्यक्तियों को अधिक स्वेदन होने के कारण शरीर से काफी सोडियम क्लोराइड निकल जाता है। ऐसे व्यक्तियों को जल में नमक डालकर लेते रहना चाहिये।

शरीर में पोटेशियम की कितनी दैनिक आवश्यकता है इसकी पूर्ण जानकारी अभी तक नहीं है। फिर भी शरीर की पोटेशियम की सम्पूर्ण आवश्यकता वनस्पतियों से पूरी हो जाती है और इसका अभाव प्रायः नहीं होता है।

भोजन द्वारा क्षार और अम्ल का सन्तुलन

आहार द्रव्य अम्ल उत्पादक है अथवा क्षार उत्पादक है यह मूत्र की प्रक्रिया से ज्ञान हो जाता है। कैल्शियम, मैगनेशियम, सोडियम तथा पोटेशियम लवण युक्त भोजन द्रव्य मूत्र में क्षारता उत्पन्न करते हैं जबकि सल्फर, फॉस्फोरस, क्लोरीन युक्त द्रव्य अम्ल उत्पादक होते हैं। जिस आहार द्रव्य में जिस प्रकार के लवणों की बहुलता होती है मूत्र की प्रतिक्रिया उसी के अनुसार क्षारीय अथवा अम्लीय होती है। माँस, मछली, अण्डे तथा अधिकाँश अनाज अम्ल उत्पादक हैं दूध, सब्जी, फल क्षार उत्पादक हैं। परन्तु कुछ फल यथा आलू बुखारा अम्ल उत्पादक हैं। उनमें उपस्थित कार्बनिक अम्ल (organic acid) चयापचय में बिना परिवर्तन हुए मूत्र द्वारा निष्काषित हो जाती है। हमारा भोजन बहुरूप होता है उस कारण शरीर में क्षार और अम्ल का सन्तुलन बना रहता है।

———

३०

सन्तुलित आहार

भोजन की मात्रा

पिछले पृष्ठों में भोजन के मुख्य संगठनों के सम्बन्ध में जानकारी दी गई है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिये यह आवश्यक है कि हम यह भी जानकारी प्राप्त करें कि प्रत्येक प्रकार के भोजन द्रव्यों की कितनी मात्रा हमें आवश्यक है। यह मात्रा आयु, लिंग (sex) तथा कार्य में परिश्रम पर आधारित होती है। एक समान आयु तथा कार्य करने वालों में भी प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति भेद के कारण विभिन्न मात्रा में आहार की आवश्यकता होती है। परन्तु हमको एक माध्य (average) लेना होगा, जिसे नियम मानकर निर्णय में सरलता हो सके। भारतीय चिकित्सा विज्ञान अनुसन्धान परिषद् द्वारा निर्धारित ऐसी ही एक तालिका आगे दी जा रही है—

इस तालिका के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि—

(१) इस तालिका में जो कैलोरी, प्रोटीन आदि की मात्रायें दी गई हैं। वे पुरुष के भार को 55 कि०ग्रा० तथा स्त्री के भार को 45 कि०ग्रा० मानकर निर्धारित की गई हैं। अधिक तथा कम भार वाले व्यक्ति के लिए इस तालिका में उसी के अनुसार परिवर्तन कर मात्रा का निर्धारण करना चाहिये।

(२) प्रोटीन की मात्रा का निर्धारण प्रति किलोग्राम शरीर भार के लिए एक ग्राम प्रोटीन के अनुसार किया गया है। प्रोटीन की मात्रा में जान्तव एवं वनस्पति-जन्य दोनों प्रकार की प्रोटीनों का समावेश है। हम पिछले पृष्ठों में पढ़ आये हैं कि जान्तव प्रोटीन वनस्पति जन्य से श्रेष्ठ है परन्तु विभिन्न प्रकार की वानस्पतिज प्रोटीनों का सेवन कर शाकाहारी भी उस कमी की पूर्ति सरलता से कर सकते हैं। फिर भी वृद्धि कर रहे बच्चों; गर्भवती स्त्रियों तथा स्तन्य पान कराती माताओं के आहार में जान्तव प्रोटीन, यथा दूध, दही, मट्ठा, क्रीम निकला दूध, अण्डा अथवा मांस अवश्य सम्मिलित होना चाहिये।

(३) शरीर को जितनी कैलोरी ऊर्जा की आवश्यकता होती है उसका 15 प्रतिशत अंश स्नेह (fat) से प्राप्त होने वाली कैलोरी का होना चाहिये। स्नेह में भी 15 ग्राम प्रतिदिन वनस्पतिजन्य तैलों, यथा तिल, मूंगफली, सरसों आदि, का लेना उचित होता है। इससे शरीर को आवश्यक (essential) वसा अम्लों की प्राप्ति हो

जाती है क्योंकि पिछले पृष्ठों में हम पढ़ आए हैं कि आवश्यक बसा अम्ल असंतृप्त वसा अम्लों से ही प्राप्त की जा सकती है, संतृप्त (जमने वाले) तैलों में वे नहीं होती है।

(४) शरीर के लिए आवश्यक कैलोरियों का 70 प्र० श० अंश कारबोहाइड्रेट द्रव्यों से प्राप्त होना चाहिये।

(५) विटेमिन बी कम्प्पलेक्स के कुछ विटामिनों की शरीर के लिए आवश्यक मात्रा कैलोरी की मात्रा पर आधारित है। यथा थायमीन 0·55 मि० ग्रा० प्रति 1000 कैलोरी तथा निकोटिनिक अम्ल 6·6 मि० ग्रा० मात्रा प्रति 1000 कैलोरी प्रतिदिन आवश्यक होती है।

(६) फॉस्फोरस लगभग सभी खाद्य पदार्थों में होता है। इसी प्रकार मैगनेशियम, ताम्र, आयोडीन आदि लवण, जिनकी बहुत सूक्ष्म मात्रा में आवश्यकता होती है, खाद्य पदार्थों से प्राप्त हो जाते हैं।

(७) विटेमिन डी सूर्य रश्मियों से प्राप्त हो जाता है फिर भी अंधेरे स्थानों में रहने वालों तथा बालकों को इसकी लगभग 200 i. u. दैनिक आवश्यकता होती है।

तालिका

वर्ग	श्रम	कैलोरी दैनिक	प्रोटीन ग्राम	कैल्शियम ग्राम	लौह मि० ग्राम	विटेमिन ए μg.
पुरुष	सरल	2400	55	0·4--0·5	20	750
	मध्यम	2800	55	,,	20	750
	कठोर	3900	55	,,	20	750
स्त्री	सरल	1900	45	0·4-0·5	20	750
	मध्यम	2200	45	,,	,,	,,
	कठोर	3000	45	,,	,,	,,
	गर्भावस्था	,, + 300	55	1·0	40	1150
	स्तन्यपान	,, + 700	65	,,	30	,,
शिशु आयु	0-6 मास	120 प्रति कि.ग्रा. भार	1·3-1·8 प्रति कि.ग्रा. भार	0·5-0·6 प्रति कि.ग्रा. भार	10	400
	7-12 मास	100 प्रति कि.ग्रा भार	1·8--1·9 प्र. किग्रा. भार	,,	10	300
बालक	आयु 1 वर्ष	1200	17	0·4--0·5	15--20	250
	आयु 2 वर्ष	1200	18	,,	,,	,,

आयु 3 वर्ष	1200	20	0·4--0·5	,,	,,
आयु 4-6 वर्ष	1500	22	,,	,,	300
बालक आयु 7-9 वर्ष	1800	33	,,	,,	400
आयु 10-12 ,,	2100	41	0·6--0·7	25	750
यौवन 13-15 लड़का	2500	55	,,	25	750
आरम्भ ,, लड़की	2200	50	,,	35	,,
अवस्था 16-18 लड़का	3000	60	0·5--0·6	25	,,
,, लड़की	2200	50	,,	35	,,

हम नीचे कुछ और तालिकायें दे रहे हैं। इनका आधार भी भारतीय चिकित्सा विज्ञान अनुसंधान परिषद् की तालिकाएँ हैं । इन तालिकाओं में दिया जा रहा है कि आहार के पोषक तत्वों (प्रोटीन, स्नेह, कारबोहाइड्रेट, विटेमिन, खनिज लवण) के प्रतिनिधि द्रव्य किस मात्रा में हमारे दैनिक आहार में उपस्थित रहने चाहिए जिससे शारीर व्यापार सम्यक् प्रकार से चलता रहे और शरीरिक एवं मानसिक दृष्टि से यह शरीर स्वस्थ बना रहे । इनमें भी वयस्क पुरुष का भार 55 कि० ग्रा० तथा स्त्री का भार 45 कि० ग्रा० माना गया है । कम अथवा अधिक भार वाले व्यक्तियों के लिए उसी अनुपात में मात्रा कम अथवा अधिक कर लेनी उचित है ।

वयस्क पुरुषों के लिए सन्तुलित आहार तालिका

आहार द्रव्य	सरल श्रम		मध्यम श्रम		कठोर श्रम	
	शाकाहारी मात्रा ग्राम	माँसाहारी ग्राम	शाकाहारी ग्राम	माँसाहारी ग्राम	शाकाहारी ग्राम	माँसाहारी ग्राम
अनाज	400	400	475	475	650	650
दालें	70	55	80	65	80	65
हरी पत्ती वाली सब्जियाँ	100	100	125	125	125	125
अन्य सब्जियाँ	75	75	75	75	100	100
कन्द, मूल	75	75	100	100	100	100
फल	30	30	30	30	30	30
दूध	200	100	200	100	200	100
स्नेह (घी तैल)	35	40	40	40	50	50
माँस मछली	—	30	—	30	—	30
अण्डे	—	30	—	30	—	30
चीनी, गुड़	30	30	40	40	55	55
मूँगफली	—	—	—	—	50*	50*

*मूँगफली के अभाव में 30 ग्राम अतिरिक्त चिकनाई ली जानी चाहिये ।

बयस्क स्त्रियों के लिए सन्तुलित आहार तालिका

आहार द्रव्य	सरल श्रम शाकाहारी ग्राम	सरल श्रम माँसाहारी ग्राम	मध्यम श्रम शाकाहारी ग्राम	मध्यम श्रम माँसाहारी ग्राम	कठोर श्रम शाकाहारी ग्राम	कठोर श्रम माँसाहारी ग्राम	अतिरिक्त आवश्यकता गर्भावस्था/स्तन्यपान शाकाहारी ग्राम	अतिरिक्त आवश्यकता गर्भावस्था/स्तन्यपान मांसाहारी ग्राम
अनाज	300	300	350	350	475	475	50	100
दालें	60	45	70	55	70	55	—	10
हरे पत्ते वाली सब्जियाँ	125	125	125	125	125	125	25	25
अन्य सब्जियाँ	75	75	75	75	100	100	—	—
कन्द मूल	50	50	75	75	100	100	—	—
फल	30	30	30	30	30	30	—	—
दूध	200	100	200	100	200	100	125	125
स्नेह (घी, तैल)	30	35	35	40	40	45	—	15
चीनी, गुड़	30	30	30	30	40	40	10	20
माँस, मछली	—	30	—	30	—	30	—	—
अण्डे	—	30	—	30	—	30	—	—
मूंगफली	—	—	—	—	40*	40*	—	—

*मूंगफली के अभाव में 25 ग्राम अतिरिक्त चिकनाई ली जानी चाहिए।

बालकों के लिए सन्तुलित आहार तालिका

आहार द्रव्य	आयु 1-3 वर्ष		4-6 वर्ष		7-9 वर्ष		10-12 वर्ष	
	शाकाहारी ग्राम	माँसाहारी ग्राम	शाकाहारी ग्राम	माँसाहारी ग्राम	शाकाहारी ग्राम	माँसाहारी ग्राम	शाकाहारी ग्राम	माँसाहारी ग्राम
अनाज	150	150	200	200	250	250	320	320
दालें	50	40	60	50	70	60	70	60
हरे पत्ते वाली सब्जियाँ	50	50	75	75	75	75	100	100
अन्य सब्जियाँ तथा	30	30	50	50	50	50	75	75
कन्द मूल								
फल	50	50	50	50	50	50	50	50
दूध	300	200	250	200	250	200	250	200
माँस, मछली, अण्डा	—	30	—	30	—	30	—	30
गुड़, चीनी	30	30	40	40	50	50	50	50
आवश्यक कैलोरी	1200		1500		1800		2100	

नवयुवक एवं नवयुवतियों के लिए सन्तुलित आहार तालिका

आहार द्रव्य	लड़का आयु 13-15 वर्ष		लड़का आयु 16-18 वर्ष		लड़की आयु 13-18 वर्ष	
	शाकाहारी ग्राम	माँसाहारी ग्राम	शाकाहारी ग्राम	माँसाहारी ग्राम	शाकाहारी ग्राम	माँसाहारी ग्राम
अनाज	430	430	450	450	350	350
दालें	70	50	70	50	70	50
हरी सब्जी	100	100	100	100	150	150
अन्य सब्जी	75	75	75	75	75	75
कन्द मूल	75	75	100	100	75	75
फल	30	30	30	30	30	30
चीनी, गुड़	30	30	40	40	30	30
माँस, मछली	—	30	—	30	—	30
अण्डे	—	30	—	30	—	30
मूँगफली	—	—	50*	50*	—	—

*मूँगफली के अभाव में 30 ग्राम अतिरिक्त चिकनाई ली जानी चाहिए।

उपरोक्त तालिकाओं में आवश्यक द्रव्यों की मात्रा दी गई है। यह मात्रा सामान्यत: अधिकांश व्यक्तियों के स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए पर्याप्त है। इन तालिकाओं में जिन आहार द्रव्यों का वर्णन आया है उन वर्गों के प्रतिनिधि द्रव्यों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

अन्नवर्ग (cereals अनाज, शूक धान्य वर्ग)

अन्न वर्ग के मुख्य द्रव्य, जिनका हम भारतवासी सामान्यत: अपने भोजन में प्रतिदिन उपयोग करते हैं, चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, जौ और मक्का हैं। ये शरीर में ऊर्जा उत्पादक द्रव्यों में सबसे सस्ते हैं। अत: 70 से 80 प्रतिशत ऊर्जा की प्राप्ति इन्हीं द्रव्यों से होती है। ये मात्रा में अधिक लिए जाते हैं। इस तरह आहार का अधिकाँश भाग इन्हीं का होता है।

अन्न वर्ग के इन द्रव्यों में मुख्य रूप से कारबोहाइड्रेट होता है। प्रोटीन का अंश 6 से 12 प्रतिशत ही रहता है। आजकल चेष्टा की जा रही है कि इन अनाजों की अधिक प्रोटीन युक्त किस्में उगाई जायें। अधिक प्रोटीन युक्त गेहूँ तथा चावल उगाने में प्रारम्भिक सफलता भी हमारे कृषि वैज्ञानिकों को प्राप्त हो चुकी है। इस वर्ग के द्रव्यों में आवश्यक (essential) एमीनो अम्लों की अल्पता रहती है। परन्तु इनका उपयोग अधिक मात्रा में होता है, अत: इन एमीनो अम्लों की पूर्ति कुछ हद तक हो जाती है। अनाजों की अपेक्षा चावल में लाइसिन (lysine) अधिक

होता है। इसलिए गेहूँ के साथ चावल को भी भोजन में सम्मिलित करना लाभदायक है।

समस्त अन्न वर्ग में खनिज लवण अल्प मात्रा में होते हैं। चावल में कैल्शियम तथा लौह अत्यन्त ही अल्प मात्रा में रहते हैं। लोहे के लवणों की दृष्टि से बाजरा श्रेष्ठ है। अनाजों के ऊपरी स्तर में विटेमिन बी कम्प्लेक्स के विटेमिन रहते हैं। अतः ऊपर का स्तर चोकर (bran छानस, बूर) के रूप में हटा दिया जाये तो शेष भाग में इन विटेमिनों का अभाव हो जाता है यथा मैदा में और मिल के साफ किये चावलों में ऐसा ही होता है। धान को उबाल कर सेला (parboiled उसना) चावल बनाया जाता है। इस क्रिया के समय ये विटेमिन चावल के बाह्य स्तर से अन्दर के भाग में पहुँच जाते हैं। अतः जिनका मुख्य आहार चावल है उन्हें सेला चावल का व्यवहार अधिक लाभदायक रहता है। पीली मक्का में, विटेमिन ए का वनस्पतियों में रहने वाला, प्रतिनिधि, बीटा कैरोटीन (β-carotene) रहता है। विटेमिन सी किसी भी अनाज में नहीं होता है।

शूकधान्यं शमीधान्यं समातीतं प्रशस्यते।
पुराणं प्रायशो रुक्षं प्रायेणाभिनवं गुरु॥
यद्यदागच्छतिक्षिप्रं तत्तल्लघुतरं स्मृतम्॥ च०सू० २७/३०९-१०

शूक (अनाज) तथा शमी (दालें) एक वर्ष पुराने आहार में उचित रहते हैं। पुराना अन्न रुक्ष तथा नया गुरु होता है। जो अनाज जितने कम समय में उग कर पक जाता है वह पचने में उतना ही हल्का होता है।

शिम्बी वर्ग (legumes-pulses दालें, शमी धान्य वर्ग)

जैसे अन्न वर्ग के द्रव्य कार्बोहाइड्रेट बहुल होते हैं उसी प्रकार शिम्बी वर्ग के द्रव्य प्रोटीन बहुल होते हैं। शिम्बी वर्ग की प्रोटीन तथा मांस वर्ग की प्रोटीन में अन्तर होता है, माँस वर्ग की प्रोटीनें आवश्यक (essential) एमीनो अम्लों में धनी होती हैं। शिम्बी वर्ग में मिथियोनिन (methionine) नामक आवश्यक (essential) एमीनो अम्ल बहुत कम मात्रा में होता है इसी प्रकार अरहर में ट्रिप्टोफेन (tryptophan) नामक आवश्यक एमीनो अम्ल बहुत कम मात्रा में होती है।

अन्नवर्ग में लाइसिन की अल्पता तथा शिम्बीवर्ग में मिथियोनिन की अल्पता होती है। इनकी अल्पतायें अन्न के साथ दाल के सेवन से दूर हो जाती हैं जिससे शरीर को आवश्यक एमीनो अम्ल उचित मात्रा में प्राप्त हो जाते हैं। फिर माँस सेवन की आवश्यकता नहीं रहती है।

जिस मात्रा में हम अनाज और दालों का सेवन करते हैं उससे शरीर को पूरे खनिज लवणों की प्राप्ति नहीं होती है इसलिए शाकवर्ग को आहार में सम्मिलित करना होता है। जहाँ तक विटेमिनों का सम्बन्ध है दालों में केवल 'बी कम्प्लेक्स' के

विटेमिन पर्याप्त मात्रा में होते हैं, विशेष रूप से थायमिन (thiamine) तथा फॉलिक अम्ल (folic acid) अधिक होता है। दालों में 'विटेमिन सी' नहीं होता है परन्तु अंकुरित दालों में, विशेष रूप से अंकुरित चने तथा उड़द में, विटेमिन सी उत्पन्न हो जाता है।

मेवा तथा तिलहन (dry fruits and oil seeds) वर्ग

इस वर्ग की मेवाओं में बादाम, अखरोट, चिलगोजा, चिरौंजी, पिश्ता, काजू, गोला (coconut), मूंगफली (ground nut) आदि नट (nut) वर्ग के द्रव्य तथा तिलहन में तिल, सरसों आदि द्रव्य, जिनका तैल निकाला जाता है, आते हैं। मेवायें दालों के समान ही प्रोटीन बहुल होती हैं परन्तु साथ ही साथ स्नेह (fat) बहुल भी होती हैं। अतः ये भी ऊर्जा उत्पादक द्रव्यों की श्रेणी में आती हैं।

तिलहनों से तेल निकालने के पश्चात् खली को पशुओं के खाने के लिये देते है। खली में प्रोटीन बहुत होती है। तैलों में विटेमिन बी कम्प्लेक्स का अभाव होता है।

मूंगफली में थायमीन तथा निकोटिनिक अम्ल की वहुतायत होती है। परन्तु आवश्यक एमीनो अम्ल 'मिथियोनिन' की कमी होती है।

अन्नवर्ग, शिम्बीवर्ग, मेवा एवं तिलहन वर्ग के द्रव्यों के घटक (प्रति १०० ग्राम में)

नाम	जल का अंश ग्राम	प्रोटीन ग्राम	स्नेह (fat) ग्राम	कार्बोहाइड्रेट ग्राम	खनिज लवण ग्राम	ऊर्जा कैलोरी
गेहूं	12·8	11·8	1·5	71·2	1·5	346
गेहूं का आटा	12·2	12·1	1·7	69·4	2·7	341
बाजरा	12·4	11·6	5·0	67·5	2·3	361
ज्वार	11·9	10·4	1·9	72·6	1·6	349
मक्का	14·9	11·1	3·6	66·2	1·5	342
जौ	11·5	11·5	1·3	69·6	1·2	336
चावल	13·7	6·8	0·5	78·2	0·6	345

चना	9·8	17·1	5·3	60·9	3·0	360
उड़द	10·9	24·0	1·4	59·6	3·2	347
लोबिया	13·4	24·1	1·0	54·5	3·2	323
मूँग	10·1	24·5	1·2	59·9	3·5	348
मसूर	12·4	25·1	0·7	59·0	2·1	343
मोठ	10·8	23·6	1·1	56·5	3·5	330
राजमाष	12·0	22·9	1·3	60·6	3·2	346
अरहर	13·4	22·3	1·7	57·6	3·5	335
सोयाबीन	·8·1	43·2	19·5	20·9	4·6	432
बादाम	5·2	20·8	58·9	10·5	2·9	655
अखरोट	4·5	15·6	64·4	11·0	1·8	687
चिलगोजा	4·0	13·9	49·3	29·0	2·8	615
चिरौंजी	3·0	19·0	59·1	12·1	3·0	656
पिश्ता	5·6	19·8	53·5	16·2	2·8	626
काजू	5·9	21·2	46·9	22·3	2·4	596
गोला	4·3	6·8	62·3	18·4	1·6	662
मूँगफली	3·0	25·3	40·1	26·1	2·4	567
तिल	5·3	18·1	43·3	25·0	5·2	563
सरसों	8·5	20·0	39·7	23·8	4·2	541

हरितशाक वर्ग (Green leafy vegetables)

हरे पत्ते वाले शाक वर्ग में पालक, चौलाई, मेथी, बथुआ, चने और सरसों का साग, कुलफा, हरा धनिया, पौदीना, मूली के पत्ते आदि हैं। समस्त भारत में इनको साग की तरह व्यवहार में लाते हैं। हरे शाक कैल्शियम, लौह, कैरोटीन, विटेमिन-सी, राइबोफ्लेविन तथा फॉलिक अम्ल के अच्छे भण्डार हैं। ये अन्य सब्जियों की अपेक्षा सस्ते भी हैं। शरीर की वृद्धि तथा स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हैं। कम से कम 100–125 ग्राम प्रतिदिन प्रत्येक को लेना चाहिये। बच्चों, गर्भवती स्त्री तथा स्तन्य पान कराने वाली माताओं को तो इनका अवश्य सेवन करना चाहिये।

जो शाक वायु अथवा धूप से हीन वीर्य हो गये हैं, वासी है तथा अपने समय से विपरीत समय में पैदा किये गये हैं, वे सेवन के अयोग्य होते हैं। (च० सू० २७/३१)

कन्दमूल वर्ग (Tubers & roots)

इस वर्ग में आलू, शकरकन्द, अरबी, जिमीकन्द, गाजर, मूली, शलजम आदि आते हैं। इनमें कार्बोहाइड्रेट पर्याप्त मात्रा में होता है। अतः ये ऊर्जा के अच्छे उत्पादक हैं। गाजर और जिमीकन्द में कैरोटीन अच्छी मात्रा में होता है, आलू में

विटेमिन सी होता है। आलू, अरवी, शकरकन्द में कार्बोहाइड्रेट अधिक होने के कारण आवश्यकता पड़ने पर ये अन्न वर्ग का स्थान ले लेते हैं।

अन्य शाक वर्ग (Other vegetables)

इस वर्ग में करेला, कटहल, काशीफल, ग्वार की फली, शिग्रु की फली, बाकला, खीरा, बैंगन, भिण्डी, तोरई, गोभी, टिण्डे, कच्चे टमाटर, लहसुन, सिंघाड़ा आदि आते हैं। ये शाक खनिज लवण तथा विटेमिन के लिए भोजन में अति उपयोगी हैं।

जो शाक कीड़ों से, वायु एवं धूप से हीन वीर्य हो गये हैं, सूख गये हैं, पुराने हो गये हैं अथवा प्राकृतिक ऋतु में उत्पन्न न होकर अन्य समय में उत्पन्न हुए हैं अथवा बिना जल निकाले और बिना चिकनाई के बनाये गये हैं उनका सेवन नहीं करना चाहिये। (च० सू० २७/३१६)

फल वर्ग (Fruits)

इस वर्ग में आँवला, सेब, खुबानी (apricot), बेल, पका केला, कमरख (carambola), मुनक्का, खजूर, अंजीर, अंगूर, अमरूद, जामुन, लीची, मोसम्बी, लोकाट, आम, खरबूजा, तरबूज, सन्तरा, पपीता, अनन्नास, अनार, स्ट्रावेरी, पका हुआ टमाटर आदि फल आते हैं।

फलों की उपयोगिता इनमें उपस्थित विटेमिनों तथा खनिज लवणों के कारण होती है। यदि शाक पर्याप्त मात्रा में लिया गया है तो फल वर्ग नहीं लिये जायें तो कोई हानि नहीं होती है। पके हुए फलों का ही सेवन करना लाभकर होता है। अधिक पके, कच्चे या सड़े गले फलों से लाभ के स्थान पर हानि होती है। कुछ फलों में कार्बोहाइड्रेट काफी होता है। वे ऊर्जा के उत्पादन के लिए भी लिये जा सकते हैं।

जो फल पुराने हो गये हैं बासी, कच्चे, कीड़ों के खाए हुए अथवा विषैले जन्तुओं द्वारा विषैले हो गये हैं, अति ठण्ड अथवा अधिक धूप से विकृत हो गये हैं अथवा सड़ गल गये हैं उनका सेवन नहीं करना चाहिये। (च० सू० २७/३१७)

इक्षु वर्ग (चीनी, गुड़ आदि Sugar, Jaggery etc.)

चीनी एवं गुड़ का प्रयोग मधुर स्वाद के लिये किया जाता है। चीनी, खाँड, ग्लूकोज आदि कार्बोहाइड्रेट हैं। इक्षुवर्ग के प्रतिनिधि पदार्थ कार्बोहाइड्रेट होने के कारण ऊर्जा के उत्तम उत्पादक हैं।

गुड़ के संगठन में सेक्रोज (गन्ने की शर्करा, sucrose) 63%, फ्रक्टोज (फलों की शर्करा, fructose) 19%, लवण 3%, अघुलनशील पदार्थ 3% तथा नमी 12% होती है। चीनी में केवल सेक्रोज होती है। कार्बोहाइड्रेट पदार्थ पचने के पश्चात् ग्लूकोज और फ्रक्टोज में परिवर्तित हो जाते हैं। इसी रूप में उनका अवशोषण हो जाता है। गुड़ में 19% फ्रक्टोज होती है। इसको शरीर इसी रूप में उपयोग में ले आता है। लवणों का उपयोग भी शरीर को मिल जाता है। लवणों

का चीनी में अभाव रहता है। गुड़ में बी कम्प्लेक्स वर्ग के विटेमिन भी होते हैं जो शरीर को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार चीनी की अपेक्षा गुड़ शरीर के लिए अधिक उपयोगी है।

स्नेहवर्ग (Oils & Fats)

हमारे उपयोग के लिये चिकनाई मक्खन, घी, वनस्पति घी (हाइड्रोजनेटेड तैल), वनस्पति तैल आदि के रूप में होती है। माँसाहारी वसा (चर्बी) को भी उपभोग में लाते हैं। मक्खन के अतिरिक्त अन्य स्नेह द्रव्यों में स्नेह (fat) का अच्छा प्रतिशत होता है। मक्खन (नवनीत) में लगभग 1·90 प्र.श. जल, 2·5 प्र.श. खनिज लवण तथा 80·0 प्र.श. तक शुद्ध स्नेह (fat) का भाग होता है। मक्खन के गुणों के सम्बन्ध में चरक संहिता में कहा गया है कि **'संग्राही दीपनं हृद्यं नवनीतं नवोद्धृतम् ॥** च० सू० २७/२३०' 'ताजा मक्खन ग्राही, दीपनकर तथा हृदय को बल प्रदान करने वाला होता है।' यह संग्रहणी एवं अर्श को दूर करता है तथा अर्दित (facial paralysis) एवं अरुचि का नाश करता है।

जैसे हम पीछे कह आये हैं कि गाय के दूध में भैंस के दूध की अपेक्षा कैरोटीन (विटेमिन ए) अधिक होता है इसी कारण गाय का घी भैंस के घी की अपेक्षा पीला होता है। वनस्पति घी असंतृप्त वसा अम्लों को सन्तृप्त वसा अम्लों में परिवर्तित करने से बनता है। संतृप्त वसा अम्ल शरीर में कोलेस्टेरॉल की वृद्धि करते हैं। अतः आहार में कम से कम 15 ग्राम असंतृप्त वसा अम्लों वाली चिकनाई यथा तिल, सरसों अथवा मूँगफली का तैल आदि प्रतिदिन अवश्य रहना चाहिये।

घृत के गुणों के सम्बन्ध में संहिता ग्रन्थों में वर्णन किया गया है—

स्मृतिबुद्ध्यग्नि शुक्रौजः कफमेदोविवर्धनम् ।
वातपित्त विषोन्माद शोषोलक्ष्मी ज्वरापहम् ॥
सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रसपाकयोः ।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत् ॥ च० सू० २७/२३१-३२

घृत स्मृति, बुद्धि, अग्नि (चयापचय), वीर्य, ओज, कफ, मेद को बढ़ाता है। यह बात एवं पित्त की वृद्धि को दूर करता है। विषजन्य उन्माद, यक्ष्मा आदि रोगों तथा ज्वर को दूर करता है। शरीर को सुन्दर बनाता है। विभिन्न द्रव्यों से संस्कारित होने पर तो सहस्र गुणा अधिक लाभदायक होता है।

इन्हीं गुणों की पुष्टि वाग्भट ने की है कि

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुः शुक्रचक्षुषाम् ।
वालवृद्धप्रजाकान्ति सौकुमार्यस्वरार्थिनाम् ॥
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मानाम् ॥ अ० सं० सू० ६/७३-७४

बुद्धि, स्मृति, मेधा, अग्नि, बल, आयु, शुक्र, नेत्र, बालक, वृद्ध, सन्तान उत्पत्ति, कान्ति, सुकुमारता तथा स्वर की गम्भीरता की इच्छा वालों को घी प्रशस्त है। उरः क्षत, क्षीणता, परीसर्प (विसर्प), शस्त्र तथा अग्नि से पीड़ित व्यक्तियों के लिये घी श्रेष्ठ है।

तैल—

> **तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च ।**
> **त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च ।।**
> **कृशानां बृंहणीयानं स्थूलानांकर्शनाय च ।**
> **बद्ध विट्क कृमिघ्नं च संस्कारात्सर्वरोगजित् ।।** अ०सं०सू० ६/९९-१००

जिस बीज से तैल निकाला गया है उसी बीज के गुणों के अनुरूप उस तैल के गुण होते हैं। तैलों में तिल का तैल मुख्य है, उसके गुण हैं व्यवायी अर्थात् जल में डालने से उसकी समस्त सतह पर फैल जाता है। इसी प्रकार भोजन में लेने से वह समस्त शरीर को प्रभावित करता है। त्वचा के रोगों को उत्पन्न करता है, नेत्रों के लिये हानिकार होता है। उष्ण तथा कफ नाशक होता है। मुख द्वारा सेवन करने पर शरीर को कृश करने वाला होता है। परन्तु अभ्यंग द्वारा कृश मनुष्य को स्थूल बनाता है। यह मल को बाँधता है, कृमियों को नष्ट करता है। औषधियों द्वारा संस्कृत तैल अनेक रोगों का नाश करने वाला होता है।

शरीर में, सामान्य रूप से, चिकनाई की कमी होने से कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन का कुछ अंश स्नेह में परिवर्तित हो जाता है परन्तु यदि भोजन में स्नेह के अंश का अधिक समय तक अभाव रहता है तो (१) त्वचा शुष्क हो जाती है। (२) स्नेह विलेयित विटामिन ए, डी, इ तथा के, की अल्पता हो जाती है। (३) आवश्यक। वसा अम्लों की कमी के कारण एक्जीमा के समान त्वग रोग हो जाते हैं। (४) विटामिन ए की अल्पता के कारण त्वचा पर दाने जैसे उभार हो जाते हैं।

यदि भोजन में स्नेह का अंश अधिक होता है तब जो लक्षण शरीर में प्रकट होते हैं वे हैं (१) मेद की वृद्धि (obesity), (२) अन्न के पाचन में बाधा, विशेष रूप से बालकों में, (३) रक्त में कोलेस्टेरॉल की वृद्धि होने से वह रक्त वाहिकाओं में जमा हो जाता है जिस कारण रक्त प्रवाह में बाधा पड़ती है और एथिरोकाठिन्य (atheo-sclerosis ऐथिरोस्क्लेरोसिस) नामक हृद् रोग हो जाता है। (४) पित्ताशय में अधिक कोलेस्टेरॉल पित्ताश्मरी (gallstone) का कारण होता है। (५) मधुमेह के रोगी (diabetic) व्यक्तियों में अधिक स्नेह से एसीटोन पदार्थ अधिक बनते हैं जिससे रक्त में अम्लता की वृद्धि होने से मधुमेहज सन्यास (coma) तथा मृत्यु भी हो सकती है।

दूध (Milk)—शिशुओं और बच्चों के लिये दूध एक आदर्श आहार है तथा वयस्कों के लिये पूरक (supplementary) आहार है। दूध की प्रोटीन में समस्त आवश्यक (essential) एमीनो अम्ल होती है। अन्य आहार तत्व भी उचित अनुपात में होते हैं इसीलिये शिशुओं के लिये इसे पूर्ण आहार कहा जाता है। इसमें विटेमिन ए तथा डी अल्प मात्रा में तथा लौह अत्यन्त अल्प मात्रा में मिलते हैं। अतः जब शिशु कुछ मास का हो जाता है उसके आहार में दूध के अतिरिक्त ऐसे अन्य आहार द्रव्यों की

आवश्यकता हो जाती है जो उनकी विटेमिन एवं लौह आदि की आवश्यकताएँ पूरी कर सकें।

सभी दूधों का संगठन लगभग एक जैसा होता है जैसा नीचे दी जा रही सारिणी से प्रकट होता है। स्त्री दूध में अन्य दूधों की अपेक्षा दुग्ध शर्करा (लेक्टोज lactose) अधिक होती है। भैंस के दूध में घी सर्वाधिक होता है। गाय के दूध में स्त्री दुग्ध की अपेक्षा प्रोटीन अधिक होती है। दही में वे सब तत्व रहते हैं जो दूध में होते हैं। समस्त दूध (whole milk) के दुग्ध चूर्ण में केवल जल का अंश नहीं होता है। स्नेह रहित (skimmed) दुग्ध चूर्ण में चिकनाई का अभाव रहता है। दूध स्वस्थ पशु का ही लेना उचित है।

दुग्ध सारिणी

दूध	जलांश	प्रोटीन	स्नेह	कारबोहाइड्रेट	खनिज लवण	कैलोरी मूल्य
स्त्री	88·0	1·0	[illegible]	7·0	0·1	67
गाय	87·6	3·3	3·6	4 8	0·7	75
बकरी	85·2	3·7	5·6	4·7	0·8	84
भैंस	81·0	4·3	8 8	5·0	0 8	117
दही (गाय के दूध का)	90·3	2·9	2·9	3·3	0·6	51

पिछली सारणियो में प्रत्येक आयु एवं श्रम के कार्यों के अनुसार दूध की जो मात्रा दर्शायी गई है, वह न्यूनतम आवश्यक मात्रा है। भारत में दूध का उत्पादन जनसंख्या के अनुपात में अत्यन्त अल्प है अतः इन सारणियों में दर्शायी गई अल्पतम मात्रा भी सामान्य जन पूरी नहीं कर सकते हैं। शासन दूध देने वाले पशुओं की नस्ल के सुधार के लिए प्रयत्नशील है। गर्भवती स्त्रियों, स्तन्य पान कराती माताओं तथा शिशुओं को दूध अवश्य मिलना चाहिए। चीन, जापान तथा इण्डोनेशिया में दूध का अभाव सोयाबीन से दूध बनाकर पूरा कर लेते हैं। यहाँ भी ऐसा किया जा सकता है।

सोयाबीन (Soyabean) **से दूध बनाना**—सोयाबीन को 2-4 घन्टे जल में भीगने दिया जाय फिर उनको सुखाकर उनका छिलका उतार लिया जाय। छिलका उतर जाने के पश्चात् जो दाल रहती है वह काफी समय तक खराब नहीं होती है। ½ किलो ग्राम दाल को जल में रातभर भीगने दिया जाय अगर दाल नहीं है तो ¾ किलोग्राम सोयाबीन को भिगो दिया जाय और सुबह उसको मलकर उनका छिलका उतार दिया जाय फिर ½ चम्मच खाने का सोडा (sodium bicarbonate) डालकर, लगभग दस मिनट के लिए छोड़ दिया जाय। इससे सोयाबीन का कड़वापन तथा रंग दूर हो जाता है। उसे स्वच्छ जल से धोकर बारीक पीस लिया जाय। इस [illegible] 15 कप जल में घोलकर 15 मिनिट तक उबाल लिया जाय, फिर

बारीक कपड़े में छानकर ⅓ कप स्वच्छ नितारा हुआ चूने का पानी तथा आवश्यकतानुसार चीनी और जरा सा नमक मिलाकर व्यवहार में लाया जा सकता है।

कपड़े में छानने से जो फोक रह जाती है उसको अन्य उपयुक्त उपयोग में लाया जा सकता है। दही बनाने के लिए 4 कप दूध में 2 चम्मच ग्लूकोज या जरा सी चीनी मिलाकर दही का जामन लगा रातभर या 12 घण्टों के लिए जमने को रख दिया जाय। दही बन जायेगी इसी प्रकार मूँगफली का दूध तथा दही बनाई जा सकती है।

100 ग्राम	प्रोटीन	स्नेह	कारबोहाइड्रेट	कैलोरी मूल्य
सोयाबीन का दूध	4·2	2·5	3·2	51
मूँगफली का दूध	3·0	5·2	3·1	71

दूध को कुछ समय तक सुरक्षित रखने के तरीके :—

(I) उबालना (boiling): —सामान्यत: दूध को उबालकर रखा जाता है जिससे वह खराब नहीं हो। उबालने से (i) दूध की प्रोटीनें, एल्बुमिन तथा ग्लोबुलिन क्रमशः 160°F तथा 168°F पर स्कन्दन (coagulate) कर जाती हैं और मलाई के रूप में ऊपर सतह पर आ जाती है। इस मलाई में चिकनाई के अणु भी आकर रुक जाते हैं। (2) दूध के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। (3) विटेमिन 'सी' नष्ट हो जाता है तथा विटेमिन 'बी कम्प्लेक्स' के अधिकांश विटेमिन नष्ट हो जाते हैं। एवं (4) केसिनोजन (caseinogen) शीघ्र पचने योग्य हो जाती है।

(II) पाश्चुरीकरण (pasteurisation) :—बोतल में भरकर दूध विक्रय करने वाले विशेष रूप से इस विधि को प्रयोग में लाते हैं। इस विधि में दूध को 145-150°F तापमान पर लगभग 30 मिनिट तक रखते हैं। इससे उसमें उपस्थित हानिकारक जीवाणु आदि नष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात् दूध को शीघ्रता से 55°F तापमान पर लाकर ठण्डा करते हैं। इस प्रकार दूध के एन्जाइम नष्ट नहीं होते हैं और ना ही उसके स्वाद, गन्ध तथा पोषक तत्वों में किसी प्रकार का अन्तर आता है। दूध में जो लेक्टिक अम्ल बेसीलाई (lactic acid bacilli) होते हैं वे भी नष्ट हो जाते हैं इस प्रकार दूध खट्टा नहीं होता है और जमता भी नहीं है।

(III) फ्लेश विधि—इस विधि में दूध को 72°C (162°F) पर 15–17 सेकेण्ड तक गर्म कर तुरन्त ठण्डा कर लिया जाता है। इससे जीवाणु तो नष्ट हो जाते हैं परन्तु लेक्टिक अम्ल बेसीलाई नष्ट नहीं होते हैं जिससे दूध का दही जमाया जा सकता है। रखे रहने पर वह खट्टा नहीं हो इसके लिए उसे ठण्डा रखना आवश्यक है। पोलीथीन की थैलियों एवं बोतलों में आजकल इस दूध का वितरण अधिक होता है।

दूध के द्वारा होने वाले रोग—दूध के द्वारा दो प्रकार से रोगों के कीटाणु मनुष्यों में पहुँचते हैं।

(1) रोग के कीटाणु पशु के शरीर से दूध के साथ आते हैं।

(2) दूध दुहते समय रोग के कीटाणु बाहर से दूध में पहुँचते हैं।

(1) (i) यदि गायें क्षय रोग से पीड़ित हैं तो क्षय के जीवाणु गाय के दूध में आ जाते हैं। उस दूध के सेवन से ये जीवाणु व्यक्तियों में पहुँच जाते हैं। ये जीवाणु क्योंकि मनुष्य के मुख द्वारा शरीर में पहुँचते हैं नासिका मार्ग से श्वास के साथ नहीं अतः फुफ्फुसीय क्षय (pulmonary tuberculosis) की सम्भावना लगभग नहीं होती है। अन्त्रक्षय, अस्थिक्षय, तंत्रिका क्षय, लसिकाग्रन्थि क्षय आदि अंगों का क्षय हो सकता है।

(ii) खट्टे दूध के सेवन से वमन (vomiting), आध्मान (flatulance) तथा अतिसार (diarrhoea) आदि हो जाता है। शिशु की तो इन रोगों से मृत्यु भी सम्भव है।

(iii) यदि पशु माल्टा (malta) रोग से पीड़ित है तो इस रोग के जीवाणु उसके दूध द्वारा मनुष्य में पहुँच उसे रोग ग्रसित कर देते हैं।

(2) (i) यदि पशु के थनों को दूहने से पूर्व भली भाँति साफ नहीं किया जाता है तो उनके द्वारा भी रोगों के जीवाणु दूध में आ जाते हैं।

(ii) दूध दूहने वाले के हाथ आदि यदि साफ नहीं हैं अथवा बर्तन साफ नहीं है या उसे गन्दे जल से साफ किया गया है तो भी रोग के जीवाणुओं की दूहते समय दूध में पहुँच जाने की सम्भावना रहती है।

(iii) दूध में मिलावट के लिए गन्दे जल को व्यवहार में लाने से भी दूध में हानिकारक जीवाणु प्रवेश पा जाते हैं।

(iv) यदि दूध दूहने का स्थान गन्दा है तो वायु एवं धूल के द्वारा हानिकारक जीवाणु दूध में पहुँच सकते हैं।

इस प्रकार दूध के द्वारा क्षय, टाइफाइड (मन्थर ज्वर, पैराटाइफाइड, हैजा (cholera), प्रदाहिका (पेचिश dysentery), रोहिणी (diphtheria), स्कारलेट ज्वर तथा पैर एवं मुख आदि रोगों के जीवाणु मनुष्य के शरीर में पहुँच कर उन रोगों के कारण होते हैं।

बचने के उपाय—इन हानियों से बचने के लिए—

(1) रोगी पशु का दूध व्यवहार में न लाया जाय। (2) पशुओं के रहने तथा दूध दूहने के स्थान साफ रखे जाय। (3) दूध को दूहने वाला तथा दूध दूहने का पात्र स्वच्छ होना चाहिए। (4) दूध को व्यवहार में लाने से पूर्व कम से कम दस मिनिट तक खौला लिया जाय जिससे जीवाणु पूर्णतया नष्ट हो जाय।

माँस वर्ग (Meat & Fishes)

आहार द्रव्यों में माँस की आवश्यकता केवल प्रोटीन के लिए होती है। माँस में आवश्यक (essential) एमीनो अम्ल पर्याप्त मात्रा में होते हैं। क्योंकि माँस की प्रोटीन वनस्पतिजन्य प्रोटीन से उत्तम मानी जाती है। परन्तु जैसा हम

पिछले पृष्ठों में कह आये हैं कि मिश्रित शाकाहार से यह कमी पूरी की जा सकती है। यदि हम अपने आहार में गेहूँ, चावल तथा दालें उचित मात्रा में लेते रहें तो मांसाहार की आवश्यकता नहीं रहती है। विटामिन बी$_{12}$ की प्राप्ति केवल प्राणिजन्य द्रव्यों से ही होती है। अतः उसकी पूर्ति दूध से की जा सकती है। माँस स्वस्थ पशु अथवा पक्षी का ही लेना चाहिये।

आहार के लिए माँस को लेने से पूर्व देख लेना चाहिये कि वह सड़ा गला तो नहीं है। अच्छे स्वस्थ माँस की पहिचान है कि पेशियाँ गहरे लाल वर्ण की हों तथा संयोजक ऊतकों (connective tissues) में वसा (fat) पर्याप्त हो, प्रतिक्रिया में अम्लीय, स्पर्श में दृढ़ (firm) तथा प्रत्यास्थ (elastic) हो। इसमें सड़न तथा अप्रिय गन्ध भी नहीं होनी चाहिए, वसा (fat) श्वेत अथवा कुछ पीत वर्ण की हो और माँस में किसी प्रकार के परजीवी (parasite) तथा फीताकृमि (tapeworms) नहीं होने चाहिए। सामान्यतः बैल और सुअर के माँस में फीताकृमि के पुटी (tapeworm cysts); बैल के माँस में एक्टिनोमाइसीज इजरायेली/ए-वोविस (actinomyces israelii/A-vovis); सूअर के माँस में ट्रिचिनेला स्पोरेलिस (trichinella spiralis) के पुटी (cysts) तथा भेड़ के माँस में यकृत पर्णकृमि (यकृत फ्लूक liver flukes) मिलते हैं। माँस को भली-भाँति पकाने से ये नष्ट हो जाते हैं।

यदि माँस बासी अथवा सड़ा हुआ है तो उसको आहार में नहीं लेना चाहिये। सड़न प्रारम्भ होने पर माँस का वर्ण पीला अथवा हरेपन लिये हुए पीला हो जाता है। प्रतिक्रिया में क्षारीय हो जाता है तथा उसमें सड़ने की गन्ध आने लगती है। सड़न अन्दर अस्थियों के समीप से प्रारम्भ होती है। अतः माँस में लोहे की शलाका घुमाकर गन्ध देख लेनी चाहिये।

बासी अथवा सड़ा हुआ माँस लेने से वमन, अन्त्रपीड़ा, अतिसार (diarrhoea), शूल (colic), उद्वेष्ट (ऐंठन cramps) तथा गम्भीर अवसन्नता (prostration) हो जाता है। अधिक सड़े माँस के सेवन से मृत्यु तक हो जाती है। रोगी पशु का माँस भी सेवन करने योग्य नहीं होता है।

विभिन्न प्रकार के माँस के गुण

बैल का माँस—शुष्क कास, श्रम, अति अग्नि, विषमज्वर, पीनसरोग, शारीरिक कृशता तथा वायुवेग को शान्त करता है। गाय का माँस निन्दित होता है।

भैंसे का माँस—गुरु, उष्ण, स्निग्ध, नींद लाने वाला तथा शरीर को पुष्ट करने वाला होता है।

बकरे का माँस—न अधिक उष्ण और न अधिक शीतल, दोषों में साम्यता बनाये रखने वाला तथा शरीर को पुष्ट करने वाला होता है।

भेड़ का माँस—बकरे के माँस के विपरीत गुण वाला होते हुए भी शरीर को पुष्ट करता है।

सूअर का माँस—गुरु, स्निग्ध, उष्ण, नींद लाने वाला, पुष्टिकारक, रुचि, बल तथा शुक्र की वृद्धि करने वाला होता है।

कबूतर का माँस—गुरु, ईषत् लवण, त्रिदोषकारक, कषाय एवं शीत होता है।

मुर्गे का माँस—स्निग्ध, उष्ण, शुक्र-माँस-स्वर-बल तथा स्वेद को बढ़ाने वाला होता है।

मछली का माँस—पचने में भारी, उष्ण, मधुर, बल एवं माँस वर्धक तथा वात नाशक होता है। यह सफेद माँस (white meat) कहलाता है। मछली के माँस में स्नेह (fat) का अंश अत्यन्त अल्प होता है इस कारण रक्त में कोलेस्ट्रॉल (cholestrol) की वृद्धि नहीं होती है अतः हृद-रोगियों के लिए उपयोगी मांस है।

अण्डे (eggs)—अण्डों में विटामिन 'सी' के अतिरिक्त लगभग अन्य सब पोषक तत्व होते हैं। अण्डे की प्रोटीन श्रेष्ठ प्रोटीन मानी गई है क्योंकि वह सरलता से पच जाती है। कच्चे अण्डे की सफेदी में एविडिन (avidin) नामक प्रोटीन होता है जिसके कारण बायोटिन (biotin) नामक विटेमिन का शोषण नहीं होता है। बत्तख के अण्डे की सफेदी में एक अन्य पदार्थ होता है जो ट्राइप्सिन (trypsin) नामक एन्जाइम के कार्य में बाधा डालता है। इसलिए इस पदार्थ को ट्राइप्सिन संदमक (inhibitor) कहते हैं। अण्डे को उबालने से एविडीन तथा ट्राइप्सिन संदमक दोनों नष्ट हो जाते हैं। अण्डे की सफेदी में केवल प्रोटीन और विटेमिन बी कम्प्लेक्स होते हैं एवं जर्दी में प्रोटीन, स्नेह, (लेसीथिनबाहुल्य), विटेमिन ए तथा बी कम्प्लेक्स होते हैं।

सारिणी (प्रति 100 ग्राम में)

नाम माँस	जल अंश ग्राम	प्रोटीन ग्राम	स्नेह ग्राम	कारबोहाइड्रेट ग्राम	खनिज लवण ग्राम	ऊर्जा कैलोरी
बैल का	74·3	22·6	2·6	—	1·6	114
भैंसे का	78·7	19·4	0·9	—	1·0	86
बकरे का	74·2	21·4	3·6	—	1·1	118
भेड़ का	71·5	18·5	3·3	—	1·3	194
सूअर का	77·4	18·7	4·4	—	1·0	114
कबूतर का	70·2	23·3	4·9	—	1·4	137
अण्डा—						
मुर्गी का	73·7	13·3	13·3	—	1·0	173
बत्तख का	71·0	13·5	13·7	0·7	1·0	180

मसाले (Condiments & Spices)—मसाले सहायक आहार द्रव्य कहलाते हैं। ये भोजन को स्वादिष्ट बनाते हैं। ये इतनी कम मात्रा में व्यवहार में लाए जाते हैं कि अन्य प्रभाव शायद ही डाल पाते हैं अन्यथा हरी मिर्च विटेमिन 'सी' में तथा हल्दी और धनिया लौह में धनी होते हैं। हल्दी जीवाणु नाशक तथा धनिया

ज्वर हरण का गुण रखते हैं। लहसुन तथा हींग वृहदन्त्र में सड़न (putrefaction) को रोकते हैं।

पेय (Beverages) द्रव्य

पेय द्रव्यों में (१) चाय, कॉफी तथा कोको (२) शर्बत, फलों का रस तथा स्क्वेश (३) बीयर, ताड़ी, शराब आदि पेय आते हैं। यहाँ चाय, कॉफी, कोको तथा शराब आदि का वर्णन किया जा रहा है।

चाय (Tea)—आजकल भारत में चाय का प्रचलन सर्वत्र हो गया है। इसमें 6–12 प्र० श० टेनिक अम्ल (tannic acid), 1–6 प्र० श० केफीन (caffine) 0·6 प्र०श० वाष्पशील (volatile) तेल तथा सूक्ष्म मात्रा में थियोफाइलीन (theophyline) होते हैं। चाय को खोलते हुए जल में डालने से कैफीन आदि जल में आ जाते हैं। गन्ध वाष्पशील तैल के कारण होती है। आजकल ऊपर से भी गन्ध मिलाते हैं जिस कारण विभिन्न ब्राण्डों की चाय का स्वाद विभिन्न होता है। यदि पत्तियों को अधिक समय तक जल में रहने दिया जाता है अथवा चाय डालकर जल को जितने अधिक समय तक खौलाया जाता है, उतना ही अधिक टेनिक अम्ल जल में आ जाता है। टेनिक अम्ल पाचन के लिए हानिकर है। टेनिक अम्ल का टेनिन आहार के एल्बूमिन (albumin) को स्कन्दित (coagulate) कर देता है जिस कारण उसके पाचन में कठिनाई हो जाती है। इस प्रकार बनाई गई चाय का लगातार सेवन करते रहने से अपच (indigestion), नींद न आना (insomnia) तथा तन्त्रिका दौर्बल्य (neurasthenia न्यूरेस्थीनिया) हो जाता है। कम मात्रा में चाय को लेने से कैफीन के कारण उत्तेजना (stimulation) मिलती है, जिससे थकान दूर हो जाती हैं।

कॉफी (Coffee)—कॉफी के बीजों को भूनकर तथा चूर्ण बनाकर चाय की तरह व्यवहार में लाते है। कॉफी में 1-2 प्र० श० कैफीन, अल्प मात्रा में वाष्प तैल केफीऑल (Caffeol), टेनिक अम्ल, अत्यन्त अल्प मात्रा में स्नेह (fat) एवं शर्करा होती है।

कैफीन के कारण कॉफी लेने से भी उत्तेजना की प्राप्ति होती है। इसमें टेनिक अम्ल की मात्रा चाय की अपेक्षा अधिक होती है। स्वाद केफीऑल के कारण होता है इसीलिए चाय से भिन्न है। चाय के समान कॉफी के अधिक उपयोग से निद्रा नाश, हृद्गति में वृद्धि (palpitation), तन्त्रिका दौर्बल्य आदि हानिकर प्रभाव शरीर पर पड़ते हैं।

कोको (Cocoa)—कोको के बीजों को भूनकर तथा पीसकर कॉफी के समान ही व्यवहार में लाते हैं। इसमें उत्तेजना उत्पन्न करने वाला कैफीन के समान गुण वाला पदार्थ थियोब्रोमीन (theobromine) होता है। यह कैफीन की अपेक्षा प्रभाव में कुछ मृदु होता है। इस कारण यह चाय तथा कॉफी की अपेक्षा कम उत्तेजना प्रदान करता है। इसमें शर्करा तथा उपयुक्त गन्ध आदि मिलाकर चॉकलेट आदि बनाते हैं।

चाय की अपेक्षा दूध एवं शर्करा कॉफी में अधिक डाले जाते हैं तथा कॉफी से अधिक कोको में डालते हैं। चाय, कॉफी तथा कोको का आहार मूल्य लगभग शून्य है। अतः ऊर्जा उत्पादन नहीं होता है। इनका आहार मूल्य केवल शर्करा एवं दूध के कारण है।

शराब (मद्य, सुरा, alcohol, wines, liquors, spirits etc.)

ओज द्वारा शरीर को बल प्राप्त होता है जिससे साहस की उत्पत्ति होती है तथा शरीर की व्याधि क्षमता बनी रहती है। ओज को नष्ट करने वाला द्रव्य शराब है। संहिता ग्रन्थों में ओज के जिन गुणों का वर्णन किया गया है। शराब में उसके विपरीत गुण होते हैं।

(१) शराब का **लघु गुण** ओज के **गुरु गुण** को नष्ट करता है।
(२) " **उष्ण** " **शीत** " "
(३) " **अम्ल** " **मधुर** " "
(४) " **तीक्ष्ण** " **मृदु** " "
(५) " **रुक्ष** " **स्निग्ध** " "
(६) " **व्यवायी** " **स्थिर** " "
(७) " **विकासी** " **श्लक्ष्ण** " "
(८) " **विशद** " **पिच्छिल** " "
(९) " **सूक्ष्म** " **बहल** " "
(१०) " **आशुम** " **निर्मल** " "

इस प्रकार शराब सेवन करने से शरीर का बल एवं व्याधिक्षमत्व शक्ति नष्ट हो जाती है। यह मन और शरीर दोनों को विकृत कर ज्ञान, विज्ञान की शक्ति को नष्ट करती है।

शराब को पाचन की आवश्यकता नहीं होती है। आमाशय में पहुँचकर आन्त्रभित्ति द्वारा अवशोषित हो रक्त वाहिकाओं में पहुँच जाती है। परिणामस्वरूप हृद्गति बढ़ जाती है, श्वासगति तीव्र हो जाती है, लघु रक्तवाहिकायें विस्फार (dialate) कर जाती हैं, पाचन क्रिया ठीक प्रकार से नहीं होती है। अधिक सेवन से आन्त्रमार्ग (elementary tract) व्यपजन (degenerate) कर जाता है। इससे जठरशोथ (gastritis), आन्त्रीय अभिष्यन्द (interestinal cattarah), याकृत सिरोसिस (cirrhosis of liver), वृक्क रोग आदि हो जाते हैं एवं मनुष्य समय से पूर्व ही मृत्यु की ओर अग्रसर हो जाता है।

दो प्रतिशत के लगभग शराब श्वास मार्ग से निकल जाती है। इसी कारण शराबी के मुख से शराब की गन्ध आती है। शेष ऑक्सीकृत (oxidised) हो जाती है। अत्यधिक शराब के सेवन से मूत्र द्वारा भी इसका निष्कासन देखा गया है। अधिक लेते रहने से यह मनुष्य को अवसामित (depressed) करती है। इससे तन्त्रिकातन्त्र का घात (paralysis) हो जाता है और अहिफेन (अफीम-opium) के लक्षणों के समान [illegible] लक्षण प्रकट हो जाते हैं। 100 मिलीलीटर रक्त में शराब

के 350–400 मि० ग्रा० के हिसाब से पहुँचने पर वह मात्रा व्यक्ति को चेतनारहित (unconscious) करने के लिए पर्याप्त है।

प्राचीन काल से ही मनुष्य शराब को जौ, धान, गुड़ आदि से बनाता चला आ रहा है। आज भी उत्पत्ति पदार्थ की विभिन्नता के कारण इसमें एल्कोहल का प्रतिशत विभिन्न होता है जिससे इसको विभिन्न नामों से पुकारते हैं। यथा—

वीयर (beer) में एल्कोहल 3·5 से 5·0 प्रतिशत होता है.
ताड़ी (taddy) में '' 3·5 से 7·0 ''
वाइन (wine) में '' 10·0 से 16·0 ''

वाइन में स्प्रिट मिलाने से एल्कोहल 17 से 23% तक हो जाती है।

स्प्रिट (ब्राण्डी, जिन, रम, व्हिस्की) में एल्कोहल 35 से 45% अथवा अधिक होता है।

वीयर आदि हल्की शराब—जौ के किण्वीकरण (fermentation) से जो हल्की शराब बनती है उसे वीयर कहते हैं। सेव के रस से बनने वाली हल्की शराब को साइडर (cider), नाशपाती के रस से बनने वाली हल्की शराब को पेरी (perry) कहते हैं।

वाइन—यह मीठे फलों के रस के किण्वीकरण से तैयार होती है। किण्वीकरण में एल्कोहल की मात्रा जब लगभग 15% पहुँचती है तब अधिक तेज करने के लिए ऊपर से स्प्रिट मिलाते हैं। इसकी विभिन्न किस्मों के नाम हैं—बरगण्डी (burgundy) लाल रंग की फ्रांस की वाइन, क्लोरेट (cloret) इंगलैण्ड की लाल रंग की वाइन, शेम्पन (champagne) फ्रांस की सफेद रंग की वाइन, पोर्टवाइन (port wine), पुर्तगाल की लाल रंग की वाइन, शेरी (sherry) स्पेन की प्रसिद्ध वाइन आदि।

स्प्रिट, ब्राण्डी (brandy)—इसमें एल्कोहल की मात्रा लगभग 45% होती है। इसे अंगूरों से बनाया जाता है। रंग के लिए शर्करा को जलाकर मिला देते हैं। इसमें विशेष गन्ध के लिए निर्माणकर्त्ता ऊपर से गन्ध मिला देते हैं।

जिन (gin)—इसमें एल्कोहल 40% के लगभग होती है और इसे अंकुरित जौ से बनाते हैं। सुगन्ध के लिए इलायची आदि सुगन्धित द्रव्य डालकर स्रवण (distil) करते हैं।

रम (rum)—इसमें एल्कोहल 50% के लगभग होती है तथा इसे शीरे से बनाते हैं।

विस्की (whisky)—इसमें एल्कोहल 45% के लगभग होती है। इसे जौ, धान आदि अनाजों के किण्वीकरण से बनाते हैं। यह जितनी पुरानी होती है अच्छी मानी जाती है। दो वर्ष से पूर्व की व्यवहार करने पर उसमें अरुचिकर गन्ध आती है।

३१

शिशुओं का आहारादि

स्तन्यपान के समय शिशु अपनी प्रोटीन की आवश्यकता अपनी माता के दूध से प्राप्त कर लेता है । अत: इस समय माता के आहार में पर्याप्त प्रोटीन होनी चाहिये । यदि माता के आहार में पर्याप्त प्रोटीन नहीं है तो भी शिशु दूध के रूप में आवश्यक प्रोटीन प्राप्त कर लेता है । परिणामस्वरूप माता के शरीर में प्रोटीन की कमी हो जाने से वह और दुर्बल हो जाती है । इसलिए स्तन्यपान कराने वाली माताओं को अपने भोजन में पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन अवश्य लेते रहना चाहिये । प्रोटीन प्राप्ति का सबसे सुलभ साधन दूध है चाहे चिकनाई निकला (skimmed) दूध ही क्यों न लिया जाय । इसके अतिरिक्त प्रोटीन दाल, माँस, मछली, अण्डों से प्राप्त हो सकती है ।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने शिशुओं की आयु के अनुसार प्रोटीन एवं कैलोरी की आवश्यकता के सम्बन्ध में नीचे दी जा रही सारणी के अनुसार सुझाव दिये हैं ।

आयु	प्रति किलोग्राम शरीर भार के अनुसार कैलोरी की आवश्यकता	प्रति किलोग्राम शरीर भार के अनुसार प्रोटीन की आवश्यकता
0 से 3 मास	120 कैलोरी	2·22 ग्राम
3 से 6 ,,	115 ,,	1·88 ,,
6 से 9 ,,	110 ,,	1·63 ,,
9 से 12 ,,	105 ,,	1·44 ,,
1 से 2 वर्ष	114 ,,	1·25 ,,
2 से 3 ,,	107 ,,	1·15 ,,
3 से 4 ,,	103 ,,	1·10 ,,
4 से 5 ,,	100 ,,	0·95 ,,
5 से 10 ,,	81 ,,	0·89 ,,

सारणी में जो प्रोटीन की मात्रा दी गई है वह जान्तव प्रोटीन की है । यदि वनस्पतिजन्य प्रोटीन ली जाये तो कुछ अधिक मात्रा लेनी चाहिये । एक आउन्स

(20·35 ग्राम) माता का दूध 30 कैलोरी ऊर्जा प्रदान करता है । दो मास के शिशु को प्रतिदिन 600 मिली लीटर माता का दूध चाहिये । भारत में स्त्री जन्य दूध सामान्यत: 450-700 मिलीलीटर होता है । अत: केवल माता के दूध पर शिशु 6 मास ही काट सकता है और उसके पश्चात् शिशु को माता के दूध के अतिरिक्त पूरक आहार चाहिये ।

शिशु को प्रथम कुछ दिनों तक प्रतिदिन प्रत्येक तीन घण्टे बाद स्तन्यपान कराना चाहिये फिर 3-4 मास तक प्रतिदिन 6 बार, उसके पश्चात् प्रतिदिन 5 बार एक वर्ष की आयु तक देते रहना चाहिये । सारिणी में जो औसत प्रोटीन मात्रा दी गई है वह औसत भार वाले शिशु के लिये है । यदि शिशु का भार कम अथवा अधिक है उसी के अनुसार प्रोटीन एवं कैलोरी निश्चित कर लेनी चाहिये । विश्व स्वास्थ्य संगठन ने संसार भर के अनुसन्धान करने के पश्चात् घोषणा की है कि **माता के स्तन्यपान से प्राप्त दूध शिशु के लिए सर्वोत्तम है तथा पाउडर दूध से दूध बनाकर देना अर्थात् डिब्बे का दूध देना सबसे निकृष्ट है** । संसार में अधिकांश शिशुओं की मृत्यु दुग्ध चूर्ण द्वारा पोषण के कारण होती हैं ।

माता का दूध शिशु के लिये पर्याप्त है अथवा नहीं । इसको जानने के लिये दो उपाय हैं—(1) स्तन्यपान से पूर्व तथा पश्चात् शिशु का भार लिया जाये । इन भारों में जो अन्तर आता है वह दूध का भार होता है । (२) माता का दूध पृथक से निकाल कर मापन कर लिया जाये । सबसे अच्छी पद्धति है कि यदि शिशु का भार 120 ग्राम के लगभग प्रति सप्ताह बढ़ रहा है तो शिशु को मिलने वाली दूध की मात्रा पर्याप्त है । यदि इस हिसाब से भार नहीं बढ़ रहा है तो दूध की मात्रा कम है ।

यदि माता का दूध पर्याप्त मात्रा में शिशु को नहीं मिल रहा है तो उसको गाय, बकरी अथवा भैंस का दूध देना चाहिये । भैंस के दूध में चिकनाई अधिक होती है अत: आधा भैंस का शुद्ध दूध लेकर समान मात्रा में चिकनाई निकाला हुआ दूध मिलाकर शिशु को देना चाहिये । दुग्ध चूर्ण से दूध बना कर उसी दशा में देना चाहिये जबकि गाय, बकरी अथवा भैंस का दूध नहीं मिलता है । दुग्ध चूर्ण समस्त दूध के चूर्ण वाला (whole milk powder) लेना चाहिये ।

दूध में लौह की अति अल्पता होती है । अत: यदि बाहर का दूध देना है तो उसे लोहे की साफ कढ़ाई में उबाल कर देने पर आवश्यक लौह मिल जाता है । विटेमिन सी की कमी की पूर्ति के लिए शिशु को दूसरे मास में सन्तरे, मौसम्बी अथवा पके टमाटर का 2½ चम्मच (10 मिली लीटर) रस प्रतिदिन देना चाहिये । शिशु को विटेमिन ए की पूर्ति के लिए 15वें दिन के पश्चात् से 2 बूँदें कॉड लिवर ऑयल अथवा शार्क लिवर आयल की प्रतिदिन देना प्रारम्भ कर धीरे-धीरे बढ़ाते हुए दूसरे मास के अन्त तक एक चाय के चम्मच तक पहुँच जाना चाहिये । इसके द्वारा शिशु को विटेमिन बी की प्राप्ति भी हो जाती है एवं मात्रा (quantity) भी

कम देनी होती है अन्यथा शिशु के आहार में प्रोटीन को बढ़ा देने से भी विशेष लाभ नहीं होता है क्योंकि अपर्याप्त भोजन में प्रोटीन का अधिकांश भाग ऊतकों (tissues) के निर्माण में काम न आकर ऊर्जा (energy) उत्पादन के कार्य में लग जाता है। एक वर्ष से 5 वर्ष के बच्चों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि आर्थिक दृष्टि से कमजोर परिवारों में 70 प्रतिशत बच्चे कैलोरी की कमी से ग्रसित थे और केवल 30 प्रतिशत ही ऐसे बच्चे थे जो प्रोटीन के अभाव से ग्रसित थे। इन प्रोटीन से ग्रसित बच्चों को यदि पूरी मात्रा में खुराक की प्राप्ति होती तो शायद ये प्रोटीन के अभाव से रोगी नहीं रहते।

विटेमिन ए के अभाव का प्रभाव

(i) दृष्टि हानि (Blindness)—यद्यपि विटामिनों के अभाव में मृत्यु संख्या अत्यन्त अल्प होती है परन्तु बालक शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से जन्म भर के लिये अशक्त (cripple) हो जाता है। भारत में विटेमिन 'ए' की कमी के कारण दृष्टि हानि बहुत मिलती है। यदि शुरू में सावधानी बरती जाय तो यह हानि रोकी जा सकती है। विटेमिन ए की कमी से नेत्र श्लेष्मला (conjunctiva) शुष्क तथा द्युतिहीन (lustureless) हो जाती है। बालक को मन्द प्रकाश में देखने में कठिनाई होती है, रात्रि में वस्तुयें बिल्कुल अस्पष्ट दिखाई देती हैं। अधिक दिनों तक यदि यही हालत रहती है तो नेत्र श्लेष्मला अपारदर्शक हो जाती है, स्वच्छ मण्डल (cornea) विवरित (rupture) कर जाता है फिर चिकित्सा असम्भव हो जाती है। बालक सदैव के लिये अन्धा हो जाता है। दक्षिण भारत तथा बंगाल वनस्पति तैल सेवन करने वाले क्षेत्र हैं। वनस्पति तैलों में विटेमिन ए का अभाव होता है। अतः वहाँ पर, इस प्रकार के रोगी, अधिक देखे जाते हैं। वैसे विटेमिन ए मक्खन, अण्डे, यकृत आदि में अत्यधिक होता है और हरी पत्ती वाली वनस्पतियों में कैरोटीन होता है। शाक के पत्ते जितने अधिक हरे होते हैं कैरोटीन की मात्रा उतनी ही अधिक होती है। ऐसी पत्तियों का 50 ग्राम रस प्रतिदिन विटेमिन ए की पूर्ति के लिये पर्याप्त होता है। गर्भवती माताओं को इस विटेमिन की अति आवश्यकता होती है। विटेमिन ए का अधिक अंश गर्भ शिशु के यकृत में संग्रहीत हो जाता है।

बच्चों को पाँच वर्ष की आयु तक प्रति 6 मास बाद 2 लाख यूनिट विटेमिन ए की एक मात्रा मुख से देना 6 मास के लिये पर्याप्त होता है। यह मात्रा 6 मास से पूर्व नहीं देनी चाहिये। इस विटेमिन का शरीर की तुरन्त की आवश्यकता से अधिक अंश यकृत में संग्रहीत हो जाता है। वयस्कों में इस विटेमिन की अल्पता इतनी तीव्र नहीं होती है जितनी बच्चों में होती है। अतः वयस्कों को एक बड़ी मात्रा मुख से देने में कोई लाभ नहीं होता है।

(ii) अरक्तता (Anaemia)—स्त्रियों में मासिक धर्म के कारण रक्त के साथ लौह अंश काफी निकल जाता है। यदि लौह की पूर्ति नहीं होती है तो उनमें अरक्तता हो जाती है। गर्भावस्था में तो अरक्तता और अधिक हो जाती है। अरक्तता

को दूर करने के लिये हरी सब्जियों को प्रतिदिन काफी मात्रा में लेते रहना चाहिए। अधिक अरक्तता होने पर लौह लवणों को लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में शिशु जन्म के पश्चात् भी लौह लवण तथा फॉलिक अम्ल का उचित मात्रा में माता को सेवन करते रहना चाहिये।

कुपोषण (Malnutrition) के कारण स्वास्थ्य हानि

भारत में आर्थिक दृष्टि से कमजोर परिवारों को पर्याप्त पोषण मिलता है। अपर्याप्तता दोनों प्रकार से होती है—(१) अपर्याप्त भोजन की मात्रा (quantity) तथा (२) अपर्याप्त किस्म (quality) के कारण। आधारीय ऊर्जा की न्यूनतम प्राप्ति भी इन परिवारों में अधिकांश को नहीं होती है। इनके आहार में प्रोटीन अपनी न्यूनतम सीमा पर तथा विटेमिन एवं खनिज लवण अपर्याप्त मात्रा में होते हैं। इस कारण देश के अधिकांश व्यक्ति कुपोषित स्थिति में रहते हुए जीवनयापन करते हैं। इससे उनमें रोग क्षमता का ह्रास हो जाता है और वे संक्रामक रोगों के सरलता से शिकार हो जाते हैं। शिशुओं, बच्चों, गर्भवती स्त्रियों तथा स्तन्यपान कराती माताओं में अत्यन्त क्षीणता के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। राष्ट्रीय पोषण संस्थान (National Institute of Nutrition) के कथन को ही हमने ऊपर उद्धृत किया है। संस्थान के सर्वेक्षण के द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार हमारे स्वास्थ्य ह्रास के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) **प्रोटीन एवं कैलोरी कुपोषण**—भारत में अधिकांश शिशुओं में पर्याप्त प्रोटीन तथा आवश्यक ऊर्जा (कैलोरी) का अभाव रहता है। इस कारण हमारे यहाँ शिशु एवं बाल मृत्यु दर सबसे अधिक है। बाल्यावस्था में प्रोटीन की कमी न केवल बच्चों के शारीरिक गठन को प्रभावित करती है वरन् उनके मानसिक स्वास्थ्य को भी प्रभावित करती है। एक वर्ष की आयु से पाँच वर्ष की आयु के बच्चे इससे सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। शिशु अवस्था में माता के स्तन्य पान से उसे आवश्यक प्रोटीन की प्राप्ति होती रहती है। परन्तु जिन माताओं में पर्याप्त दूध नहीं होता है उनके शिशु इस अवस्था मे भी प्रोटीन अपर्याप्तता से ग्रसित रहते हैं। 6 मास के पश्चात् शिशु केवल माता के स्तन्य पर ही निर्भर नहीं रह सकता है। उसको पूरक आहार की आवश्यकता हो जाती है, अन्यथा शिशु में दो प्रकार के रोगों के लक्षण प्रकट हो जाते हैं—(१) **क्वाशिओरकोर** (Kwashiorkor)—इस रोग के लक्षण हैं—वृद्धि का रुक जाना, अतिसार (diarrhoea), बालों के वर्ण का हल्का हो जाना, बालों की उत्पत्ति में कमी होना, त्वचा के वर्ण में परिवर्तन (discolouration) हो जाना, त्वचा पर परतों का उतरना (peeling), अरक्तता (anaemia), शोथ (oedema) विशेष रूप से टाँगों और हाथों पर तथा रुचि का अभाव होना। ये सब लक्षण इस रोग में होते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ये समस्त लक्षण एक साथ प्रकट हों अथवा समस्त ऐसे बच्चों में सभी लक्षण हों। (२) **सूखा रोग** (**मरास्मस–Marasmus**)—इस रोग में शिशु की वृद्धि तो रुक ही जाती है साथ ही

साथ शरीर की माँसपेशियाँ अत्यन्त क्षीण हो जाती हैं। शिशु की त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं।

ये सब लक्षण प्रोटीन के अभाव के कारण ही नहीं होते हैं वरन् अपर्याप्त कैलोरी के कारण भी होते हैं। इन बच्चों में भोजन की मात्रा, रक्त में फॉलिक अम्ल तथा विटेमिन बी$_{12}$ की कमी के कारण एक अन्य प्रकार की अरक्तता हो जाती है जिसे महालोहितप्रसु अरक्तता (megaloblastic anaemia) कहते हैं। लौह अल्पता से अरक्तता की अपेक्षा यह अरक्तता बहुत कम होती है। इसका सामान्य कारण है कि विटेमिन बी$_{12}$ वनस्पतियों में नहीं होता है वह केवल जान्तव द्रव्यों में ही होता है। अतः जो शाकाहारी जान्तव द्रव्यों यथा दूध, दही आदि का सेवन नहीं कर पाते हैं उन्हें प्रायः यह अरक्तता हो जाती है। माँसाहारी तो मांस, अण्डे आदि से इसकी पूर्ति कर लेते हैं। माता में इस विटेमिन की कमी उसके दूध में भी कमी का कारण होती है और स्तन्यपान करने वाले शिशु में अरक्तता के लक्षण आ जाते हैं।

(२) **विटेमिन अल्पता के कारण अन्य रोग**—विटेमिन बी कम्प्लेक्स की कमी भी व्यक्तियों में देखने को मिल जाती है। मुख और जिह्वा पर छाले अथवा व्रण का होना, ओष्ठकोणों का फट जाना अथवा व्रण हो जाना आदि लक्षण कुपोषित बच्चों और वयस्कों में मिलते हैं ये लक्षण राइबोफ्लेविन की कमी के कारण होते हैं। भोजन में चावल की प्रधानता वाले क्षेत्रों में विटेमिन थायमीन की अल्पता से बेरीबेरी रोग के लक्षण मनुष्यों में मिल जाते हैं। ऐसे स्थानों पर सेला (parboiled) चावल लेना चाहिये। इसी प्रकार मक्का तथा ज्वार को प्रधान रूप से आहार में लेने वाले व्यक्तियों में पेलेग्रा (pellagra) नामक त्वक् रोग के लक्षण मिलते हैं।

(३) **खनिज लवण अल्पता**—हिमालय के तराई क्षेत्र के जल में आयोडीन की कमी रहती है अतः वहाँ लगभग 5 करोड़ व्यक्ति गलगण्ड (goitre) रोग से पीड़ित रहते हैं। यह संख्या संसार भर के गलगण्ड रोगियों की चौथाई के लगभग है। आयोडीन की यह कमी आयोडीन युक्त नमक के सेवन से कुछ सीमा तक पूरी हो जाती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने अब एक अन्य सिफारिश की है कि ऐसे क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को 'आयोडिनेटेड पॉपीसीड ऑयल' (iodinated poppyseed oil) की एक मिली लीटर मात्रा अन्तःपेशीय (intramuscular) इन्जेक्शन द्वारा दी जानी चाहिए। इससे शरीर में इतनी आयोडीन संग्रहीत हो जाती है (सामान्य से 30 गुणा अधिक) जो उस व्यक्ति की दस वर्षों की आवश्यकता के लिए पर्याप्त है।

मध्य प्रदेश तथा बिहार के पहाड़ी क्षेत्रों में संस्तम्भी अंगघात (spastic paralysis) के रोगी नवयुवक एवं नव युवतियाँ प्रायः मिल जाती हैं। ये जीवन भर अपनी टाँगों से चल नहीं सकते हैं। इस रोग को लेथीरसरुग्णता (lathyrism)

कहते हैं। इसका कारण खेसारी दाल का सेवन करना है। खेसारी दाल में जल विलेय हानि कारक पदार्थ होते हैं जिनके द्वारा यह रोग हो जाता है। अतः जहाँ तक सम्भव हो खेसारी दाल का सेवन नहीं करना चाहिये यदि करना ही पड़े तो दाल को गर्म पानी में दो तीन घंटों के लिये भिगो दिया जाय फिर जल को फेंक कर साफ जल में दाल को धोकर धूप में सुखा लिया जाय। इस दाल का ही प्रयोग करना चाहिए। हानि कर तत्व जल में विलेय होते हैं अतः भिगोने से जल में निकल जाते हैं।

भोजन पकाना (cooking of food)

भोजन पकाने के मुख्य चार उद्देश्य हैं (१) भोजन का देखने में अच्छा प्रतीत होना। (२) भोजन का अधिक रुचिकर होना (३) भोजन से हानिकर जीवाणुओं का नष्ट हो जाना तथा (४) भोजन का सरलता से पच जाना।

फलों एवं उन हरी सब्जियों के, जिन्हें हम सलाद के रूप में अथवा चटनी के रूप में बिना पकाये व्यवहार में लाते हैं, शेष आहार के पदार्थों को पका कर व्यवहार में लाया जाता है। यद्यपि पकाने की विधि में, एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में ही नहीं वरन् एक परिवार से दूसरे परिवार में, कुछ न कुछ भिन्नता मिलती है परन्तु फिर भी दो विधियाँ, सामान्यतः सभी प्रयोग में लाते हैं। (i) आहार द्रव्यों को गीला करके पकाना यथा उबालना, वाष्प देना, रोटी बनाना आदि तथा (ii) बिना गीला किये पकाना यथा भूनना, (roasting), तलना (frying, baking) आदि।

आहार द्रव्यों को पकाने से प्रायः उनका प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, एवं स्नेह आदि का कुछ अंश नष्ट हो जाता है। उबालते समय प्रोटीन का कुछ अंश जल में आ जाता है और यदि नमक भी पड़ा है तो काफी अंश बाहर निकल जाता है इसके अतिरिक्त सोडियम तथा पोटेशियम के क्लोराइड आदि खनिज लवण भी जल में आ जाते हैं, इसलिये उत्तय यह है कि उस जल को फेंका नहीं जाय वरन् शोरबे (झोल) के रूप में काम में ले लिया जाये अथवा आवश्यकता से अधिक जल पकाने में नहीं मिलाया जाए।

कन्द, मूल तथा अन्य सब्जियों के ऊपर जो छिलका होता है वह पकाते समय पोषक तत्वों को बाहर निकलने से रोके रखता है। अतः कन्द, मूल आदि को छिलके सहित पकाना चाहिये। सब्जियों को पकाने के लिये बहुत पहले से काट कर और जल में भिगोकर नहीं रखना चाहिए। ऐसा करने से सब्जियों से प्रोटीन, खनिज लवण तथा विटेमिनों का अंश जल में आ जाता है। अतः पकाने के समय ही सब्जियों को काटकर तथा यदि धोना है तो धोकर पकाने के लिए लेना चाहिए। पकाने की क्रिया जितनी शीघ्रता से पूरी हो जाए उतना ही अच्छा रहता है। आजकल प्रेशर-कुकर पकाने की क्रिया को शीघ्रता से कर देते हैं। इनका व्यवहार लाभदायक है। जल में चावलों को देर तक भीगने के लिए रख देने से बी काम्प्लेक्स विटेमिनों का,

विशेष रूप से थायमीन, निकोटिनिक अम्ल आदि का 40% तक अंश जल में आ जाता है। इसलिए चावलों को अधिक देर तक या अधिक जल में भीगने के लिए नहीं रखना चाहिए। अधिक जल में भी चावल नहीं पकाने चाहिए। इससे स्टार्च के साथ जल विलेय विटेमिन भी माण्ड में पहुँच जाते हैं।

सामान्यतः खनिज लवणों की अपेक्षा जल विलेय विटेमिन अधिक मात्रा में जल में निकल कर नष्ट हो जाते हैं। विटेमिन ए अथवा कैरोटीन जल में पकाने से इतने अधिक नष्ट नहीं होते हैं जितना आहार द्रव्य को भूनने से नष्ट होते हैं। यदि इन आहार द्रव्यों को पर्याप्त तैल अथवा घी में तल अथवा भून लिया जाये तो विटेमिन ए अधिक नष्ट नहीं होता है। सूखा भूनने पर अपेक्षाकृत अधिक नष्ट होता है। खाने का सोडा (सोडियम बाई कार्बोनेट), जिसे आहार द्रव्यों को शीघ्र गलाने के लिए प्रयोग में लाते हैं, विटेमिन थायमिन को नष्ट कर देता है परन्तु इमली, टमाटर आदि अम्लीय द्रव्यों को पकाते समय प्रयोग करने से इस विटेमिन की हानि कम हो जाती है। यह ध्यान रखने की बात है कि एक ही घी अथवा तैल को तलने के लिए बार-बार प्रयोग करने से वे हानिकर हो जाते हैं।

भोजन पकाते समय उपरोक्त सावधानियों पर ध्यान देते हुए पकाने में लाभ हैं। इससे भोजन देखने में, गन्ध एवं स्वाद में, रुचिकर हो जाता है। हानिकर जीवाणु आदि जो उसमें होते हैं, नष्ट हो जाते हैं। आहार द्रव्यों का सरलता से पाचन हो जाता है यथा अनाजों में स्टार्च के कणों के ऊपर सेल्युलोज (cellulose) का जिलेटीनी आवरण चढ़ा रहता है, इस पर पाचक रसों की क्रिया नहीं होती है तथा बिना पचे ही पुरीष के द्वारा शरीर से निकल जाते हैं परन्तु पकाने से ये स्टार्च कण फूल कर फट जाते हैं, उनका सेल्यूलोज का आवरण नष्ट हो जाता है जिससे पाचक रसों की क्रिया में कोई रुकावट नहीं होती है। पकाने से माँस मुलायम हो जाता है जिससे वह दाँतों द्वारा भली-भाँति चबाया जा सकता है। दालों तथा अण्डों की प्रोटीन में कुछ ट्राइप्सिन एन्जाइम की क्रिया में रुकावट डालने वाले तत्व होते हैं जिन्हें ट्राइप्सिन संदमक (trypsin inhibitor) कहते हैं। जैसा कि पीछे बता आये हैं कि ये पकाने से नष्ट हो जाते हैं। फिर पाचन रसों की प्रोटीनों पर क्रिया सुगमता से हो जाती है और प्रोटीन का पोषण मूल्य बना रहता है। पकाने से जीवाणु, परजीवी (parasites) आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

अधिक देर तक पकाते रहना अथवा अग्नि देते रहना हानिकर है, क्योंकि इससे प्रोटीनों का पोषण मूल्य कम हो जाता है। कुछ एमीनो अम्ल इस प्रकार से यौगिक बना लेते हैं जिन पर पाचक रसों की क्रिया नहीं होती है। ऐसा ही एक यौगिक एमीनो अम्ल एवं ग्लूकोज मिल कर बना लेते हैं। कुछ पदार्थ जो काफी समय तक पके हुये रखे रहते हैं उनमें एमीनो अम्ल और ग्लूकोज का बादामी रंग का यह क्लिष्ट यौगिक बन जाता है जो स्वास्थ्य के लिये हानिकर होता है। पाउडर दूध को खुला रखने से भी इसी प्रकार का हानिकारक बादामी रंग का यौगिक बन जाता है।

———

३२

आहार विधि विधान

अब तक हमने लिखा है कि 24 घण्टों में व्यक्ति विशेष को जीवन व्यापार के लिये कितनी ऊर्जा की आवश्यकता होती है और उसकी पूर्ति तथा अन्य आवश्यक तत्वों की पूर्ति आहार से किस प्रकार की जानी चाहिये। अब हम यह बताने जा रहे हैं कि एक समय में कितनी मात्रा में भोजन करना चाहिये, किस प्रकार करना चाहिये तथा भोजन के प्रति क्या-क्या सावधानियाँ रखनी चाहिये। इन सबका वर्णन आयुर्वेद संहिता ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है। यहाँ हम चरक संहिता का उदाहरण देते हुये इसका वर्णन कर रहे हैं।

भोजन किस प्रकार करना चाहिए—

उष्णं, स्निग्धं, मात्रावत् जीर्णे व वीर्याविरुद्धम् इष्टदेशे इष्टसर्वोपकरणं, नाति द्रुत नातिविलम्बितम् अजल्पन्, अहसन् तन्मना भुञ्जीत, आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्। (वि० वि० १।३४)

(१) उष्ण, (२) स्निग्ध, (३) मात्रा पूर्वक (४) पूर्व के भोजन के पाचन के पश्चात् (५) वीर्य के विरुद्ध नहीं। (६) मन के अनुकूल स्थान पर (७) मन के अनुकूल भोजन सामग्री से युक्त (८) बहुत शीघ्रता में नहीं (९) बहुत धीरे-धीरे भी नहीं (१०) मौन रहते हुये (११) हंसते हुये भी नहीं (१२) अपनी आत्मा का विचार कर भोजन करना चाहिये।

(२) **उष्ण आहार से लाभ**—गर्म भोजन करना चाहिये क्योंकि (१) गर्म भोजन का स्वाद रुचिकर होता है। (२) इससे पाचकाग्नि तीव्र होती है जिससे भोजन भली भाँति पच जाता है। (३) वायु का अनुलोमन होता है तथा (४) कफ का शोषण हो जाता है। (च० वि० १/२४)

(२) **स्निग्ध भोजन से लाभ**—भोजन स्निग्ध (घी, मक्खन, तैल आदि से युक्त) करना चाहिये क्योंकि (१) स्निग्ध भोजन स्वादिष्ट लगता है। (२) मन्द पाकग्नि को तीव्र करता है। जिससे भोजन का पाक शीघ्र हो जाता है। (३) वायु का अनुमोलन होता है। (४) शरीर की वृद्धि एवं पुष्टि करता है। (५) वर्ण में निखार लाता है। (च० वि० १/३४)

(३) **मात्रा पूर्वक आहार से लाभ**—भोजन मात्रा पूर्वक करना चाहिये क्यों कि (१) ऐसा भोजन शरीर में वात, पित्त कफ का सन्तुलन बनाये रखता है। (२) धातुओं का दूषण नहीं होता है। (३) पूर्ण आयु को प्राप्त कराता है।

(४) बिना किसी उपद्रव के पच जाता है। (५) पाचकाग्नि को नष्ट नहीं करता है तथा (६) पुरीष निष्कासन हेतु मल द्वार तक सरलता से पहुँच जाता है। (च० वि० १/३४)

आहार की उचित मात्रा का प्रमाण—

यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथा कालं जरां गच्छति तावदस्य मात्रा प्रमाणं वेदितव्यं भवति। (च० सू० ५/४)

आहार की जो मात्रा (quantity) भोजन करने के स्वभाव में बाधा न पहुंचाते हुए अर्थात् किसी प्रकार का अहित न करते हुए, यथा समय पच जाय वही उस व्यक्ति के लिए भोजन की मात्रा का प्रमाण है।

त्रिविध कुक्षि विभाग—कुक्षि (आमाशय) के अवकाश (capacity) की कल्पना कर उसे तीन भागों में बाँट लें। एक भाग ठोस (solid) आहार द्रव्यों से भरें, एक भाग द्रव (liquid) आहार द्रव्यों से भरें तथा एक भाग वात, पित्त एवं कफ के लिये खाली छोड़कर आहार ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार भोजन करने से व्यक्ति अमात्रा में आहार लेने के दोष से बच जाता है। एक तिहाई भाग को खाली रखने से आमाशय की गतियाँ सम्यक् प्रकार से होती हैं, इस तरह भोजन का सम्यक् प्रकार से पाक हो जाता है। (चि. वि. २/३)

अमात्रा में आहार से हानि—(१) दोष प्रकुपित हो जाते हैं। कुपित्त दोष आमाशय में पहुंच अपक्व आहार राशि को रोकते हैं अथवा वमन एवं अतिसार द्वारा अपक्व आहार राशि को निकाल देते हैं। (२) अनेक रोगों के लक्षण प्रकट हो जाते हैं यथा वायु द्वारा उत्पन्न शूल, अनाह, अंगमर्द, मुखशोष, मूर्च्छा, भ्रम (चक्कर आना), अग्नि की विषमता, पार्श्व, पृष्ठ (पीठ) एवं कटि में ग्रह (जकड़ाहट), सिराओं का आंकुचन तथा स्तम्भन, पित्त द्वारा ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, प्यास, मद, भ्रम, प्रलाप आदि तथा कफ द्वारा वमन, भोजन के प्रति अरुचि, अपचन, शीत ज्वर, आलस्य एवं शरीर में गुरुता आदि की उत्पत्ति हो जाती है। (च. वि. २/६)

(४) **पूर्व आहार के जीर्ण होने पर भोजन से लाभ**—पहिले किए हुए भोजन के पच जाने पर भोजन करना चाहिए क्योंकि (१) पहिले के भोजन के जीर्ण होने के पूर्व भोजन करने से पहिले के आहार का परिपक्व रस बाद के आहार रस से मिलकर दोषों को प्रकुपित करता है। (२) पूर्व के भोजन के पाक के पश्चात् किया गया भोजन दोषों को यथा स्थान रखता है। (३) पाकग्नि प्रदीप्त रहती है। (४) भोजन की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। (५) स्रोतों के मुख खुल जाते हैं। (६) उद्गार शुद्ध रूप से आते हैं। (७) वायु का अनुलोमन होता है। (८) मूत्र एवं पुरीष के वेग ठीक प्रकार से होते हैं। (९) धातुयें पुष्ट होती हैं तथा (१०) आयु में वृद्धि होती है। (च. वि. १/३४)

जीर्णे तु स्वस्थानस्थेषु दोषेसु वातानुलोम्यात्सृष्टेषु मूत्रपुरीषवेगेषु विशुद्धे-उद्गारहृदयस्त्रोतोमुखेषु विशदकरणे लघुनि शरीरेऽग्नाबुदीर्णे जातायां बुभक्षायामभ्य-

वहृतमन्न प्रादूषयद्दोषानायुर्बलवर्णानभिवर्धयति ।। केवलमयमेव कालो भोजनस्य ।। (अ० सं० सू० १०/१३)

पहिले किये आहार के पच जाने से शरीर में (१) दोष अपने अपने स्थानों पर समावस्था में स्थित रहते हैं (२) वायु का अनुलोमन हो जाता है (३) मूत्र एवं पुरीष के सम्यक् निष्कासन के कारण इनके वेग शान्त हो जाते हैं (४) उद्गार से हृदय स्रोत एवं मुख शुद्ध हो जाता है तथा (५) शरीर स्वच्छ एवं लघु अनुभव होने लगता है। ऐसी अवस्था में अग्नि के प्रदीप्त होने के कारण भोजन की इच्छा होती है। ऐसी अवस्था में भोजन करने से दोष दूषित नहीं होते हैं तथा आयु, बल एवं वर्ण में वृद्धि होती है।

(५) अनुरूप वीर्य वाले आहार से लाभ—आहार द्रव्यों के वीर्य (उष्ण, शीत वीर्य) परस्पर विरोधी नहीं होने चाहिए। क्योंकि विरुद्ध वीर्य होने से शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यथा दूध और मछली दोनों ही रस में मधुर होते हैं परन्तु दूध शीत वीर्य है और मछली उष्ण वीर्य। अतः यदि दोनों को एक साथ भोजन में लिया जाता है तो लाभ के स्थान पर शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः परस्पर विपरीत वीर्य वाले आहार द्रव्यों को एक साथ नहीं लेना चाहिये। अन्य वैरोधिक (imcompatable) आहार द्रव्यों को भी एक साथ सेवन नहीं करना चाहिये।

(६) मनोनुकूल स्थान एवं आहार से लाभ—मन को अच्छा लगने वाले स्थान पर प्रिय, रुचिकर, आहार द्रव्यों का सेवन करना चाहिये। मनोनुकूल स्थान पर भोजन करने से मन में अप्रिय भाव नहीं उठते हैं एवं मनोनुकूल भोजन पदार्थ होने से भोजन के प्रति मन में ग्लानि नहीं होती है। (च. वि. १/३४)

(७) अतिशीघ्र भोजन करने से हानि—भोजन अति शीघ्र गति से नहीं करना चाहिये क्योंकि (१) ऐसा करने से आहार उन्मार्ग में चला जाता है। (२) भोजन के पश्चात् आलस्य रहता है। (३) भोजन द्रव्य मुख एवं आमाशय में उचित समय तक नहीं रुक पाते हैं। अतः आहार के गुणों का लाभ शरीर को पूर्णतया प्राप्त नहीं होता है। (च. वि. १/३४)

(८) अधिक धीरे-धीरे भोजन करने से हानि—भोजन अधिक धीरे-धीरे भी नहीं करना चाहिए क्योंकि (१) अधिक धीरे-धीरे भोजन करने से तृप्ति नहीं होती है। (२) आहार अधिक मात्रा में लिया जाता है। (३) आहार द्रव्य शीतल हो जाते हैं। (४) आहार का पाचन विषम हो जाता है। (चि. वि. १/३४)

(१०) (११) न बोलते हुए एवं न हंसते हुए (तन्मना) आहार लेने से लाभ—मन लगाकर भोजन करना चाहिए। बात करते हुये अथवा हँसते हुये भोजन करने से वही दोष होते हैं जो शीघ्र भोजन करने से होते हैं। (चि. वि. १/३४) बातचीत करते अथवा हँसते हुये भोजन करने से निगलते समय भोजन अन्न मार्ग के स्थान पर श्वास मार्ग में प्रवेश कर सकता है जिसके कारण मृत्यु तक हो सकती है।

(१२) **आत्मा का विचार कर भोजन करने से लाभ**—अपनी प्रकृति को भली भाँति समझकर भोजन करना चाहिए। भोजन द्रव्यों पर भी पूर्ण विचार कर लेना चाहिए कि अमुक द्रव्य लाभकारी है अथवा नहीं। इस प्रकार अच्छी तरह से विचार कर सात्म्य आहार द्रव्यों का ही सेवन करना चाहिए। जो शरीर एवं मन के लिये सुखकारी हो उसे सात्म्य कहा जाता है। (च. वि. १/३४)

आहार विधि विशेषायतन

सात्म्य के लिये आहार विधि विशेषायतन पर विचार कर हित कर पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति। तथपा प्रकृतिकरण संयोग राशि देश कालोपयोग संस्थोपयोक्त्रष्टमानि (भवन्ति)॥ च. वि. १/२१

आठ आहार विधि विशेषायतन होते हैं। ये हैं (१) प्रकृति, (२) करण, (३) संयोग, (४) राशि, (५) देश, (६) काल, (७) उपयोग संस्था तथा (८) उपयोक्ता।

(१) **प्रकृति**—आहार द्रव्यों की प्रकृति उसके गुरु लघु आदि गुणों के सम्मिलित योग के कारण होती है। यथा उर्द की दाल की प्रकृति गुरु है तथा मूंग की दाल की प्रकृति लघु है। आहार द्रव्यों की इस प्रकृति को जानकर हितकर द्रव्यों का चयन करना चाहिए।

(२) **करण**—आहार द्रव्यों को पकाने आदि संस्कारों के पश्चात् उनके स्वाभाविक गुणों के स्थान पर अन्य गुण द्रव्य में आ जाते हैं इसे करण कहते हैं। द्रव्यों में ये नए गुण उन्हें जल में भिगोने, अग्नि के संयोग से, शोधन करने, मन्थन करने, देश-काल के कारण, भावना आदि से, विशेष बने हुए पात्र आदि में रखने से अथवा समय बीत जाने पर स्वयं आ जाते हैं। यथा जल में पीसने से कठिन द्रव्य को मृदु बनाया जा सकता है। क्वाथ, फाण्ट, शृत, कल्फ आदि कल्पनाओं से द्रव्यों के गुणों में परिवर्तन लाया जा सकता है। यथा धान गुरु होता है उसे भूनकर लघु बनाया जाता है। विष आदि हानिकर द्रव्यों को शोधन द्वारा गुणकारक बनाया जाता है। दही शोथकर होता है उसे मथकर शोथहर बनाया जाता है। इसी प्रकार द्रव्यों को विभिन्न संस्कारों द्वारा लाभप्रद बनाये जाते हैं।

(३) **संयोग**—दो अथवा अधिक द्रव्य के मिलने को संयोग कहते हैं यथा हम भोजन में रोटी, चावल, दाल आदि मिलाकर लेते हैं। संयोग लाभप्रद भी हो सकता है और हानिकर भी। हानिकर संयोग से सदैव बचना चाहिये। यथा मधु और घी का समान मात्रा में संयोग विष समान है। मधु, मछली और दूध का संयोग कुष्ट रोग की उत्पत्ति का कारण है। अतः आहार में हानिकर संयोग नहीं होने चाहिए।

(४) **राशि**—आहार विशेष, द्रव्यों की कितनी राशि (quantam) व्यवहार में लानी चाहिये इसके मापन के दो तरीके हैं (१) प्रत्येक द्रव्य का पृथक-पृथक

प्रमाण ग्रहण करना परिग्रह कहलाता है तथा (२) सर्व द्रव्यों को मिलाकर एक प्रमाण में लेना सर्वग्रह कहलाता है। प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदि की पृथक-पृथक मात्रा पर विचार कर भोजन ग्रहण करना परिग्रह है तथा भोजन की सब प्रकार की सामग्री पर इकट्ठे विचार कर मात्रा निश्चित करना सर्वग्रह है। आहार की मात्रा निश्चित करने के लिये दोनों प्रकार की राशियों पर विचार करना होता है।

(५) **देश**—देश शब्द का प्रयोग स्थान विशेष के लिये प्रयोग किया गया है। जिस स्थान पर जो वस्तु उत्पन्न होती है वहाँ के निवासियों के आहार में वह सामान्यतः उपस्थित रहती है और वह द्रव्य वहाँ के निवासियों के लिये सामान्यतः सात्म्य होता है। परन्तु अन्य स्थान पर ले जाने पर वहाँ उपयोग में लाने वालों के लिये सात्म्य है अथवा नहीं, इस पर विचार करने के पश्चात् ही उस द्रव्य को भोजन के रूप में ग्रहण करना श्रेयस्कर है।

(६) **काल**—काल के दो भेद होते हैं। (१) नित्यग तथा (२) आवस्थिक। आवस्थिक काल रोग की अपेक्षा करता है तथा नित्यग ऋतु सात्म्य की अपेक्षा करता है। व्यक्ति जिस रोग से पीड़ित है उसको उस रोग से मुक्ति के लिये जिस प्रकार के आहार द्रव्यों की आवश्यकता है उसके ही अनुसार आहार का सेवन करना चाहिये। नित्य सेवन की वस्तुओं से यह भिन्न होता है। नित्यंग में ऋतु के अनुसार जो आहार द्रव्य सात्म्य हैं, उन्हीं का सेवन करना चाहिये। आहार का चुनाव करते समय इन कारणों पर ध्यान रखना आवश्यक होता है।

सामान्य आहार काल—

विस्टष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देह च सुलघो।
विशुद्धे चोद्गारहृदि सुविमले वाते चसरति॥
तथाऽन्नश्रद्धायां क्लमपरिगमे कुक्षौ च शिथिले।
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजां कालः सतु मतः॥ सु० उ० ६४/८५

(१) मात्र-मूत्र त्याग के पश्चात् इन्द्रियों के निर्मल होने पर, (२) शरीर के हल्का होने का अनुभव होने पर, (३) अत्यन्त शुद्ध उद्गार आने पर, (४) हृदय के ऊपर किसी प्रकार के भार की प्रतीति न होने पर, (५) अपान वायु के ठीक प्रकार से निकल जाने पर, (६) भोजन की इच्छा होने पर, (७) शारीरिक एवं मानसिक क्लम का अनुभव नहीं होने पर तथा (८) उदर के शिथिल (मुलायम) होने पर मनुष्य को भोजन करना चाहिये।

चिकित्सा की दृष्टि से ऐसा समय ही भोजन का उचित काल माना गया है।

(७) **उपभोग संस्था**—आहार के उपयोग के नियमों को उपयोग संस्था कहते हैं। यह भोजन के पच जाने के लक्षणों की अपेक्षा करता है। यदि उपर बताये हुए प्रकृति से लेकर काल तक विचार कर आहार द्रव्यों का चयन किया गया है तथा भोजन करने के नियमों का पूर्ण पालन किया गया है तो ऐसा भोजन उचित प्रकार से पचकर शरीर में सुपाक के लक्षण लक्षित करता है।

समशनमध्यशनममात्राशनं विषमाशनं च वर्जयेत् ।। अ०सं०सू० १०/३३

आहार करते समय समशन (पथ्य तथा अपथ्य दोनों का एक साथ सेवन करना), अध्यशन (पूर्व के भोजन पाक से पूर्व ही थोड़ी-थोड़ी देर के पश्चात् खाते रहना), अमात्राशन (उचित मात्रा के विपरीत मात्रा में खाना) तथा विषमाशन (असमय में खाना) इनका त्याग कर देना चाहिये ।

(८) **उपयोक्ता**—जो आहार द्रव्यों का सेवन करता है उसे उपयोक्ता कहते हैं । उपरोक्त सातों आयतनों पर पूर्ण विचार कर आहार द्रव्यों का निर्णय करने पर ज्ञात हो सकता है कि वे आहार द्रव्य उस व्यक्ति विशेष के लिए सात्म्य है अथवा नहीं । अतः उपयोक्ता पर भी विचार करना आवश्यक है । यह भी देखना चाहिये कि लिए जाने वाले आहार द्रव्य उस व्यक्ति को लोकसात्म्य हैं अथवा नहीं । यदि ओकसात्म्य हैं तो शरीर सात्म्य भी होते हैं ।

उपरोक्त आठ आहार विधि के विशेष आयतन हैं । इन पर पूर्ण ध्यान रखते हुए आहार द्रव्यों का चयन शुभ लाभ प्रदान करता है अन्यथा मोह, प्रमाद होता है । किसी अन्य कारण से प्रिय लगने वाली वस्तु भी स्वास्थ्य के लिए अहितकर एवं परिणाम में दुःखदायी हो सकती है ।

द्वादशाशन प्रविचार

अत ऊर्ध्वं द्वादशाशनप्रविचारान् वक्ष्यामः । तत्र शीतोष्णस्निग्ध रुक्ष द्रव-शुष्कैक कालिकद्विकालि कौषध युक्त मात्राहीन दोषप्रशमन वृत्त्यर्थाः । सु०उ० ६४/५

इसके पश्चात् भोजन के बारह प्रकार के विभागों का वर्णन करते हैं । ये हैं—१. शीत, २. उष्ण, ३. स्निग्ध, ४. रुक्ष, ५. द्रव, ६. शुष्क, ७. एक कालिक, ८. द्विकालिक, ९. औषधयुक्त, १०. मात्राहीन, ११. प्रशमन कारक (दोषशामक) तथा १२. वृत्यर्थ (जीवन धारणा के लिए वृत्ति प्रयोजक) आहार ।

(१) शीत आहार—

तृष्णोष्णमददाहार्तान् रक्तपित्तविषातुरान् ।
मुर्च्छार्तान् स्त्रीषु च क्षीणान् शीतैरन्नैरुपाचरेत् ।। सु०उ० ६४/५७

जो व्यक्ति तृष्णा-उष्णता-मद (नशे) अथवा दाह से पीड़ित हो, रक्त पित्त का रोगी हो, विष खा लिया हो, मूर्च्छा रोग से ग्रसित हो अथवा स्त्री सम्भोग से क्षीण हो, ऐसे व्यक्तियों को शीतल एवं शीतवीर्य द्रव्य लाभ पहुँचाते हैं ।

शीत वीर्य द्रव्यों में पुराने चावल, गेहूँ, सांठी के चावल आदि अन्न, मूंग की दाल, दूध, सन्तरा, मौसम्बी, सेब, आंवला, केला, अनार, किशमिश फल मेवादि तथा औषधियों में शतावर, भूसली, गिलोय आदि उत्तम हैं ।

(५) उष्ण आहार

कफवातामयाविष्टान् विरिक्तान् स्नहपायिनः ।
प्रक्लिन्नदेहांश्च नरानुष्णैरुपाचरेत् ।। सु०उ० ६४/५८

जो व्यक्ति कफ एवं वायु रोगों से पीड़ित हो अथवा जिसने विरेचन लिया हो, स्नेह पान किया हो अथवा शरीर क्लेद युक्त हो उन्हें उष्ण तथा उष्ण वीर्य आहार द्रव्य सेवन करने चाहिये।

उष्ण वीर्य द्रव्य हैं—बाजरा, चना, उर्द और अरहर की दालें, सब प्रकार के पशु पक्षियों का माँस, भैंस का दूध, शहद, बादाम, मुनक्का, अखरोट, चिलगोजा, मूंगफली, आम, ककड़ी, बैंगन, आलू, रतालू तथा औषधि द्रव्यों में त्रिकटु (सोंठ, काली मिर्च, पीपल), चव्य, चित्रक, अश्वगन्धा एवं समस्त आसव, अरिष्ट आदि।

(३) स्निग्ध आहार

वातिकान् रुक्षदेहांश्च व्यवायोपहतांस्तथा।
व्यायामिनश्चापि नरान् स्निग्धैरन्नैरुपाचरेत्॥ सु०उ० ६४/५६

वात रोगों से पीड़ित, रुक्ष शरीर वाले, दुर्बल अथवा व्यायाम (कठोर परिश्रम) अधिक करने वालों को स्निग्ध आहार लेना चाहिये।

स्निग्ध द्रव्य हैं—गेहूँ, उर्द, दूध, घी, तैल, वसा, माँसरस, बादाम, गोला (खोपरा), तिल, मूंगफली आदि।

(४) रुक्ष आहार

मेदसाऽभिपरीतांस्तु स्निग्धोन्मेहातुरानपि।
कफाभिपन्नदेहांश्च रुक्षैरन्नैरुपाचरेत्॥ सु० उ० ६४/६०

जिस व्यक्ति में मेद बढ़ा हुआ हो, शरीर स्निग्ध हो, प्रमेह से पीड़ित हो अथवा शरीर में कफ की वृद्धि हो ऐसे व्यक्ति को रुक्ष आहार देना चाहिये।

रुक्ष द्रव्यों में चना, जौ, बाजरा तथा औषधियों में शिलाजीत, त्रिफला चूर्ण, हरिद्रा चूर्ण तथा जल में मिलाकर मधु उत्तम है।

(५) द्रव आहार

शुष्कदेहान् पिपासार्तान् दुर्बलानपि च द्रवैः। सु०उ० ६४/६१

जिनकी देह शुष्क हो गई है, प्यास अधिक लगती है तथा रति दुर्बल है। ऐसे व्यक्तियों को पतला (द्रव) आहार देना श्रेयस्कर है।

इनको मूंग की दाल का यूष, पतला दलिया, खीर, माँसरस, शाक सब्जियों का पतला यूष आदि देना उत्तम है।

(६) शुष्क आहार—

प्रक्लिन्नकायान् व्रणिनः शुष्कैर्मेहिन एव च। सु०उ० ६४/६२

क्लिन्न शरीर वाले, व्रण-प्रमेह आदि रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को शुष्क आहार देना चाहिये।

चना, जौ, मोठ, बाजरा आदि द्रव्य शुष्कता उत्पन्न करते हैं। घृत-तैल विहीन पदार्थ भी शुष्क होते हैं।

(७, ८) एक काल तथा द्विकाल आहार—

एककालं भवेद्देयो दुर्बलाग्निविवृद्धये।
समाग्नये तथाऽऽहारोद्विकालमपि पूजितः॥ सु०उ० ६४/६३

दुर्बल पाचकाग्नि वाले व्यक्ति को एक समय भोजन लेना चाहिये तथा जिस

व्यक्ति की पाचकाग्नि सम है उस व्यक्ति को दोनों समय भोजन लेना चाहिये।

(९, १०) औषधयुक्त एवं मात्राहीन आहार—

औषधद्वेषिणे देयस्तथौषधसमायुतः।
मन्दाग्नये रोगिणे च मात्राहीनः प्रशस्यते ॥ सु०उ० ६४/६४

जो व्यक्ति औषधि लेने के प्रति अनिच्छा रखता हो उसे उसके आहार में मिलाकर औषधि दे देना चाहिये।

जिस व्यक्ति की पाचकाग्नि मन्द है उसे आहार की सामान्य मात्रा से कम मात्रा में आहार देना चाहिये।

(११) दोष शामक आहार—

यथर्तु दत्तस्त्वाहारो दोषप्रशमनः स्मृतः। सु०उ० ६४/६५

ऋतु के अनुरूप लिया हुआ आहार दोष प्रशामक होता है।

(१२) वृत्यर्थ आहार—

अतः परं तु स्वस्थानां वृत्यर्थं सर्व एव च।
प्रविचारानिमानेवं द्वादशात्र प्रयोजयेत् ॥ सु०उ० ६४/६६

जो व्यक्ति स्वस्थ हैं, उनको ऊपर वर्णित एकादश आहार के प्रकारों पर ध्यान न देते हुए, सब प्रकार का उचित आहार दिया जा सकता है। इति ॥

॥ सर्वे सन्तु निरामयाः ॥

पाठ्य विवरण (Syllabus)

स्वस्थवृत्त

अंक १००

प्रथम प्रश्न-पत्र

अंक ५०

(क) वैयत्तिक स्वस्थवृत्त

१. स्वस्थवृत्त का प्रयोजन, स्वस्थ का लक्षण, दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, उपस्तम्भ, सद्वृत्त, धारणीय-अधारणीय वेग, उपवास, विवाह, निन्दित-अनिन्दित पुरुष ।

२. **भूमि तथा निवास स्थान**—भूमि शोधन, तापक्रम, निवास योग्य व निवास के अयोग्य गृह, पाकशाला, शौच स्थान, दुग्धशाला आदि ।

३. **जल**—उपयुक्त मात्रा, प्रकार, गुण, वर्षा का जल, स्रोत-नदी-कुआ-तालाब आदि का जल, मृदुता और कठिनता, विभिन्न प्रकार की अशुद्धियाँ, अशुद्ध जल की अनारोग्यता, जल शुद्धि के प्रकार—भौतिक विधियाँ, रासायनिक विधियाँ, यान्त्रिक विधियाँ, विविध निस्यन्दक, जल परीक्षा आदि ।

(ख) सामाजिक स्वस्थवृत्त अंक ५०

१. **वायु**—वायु के गुण, अशुद्धियाँ, निवास स्थान में वायु के प्रवेश और निकास की व्यवस्था, अशुद्ध वायु जन्य व्याधियाँ, शुद्धि के प्रकार,- कृत्रिम वायु के साधन, तज्जनित दोष और अशुद्धियाँ । आवश्यक मात्रा, प्राकृतिक प्रवीजन, विविध प्रवेश द्वार, कृत्रिम प्रवीजन, निवास स्थान की ताप नियामक व्यवस्था उसके गुण दोष । वायु का स्वास्थ्य के लिए महत्व, वायु का परिवर्तन, पार्वतीय वायु, वायु का संगठन, अशुद्धियाँ और मिश्रण ।

२. **प्रकाश**—सूर्य की रश्मियाँ, रश्मियों का शरीर पर प्रभाव, कृत्रिम प्रकाश, साधन, उनके गुण दोष ।

३. **अपद्रव्य**—नगर और ग्राम के अपद्रव्य-निवारण की व्यवस्था ।

४. **शौच स्थान**—स्थायी तथा अस्थायी शौच स्थान, मेला स्थान में अस्थायी शौच स्थान के निर्माण की विधि, सैनिकों के लिए शौच स्थान, मूत्र स्थान, मल निर्हरण विधि, ग्रामीण क्षेत्र में मल निर्हरण के उपाय, मिश्रित पद्धति तथा भिन्न पद्धति, निवास स्थान से मल निष्कासन की व्यवस्था, प्रणाल में वायु प्रवेश की व्यवस्था, समुद्र अथवा तालाब में मल विमोचन, भूमि में मल का प्रसारण, अधः निस्यन्दन, रासायनिक, जीवाणवीय तथा अन्य विधियाँ, वायवीय तथा अवायवीय विधियाँ, तरल भाग संशुद्धि का प्रमाण आदि ।

५. **शव का विनाश**—अग्निदाह, भूमि में गाढ़ना, विद्युत दाह ।

६. **औद्योगिक संस्थान में**—स्वास्थ्य के उपाय, जल का प्रबन्ध ।

के अन्तर्गत पूरक-रेचक-कुम्भक का प्रत्यक्ष परिचय। ४. जल प्रदाय संस्थान का निरीक्षण। ५. मल निकास संस्थान का निरीक्षण। ६. दुग्ध योजना का निरीक्षण। ७. कुष्ठ आश्रम का निरीक्षण। ८. औद्योगिक संस्थान का निरीक्षण। ९. स्वास्थ्य केन्द्र का निरीक्षण। १०. मातृ तथा शिशु कल्याण केन्द्र का निरीक्षण। ११. परिवार कल्याण केन्द्र का निरीक्षण।

प्रत्यक्ष परीक्षा का अंक विभाजन — ५० अंक

१. प्रात्याक्षिक पुस्तिका। — ५ अंक

२. आहार्य द्रव्यों का तथा सामाजिक स्वास्थ्य के अन्तर्गत अधिक द्रव्यों का गुण सहित परिचय। — १५ अंक

३. वैयत्तिक स्वस्थवृत्त तथा प्रतिमर्श नस्य आदि क्रियाओं का प्रत्यक्षीकरण। — १० अंक

४. सामाजिक स्वस्थवृत्त के नानाविध यन्त्र का प्रायोजन — १० अंक

५. योग और निसर्गोपचार के अन्तर्गत क्रियाओं का प्रत्यक्षीकरण। — १० अंक